भारतीय संस्कृति और साधना

द्वितीय खण्ड

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद

पटना

भारतीय संस्कृति और साधना

द्वितीय खण्ड

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८०००१४

द्वितीय संस्करण
विक्रमाब्द २०३६; शकाब्द १९०१; खीष्टाब्द १९७९
मूल्य : २२.०० रु०

मुद्रक :
घनश्याम प्रेस
पटना-८००००४

भारतीय संस्कृति और साधना

द्वितीय खण्ड

वक्तव्य

'भारतीय संस्कृति और साधना' के द्वितीय खण्ड का द्वितीय संस्करण आप-जैसे विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित है। यह कृति, जैसाकि आपको ज्ञात है, भारतीय विद्या के महान् मनीषी एवं संस्कृति तथा साधना के तत्त्वान्वेषी साधक पुण्यश्लोक म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज जी के २१ सारभूत निबन्धों का संग्रह है। यह संग्रह प्रथम खण्ड के निबन्धों का ही पूरक है। इसलिए प्रथम खण्ड की पूर्णता एवं सांगता इस द्वितीय खण्ड के बिना सम्भव नहीं है। प्रथम खण्ड का द्वितीय संस्करण पहले ही प्रकाशित हो चुका है।

निबन्धों में प्रतिपादित संस्कृति और साधना के गूढ़ तत्त्वों का विश्लेषणात्मक निष्कर्ष भारतीय संस्कृति के विराट् स्वरूप का बिन्दुमात्र निदर्शन है, जैसे दृश्य-अदृश्य असीम ब्रह्माण्ड के साक्षी ये चमकते ग्रह, नक्षत्र और तारे हैं। ये निबन्ध संस्कृति-साधना की इयत्ता के मापक नहीं कहे जा सकते, केवल साक्ष्य-निदर्शन हैं। इस प्रकार, प्राचीनतम भारतीय संस्कृति-साधना के रहस्य को जन-साधारण और प्राज्ञ पाठकों के समक्ष प्रकट करने की अनन्य क्षमता श्रीकविराज जी जैसे महर्षिकल्प साधकों में ही हो सकती है। इस सत्प्रयास के लिए भारतीयता के समर्थक तथा तत्त्वान्वीक्षण-प्रवण विद्वान् श्रीकविराज जी के चिर आभारी रहेंगे। भारतीयता, विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और साधना के प्रति की गई तर्कपूर्ण पुनःप्रतिष्ठा ही श्रीकविराज जी की शाश्वत स्मारिका बनी रहेगी—यह हमारा विश्वास है। परिषद्-जैसी साहित्य-संस्कृति-प्रधान संस्था के लिए भी इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन गौरव का विषय है। सार्वभौम भारतीय संस्कृति की यह विस्तृत व्याख्या विदग्ध जिज्ञासुओं की जिज्ञासा की न केवल तात्त्विक पूर्त्ति करेगी, वरन् आत्मतोष एवं सही जानकारी भी देगी।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण आपके सामने उपस्थित करने में हमें हार्दिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। हमें अपनी निष्ठा के साथ पूर्ण आशा है कि हिन्दी-जगत् इसे सम्पूर्ण रूप से अपनाकर हमारे श्रम और प्रयास को कृतार्थ करेगा। वीणा-पुस्तकधारिणी वरदा सरस्वती को अर्पित की गई यह सारस्वत कुसुमांजलि अपना ज्ञान-सौरभ अवश्य बिखेरेगी, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

पाठकों की निरपेक्ष अनुग्राहिका स्वीकृति ही परिषद् का एकमात्र आत्मसम्बल है, जो हमें स्वतः प्राप्त है।

मेष-संक्रान्ति, २०३६ वि०
१४ अप्रैल, १९७९ ई०

श्रुतिदेव शास्त्री
निदेशक

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

'भारतीय संस्कृति और साधना' का द्वितीय खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें आन्तरिक आह्लाद एवं गौरव का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का प्रकाशन गत वर्ष हुआ था और उसमें पूज्यपाद पुण्यश्लोक श्रीकविराज जी के ४१ निबन्धों का समावेश हो सका था। इस द्वितीय खण्ड में उनके कुल २१ निबन्ध समाविष्ट हैं, जिनकी लेखनावधि सन् १९२३ से १९५६ ई० के मध्य है। प्रथम खण्ड से संगृहीत लेखों की ही भाँति इस द्वितीय खण्ड के लेख भी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। सभी लेख भारतीय संस्कृति एवं साधना की परिधि में ज्योतिःस्तम्भ-तुल्य हैं। इन लेखों में पाठकों को स्थल-स्थल पर जहाँ एक ओर श्रीकविराजजी के व्यापक एवं पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान का प्रकाश मिलेगा; वहीं दूसरी ओर, वे उनकी सूक्ष्म एवं विचक्षण अन्तर्दृष्टि के आलोक में गुरु-गम्भीर तत्त्व-तल के भी दर्शन कर सकेंगे। विशेषकर तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए तो इन लेखों का महत्त्व और भी अधिक है।

इस द्वितीय खण्ड में समाविष्ट लेखों में से अधिकांश प्रथम खण्ड के तद्विषयक लेखों से सम्बद्ध हैं और यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि ये पूर्व-प्रकाशित लेखों को पूर्णता प्रदान करते हैं। विषय-वैविध्य के होते हुए भी सभी लेख पुष्पमाला में गुम्फित विभिन्न पुष्पों की भाँति अपनी-अपनी विशिष्ट शोभा ही बढ़ाने-वाले हैं। और, विशेषता यही है कि ये सभी संस्कृति और साधना के सूत्र में अनुस्यूत हैं।

प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण महामहोपाध्याय श्रीकविराजजी भारत ही क्या, विश्व-विश्रुत मनीषी एवं साधक हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लिए यह महान् गौरव का विषय है कि पूज्य श्रीकविराजजी ने अपना साहित्य प्रकाशित करने का सौभाग्य इसे प्रदान किया। हम श्रीचरणों में अपना भक्तिपूर्ण आभार प्रकट करते हैं कि आपने हमें अपनी अक्षुण्ण एवं अमूल्य निधि के संरक्षण का दायित्व सौंपा तथा अपने दिव्य विचारों और अनुभवों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। निश्चय ही इसमें आपका हमारे प्रति अगाध वात्सल्य-स्नेह ही मुख्य हेतु है।

हमारा विश्वास है कि साहित्य, साधना और संस्कृति के क्षेत्र में इस ग्रन्थरत्न का भी विशेष सम्मान होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
आषाढ़ी पूर्णिमा; सं० २०२१ विक्रमाब्द

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
निदेशक

भूमिका

'भारतीय संस्कृति और साधना' का यह द्वितीय खण्ड भी प्रथम खण्ड की तरह हमारे विभिन्न समयों में विभिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये पूर्वप्रकाशित लेखों का संकलन है। इनमें सबसे प्राचीन लेख सन् १९२३ ई० में तथा सबसे अर्वाचीन सन् १९५६ ई० में लिखा गया था। शेष मध्यवर्त्ती काल में लिखित लेखों में से संकलित हैं।

'वैष्णव-साधना और साहित्य' लगभग ३८ वर्ष पूर्व लिखा गया था। इसमें मुख्य चार वैष्णव-सम्प्रदायों के साहित्य (संस्कृत में) तथा साधन के विषय में संक्षेपतः प्रकाश डाला गया है। गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के विषय में अन्यत्र व्यापक भाव से लिखा गया है, इसलिए इसमें उसका सन्निवेश नहीं किया गया। इन मुख्य चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी कई वैष्णव-सम्प्रदाय हैं, उनके विषय में भी इस निबन्ध में आलोचना नहीं की गई।

तान्त्रिक बौद्धधर्म का दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ विवेचन प्रथम खण्ड में सन्निविष्ट है, किन्तु बौद्ध तान्त्रिक साधना का विशिष्ट विकास, जो वज्रयान और सहजयान आदि मार्गों में दिखाई देता है, के विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा गया था। इस खण्ड में 'सहजयान और सिद्धमार्ग' नामक निवन्ध में उस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यह लेख नेपाल से म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा आविष्कृत तथा 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से प्रकाशित कुछ विशिष्ट बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों के आधार पर प्रायः ३७-३८ वर्ष पूर्व लिखित तथा प्रकाशित हुआ था। परवर्त्ती समय में इन ग्रन्थों के आलोच्य विषय में विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न आलोचकों द्वारा गवेषणा हो चुकी है, जिसका उपयोग स्वभावतः ही इस लेख में नहीं किया जा सका। बौद्ध-तन्त्रों में 'हेवज्रतन्त्र' का स्थान बहुत ऊँचा है। यह कुछ ही समय पूर्व ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ है। इस लेख को लिखते समय यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं था, किन्तु प्राचीन टीकाकारों द्वारा उद्धृत 'हेवज्रतन्त्र' के वचनों के अनुसार उसका उपयोग किया गया था।

इस संग्रह में दो लेख 'श्रीगुरु-चरणों के प्रथम दर्शन' तथा 'कई-एक छिन्न पत्र' ऐसे हैं, जो पहले प्रकाशित हुए थे तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध पर आधृत हैं। उनमें प्रथम लेख व्यक्तिगत होने पर भी उसमें कई ऐसे विषय हैं, जिनका भारतीय संस्कृति और साधना से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए उसे दे दिया गया है। द्वितीय लेख में हमारे किसी नवीन गुरुभ्राता के योगानुभूतिमूलक विज्ञान का रहस्य प्रकाशित है। यह तत्त्व-जिज्ञासु-मात्र के लिए उपयोगी होगा, यह समझकर उसका भी सन्निवेश कर दिया गया है।

भारतीय संस्कृति के सदृश भारतीय साधना के भी विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये विभिन्न लेख इसमें हैं। इसी कारण किसी-किसी अंश में परस्पर विरोध दिखाई पड़ने पर भी मूल में भारतीय संस्कृति और साधना का वैशिष्ट्य सबमें अनुस्यूत है।

इस खण्ड के भी इस प्रकार सुचारु रूप में शीघ्रता से प्रकाश में आने का श्रेय विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' जी की तत्परता को ही है। इस तत्परता के लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते हैं।

स्नेहभाजन पं० श्रीकृष्ण पन्तजी के प्रति भी हम अपनी हार्दिक शुभानुशंसा अभिव्यक्त करते हैं, जिनका इस ग्रन्थ के संशोधन, सम्पादन आदि में हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा।

२ ए, सिगरा, वाराणसी
रामनवमी, २०२१ विक्रमाब्द

गोपीनाथ कविराज

विषय-सूची



भारतीय संस्कृति में सेवा का आदर्श

[१]

आजकल प्रायः सर्वत्र ही सेवाधर्म के महत्त्व पर जोर दिया जा रहा है। विभिन्न नेता अपने-अपने क्षेत्र में इसी आदर्श का प्रचार कर रहे हैं। दूसरों के दुःख के अपनयन के लिए अनुकूल चेष्टा करना सेवा का प्रारम्भिक स्वरूप है और विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति के लिए सहायता करना, सेवा का श्रेष्ठ एवं चरम रूप है। प्रतिकूल संवेदन दुःख है। ऐसा उपाय करना जिससे दुःख का उदय ही न हो, हो भी तो निरुद्ध हो जाय, यही सेवा का मुख्य लक्ष्य है। जागतिक सुख भी अन्ततोगत्वा दुःख का ही एक प्रकार-भेद है; क्योंकि इसका मूल, परिणाम तथा स्वरूप सभी दुःख-रूप हैं। अतएव जागतिक सुख-दुःख दोनों की निवृत्ति ही वास्तविक दुःख-निवृत्ति है। यह द्वन्द्वातीत एवं शान्तिमात्र है। अनुकूल संवेदन का नामान्तर ही सुख है। जिन उपायों से विशुद्ध रूप में अनुकूल संवेदन की प्राप्ति हो और वह स्थायी हो, उसका अवलम्बन ही सेवा का चरम लक्ष्य है। यह सुख एवं परमानन्द-स्वरूप है। यह नित्य, निर्मल, दुःख से अमिश्र तथा अपरिणामी है। वस्तुतः यह आत्मस्वरूप ही है। इसका आस्वाद स्थिर तथा लीला उभय रूपों में हो सकता है। दोनों नित्य तथा अप्राकृत हैं। लौकिक सुख से यह पूर्णतः विलक्षण है।

लीलारूप आनन्द का वैशिष्ट्य यह है कि वह दुःख-निवृत्ति से भी निरपेक्ष होता है। अष्टादश संस्कारों से शोधित पारद जैसे धातु-विशेष को योगप्रवाह से स्वर्ण के रूप में परिणत कर देता है, उसी प्रकार यह आनन्द भी जागतिक सुख को तो क्या कहना, दुःख को भी अप्राकृत आनन्द का रूप दे देता है। अलंकारशास्त्र के अनुसार स्थायी भाव प्रतिकूल-वेदनीय शोक को भी विभाव-अनुभाव के प्रभाव से अनुकूल-वेदनीय एवं आनन्दात्मक रस (करुण) के रूप में परिणत कर देता है। इसी प्रकार समग्र लौकिक सुख-दुःख त्मक व्यापार चिदानन्द-रसलीला में पर्यवसित हो सकता है। यह एक विशिष्ट स्थिति है।

जिसका दुःख-निवृत्ति लक्ष्य है, उसका दुःख-निवृत्ति ही सेवा का भी लक्ष्य होता है। परन्तु दुःख का निरोध होने पर भी आनन्दाधिगम होगा ही, यह नहीं कहा जा सकता। यह हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। क्योंकि इसी के बीच औदासीन्य और ताटस्थ्य दशा भी है। आनन्द-लाभ होने पर दुःख-निवृत्ति तो होती ही है, यदि किसी समय न हो तो भी दुःख ही आनन्द-विशेष का आकार धारण कर प्रकाशित होता है।

जाति, देश और समाज की सेवा समष्टि की सेवा है। व्यक्ति-सेवा इसके अन्तर्भूत है। व्यक्ति की पृथक् रूप में भी सेवा हो सकती है। समष्टि-सेवा दो प्रकार की

है—जहाँ सेवक व्यष्टि और सेव्य समष्टि होता है और जहाँ सेवक समष्टि तथा सेव्य समष्टि होता है। इसी प्रकार व्यष्टि-सेवा भी दो प्रकार की है—जहाँ सेवक व्यष्टि तथा सेव्य व्यष्टि है और जहाँ सेवक समष्टि तथा सेव्य व्यष्टि है। भिन्न-भिन्न सेवाओं की उपयोगिता भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। समष्टि-सेवा में सेवा करने का फल सामान्य रूप में ही स्फुरित होता है, किन्तु व्यष्टि-सेवा में वह विशेष रूप में स्फुरित होने लगता है। सेवा व्यष्टि हो या समष्टि; सबमें उसका सामान्य धर्म अनुगत रहता है।

सेवा के नाना प्रकार हैं। क्षुधित को अन्न देना, तृषार्त्त को जल देना, रोगी का रोगापनयन करना, आर्त्त की आर्त्ति हटाना, अज्ञानी का अज्ञानापनोदन और दुष्टप्रकृति मनुष्य का दोष-क्षालन करना—ये सभी सेवा के रूप हैं; किन्तु ये लौकिक हैं।

जहाँ एक की सेवा करने से बहुतों की सेवा का विरोध सम्भावित होने लगे, वहाँ समन्वय के लिए विरोध का अपनयन करना चाहिए और उभय की सेवा सम्भव करनी चाहिए। कल्याण-साधन सेवा का लक्ष्य है, इसीलिए उसके गुणगत उत्कर्ष का भी विचार करना पड़ता है। आपाततः प्रेय से श्रेय का सम्पादन करना सेवा का लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु सत्य यह है कि प्रेय और श्रेय अन्त में भिन्न नहीं रह जाते। प्रकृति में किसी प्रकार का विकार या मालिन्य न रहने से वस्तुतः जो अच्छा (श्रेय) है, वही अच्छा (प्रेय) लगता भी है। जो अच्छा (प्रेय) लगता है, वही वस्तुतः अच्छा (श्रेय) है। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा था—

'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।'

परन्तु स्वभाव में जबतक इसकी प्रतिष्ठा न होगी तबतक साधक के लिए यह अवस्था दुर्लभ है। सेवा के ये सब रूप साधारणतः नीति के अन्तर्गत माने जाते हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से सेवा का महत्त्व स्वीकृत है, परन्तु इसका प्रयोग-क्षेत्र सीमित है। देशगत, कालगत और स्वरूपगत बन्धन तो रहता ही है। सेवक के आत्मबोध का जितना प्रसार होता है, उसके उत्कर्ष के तारतम्य के अनुसार ही देश और कालादि की व्यापकता में भी तारतम्य होने लगता है। बिना विचार किये 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार समग्र विश्व को ही सेवा का क्षेत्र बना लेना सबके लिए सरल नहीं है। सामयिक सेवाओं में कालगत परिच्छेद अवश्य ही रहता है। कहीं-कहीं सेवा का स्वरूपगत संकोच भी दृष्ट होता है। किसी व्यक्ति को एक ग्रास अन्न-दान करना सेवा है। साथ ही उसको नीति-शिक्षा तथा ज्ञान-दान देकर निर्मल और उदार-चित्त बना देना भी सेवा है। किन्तु दोनों में भेद है। यह सत्य है कि क्षेत्र-विशेष में नीति या ज्ञान-दान से अन्न या जलदान का महत्त्व अधिक माना जाता है। जो पिपासु है, उसे जल न देकर दूध देना यथार्थ सेवा नहीं है, यद्यपि जल से दूध का मूल्य अधिक है। सेवा-भाजन का अभाव जिस अंश में जाग्रत् हो उसी अंश में सेवक के उद्यम का विनियोग होना चाहिए। यह बात सेवक की प्रेक्षावत्ता पर निर्भर है। रुग्ण होने पर सेव्य अवश्य ही कभी-कभी अपना यथार्थ अभाव नहीं

समझ पाता; अतः सेवक को उसके सामयिक एवं यथार्थ अभाव को समझकर उसे दूर करना चाहिए। इसलिए अभाव-बोध सामयिक होने पर भी उपेक्षणीय नहीं है। किसी-किसी समय इस प्रकार की उपेक्षा से अनिष्ट हो जाता है।

और भी एक बात है। स्वाभाविक प्रेरणा तथा अपनत्व-बोध से, प्रतिदान की अपेक्षा किये बिना, सेवा करना यथार्थ सेवा है। बदले में कुछ प्राप्ति की आशा रखना सेवा का आदर्श नहीं है। जैसे सेव्य या सेव्य-पक्ष से आशा नहीं करनी चाहिए वैसे ही अन्यों से भी नहीं करनी चाहिए। यहाँ तक कि प्रकृति के नियमानुसार भविष्य में कभी फल होगा, इसकी भी आशा नहीं करनी चाहिए। यह क्षुद्र कामना है। यहाँ 'कामना' शब्द से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा समझनी चाहिए। जगत् के कल्याण तथा समस्त जीवों के हित-सुख-साधन की इच्छा भी कामना ही है, परन्तु वह शुद्ध कामना है। वह कथमपि दूषणीय नहीं है, उपादेय है। वास्तव में वही सेवा का प्राण है; क्योंकि उसके मूल में त्याग है और त्याग ही सेवा का जीवन है। त्याग के बिना अमरत्व-प्राप्ति असम्भव है। इसी त्यागात्मक कर्म का प्राचीन समय में 'यज्ञ' के रूप में वर्णन किया जाता था। निष्काम कर्म भी इसी का नामान्तर है। इससे बन्धन तो होता ही नहीं, पुराना बन्धन भी कट जाता है। गीता में कहा है—

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।' तथा
'यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।'

यथार्थ सेवा ही निष्काम कर्म है। उसमें आकांक्षा का बीज नहीं रहता, अतः वह निर्बीज कर्म है।

वर्त्तमान समय में जगत् में दुःख का बाहुल्य है, अतः साधारण लोग भी सेवा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। यह दुःख स्थूल है, अतः सेवकों की सेवा भी स्थूल है। प्राचीन समय में भी इस प्रकार की सेवा होती थी, किन्तु उसकी प्रणाली भिन्न थी। परन्तु यह मुख्य सेवा नहीं है।

पहले कहा गया है कि दुःख-निवृत्ति सेवा का लक्ष्य है। परन्तु यह अपनी दुःख-निवृत्ति नहीं, जगत् की दुःख-निवृत्ति है। दूसरों का दुःख भी अपना ही दुःख है। दूसरों में निजत्व आरोपित न करने से उनकी दुःख-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति ही क्यों होगी? प्राचीन समय के सामाजिक संस्थान में लौकिक दुःख-निवृत्ति के लिए जैसी व्यवस्था थी, वैसे ही अलौकिक एवं बीजभूत दुःखों की निवृत्ति का उपाय भी व्यवस्थित था। लौकिक उपाय समष्टि-रूप में समाज तथा राष्ट्र पर निर्भर था। व्यष्टि-रूप में वह व्यक्ति का निज धर्म था। स्वरूपगत अलौकिक दुःखों का निरोध योग तथा ज्ञानादि का अवलम्बन कर और नैतिक जीवन को उत्कृष्ट बनाकर सम्पन्न करना पड़ता था। दुःखों का मूल जबतक विनष्ट न हो; तबतक शान्ति की आशा दुराशामात्र है। यह बात व्यक्तिगत तथा सामूहिक उभय दृष्टि से सत्य है।

अबतक जो कुछ कहा गया है उससे सामान्यतः यह प्रतीत हो सकता है कि सेवा के अधिकारी सभी हैं। हाँ, लौकिक सेवा का अधिकार तो है ही, किन्तु

अलौकिक सेवा का भी है। इसका सामर्थ्य सबमें नहीं है। इसके लिए साधना के बल से अलौकिक सामर्थ्य का अर्जन करना पड़ता है। लौकिक सेवा का प्रकार विभिन्न सामाजिक दृष्टियों से विभिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। प्राचीन काल के आदर्श जीवन में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि प्रत्येक आश्रम में सेवा-धर्म निर्दिष्ट था। वर्णगत व्यवस्था में भी यह आदर्श जाग्रत् था। ब्रह्मचारी गुरुगृह में गुरु, गुरु-पत्नी तथा उनके समस्त परिवार की सेवा करते थे। अग्नि की सेवा अर्थात् हवन, ऋषियों की सेवा अर्थात् वेदाध्ययन, उनके नित्य कर्त्तव्य में था। निष्ठा, संयम प्रभृति सद्‌गुणों का विकास करके वे आत्म-सेवा भी करते थे। गृहस्थ-जीवन तो सेवा का आदर्श ही था। इसी कारण गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

गृही सबका सेवक है। वह ब्रह्मचारी, संन्यासी और अन्य गृहियों का भी सेवक है। अपर शब्दों में यह सेवा समग्र विश्व की सेवा का ही एक रूप है। गृहस्थ के लिए वैश्वदेव कर्म का अनुष्ठान नियत था। वह गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्य के रूप में परिणत था। पञ्चमहायज्ञ के नाम से भी यह अनुष्ठान प्रसिद्ध था। गृहस्थ-जीवन से अच्छेद्य रूप में संश्लिष्ट हिंसादि दोषों के अपनयन के लिए यह आवश्यक था। वास्तव में गृहस्थ का धार्मिक जीवन विश्वजीव-सेवा की ही कल्पना थी। समस्त विश्व के प्राणियों का स्मरण करके उनकी तृप्ति के सम्पादन के लिए पञ्चमहायज्ञों का आदर्श प्रचलित हुआ था। पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार हरिहर एक प्राचीन सुन्दर वचन उद्‌धृत करते हैं, जिससे सेवा का मर्म उद्‌घाटित होता है—

"देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाकीटपतङ्गकाद्याः बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥"

प्राचीन समाज में लोकों के पाँच विभाग किये गये थे—ऊपर में देवलोक, ऋषिलोक और पितृलोक; मध्य में मनुष्यलोक और निम्न में मनुष्येतर तिर्यक्-लोक। पञ्चमहायज्ञ इन पाँचों से सम्बद्ध हैं। नित्य-होम देवों की तृप्ति के लिए है, यह देव-यज्ञ है। मनुष्येतर प्राणियों को आहार-दान भूत-यज्ञ है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, पिपीलिकादि और पृथ्वी, वायु और जल के देवता, वनस्पति तथा ओषधियों के अभिमानी मन्यु देवता, आकाशस्थ कामदेवता—ये सब भूत-यज्ञ से आप्यायित होते थे। पितृ-पुरुषों के लिए उद्दिष्ट बलि पितृयज्ञ है। जिसे कुछ भी देने का सामर्थ्य नहीं है, उसके लिए भी 'पितृभ्यः स्वधा' कहकर जल-दान की व्यवस्था की गई है। नित्य अतिथि-सेवा और अन्यान्य फल-मूलादि का दान मनुष्य-यज्ञ है। किसी-किसी आचार्य (आपस्तम्ब) के मत से मनुष्यों के लिए यथाशक्ति नित्य दान करना मनुष्य-यज्ञ के अन्तर्गत है। नित्य स्वाध्याय, वेदपाठ, कम-से-कम प्रणवादि मन्त्रों का जप, ब्रह्म-यज्ञ या ऋषि-यज्ञ है। यह प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य था। यह अति प्राचीन 'ब्रह्मसत्र' का स्थानापन्न रूप है। यह सब विश्वसेवा नहीं तो और क्या है? गृहस्थ का धर्म

पञ्चमहायज्ञ कहा गया है। उसमें तर्पण, श्राद्ध आदि पितरों की सेवा के ही रूप हैं। पितृपक्ष से सम्बन्धित तर्पण की आलोचना करने पर स्पष्ट होता है कि इसका एकमात्र उद्देश्य विश्व-कल्याण था।

इसमें भावना के द्वारा सबको आप्यायित किया जाता है और वर्त्तमान के साथ अतीत का और निकट के साथ दूर का योग किया जाता है। जिसको पर समझा जाता था उसे अपना समझकर प्रेम करना विश्वप्रेम का प्रथम सोपान है। यथार्थ सेवक की दृष्टि में विश्व ही अपनी भूमि हो जाती है। 'स्वदेशो भुवनत्रयम्'। उसका अपना कुल या वंश नहीं रह जाता, सबका कुल ही उसका कुल और वंश हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों में विभिन्न कुलों में जन्म हुआ था, अतः यह कहा ही जा सकता है कि सबका कुल ऐसे व्यक्ति का अपना कुल है। अतीत और वर्त्तमान सभी को अपने से ही व्याप्त समझना हृदय के क्षुद्रत्व के परिहार और उदारता के सम्पादन का श्रेष्ठतम उपाय है। तर्पण के मन्त्र में उक्त है—

"येऽबान्धवा बान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु दत्तपिण्डोदकक्रियाः॥
अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धा कुले मम।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु,.................. इत्यादि॥"

केवल पितृगण ही नहीं, अग्निष्वात्ता, सौम्य, वर्हिषद आदि दिव्य पितृगण तथा देवता, यक्ष और गन्धर्वादि, मरीचि, अंगिरा प्रभृति ऋषि-वर्ग, सनक-सनन्दनादि दिव्य मानव सबका ही कल्याण करना तर्पण का उद्देश्य है। यह गृहस्थ की सेवा का उदाहरण है। ज्ञानी संन्यासियों का कर्त्तव्य दूसरों को ज्ञानोपदेश करना है। स्वयं ज्ञान प्राप्त कर अपने साथ ही उसे ले जाने की व्यवस्था नहीं है। दूसरों को शिष्य बनाकर और उन्हें ज्ञान-दान देकर ही वे ऋण-मुक्त होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष भी यदि समाज के आश्रित है, तो उसके लिए ज्ञान-दान करना आवश्यक हो जाता है। 'जीवन्मुक्तिविवेक' में विद्यारण्यस्वामी के अनुसार ज्ञान-तन्तु का संरक्षण ही जीवन्मुक्तों के सामाजिक जीवन का मुख्य कर्त्तव्य है। स्वयं कृतकृत्य होकर दूसरों को सत्पथ में ले चलना, यह उनकी प्रधान सेवा है। सेवा का यही मुख्य आदर्श है। वर्ण-भेद से भी सेवा का ही पार्थक्य किया गया था। ज्ञानी ब्राह्मण की सेवा ज्ञानोपदेश-दान है और सदाचारी ब्राह्मण की सेवा सदाचारोपदेश-दान है। क्षत्रिय की सेवा देश और समाज की रक्षा है। वैश्यों की सेवा कृषि, वाणिज्य आदि के द्वारा धनार्जन करके इष्टापूर्त्त आदि विविध सत्कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा दुःस्थ समाज को स्वस्थ एवं तृप्त करना है। परिचर्यादि-क्रम से अन्यान्य लोगों की सेवा भी विहित है। इस सेवा-वैचित्र्य से ज्ञान तथा कला का विकास होता था और समाज का बहुमुखी जीवन समृद्ध होता था। सेवामात्र के मूल में त्याग-भावना थी। भोग के मूल में भी त्याग का ही आदर्श था। ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" उल्लिखित है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैध भोग त्याग के धरातल पर ही सम्भव है। त्याग-

भाव से नियन्त्रित न होने पर भोग उपभोग में, आचार अनाचार में परिणत हो जाता हैं। सेवा की मूल नीति है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

[२]

अज्ञानी को ज्ञान देना अन्ध के चक्षु-दान के समान है; परन्तु जिसके अपने ही चक्षु का उन्मीलन नहीं है, वह दूसरे का उन्मीलन ही क्या कर सकता है ? स्वयं नेता होकर दूसरों का उचित मार्ग-निर्देश करना उससे नहीं हो सकता। ऐसा करने से दोनों पक्ष विपन्न हो जाते हैं। 'अन्धेन नीयमाना यथान्धाः' का अन्धन्याय प्रसिद्ध है। दूसरों को ज्ञान देना सेवा का प्रधान रूप अवश्य है, किन्तु उसके पहले स्वयं ज्ञानार्जन करना चाहिए। शास्त्रपाठ या दूसरों से श्रवण करके जो ज्ञान-लाभ होता है, वह मुख्य ज्ञान नहीं, औपदेशिकमात्र है। अपनी बुद्धि की मार्जना से जो ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान का प्रयोजन और महत्त्व अवश्य है, किन्तु ये सब परोक्ष ज्ञान के ही प्रकार हैं। यथार्थ ज्ञान अपरोक्ष है। चित्त की एकाग्रता और भावना के अभ्यास के विना यथार्थ ज्ञान का उद्भव नहीं हो सकता। सुदीर्घ काल तक नैतिक जीवन का उत्कर्ष, तपश्चर्या और संयम आदि का धैर्य के साथ निरन्तर अनुष्ठान—इन सबसे अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। इसमें भ्रम, प्रमाद आदि अनर्थ-बीज नहीं रहते। इस सिद्धावस्था के लाभ के विना दुःख-निवृत्ति के मार्ग का उपदेश नहीं किया जा सकता।

किञ्चित् अधिक ढाई हजार वर्ष पूर्व एक क्षत्रिय राजकुमार विलास में लालित और अत्युच्च शिक्षाओं से शिक्षित होने पर भी विश्वव्यापी दुःख से मार्मिक रूप में आहत हुआ। उसने दूसरों के दुःख-मोचन के लिए दीर्घकालिक तपस्या की और सिद्धिलाभ किया। जरा, मृत्यु, शोक, मोह, रोग की और देह तथा चित्त के नाना प्रकार के विकारों की दुःखरूपता उन्होंने देखी। दुःख के कारण का अनुसन्धान करने पर उन्हें मालूम हुआ कि अविद्या या अज्ञान ही सब दुःखों का मूल उत्स है। उन्होंने समग्र जगत् को दुःख से व्याप्त देखा था; क्योंकि जब उनका दिव्य चक्षु खुला तो विश्व के अनन्त स्तर उनके निकट करामलकवत् थे। उस समय उन्होंने अनुभव किया कि सृष्टि का प्रत्येक स्तर दुःख-सागर में डूबा है। कामलोक, रूपलोक और आरूप्यलोक—इस त्रिलोकी में सूच्यग्र के बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है, जो दुःख से स्पृष्ट न हो। कामलोक में मनुष्यादि प्राणी रहते हैं। चार प्रकार के रूपलोक और चार प्रकार के आरूप्यलोकों के विभिन्न स्तरों में देवतागण रहते हैं। इनके शिखर-देश में भवाग्र है। ये सब क्रमशः सूक्ष्म लोक हैं। इनमें सर्वत्र ही दुःख है। इन नौ लोकों में नवम या भवाग्र का दुःख अत्यन्त कठिन है। निम्नवर्ती आठ लोकों का दुःख भवाग्र की अपेक्षा स्थूल है। कामलोक का दुःख सर्वाधिक तीव्र है, किन्तु भवाग्र का दुःख सबसे मृदु है। मृदु होने पर भी अत्यन्त कठिन है। दुःख का स्वरूप सर्वत्र एक ही समान

है। उन्होंने जैसे दुःख देखा था उसी प्रकार दुःख के कारण अविद्या को भी देखा। उनको यह भी अनुभव हुआ कि दुःख अनिवार्य नहीं है। दुःख-निवृत्तिरूप परम स्थिति का भी उन्हें साक्षात्कार हुआ। आचार्यगण इसे ही निर्वाण नाम देते हैं। यह दुःख के आत्यन्तिक अभाव की दशा है।

इस महापुरुष को दुःखवादी (पेसीमिस्ट) कहना सत्य का अपलाप करना है। क्योंकि उन्होंने दुःखनिवृत्ति को देखा था और यह भी देखा था कि उस नित्य शान्तिमय अवस्था में पहुँचने का मार्ग भी है। यदि मार्ग नहीं रहता तो परा शान्ति, सत्य होने पर भी, आकाश-कुसुम के समान अलीक हो जाती। जिसके मिलने की सम्भावना ही नहीं, पहुँचने तक का मार्ग ही नहीं, उसके अच्छा होने पर भी उसका मूल्य क्या होता ?

बुद्धदेव मार्गज्ञ थे, इसी का नाम आर्य-मार्ग है। ये उपर्युक्त चार आर्य-सत्य बुद्धदेव के व्यक्तिगत आविष्कार हैं—उनके निकट प्रकाशित पूर्ण सत्य के स्वरूपगत चार विभाग हैं। इन सत्यों का अपरोक्षानुभव न करने से ही साधारण जीवों को उपदेश करने का अधिकार नहीं रहता। प्रमाणवार्तिक की मनोरथनन्दीवृत्ति में लिखा है—

"स्वयम् असाक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसम्भावना।"

बुद्धदेव का यह आविष्कृत मार्ग या पन्थ अविद्यानिवृत्ति का और दुःखनाश का सम्यक् मार्ग है। यहाँ दुःख से राग-द्वेषादि सभी गृहीत हैं। सत्यदर्शन के अभाव से ही दुःख उत्पन्न होते हैं और सत्यदर्शन से ही दुःख की निवृत्ति होती है। संक्षेप में दुःख, उसका समुदय, उसका निरोध और निरोध का मार्ग—ये चार दर्शनीय सत्य हैं। दर्शन से दर्शन का अभ्यास अर्थात् भावना किंचित् निकृष्ट है। सत्यदर्शन से समग्र विश्व के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। एक क्षण में दृष्टिहेय नौ दुःख दर्शन-मार्ग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यह अनास्रव या शुद्ध पन्था है। भावनाहेय दुःख भी दर्शन के प्रभाव से निवृत्त होते हैं; किन्तु सभी एक साथ नहीं। विभिन्न क्षणों में विभिन्न प्रकार के दुःखों की निवृत्ति होती है। भवाग्र का दुःख-दर्शन के विना निवृत्त नहीं हो सकता। भावना शमथ या समाधि का ही नामान्तर है। अधिकांशतः भावना सास्रव या मलिन होती है। एकमात्र 'सत्याभिसमय' ही अनास्रव या निर्मल है।

इस मार्ग पर चलनेवाले पथिक को शील या सदाचार का अभ्यास करना पड़ता है। इसके बाद श्रुतमयी तथा चिन्तामयी प्रज्ञा अर्जित करनी पड़ती है। इसके अन्त में भावना-मार्ग में आरूढ होने का सामर्थ्य आ जाता है। आनुषङ्गिक रूप से एकान्तवास और अकुशल वितर्कों से चित्त को मुक्त रखना चाहिए। चित्त में सन्तोष तथा आकांक्षाओं का ह्रास इस मार्ग के लिए विशेष उपयोगी है। भावना-विशेष के निरन्तर अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है। उस समय स्मृति का उपस्थान होता है। उपस्थान चार प्रकार के हैं। उनमें धर्मस्मृति का उपस्थान प्रमुख है। साधन के बल से क्रमशः पुष्ट होने पर विशिष्ट प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के क्रमिक विकास में उष्णगत, मूर्धा, क्षान्ति तथा अग्रधर्म—इन चार अवस्थाओं का उदय होता

है। इन्हें समष्टिरूप में निर्वेधभागीय कहा जाता है। 'वेध' शब्द का साक्षात्कार अर्थ है। दुःखादि चार सत्यों का विभक्त रूप में पृथक्-पृथक् अनुभव करना वेध है। इस समय सब प्रकार के संशय छिन्न होकर निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होता है। इसी का पारिभाषिक नाम निर्वेध है। उष्णगत से अग्रधर्म-पर्यन्त चार अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था निर्वेध का एक-एक अंग है। ये निर्वेधभागीय आरूप्य धातु में नहीं, केवल काम और रूप-धातु में होते हैं। काम-लोक में चारों निर्वेधभागीय होते हैं, परन्तु मनुष्य-योनि में चारों प्रकार नहीं होते। पहले तीन का प्रकाश हो सकता है, किन्तु अग्रधर्म का नहीं। काम-लोक में ऊर्ध्वलोक के देव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे भी मनुष्य हैं, जिन्हें एक भी निर्वेधभागीय प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक निर्वेधभागीय प्रज्ञा की ही एक-एक विशिष्ट अवस्था है।

सभी मनुष्य इसे पा सकते हैं या नहीं, इस विषय में बौद्धों में मतभेद है। साधारणतः यह केवल कामलोक में सम्भव है, देवादिलोक में नहीं। पृथग्जन, जिसे आर्यमार्ग प्राप्त नहीं है, के भूमि-त्याग करने पर भी पूर्वप्राप्त निर्वेधभागीय नहीं छूटते। देहत्याग के साथ-साथ वे छूट जाते हैं। पहले के दो निर्वेधभागीयों के प्राप्त करने पर भी पृथग्जन का पतन हो सकता है। इस प्रकार के पतन का कारण ध्यान-शक्ति आदि का अभाव है। तृतीय निर्वेधभागीय के प्राप्त होने पर पतन नहीं हो सकता। चतुर्थ या अग्रधर्म प्राप्त होने पर पृथग्जन का पृथग्जनत्व निवृत्त हो जाता है और वह आर्य हो जाता है। इस मार्ग में निम्नलिखित क्रम है—

१. सर्वप्रथम मोक्षभागीय का लाभ—यह कायिक, वाचिक और मानसिक शुभ कर्म है। श्रुतमय और चिन्तामय प्रज्ञा भी मोक्षभागीय नाम से वर्णित होती हैं। प्रज्ञा तथा कर्म मोक्ष-प्राप्ति के सहायक होने के कारण ही मोक्षभागीय हैं।

२. निर्वेधभागीय का लाभ—इस विषय में पहले कहा जा चुका है।

३. आर्य या दर्शन-मार्ग का लाभ—प्रथम अर्थात् मोक्षभागीय को प्राप्त करनेवाले की अधिक-से-अधिक तीन जन्मों में और अवस्था-विशेष में दो जन्मों में मुक्ति हो सकती है। दो जन्मों में तब मुक्ति होगी जबकि वह निर्वेधभागीय और अग्रधर्म प्राप्त कर चुका हो। अग्रधर्म का लाभ करने पर उसी जन्म में मुक्ति होगी। यह अग्रधर्म सास्रव अर्थात् मलिन है। यहाँ तक का मार्ग भी सास्रव है। इसके बाद दर्शन या आर्य-मार्ग है। वस्तुतः वही मार्ग सत्य है। वह अनास्रव है। इसी को 'षोडशक्षण सत्याभिसमय' कहा जाता है।[१]

[३]

वस्तुतः सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के बाद दूसरों को ज्ञान दिया ही जा सकता है, यह सत्य नहीं है। ज्ञान देने का अर्थ ज्ञान का उपदेश करना मात्र है। ज्ञानदाता की इच्छा न होने पर ज्ञान-दान नहीं हो सकता। ऐसी इच्छा परदुःखप्रहाणेच्छा का ही प्रकार-भेद है। जिस चित्त में करुणा का उन्मेष नहीं है उसे दानेच्छा क्यों होगी ? इसके उपरान्त शिष्य में आकांक्षा तथा उपदेश-धारण की योग्यता भी होनी चाहिए।

अयोग्य शिष्य को योग्य बनाकर उपदेश ग्रहण करा सकना कठिन व्यापार है। शिष्य का निज कर्म भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए। वस्तुतः ज्ञानोपदेश करने की इच्छा होने पर भी उपदेष्टा में सामर्थ्य होना चाहिए। इच्छा करुणा है और इच्छा-शक्ति 'करुणा-बल' है। केवलज्ञान ही नहीं, प्रत्युत इच्छा भी उपदेष्टा के कृत्य-सम्पादन के लिए आवश्यक है। अर्थोपार्जन करने मात्र से कोई दाता नहीं होता। उसके लिए दूसरों का दुःख दूर करने के निमित्त दान करने की तीव्र इच्छा भी होनी चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने पर उपदेश करने की इच्छा अर्थात् करुणा होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में ही ज्ञानमूलक सेवा हो सकती है। इन सबके बाद भी यदि शिष्य उद्यमहीन होगा तो सम्यक् फल प्राप्त नहीं कर सकेगा।

गुरु-शिष्य का सहयोग आपेक्षिक है। गुरु के उपदेश-दान से तभी सम्यक् फल का प्रसव होगा जब शिष्य में उसका सम्यक् धारण होगा। ज्ञानोपदेश का दायित्व गुरु पर है, किन्तु उपदेश-पालन का दायित्व शिष्य पर है। अवश्य ही ज्ञान के साथ इच्छा न रहने पर कोई भी ज्ञानी गुरु-स्थान पर नहीं बैठ सकता। क्योंकि कृपाहीन ज्ञानी व्यक्तिगत कैवल्यमात्र का अधिकारी होता है। प्राचीन बौद्धों में श्रावकों का लक्ष्य प्रायः इसी प्रकार का था। बौद्धेतर हिन्दू-समाज में भी इस प्रकार के ज्ञानियों की संख्या अधिक थी।

किन्तु इसमें भी एक बात है। पहले कहा गया है कि अपरोक्ष ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। हृदय-ग्रन्थिभेद, संशयभेद, कर्मक्षय—ये सब लक्षण यथार्थ ज्ञानी में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी जो ज्ञानी कहे जाते हैं वे वस्तुतः परोक्षज्ञानी हैं। इस प्रकार के ज्ञान से अपने दुःखों के भी मोचन की सम्भावना नहीं रहती।

परोक्षज्ञानी वस्तुतः एक प्रकार का अज्ञानी ही है। प्राचीन बौद्धगण कहते थे कि ज्ञानार्जन का मतलब व्यक्तिगत संशयादि का निरसन है। इसीलिए पृथग्जनत्व के निवृत्त होने पर ही आध्यात्मिक परिवर्त्तन (स्पिरिच्युअल कनवर्सन) होता है। यही द्वितीय जन्म का उदय है। पहले अग्रधर्म नामक सास्रव धर्म की परावस्था का उल्लेख किया गया है। वही पृथग्जनत्व के नाश की अवस्था है। गोत्रभू हुए बिना आर्यमार्ग में प्रवेश नहीं होगा। उष्णगत, मूर्धा और क्षान्ति के बाद ही अग्रधर्म का उदय होता है—यह कहा जा चुका है।

तान्त्रिक साधना में भी दीक्षा के दो मुख्य अंग होते हैं—१. पाशक्षपण और २. शिवत्वयोजन। पाशक्षपण के मूल में दिव्य ज्ञान का उन्मेष है। उसके प्रभाव से पाशजाल क्रम से क्षीण हो जाते हैं। यह दिव्य ज्ञान ही शुद्ध विद्या पद का वाच्य है। इसके प्रभाव से शुद्ध अध्वा में गति होती है और शनैः-शनैः सभी पाशों का क्षय हो जाता है। प्राचीन बौद्धधर्म में भी स्रोत-आपन्नादि अवस्थाओं में से अर्हत्पद में पहुँचने का विवरण है। अर्हत्-दशा ही देहावस्था में मुक्ति या निर्वाण है। पञ्चस्कन्धों के निवृत्त होने पर प्राप्त परम अवस्था को पर-निर्वाण कहा जा सकता है। मार्गसत्यरूप सम्यक् ज्ञान के प्राप्त न करने पर दशविध संयोजनों का विनाश नहीं होता। इसीलिए

पृथग्जन के ज्ञान से श्रावक का ज्ञान श्रेष्ठ माना जाता है। श्रावक का ज्ञान अपरोक्ष तथा निश्चयात्मक होता है, अतः दुःख का निवर्त्तक होता है। वस्तुतः पृथग्जन की अवस्था में दुःख का ठीक-ठीक परिचय भी नहीं होता, फिर दुःख-निवृत्ति का प्रसंग ही क्या है। श्रावक के ज्ञान से प्रत्येकबुद्ध का ज्ञान श्रेष्ठ है; क्योंकि श्रावक का ज्ञान औपदेशिक अर्थात् उपदेष्टा से प्राप्त है, किन्तु प्रत्येकबुद्ध का ज्ञान स्वतःसिद्ध है। ज्ञान में ही नहीं, फल में भी भेद है। श्रावक के ज्ञान में एक प्रकार से करुणांश नहीं है। महाश्रावक में अपेक्षाकृत अधिक करुणा है। प्रत्येकबुद्ध में तो और भी अधिक है। उनका उपदेश भी शब्दात्मक नहीं होता। सम्यक् संबुद्ध ज्ञान और करुणा दोनों दृष्टि से श्रेष्ठ है। यह बुद्धत्व का आदर्श है और यही सेवा का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। जिस लौकिक सेवा से हमलोग परिचित हैं; उस प्रकार की सेवा बोधिसत्त्व की अवस्था में पूर्ण करनी पड़ती है। पारमिता-साधना का एकमात्र यही उद्देश्य है। बुद्धावस्था की सेवा दूसरे प्रकार की है।

जैनधर्म और विज्ञान में तीर्थङ्करत्व सेवा का आदर्श है। 'केवलज्ञान' की प्राप्ति त्रयोदशगुणस्थान में और सिद्धिलाभ चतुर्दश में होता है। केवलज्ञान पाकर भी उसे समग्र विश्व के प्राणियों को देने की आकांक्षा सबमें नहीं होती। एकमात्र तीर्थङ्कर ही इस महान् आदर्श का अनुसरण करते हैं। बुद्धत्व सेवा का जैसा परम आदर्श है, तीर्थङ्करभाव भी उसी प्रकार है। सनातनधर्म में यथार्थ गुरुपद के जो वाच्य होते हैं, उनका परम आदर्श भी यही है।

विश्व-कल्याणकारी महापुरुष ही आप्त पुरुष हैं। उनमें अन्यान्य सद्गुणों के साथ द्रष्टृत्व, परदुःखप्रहाणेच्छा तथा करण-पाटव विशेष रूप में होते हैं। सत्य का यथार्थ दर्शन, कृपा अथवा करुणा और क्रिया-सामर्थ्य उनमें रहता है। ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया का पूर्ण विकास ईश्वरीय धर्म है। अखिल जीवों के सेवक एवं विश्वगुरु की महाकरुणा में ये तीनों गुण रहते हैं। पूर्ण ज्ञान रहने के कारण ही वे सबके दुःखों को पूर्णरूप से ठीक-ठीक देख सकते हैं। पूर्ण कृपा के कारण ही वह सबका दु.ख-मोचन चाहते हैं, व्यक्तिविशेष का या समाज-विशेष का ही नहीं। क्रियाबल के पूर्ण होने के कारण वह सबके दुःखों को दूर भी कर सकते हैं। इसीलिए महाकरुणा जब उदित होती है तो अमोघ ही होती है। वस्तुतः नेता या लोकनायक की भी यही मौलिक योग्यता है, किन्तु यह आपेक्षिक है। सद्गुरु का लक्षण भी यही है। इनमें से कोई एक भी गुण कम होगा तो उससे जीव-सेवा समर्थभाव से नहीं हो सकेगी। वास्तव में राजा या तद्भावापन्न और कोई लोक-नायक एक प्रकार से ईश्वर का ही प्रतिनिधि होता है। धर्मशास्त्रों में राजा को अष्ट दिक्पालों के तेज का जो आश्रय कहा गया है, उसका भी आशय यही है। सन्तसाहित्य या तन्त्र में गुरु को सकल आम्नायों का प्रवर्त्तक कहकर उसे भागवती अनुग्रह-शक्ति का मूर्त्त रूप माना गया है। योग-मत में ईश्वर 'सदा मुक्त, सदा ऐश्वर्य-सम्पन्न' है। प्रकृष्ट सत्त्व से सम्बन्ध होने के कारण वह ईश्वरता से सम्पन्न रहता है और क्लेश, कर्माशयादि से अस्पृष्ट होने के कारण नित्य मुक्तस्वरूप है। सम्यक्सम्बुद्धत्व भी इसी प्रकार का आदर्श है।

किन्तु केवल भगवत्ता आदर्श नहीं है। क्योंकि चरमभविक बोधिसत्त्व भगवान् होने पर भी बुद्ध नहीं हैं। उनकी दानादि पारमिताएँ अवश्य परिपूर्ण हैं, परन्तु इतने से ही सम्बोधि का ठीक-ठीक उदय नहीं होता। केवल बुद्धभाव भी आदर्श नहीं है; क्योंकि प्रत्येकबुद्ध स्वयम्भू होकर भी भगवान् नहीं हैं, उन्हें भगवत्ता की महिमा प्राप्त नहीं है। योगी का ईश्वर और बौद्धों का भगवान् बुद्ध किसी-किसी अंश में एक ही आदर्श के प्रतिच्छवि हैं।

इस प्रसंग में ईसवीय चतुर्दश शताब्दी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जान रॉसब्रिक के एक वचन का स्मरण होता है। उन्होंने कहा था—

"We find now a days many silly men who would be so inferior and so detached that they will not be active or helpful in any way of which their neighbours are in need. Know, such men are neither friends nor yet true servants of God, but are wholly false and disloyal, for none can follow His counsels but those who obey his laws."

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य जितनी भी निःसंगता और अनासक्ति के प्रभाव से आन्तरिक जीवन के गम्भीर स्तरों में प्रवेश क्यों न कर ले, किन्तु उसके जीवन में करुणा तथा सेवा की आवश्यकता कभी भी दूर नहीं होगी।

सब लोग सेवा के इस उच्च आदर्श को ग्रहण नहीं कर सकेंगे, यह सत्य है। योगबिन्दुकार जैनाचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—जीव की अवस्था दो प्रकार की होती है। जबतक जीव की ग्रन्थि का छेद नहीं होता तबतक वह जिस काल में अवस्थित रहता है वह उसका कृष्णपक्ष है। यह दीर्घकालिक व्यापार है। ग्रन्थिच्छेद के बाद जीव शुक्लपक्ष में आता है। इसकी अल्पकालिक स्थिति होती है। केवल शुक्लपक्ष में ही जीव उत्कर्ष-लाभ करते हैं। यह चतुर्दशगुणस्थानों में पञ्चम या उससे किञ्चित् ऊर्ध्व स्तर का व्यापार है। किसी जीव की कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में उन्नति होने का कारण नहीं बताया जा सकता। एकमात्र स्वभाव ही इसका नियामक है। ग्रन्थिच्छेद होने पर जो शुद्धिलाभ होता है, उसकी परिणति बोधिसत्त्व-दशा की प्राप्ति है। जैनदृष्टि से इस दशा का पूर्णत्व तीर्थङ्कर में है। इस अवस्था का पूर्वाभास होने से ही पतन की आशंका मिट जाती है। कभी-कभी पतन का भाव हो सकता है, किन्तु वह वास्तविक पतन नहीं है। इस मत के अनुसार मुक्तियोग्य जीव तीन प्रकार के हैं; यथा—

(क) कोई ग्रन्थिच्छेद के साथ ज्ञान प्राप्त करते ही विश्वदुःख का अनुभव करने लगता है। वह करुणा-प्रेरित होकर उसे दूर करने का संकल्प करता है और उद्यम में रत हो जाता है। इसी कोटि के जीव भविष्य में तीर्थङ्कर होते हैं। इनकी सेवा का आदर्श अत्यन्त विशाल है और क्षेत्र भी असीम है।

(ख) कोई-कोई अपने से सम्बद्ध थोड़े मनुष्यों की कल्याण-कामना करते हैं।

परिमित मनुष्यों के ज्ञान-लाभ के लिए ही इनका यत्न होता है। ये तीर्थङ्करों के शिष्य स्थान में हैं।

(ग) कोई-कोई स्वाभाविक धारा में क्रमविकास से केवलज्ञान का लाभ कर मोक्ष प्राप्त करते हैं अर्थात् ये चतुर्दशगुणस्थान में पहुँचकर सिद्धपद में आरूढ़ होते हैं। ये लोग विशिष्ट करुणा के अभाव से त्रयोदशगुणस्थान में तीर्थङ्करत्व का लाभ नहीं कर पाते। ये मुण्डकेवली नाम से प्रसिद्ध हैं।

आगम के आलोचन से भी प्रतीत होता है कि किसी-किसी जीव का लक्ष्य कैवल्य होता है, किसी-किसी का पूर्णत्व या शिवतत्त्व भी लक्ष्य होता है। यह सत्य है कि कैवल्य के नाना भेद हैं और शिवभाव की प्राप्ति में भी वैचित्र्य है। विवेक-ज्ञान के सिद्ध होने पर कैवल्य-लाभ होता है। प्रकृति से अपने स्वरूप को विविक्त एवं पृथग्भाव से जानने पर कैवल्य-लाभ होता है। सांख्ययोग के अनुसार कैवल्य का यही चरम आदर्श है। परन्तु तन्त्र के अनुसार इस अवस्था में अचित् या जड़ का सम्बन्ध पूर्णतया तिरोहित नहीं होता; क्योंकि तन्त्र की दृष्टि से प्रकृति से भी सूक्ष्मतर माया नाम का तत्त्व है। माया निर्गुण है, किन्तु मलिन है। आत्मा का स्वरूप इससे भी पृथक् है। जब यह पृथग्भाव सिद्ध हो जाता है तब मध्यम कैवल्य उदित होता है। इसे विज्ञान-कैवल्य कहते हैं। यह विज्ञान शुद्ध नहीं है, अशुद्ध है। क्योंकि इसकी यह स्थिति माया से ऊर्ध्व अवश्य है, किन्तु आणव मल से सम्बद्ध है। जब आणव मल का सम्बन्ध भी छूट जाता है तभी विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य का आविर्भाव होता है। इस समय अचित् का सम्बन्ध सम्यक् रूपेण छिन्न हो जाता है। यह स्थिति समनाभूमि से ऊर्ध्व की है। समना-पर्यन्त पाशजाल है। विशुद्ध विज्ञानकैवल्य में सब पाशों का क्षय तो होता है, परन्तु शिवत्व का अर्थात् भगवत्ता का आविर्भाव नहीं होता। कर्म अवश्य छिन्न हुआ। माया भी निवृत्त हुई। महामाया भी तिरोहित हुई। फिर भी पूर्णत्व-लाभ नहीं हुआ। उन्मनाशक्ति में अधिष्ठित होने पर ही शिवत्व का आविर्भाव होता है। आगम के अनुसार यही अवस्था प्रत्येक आत्मा का यथार्थ स्वरूप है।

जिस प्रकार विभिन्न भूमियों को पार करके बोधिसत्त्व का सम्यक् सम्बुद्धत्व-पद पर अधिष्ठान होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा अन्त में शिवभाव में प्रतिष्ठित होता है। यही वह समय है जब यह महापुरुष स्वभाव-सिद्ध जीवसेवा करने का अवसर पाता है। बोधिसत्त्व के परार्थ कृत्य से बुद्ध के परार्थ कृत्य में जैसे भेद है वैसे ही शुद्ध अध्वा में जो जीवसेवा होती है उससे शिवभाव प्राप्त करने पर जो जीवसेवा होती है वह अवश्य ही भिन्न है। क्योंकि शिव अनुग्रहमय हैं और उनकी पराशक्ति का स्वरूप भी अनुग्रहमय है। यद्यपि वह सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह, निग्रहरूप पञ्च-कृत्यों के ही कारक हैं, फिर भी यह सत्य है कि उनके समस्त कृत्य मूल में अनु-ग्रहात्मक ही हैं। उनका नाम शिव अर्थात् मंगल है। उनकी शक्ति भी सर्वमंगल-मंगल्या है। इसीलिए भगवान् का निग्रह भी अनुग्रह का ही रूप होता है। शुद्ध अध्वा के सभी अधिकारी व्यष्टि या समष्टि रूप में परमेश्वर के जीवानुग्रहरूप व्यापार में निरन्तर निरत रहते हैं। इस अनुग्रह-कार्य को कोई कर्त्ता, कोई करण और कोई

अन्यान्य रूपों में करते हैं, किन्तु सबका लक्ष्य जीव-जगत् का अनुग्रह-सम्पादन ही है। इस परम अनुग्रह का नामान्तर महाकरुणा है। यह सब जीवों की अबाधित रूप में सेवा का एकमात्र उत्स है।

जीव शिव का जैसे सेवक है उसी प्रकार शिव भी जीव का सेवक है। योग-भाष्य में ईश्वर के विषय में व्यासदेव ने कहा है—

"तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।"

परमात्मा आप्तकाम एवं नित्य आनन्दमय है, इसलिए उन्हें अपने लिए किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति नहीं होती, फिर भी वह कर्म करते हैं। इसका एक-मात्र उद्देश्य सर्वभूतों के सभी प्रकार के अभावों को दूर करना है। यही उनका भूता-नुग्रह है। जीवमात्र का हित-सुख साधित करना ही उनका एकमात्र कार्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी जीव-सेवा से सम्बन्धित वाक्यों का तात्पर्य यही है—"वर्त्त एव च कर्मणि", "उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्" इत्यादि। प्राचीन भारतीय संस्कृति में सेवा का आदर्श कितना उच्च था, इन वाक्यों से प्रतीत होता है।

पहले जो करुणा की बात कही गई है, वह प्रज्ञा का सहकारी धर्म है। प्रज्ञा के पूर्ण विकसित होने पर वह उससे अभिन्न हो जाती है। सत्त्वावलम्बन करुणा न्यून-स्तर की है। शुद्ध प्रज्ञा के किञ्चित् विकसित होने पर प्राणिमात्र के दुःखदर्शन से हृदय विगलित होने लगता है और करुणा विकसित होती है। परन्तु यह साधारण करुणा है। प्रज्ञा की उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभिव्यक्ति में करुणा जब उच्च स्तर की हो जाती है तब इसे धर्मावलम्बन करुणा कहते हैं। इस अवस्था में करुणा के लिए किसी के दुःख-दर्शन की आवश्यकता नहीं होती। दुःख के जो कारण हैं, जगत् की अनित्यता या क्षणिकता आदि जो जगत् का धर्म है, इस धर्म के दर्शन से ही करुणा का उदय हो जाता है। इसके आगे करुणा के पूर्ण विकसित होने पर उद्दीपन के लिए इस धर्म की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके पूर्व की प्रज्ञा अङ्गिरूप में और करुणा अङ्गरूप में थी। अब अङ्गाङ्गिभाव निवृत्त हो गया और प्रज्ञा एवं करुणा अभिन्न हो गईं। इस अवस्था की प्रज्ञा ही प्रज्ञापारमिता है। इसे ही महाकरुणा भी कहते हैं। अन्यान्य पारमिताओं के अनुशीलन के समय करुणा का स्थान प्रज्ञा के अंग-रूप में था, किन्तु पूर्णावस्था में दोनों एकाकार हो जाती हैं। बौद्धों में सेवा का आदर्श कितना उच्च है, यह करुणा के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है।

अन्नदान, जलदान, वस्त्रदानादि प्रशंसनीय कार्य हैं और आवश्यक भी हैं। किन्तु, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की दृष्टि से ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है। इसे हमने पहले भी कहा है। दुःख के हेतु अज्ञान का निवर्त्तक होने के कारण ज्ञान अज्ञानमूलक संसारभीति का भी निवर्त्तक है। इसीलिए यह अभयदान का एक विशिष्ट रूप है। किन्तु यह दुःख-निवृत्तिरूप भीतिनिवृत्ति सबके लिए सम्भव नहीं हो पाती। प्रार्थी की योग्यता का विवरण पहले दिया जा चुका है। सभी प्राणियों में मोक्षभागीय व्यक्त है; यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा होता तो सभी मुक्तिमार्ग में क्यों नहीं चलते।

इसीलिए परिच्छिन्न दृष्टि से गोत्रभेद या बीजगत भेद मानना पड़ता है। यही एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से मूलगत भेद है। वह कर्मवैचित्र्य या प्रज्ञावैचित्र्य का आन्तरिक रहस्य है। शास्त्र में धातुभेद से, अधिमुक्ति-(श्रद्धा या रुचि) भेद से, प्रतिपत्ति-भेद से, तथा फलभेद (बोधि के उत्कर्षगत तारतम्य) से गोत्रभेद सिद्ध होता है। बौद्धमत में श्रावक का कुशलमूल अत्यन्त मृदु है और सभी प्रकार के कुशलमूल उसमें रहते भी नहीं। क्योंकि श्रावकों में वल नहीं है; वैशारद्य नहीं है और परार्थपरता नहीं है। श्रावकों का कुशलमूल निरुपधिशेष निर्वाण में ही समाप्त हो जाता है। ऐसा भी कुशलमूल है; जिसका निर्वाण में भी नाश नहीं होता। वस्तुतः सभी में कुशलमूल है, परन्तु किसी-किसी का कुशलमूल अत्यन्त गम्भीर प्रदेश में निहित रहता है। तत्त्वज्ञान के उपदेष्टा ज्ञानी होने पर भी उसे देख नहीं पाते। न देख सकने के कारण वे ज्ञानी होने पर भी ज्ञानोपदेश नहीं कर सकते; क्योंकि उपदेश का ग्रहण ही कौन करेगा और उसका धारण भी कौन करेगा ? इसीलिए अपरोक्ष ज्ञान रहने पर भी सभी सबका उद्धार नहीं कर सकते। एकमात्र भगवान् बुद्ध अथवा उन्हीं के सदृश अप्रतिहत ज्ञान और क्रिया-शक्ति से सम्पन्न योगी ही प्रतिक्षेत्र में स्थित कुशलमूल को स्पष्टरूप से देख सकते हैं। इसीलिए वे प्रतिक्षेत्र में उपदेश देने के अधिकारी भी हैं। यथार्थतः जगद्गुरु के पद पर बैठने के योग्य ये ही महापुरुष होते हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव में कुशलमूल न रहने पर उसमें संसार-नदी पार होने का सामर्थ्य वहीं होता। कुशलमूल है या नहीं, इसका निर्णय गुरु की अन्तर्भेदिनी प्रज्ञा पर ही निर्भर है। भेदनशक्ति सभी गुरुओं में समान रूप से नहीं होती। जो गुरु व्यक्तिविशेष के कुशलमूल नहीं देख सकते, वे दूसरों के उद्धारकर्ता गुरु होने पर भी उस व्यक्ति-विशेष का उद्धार नहीं कर सकते। इसीलिए साधारण गुरु जीव-विशेष का ही उद्धार कर सकते हैं, सबका नहीं; क्योंकि सबका कुशलमूल साधारण गुरुओं का गोचर नहीं होता। जो सर्वज्ञ और सर्वाकारज्ञ हैं, एकमात्र वही सबके बीज देख सकते हैं। बुद्ध ऐसे ही शक्तिशाली पुरुष थे। उनके दशविध अबाधित ज्ञान का सामर्थ्य ही 'दशवल' नाम से प्रसिद्ध है। जिस सन्तान में आस्रव हीन होते हैं उसमें सकल ज्ञान अवश्य प्रकट होते हैं, किन्तु वे ज्ञान 'बल' नहीं हैं। वे अव्याहत होने पर ही 'बल' पदवाच्य होते हैं। यह उसका 'आवेणिक धर्म' है। ये दशविध ज्ञान अन्य ज्ञानियों में रहने पर भी अव्याहत नहीं होते। प्रसिद्धि है कि आर्य सारिपुत्त किसी एक मुमुक्षु पुरुष के मोक्षभागीय कुशलमूल के रहने पर भी देख नहीं सके, किन्तु भगवान् बुद्ध ने एक क्षण में उसे देख लिया। सारिपुत्र का ज्ञान व्याहत था। भिक्षु लोगों के पूछने पर बुद्ध ने कहा—किसी विशिष्ट कर्म के करने के कारण उसने अर्हत्त्व-लाभ किया था। कर्म पृथिव्यादि धातु में विपक्व नहीं होते, किन्तु स्कन्ध-धात्वायतन आदि में ही विपक्व होते हैं। उन्होंने कहा था—

"मोक्षबीजमहं ह्यस्य सुसूक्ष्ममुपलक्षये।
धातुपाषाणविवरे निलीनमिव काञ्चनम्॥"

इससे प्रतीत होता है कि किसी के भीतर शतशः आवरण रहने पर भी उसमें कुछ अच्छे सत्त्व के अंश के मिलने पर उसी का अवलम्बन करके उसे बढ़ाया जा सकता है। शून्य को बढ़ाया नहीं जा सकता। असली बात है कि मनुष्यमात्र में कुशलमूल हैं, चाहे वह लक्षित हों या नहीं। जो योगी इसे देख सकते हैं, वे मनुष्य-मात्र का उद्धार कर सकते हैं। ये ही महापुरुष हैं। ये समझते हैं कि जीवमात्र का मोक्ष अवश्यम्भावी है, परन्तु मुमुक्षुभाव का उदय तो कालसापेक्ष है। सब जीवों की सेवा का यही महत्तम आदर्श है।

सेवाधर्म के विश्लेषण के अन्य और भी कोण हैं। लेख की कलेवर-वृद्धि के कारण उनकी आलोचना का यहाँ अवसर नहीं है।

मनुष्यत्व

प्राचीन हिन्दूशास्त्र में—केवल हिन्दूशास्त्र में ही नहीं, अन्यान्य देशों के धर्मशास्त्रों में भी इतर प्राणियों के जीव-देह की अपेक्षा मानव-देह को अधिक उत्कृष्ट माना गया है। भगवान् श्रीशंकराचार्य ने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुषसंश्रय—इन तीनों का अति दुर्लभ पदार्थ के रूप में वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तीनों में भी मनुष्यत्व ही प्रधान है; क्योंकि मनुष्य-देह की प्राप्ति हुए विना मुक्ति की इच्छा तथा महापुरुष या सद्‌गुरु का आश्रय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चौरासी लाख योनियों के वाद प्राकृतिक विधान से सौभाग्यवश मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है। चौरासी लाख योनियों में स्थावर-जंगम सबका समावेश है। स्वेदज, उद्भिज और जरायुज—इन त्रिविध प्राणियों में जरायुज श्रेष्ठ हैं तथा जरायुजों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। चौरासी लाख योनियों में जो क्रम-विकास की धारा दीख पड़ती है, वह केवल प्राकृतिक क्रम का अवलम्वन करके काल-राज्य में अभिव्यक्त होती है। इन सब योनियों में ज्ञान और शक्तिगत जो तारतम्य दीख पड़ता है, उसके मूल में कर्मगत वैचित्र्य नहीं है। वह केवल प्राकृतिक व्यापार है। एक ही देह में जैसे क्रमशः बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य का विकास होता है, उसी प्रकार एक ही मूल जीवन-धारा में क्रमशः निम्नकोटि के जीव से आरम्भ करके अधिक-अधिक उत्कृष्ट जीव-जाति की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस आरोह-क्रम में प्रकृति का स्वाभाविक विवर्त्तन ही एकमात्र नियामक होता है। जिस नियम में अव्यक्त सत्ता किसी निर्दिष्ट क्रम के प्रवाह में अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होती है, उसी नियम में आदि जीव-स्पन्द प्रकृति के सहयोग से क्रमशः आधार के क्रमविकास-मूलक अपने क्रमविकास के मार्ग में धीरे-धीरे अग्रसर होता है। एक विचित्र शक्ति प्रकृति में निहित रहती है और विशिष्ट देह में यथासमय इन सभी शक्तियों का विकास होता है।

अन्नमय कोष का पहले विकास होता है। इस विकास से ही असंख्य जीव-योनियों का अतिक्रमण संघटित होता है। क्रमशः अन्नमय कोष में प्राणशक्ति के अधिकाधिक विकास के फलस्वरूप अन्नमय कोष की पुष्टता के साथ-साथ प्राणमय कोष का भी विकास होता जाता है। प्राणमय कोष के विकास के फलस्वरूप क्रमशः अति जटिल प्राणचक्रों की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रसिद्ध है कि आत्मसंवित् पहले प्राण में परिणत होकर देह के भीतर व्यापक भाव से क्रिया करती है। यह प्राणशक्ति की क्रिया विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होती है, परन्तु इन समस्त शक्तियों के संचालन के लिए विभिन्न मार्ग आवश्यक हैं। इन सब मार्गों को नाड़ी या शिरा कहते हैं। अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार जैसे प्राणशक्ति के विभिन्न स्तर हैं, उसी प्रकार

इन नाड़ियों के भी पृथक्-पृथक् स्तर हैं। नाड़ी-चक्र की यह जटिलता क्रमशः प्राण-शक्ति के विकास के साथ-साथ वर्द्धित होती है। पश्चात् ऐसा समय आता है, जब प्राणमय कोष मनोमय कोप में परिणत हो जाता है। इस परिणति के समय देह का आमूल परिवर्त्तन घटित होता है; क्योंकि उस समय केवल प्राणशक्ति के संचालन के मार्ग के अतिरिक्त मनोमय शक्ति के संचालन का मार्ग भी प्रकाशित होने लगता है। इसको मनोवहा नाड़ी कहते हैं। प्राणवहा नाड़ी जैसे अनेक प्रकार की होती है, उसी प्रकार मनोवहा नाड़ी तदपेक्षा और भी अधिक वैचित्र्य से युक्त होती है।

मनोमय कोप की अभिव्यक्ति और मनुष्य-देह की अभिव्यक्ति समकाल में सम्पादित होती है। अतएव प्राणमय कोष का पूर्ण विकास और मनोमय कोष का पूर्वाभास लेकर ही चौरासी लाख योनियों की परिसमाप्ति होती है। मनोमय कोष का विकास और मनुष्य-देह का उद्भव एक ही बात है। चौरासी लाख योनियों के अवसान की ओर पशु आदि में मानवोचित वृत्तियों का कुछ पूर्वाभास देखने को मिलता है। ये सारी वृत्तियाँ मानसिक वृत्तियों के रूप में ही प्रतीत होती हैं, परन्तु ये मन के आभासमार्ग हैं। प्रकृत मन उस समय भी अवगत नहीं होता। एकमात्र मनुष्य-देह में ही यथार्थ मनोमय कोष की स्थिति और क्रिया सम्भव है। मनुष्य-देह में विचार और विवेक-शक्ति क्रमशः प्रस्फुटित होती है। शुभ और अशुभ, सत् और असत्—इन दोनों की विचारपूर्वक विवेचना करने का सामर्थ्य मनुष्य में ही सम्भव है। मानव-देह में मन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अहंमति या अभिमान का उद्भव और विकास घटित होता है। मनुष्य के सिवा अन्य पशु-योनियों में यह अभिमान स्पष्ट रूप से उदित नहीं होता। इस अभिमान से व्यक्तित्व के बोध का सूत्रपात होता है तथा 'मैं और तुम' इन दोनों भावों के बीच भेद-ज्ञान का आविर्भाव सम्भव होता है। यह अभिमान क्रियमाण कर्म और उपभुज्यमान फल— दोनों ही ओर समभाव से वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् एक ओर जैसे कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होकर अपने को कर्त्तारूप में परिचित कराता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भोक्तृत्वाभिमान के प्रभाव से अपने को सुख-दुःख के भोक्ता के रूप में परिचित कराता है। कर्म करना और कृत कर्म का फल-भोग करना, दोनों के मूल में देह के साथ तादात्म्य-बोध अविवेक के द्वारा उत्पन्न हुआ है और यही एक ओर जैसे कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति का हेतु है, दूसरी ओर उसी प्रकार कर्मफल-भोग का भी हेतु है। यही सांसारिक जीवन का वैशिष्ट्य है।

इससे समझा जा सकता है कि जीव मनुष्य-देह में प्रकट होने के बाद संसारी बनकर अपने-अपने संस्कार के अनुसार प्रकृति के राज्य में शुभाशुभ कर्म करता रहता है और उसका फल-भोग करने के लिए कर्मानुरूप देह ग्रहण करने को बाध्य होकर लोक-लोकान्तर में अनुरूप देहों में जन्म ग्रहण करता रहता है। इसी प्रकार असंख्य जन्म बीत जाते हैं और इस जन्म-परम्परा के भीतर जीव को विभिन्न प्रकार के शरीर

ग्रहण करने पड़ते हैं। शुभ कर्मों के फलस्वरूप ऊर्ध्वलोक में गति होती है और नाना प्रकार के देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं। अशुभ कर्मों के फल से उसी प्रकार अधोलोक में गति होती है तथा पशु आदि निम्न योनियों में पतन हो जाता है। साधारणतः मिश्र कर्म के फल से पुनः मनुष्य-देह में ही जीव लौट आता है।

यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि मनुष्य निम्न स्तर के पशु, पक्षी आदि कोई देह ग्रहण करने पर भी उस देह में दीर्घकाल तक नहीं रहता। आरोह-क्रम से जो जीव पशु-पक्षी के शरीर में जन्म लेते हैं, उनको मनुष्य-देह में साधारण तथा निर्दिष्ट क्रम का भेद करके आना पड़ता है, परन्तु अवरोह-क्रम में ऐसा नहीं होता; क्योंकि अवरोह-क्रम से जो जन्म होता है, वह केवल कर्मफल-भोग के लिए ही होता है। भोग पूरा हो जाने पर मनुष्य-देह में जीव फिर लौट आता है। आरोह-क्रम से कर्मफल-भोग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह पहले ही कहा जा चुका है। जो कर्मवादी नहीं हैं, उनके लिए पशु, पक्षी आदि की देह से पुनः मनुष्य-देह में आना जागतिक औचित्य-शक्ति के ऊपर निर्भर करता है और वह कब संघटित होता है, यह कहना बहुत ही कठिन है। इस विषय में अधिक विस्तार इस प्रसंग में अनावश्यक है।

जिस अभाव को लेकर जीव मनुष्य-देह में जन्म लेता है, वह भोग के साथ-साथ भोगाकांक्षा की वृद्धि के फलस्वरूप क्रमशः बढ़ता जाता है। अनेक जन्म बीत जाने पर एक ऐसा समय आता है, जब भोगाकांक्षा क्रमशः शिथिल हो जाती है; क्योंकि जब यह देखा जाता है कि अनन्त प्रकार की भोग्य वस्तुओं का अनन्त प्रकार से भोग करके भी भोगाकांक्षा शान्त नहीं होती, तब मन में ग्लानि उत्पन्न होती है और अस्फुट रूप में निर्वेद और वैराग्य का भाव जाग्रत् होता रहता है। तब प्रवृत्ति की ओर गति का वेग घटने लगता है तथा चित्त निवृत्तिभाव का आश्रय लेकर क्रमशः अन्तर्मुख होने की इच्छा करता है। किसकी यह अवस्था कब होगी - यह बतलाना कठिन है; किन्तु जब भी यह होगी, तभी से उसके अभिनव जीवन का सूत्रपात होगा, यह जानना चाहिए। उस समय जीव को यह आभास होता है कि एक महाशक्ति इस विश्व के भीतर और बाहर कार्य कर रही है। वह प्रकृति है, उसके गुणों के द्वारा जगत् के सारे कार्य हो रहे हैं, जीव इस प्रकृति के जाल में जड़ित होकर अविवेकवश समझता है कि कार्य का कर्त्ता वही है। जीव का यह कर्त्तृत्वाभिमान मिथ्या ज्ञान का कार्य है। अज्ञ जीव अपने सामर्थ्य से कोई कर्म नहीं कर सकता, परन्तु प्रकृति के किये हुए कर्म को भ्रमवश अपना कर्म समझने लगता है। इसी के फलस्वरूप उसको संसारी बनकर नाना प्रकार के सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। आभास-रूप से यह ज्ञान वैराग्य के साथ-साथ किसी-किसी के भीतर जाग उठता है। तब जीव यह समझ पाता है कि आनन्द की खोज में वह इस विराट् विश्व में जन्म-जन्मान्तर से भटकता आ रहा है। वह आनन्द उसको बाहर किसी देह में या लोक-लोकान्तर में उपलभ्य नहीं है। अतएव बारम्बार बाहर घूमकर परिक्लांत होने की उसकी इच्छा नहीं होती। परन्तु वह आनन्द है कहाँ, इसका पता उसे नहीं होता। अस्फुट रूप से उसके हृदय में

आनन्द का यह संवाद प्रस्फुटित हो उठता है और यह भी वह जान लेता है कि यह ध्रुव सत्य है; परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करके; किस प्रकार अग्रसर हुआ जाय ? यह उसकी समझ में नहीं आता। दिन-प्रतिदिन व्याकुलता बढ़ती जाती है तथा वैराग्य भी तीव्र होता जाता है, साथ ही इस अखण्ड विश्व में वह अपनी क्षुद्रता का भी अनुभव करता है; परन्तु जबतक मार्ग का सन्धान नहीं पाता, तबतक अग्रसर नहीं हो पाता।

यह आनन्द ही वस्तुतः उसका स्वरूप है और इसका सन्धान पाने के लिए ही उसको समस्त जीवन लगा देना उचित है—इस बात को वह समझ लेता है। भगवान् शंकराचार्य ने जिस मुमुक्षुत्व की बात कही है, वह इसी समय उदित होता है। जिस प्रकार चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य-देह की प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार कोटि-कोटि जन्मों के कर्म-फल भोगने के बाद वैराग्य का उदय और आनन्दस्वरूप निज आत्मा का परिचय प्राप्त करके मायाजाल से मुक्त होने की आकांक्षा भी दुर्लभ है। यह आकांक्षा ही मुमुक्षा है।

इसके बाद भगवान् शंकराचार्य ने महापुरुष के आश्रय की बात कही है। वे महापुरुष ही सद्गुरु हैं तथा भ्रान्त जीव को स्वस्थान में लौटाकर स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के अधिकारी हैं। आचार्य ने सद्गुरु-प्राप्ति को अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु माना है, यह सब सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त करने पर, उससे भी अधिक दुर्लभ वैराग्य और निवृत्तिभाव तथा मुक्ति की आकांक्षा प्राप्त करने पर सद्गुरु की कृपा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अवश्यम्भावी है।

सद्गुरु को खोज करके निकालना नहीं पड़ता, परन्तु कभी-कभी अपने कर्म के क्षय के लिए अन्वेषण आवश्यक होता है। समय पूरा होने पर सद्गुरु स्वयं ही मुमुक्षु जीव को दर्शन देते हैं। सद्गुरु के बिना मार्ग का सन्धान कोई नहीं पाता। मार्ग पर चलाकर ले चलने की शक्ति भी किसी में नहीं होती तथा महालक्ष्य का साक्षात् परिचय भी दूसरों को नहीं होता। परन्तु अल्पज्ञ जीव माया से मोहित होकर दिग्भ्रान्त रूप में भटक-भटककर सद्गुरु का सन्धान नहीं पा सकता। सद्गुरु वस्तुतः श्रीभगवान् हैं। उनकी अनुग्रहशक्ति ही 'गुरुपद' वाच्य है। वे उपेय हैं अर्थात् उपाय के सहयोग से प्राप्त होते हैं और उपाय भी वे ही स्वयं हैं। वे अपना मार्ग स्वयं न दिखावें तो कौन उनको खोज निकाल सकता है। वे ही पथ हैं तथा वे ही पथ के गन्तव्य स्थान हैं। यह पथ छोटा है या बड़ा—इसको भी एकमात्र वे ही जानते हैं। उनका अनुग्रह होने पर बहुत लम्बा पथ भी छोटा हो सकता है। उनका अनुग्रह शिथिल होने पर लघु पथ भी दीर्घरूप में परिवर्तित हो जाता है और महान् अनुग्रह के समय क्षण-भर में ही पथ अदृश्य भी हो जाता है, एकमात्र स्वयंप्रकाश वे ही अखण्ड भाव से विराजमान हो जाते हैं। याद रखने की बात है कि साधारणतया एक उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरुरूपी श्रीभगवान् जीव के सामने अपनी अनुग्रह-शक्ति को प्रकाशित करते हैं। इस शक्तिप्रकाश की धारा अखण्ड है। जीव की योग्यता

विभिन्न प्रकार की होती है, अतएव विभिन्न जीवों के सामने विभिन्न भाव से इस शक्ति का प्रकाश होता है।

गुरु का प्रधान कार्य है—आश्रित शिष्य की दृष्टि का पर्दा खोल देना तथा उसको सत्य के अनावृत स्वरूप का दर्शन कराना। जीव का आत्मस्वरूप क्या है, यह जानना आवश्यक है; क्योंकि सत्य का यही यथार्थ स्वरूप है। इस स्वरूप को दिखा देना तथा जो पथ इस स्वरूप की उपलब्धि की ओर अग्रसर होता है, उसको दिखा देना गुरु का कार्य है। परन्तु उस पथ पर चलना तथा क्रिया-कौशल, भावना अथवा संवेग के द्वारा उस पथ को पूरा करना शिष्य का काम है। गुरु की कृपा और शिष्य का आत्मपौरुष सम्मिलित होकर असम्भव को सम्भव कर सकते हैं। शिष्य क्षणमात्र के लिए भी अपने स्वरूप को देखकर समझ सकता है कि वह आज तक अपने को जो समझता रहा है, वह नहीं है। अर्थात् यह देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी वह नहीं है।

चिरकाल तक भोग-मार्ग में चलते-चलते इन्हीं को वह अपनी सत्ता के रूप में समझने लगा था। गुरु की कृपा से वह अब समझ जाता है कि वस्तुतः वह इनमें से कोई भी नहीं है। वह इन सब अनात्म-सत्ताओं से पृथक् वस्तु है और चेतन-स्वरूप है। अब वह विज्ञानमय देह में प्रतिष्ठित हो गया है।

विवेक उत्पन्न होने तथा देह के प्रथम आविर्भाव के बाद सुदीर्घ काल तक क्रम-विकास के पथ से विभिन्न स्तरों से होते हुए इसे अग्रसर होना पड़ता है। जीवदेह क्रमशः अभिव्यक्त होकर मनुष्य-देह में जबतक परिणत नहीं होती, तबतक यह प्रश्न उठता ही नहीं कि वह कौन है और उसका स्वरूप क्या है। मनुष्य-देह प्राप्त होने पर भी देहादि के अभिमान से युक्त होने के कारण अपने यथार्थ स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न ही उसके चित्त में नहीं उठता। सुदीर्घ काल तक कर्मफल-भोग करने के बाद अन्त में अवसादग्रस्त होकर जब वह जीवन की निष्फलता का अनुभव करता है, तब वस्तुतः 'मैं क्या हूँ'—इस प्रश्न का उदय होता है। उसके बाद जबतक यह प्रश्न जड़ नहीं जमा लेता, तबतक इसका समाधान प्राप्त नहीं होता। पश्चात् गुरु-कृपा से संशय, भ्रम आदि दूर होकर 'कोऽहम्' रूप में अर्थात् 'मैं ही वह परम पदार्थ हूँ', इस रूप में प्रत्यक्षतः उस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य-देह वस्तुतः समस्त विश्व का प्रतीक है। नीचे, ऊपर और बीच में जहाँ जो कुछ है, सबका सार ग्रहण करके यह शरीर रचा गया है। इसीलिए कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है और जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वस्तुतः सब कुछ ही विश्व-रूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जाने के कारण मनुष्य अपने को विश्वरूप में पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्व से भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाशस्वरूप भी है—एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्व की अभिव्यक्ति मनुष्य में ही सम्भव है। पशु-पक्षी

की देह में जैसे पूर्णत्व का अभिज्ञान नहीं होता, वैसे ही देव-देह में भी नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकार की देह भोग-देह के अन्तर्गत हैं। कुण्डलिनी-शक्ति निद्रित रहने पर भी एकमात्र मनुष्य-देह में ही जाग्रत् होती है। यहाँ तक कि मनुष्य-देह में ही उसका पूर्ण जागरण सम्भव है। देवताओं में जो पुण्य कर्म के फल से भोग और ऐश्वर्य में प्रतिठिष्त हैं, वे अपूर्व हैं। यहाँ तक कि जो देवता कर्म के सम्बन्ध के बिना भी आजान देवता के रूप में सृष्टि के आदि से प्रतिष्ठित हैं, वे भी विशेष अधिकारों से सम्पन्न होने के कारण पूर्णत्व से वंचित हैं। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भाव—ये सब एकमात्र मनुष्य-देह में ही, अवस्था-विशेष में ही, व्यक्त हो सकते हैं। मनुष्य के सिवा अन्य किसी योनि में पूर्णत्व के मार्ग पर आरूढ़ होना सम्भव नहीं। इसी से शास्त्र कहते हैं कि देवगण भी मनुष्य-शरीर की स्तुति किया करते हैं।

पूर्ण ज्ञान को समझने के लिए अज्ञान के स्वरूप को समझना आवश्यक है। जिस वस्तु का जो स्वरूप है, उसके उस स्वरूप को ठीक-ठीक जानने का नाम ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा यदि अपने को आत्मा के रूप में पहचान सके अर्थात् यदि उसकी निज स्वरूप में अहं-प्रतीति उत्पन्न हो जाय तो उसी को यथार्थ आत्मज्ञान समझना चाहिए। अतएव आत्मा में अनात्मबोध होना अथवा अनात्मा में आत्मबोध अर्थात् अनात्मा को समझना दोनों ही अज्ञान-पदवाच्य हैं। पूर्ण अहंभाव केवल परमात्मा या परमेश्वर में ही सम्भव है। जबतक आत्मा माया से आच्छन्न है, तबतक वह अनात्मा को आत्मा के रूप में ग्रहण करने के लिए बाध्य होता है। सर्वप्रथम वह इस स्थूल देह को ही अपना स्वरूप समझता है और इसी में उसका 'मैं-पन' निहित रहता है। इसके बाद स्थूल देह से 'मैं-पन' का बोध दूर हो जाने पर भी प्राण और बुद्धि में अर्थात् सूक्ष्म सत्ता में 'मैं-पन' का बोध रह जाता है। इसको दूर करने में बहुत समय लगता है। उसके बाद प्राण और बुद्धि के परे शून्य में उसका 'मैं-पन' का बोध निमग्न हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से होते हुए जीव निरन्तर घूमता-फिरता रहता है। इसके फलस्वरूप उसका शून्य-भेद अथवा सुषुप्ति-भेद घटित नहीं होता और वह माया के बाहर अपने स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर पाता। यही सांसारिक अवस्था का संक्षिप्त विवरण है। परन्तु जब विवेकज्ञान का उदय होता है तब आत्मा समझ पाता है कि वह माया से भिन्न और माया के कार्यभूत त्रिविध देह से भी भिन्न है; मायिक सत्ता जड़ है, परन्तु वह शुद्ध चेतन है। इस अवस्था में स्थित होने पर जीवरूपी आत्मा, कर्म और माया—दोनों से मुक्त हो जाता है और कैवल्यदशा को प्राप्त होता है। साधारण दृष्टि से यह भी मुक्त अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु यह पूर्ण मुक्ति नहीं है; क्योंकि अनात्मा में आत्मबोधरूपी अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी शुद्ध अज्ञान अब भी रह ही जाता है। कैवल्य को प्राप्त आत्मा कर्म-संस्कार के अभाववश संसार-चक्र में तो नहीं पड़ता, परन्तु पूर्ण भागवत-जीवन का अधिकारी नहीं होता। उस समय ज्ञान का विकास होने पर भी वह यथार्थ दिव्य ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उस समय क्रियाशक्ति का विकास नहीं होता।

वस्तुतः पूर्ण चैतन्यस्वरूप में ज्ञान और क्रिया अभिन्न होते हैं। अतएव महामाया के उल्लासरूप शुद्ध अज्ञान की निवृत्ति जबतक नहीं होती तबतक जीव कैवल्यरूप मुक्ति को प्राप्त होकर भी दिव्य जीवन के मार्ग में पदार्पण नहीं कर सकता। सद्गुरु की कृपा के विना पूर्णत्व का पथ उन्मुक्त नहीं होता। गुरु की कृपा से जब वह मार्ग प्राप्त हो जाता है, तब जीव का जीवभाव अर्थात् प्राकृत भाव कट जाता है तथा दिव्य और अप्राकृत भाव का उदय होता है। उस समय क्रमशः चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अनात्मा में आत्मभाव कट जाने पर भी अबतक आत्मा में अनात्मभाव नहीं कटा था। दिव्य ज्ञान के उदय और विकास के साथ-साथ आत्मा में अनात्म-भावरूप शुद्ध अज्ञान कटना प्रारम्भ हो जाता है। यह अज्ञान जब पूर्णतया उच्छिन्न हो जाता है, तब जीव अपने को पूर्ण और परमात्मरूप में उपलब्ध करता है। उस समय बोधक्षेत्र में अनात्मभाव बिलकुल ही नहीं रह जाता। यह शुद्ध आत्मा 'सोऽहम्' रूप में अपना पूर्ण अनुभव करता है। यही चित्-शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है तथा परमात्मा के साथ जीवात्मा के अभेद की प्रतिष्ठा है।

इस अवस्था के आनन्द को मानवीय भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह स्थिति प्राप्त करने के बाद केवल निरन्तर आत्मस्वरूप का ही अविच्छिन्न अनुभव जाग्रत् रहता है। उस समय विश्व अथवा जगत् की स्मृति या अनुभव उसको नहीं होता। यही पूर्ण ब्राह्मी स्थिति है। परन्तु इसके परे भी एक अवस्था है। वह अवस्था निश्चय ही सबके लिए नहीं है। किसी-किसी विशिष्ट पुरुष को उस अवस्था की प्राप्ति होती है, सबको नहीं। उस अवस्था में जगत् का बोध फिर लौट आता है; परन्तु यह पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति की प्रतिकूल अवस्था नहीं है। क्योंकि ब्राह्मी स्थिति की अखण्ड अनुभूति कभी लुप्त होनेवाली नहीं।

ब्राह्मी स्थिति की अवस्था और उसके बाद आनेवाली अवस्था के बीच एक सामान्य भेद है। ब्राह्मी स्थिति के पूर्व की अवस्था में जैसे केवल जीवभाव रहता है, उस समय ब्रह्मभाव का स्फुरण नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मी स्थिति में ब्रह्मभावना जब होती है, तब जीवभाव का भी स्फुरण नहीं होता; परन्तु तृतीय अवस्था में परि-निष्ठित ब्रह्मभाव के भीतर ही जीव और जगत् की अनुभूति यथावत् लौट आती है। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति के भीतर ही एक अभूतपूर्व उल्लास लक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनन्द महाकरुणा के रूप में प्रकट होता है। जीव-अवस्था में समस्त विश्व दुःखमय होता है, यथार्थ आनन्द का आभास वहाँ जाग्रत् नहीं होता। जो आनन्द छाया के रूप में वहाँ उपलब्ध होता है, वह दुःख का ही एक भेद-मात्र होता है; परन्तु ब्रह्मावस्था में समस्त दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति एक साथ ही होती है। इस अवस्था में दुःख की अनुभूति भी नहीं रहती। जीव की अनुभूति भी नहीं रहती एवं जगत् की अनुभूति भी नहीं रहती। सर्वत्र अपना ही स्वरूप दिखता है तथा अविच्छिन्न स्वरूप में आनन्द के सिवा और कुछ लक्षित नहीं होता। यही वस्तुतः स्वरूप-स्थिति का विवरण है। परन्तु यह श्रीभगवान् के साथ

'जीवात्मा का साम्य' है, यह भी परिपूर्ण अवस्था नहीं है; क्योंकि जो अखण्ड सत्ता योगी का परम लक्ष्य है, वह सम्यक् प्रकार से अब भी अधिगत नहीं होती; क्योंकि एकमुक्ति और सर्वमुक्ति के अभिन्न रूप में प्रकाशित होने का अभी अवसर ही नहीं आया। तृतीय अवस्था में द्वितीय अवस्था की पूर्णता के भीतर ही प्रथम अवस्था की वेदना प्रतिभासित हो उठती है। उस समय जीव और जगत् तथा अनन्त दुःख अखण्ड पूर्ण आनन्द के भीतर फूट पड़ता है। जो समाधि के आवरण में दबा हुआ था, वह अवसर पाकर अपने को प्रकट करता है। इसके फलस्वरूप दुःख के सान्निध्य के कारण पूर्ववर्णित आनन्द करुणा का रूप धारण करता है। जिसमें इस करुणाशक्ति का जितना ही अधिक उद्रेक होता है, वह उतना ही अधिक परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करने की योग्यता से सम्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था ही सद्गुरु की अवस्था है। वे नित्य मुक्त पूर्ण ब्रह्मस्वरूप होकर भी एक प्रकार से प्रत्येक जीव के दुःख के स्पर्श से करुणार्द्र हृदय होते हैं। दुर्गासप्तशती के श्रीजगदम्बा को 'सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्र चित्ता' कहा गया है। सन्तान-वात्सल्य-मूलक जो आनन्दमयी माँ की आर्द्र चित्तता है, वही महाकरुणा का निदर्शन है। स्वयं आनन्द में प्रतिष्ठित होकर भी जबतक दूसरे को उसी प्रकार के आनन्द में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, तबतक यह कहना नहीं बनता कि जीवन का यथार्थ महत्त्व सम्पन्न हो गया। परन्तु यह बात सबके लिए नहीं है। किसी-किसी भाग्यवान् के लिए है। इसी कारण एक ओर अनवच्छिन्न परमानन्द होते हुए भी दूसरी ओर अशेष करुणा का स्थान रहता है। कहना नहीं होगा कि परमानन्द की भित्ति में यह परम रस का उल्लास है। यह रस अनन्त प्रकार का हो सकता है, अथवा शास्त्रनिर्दिष्ट नौ प्रकार का भी हो सकता है। परन्तु यहाँ जिस दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है, उसके अनुसार इसको करुण रस के नाम से पुकारना ही ठीक है। इसी कारण महाकवि भवभूति ने कहा है—'एको रसः करुण एव'।

यह जिस स्थिति की बात कही गई है, वही सद्गुरु की स्थिति है। दूसरे के दुःख से दुःखित हुए विना करुणा का उदय नहीं होता और करुणा के विना दूसरे का दुःख भी दूर नहीं किया जाता। जबतक दूसरा है, तबतक उसका दुःख भी है तथा उसको निवृत्त करने का प्रयोजन भी है और उसकी निवृत्ति आवश्यक है। अतः गुरुभाव का योग भी स्वाभाविक है। किन्तु पूर्वोक्त द्वितीय अवस्था में यह अन्यबोध तथा अन्य का दुःख-बोध नहीं रहता। अतः उसका अस्तित्व भी उस समय कल्पित होने की सम्भावना नहीं होती; परन्तु समाधि या समावेश दशा के कट जाने पर अपनी पूर्णतानुभूति के भीतर ही यह अन्य या परबोध व्युत्थित के हृदय में जाग उठता है। उस समय करुणा का उद्रेक होता है। यही जीवन्मुक्त सद्गुरु की दशा है। जो जिस परिमाण में श्रीभगवान् के अनुग्रह-वितरणरूपी इस महायज्ञ में भाग ले सकते हैं, उनको उतना ही सौभाग्यवान् समझना चाहिए। जिनकी करुणा का प्रसार-क्षेत्र जितना अधिक होता है, श्रीभगवान् के साथ उनका तादात्म्य भी उतना ही गम्भीर होता है।

एक प्रकार से मुक्त पुरुष श्रीभगवान् के साथ अभेद में प्रतिष्ठित होने पर भी दूसरी ओर देहावस्था में किंचित् भेदविशिष्ट होने के कारण करुणा के अधिकार के सम्बन्ध में भी तारतम्य विशिष्ट होते हैं। अपने स्वगत भाव को जो परम स्वरूप में विसर्जित कर सकता है, उसका कर्मक्षेत्र असीम हो जाता है। नहीं तो जिसका क्षेत्र जिस परिमाण में होता है उसे उसी परिमाण में अनुग्रहशक्ति अथवा महाकरुणा का विस्तार करके अवसर ग्रहण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीर का गुरुत्व इतना अधिक है कि वह विश्वगुरु के साथ अभिन्न होकर जबतक इच्छा हो, तब तक सिद्ध स्वरूप में विश्वगुरु के प्रतिनिधि अथवा परिषार के रूप में जगत् के सेवा-कार्य या जीव के उद्धार-कार्य में अपने को नियुक्त रख सकता है। कहना नहीं होगा कि यह सब महामाया की नित्यलीला के अन्तर्गत है। अतएव मनुष्य-देह का गौरव केवल ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानने में नहीं है, केवल ब्रह्मानन्द का स्वयं भोग करनेमें नहीं है, बल्कि निर्विशेषरूप ब्रह्मानन्द को सबमें वितरण करने का अधिकार प्राप्त करने में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवताओं को भी यह अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि साधारण मुक्त पुरुष को भी नहीं है। इस अधिकार की प्राप्ति जबतक पूर्ण नहीं होती (अवश्य ही अपनी ओर से) तबतक आत्मा परमात्मा के साथ अभिन्न होकर भी कुछ भेदयुक्त रहता है। यह अवस्था दीर्घ काल तक रह सकती है और क्षणमात्र में ही विलीन हो जा सकती है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है। उससे स्वरूप की हीनता या क्षुद्रता नहीं होती।

अतएव 'महापुरुष का संश्रय' भी मानव-देह की महिमा का सम्यक् परिचय नहीं है। महापुरुष-पद में स्वयं प्रतिष्ठित होना भी मानव-देह में ही सम्भव है।



योग और परकाय-प्रवेश

योगशास्त्र की आलोचना करने पर यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि योगी के आत्मविकास के लिए परकाय-प्रवेश का एक विशेष स्थान है; परन्तु यह भी अवश्य ही सत्य है कि स्वयं योग-मार्ग में प्रविष्ट हुए विना केवल शास्त्र की आलोचना के द्वारा इस रहस्य को समझना सम्भव नहीं। भगवान् शङ्कराचार्य ने किसी विशिष्ट प्रयोजन को साधने के लिए परकाय-प्रवेश किया था, यह उनके जीवन-चरित के पढ़ने से जाना जाता है। वहुत-से लोगों की यह धारणा है कि परकाय-प्रवेश एक साधारण विभूतिमात्र है तथा अन्यान्य विभूतियों के समान अध्यात्म-मार्ग में अग्रसर होनेवाले योगी के लिए वह उपेक्षणीय है। यह धारणा निराधार है, यह बात परकाय-प्रवेश के तत्त्व की आलोचना करने पर शीघ्र ही समझ में आ जायगी।

प्रचलित योगमार्ग के जो आठ अङ्ग हैं, उनमें पाँच बहिरङ्ग तथा तीन अन्तरङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतरङ्ग योग के प्रारम्भ में ही धारणा का स्थान निर्दिष्ट है। चित्त को देह के किसी अंश में बद्ध कर रखने का अभ्यास धारणा की सिद्धि के लिए एकान्त आवश्यक है। चित्त स्वभावतः ही चञ्चल है, वह कहीं आबद्ध होकर रहना नहीं चाहता, परन्तु अभ्यास के द्वारा दीर्घकाल के पश्चात् उसे इस प्रकार आबद्ध करना सम्भव हो जाता है। चित्त को आबद्ध न कर सकने पर ध्यान और समाधि की आशा दुराशा-मात्र है। यह जो धारणा की बात कही गई है, वह अपनी देह को आश्रय बनाकर ही की जाती है, किन्तु योगी के लिए विदेह धारणा की भी आवश्यकता है। विदेह धारणा का तात्पर्य है कि चित्त को देह में प्रतिष्ठित रखते हुए भी उसकी वृत्ति को देह के बाहर किसी अभीष्ट स्थान में भेजा जा सके। चित्त के स्वरूप तथा उसकी वृत्ति में जो भेद है, उसे इस प्रसंग में स्मरण रखना उचित है। चक्षु से जिस प्रकार समस्त चाक्षुष रश्मियाँ निकलती हैं तथा वे बाह्य दृश्य पदार्थ के साथ युक्त होकर उसके आकार में परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार चित्त से भी रश्मियाँ निकलकर बाह्य पदार्थों में कार्य करती हैं। इस प्रकार दूरवर्त्ती वस्तु में धारणा का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर उस पदार्थ का ध्यान, उसमें चित्त की समाधि और उसके फलस्वरूप उस पदार्थ का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। विदेह धारणा के विना बाह्य पदार्थ का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्र में अनेकों स्थानों में 'योगज प्रत्यक्ष' नाम से जिस अलौकिक प्रत्यक्ष का उल्लेख पाया जाता है, उपर्युक्त साक्षात्कार उसी का एक प्रकार-भेद-मात्र है।

चित्त की अनन्त रश्मियाँ हैं; परन्तु किसी एक विशिष्ट पदार्थ का साक्षात्कार करने के लिए उसमें एक रश्मि का संचार आवश्यक होता है, अनेक रश्मियों

का नहीं। किन्तु योग-शक्ति के क्रमिक विकास के फलस्वरूप जब एक रश्मि के समान अन्यान्य समस्त रश्मियों का संचार हो जाता है, तब बाह्य जगत् के समस्त पदार्थों के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सत्य है कि पदार्थ अनन्त हैं और चित्त की रश्मियाँ भी अनन्त हैं; परन्तु किसी विशिष्ट पदार्थ का स्मरण करके उसमें रश्मि प्रयोग करने से कभी अनन्त पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण खण्ड-खण्ड-रूप से होनेवाले पृथक् पदार्थ के ज्ञान से जगत् में समस्त पदार्थों का तथा वर्त्तमान के समान ही अतीत और अनागत समस्त विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं होता। सामान्य और विशेष भाव में परस्पर सम्बन्ध है। अतएव विशेष पदार्थ में संयम करके जिस प्रकार उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषों के व्यापक महासामान्य का अवलम्बन करके उसके संयम के द्वारा सर्वज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है।

विदेह-धारणा का अभ्यास करके खण्डरूप से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर भी इस ज्ञान में ज्ञेय विषय का ज्ञेयरूप में ही प्रतिभास होता है, ज्ञातारूप में नहीं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इस ज्ञान का विषय नहीं बनता; क्योंकि एक अखण्ड चैतन्य के साथ व्यक्तित्व-नियामक अवच्छेदक-स्वरूप मन का सम्बन्ध रहने के कारण उपर्युक्त व्यक्ति का वैशिष्ट्य निरूपित होता है। खण्डरूप में आत्मा अनन्त हैं तथा मन भी अनन्त हैं। केवल यही बात नहीं, प्रत्येक आत्मा के साथ उसके स्वकीय मन का सम्बन्ध भी पहले से ही निर्दिष्ट रहता है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र तथा सर्वत्र समभावापन्न होने पर भी जैसे आत्मा आत्मा में भेद होता है; ठीक वैसे ही मन का स्वरूप और प्रकृति भी सामान्यतः एक प्रकार की होने पर भी विभिन्न मनों में पारस्परिक भेद सृष्टिकाल से ही चला आता है। केवल इतना ही नहीं, आत्मा के साथ मन का विशिष्ट सम्बन्ध भी पहले से ही निश्चित रहता है। इन समस्त कारणों से व्यक्तित्व स्वीकार किये विना काम नहीं हो सकता। इसी कारण विदेह धारणा से जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे व्यक्तित्वमूलक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव व्यक्तित्व सम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यही है कि उसका एक अपना मन है। जबतक उस मन के साथ योगी योगबल के द्वारा अपने मन का तादात्म्य-सम्पादन नहीं कर लेता, तबतक व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख और विशेष अनुभूतियों को वह ठीक उस रूप में ग्रहण नहीं कर सकता, जिस रूप में ग्रहण करने पर वे उस व्यक्ति के ही जीवन की अनुभूति के अंशरूप में अङ्गीकृत किये जा सकें। किसी व्यक्ति के साथ सब प्रकार से अभिन्न होने पर जबतक अभेद बना है, तबतक उसकी सुख-दुखादि समस्त अनुभूतियाँ और संस्कार योगी के अपने हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं।

विदेह-धारण-से इस प्रकार अभेद भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इस धारणा के लिए योगी को अपने मन के द्वारा प्रत्यक्षतः कोई कार्य करना नहीं पड़ता। मन की रश्मि के द्वारा ही अभीष्ट कार्य सम्पादित हो जाता है। अर्थात् योगी का मन जिस प्रकार पहले देहावच्छिन्न था, वैसा ही रहता है; परन्तु दूरवर्त्ती वस्तु का

आश्रय लेकर केवल उसके वृत्तिरूप में परिणत होता है। साधारण निकटवर्त्ती वस्तु के प्रत्यक्ष के समय जिस प्रकार अन्तःकरण का परिणाम होता है, यह भी ठीक वैसे ही होता है। केवल एक अंश में पृथक्ता होती है। लौकिक प्रत्यक्ष के समय तो इन्द्रियों के साथ विषय का लौकिक सन्निकर्ष रहता है; किन्तु यहाँ विषय दूरवर्त्ती होता है और लौकिक इन्द्रियों के लिए गोचर नहीं होता, अतएव इन्द्रियों के साथ विषय का सन्निकर्ष लौकिक न होकर अलौकिक हो जाता है। इसका भी एक कारण है—लौकिक ज्ञान की अवस्था में चित्त विक्षिप्त रहता है, परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष की अवस्था में वह अपेक्षाकृत एकाग्र हो जाता है। अर्थात् चित्त में एकाग्रता के उदय के साथ-साथ एक विश्वरूपी आलोक के आविर्भाव की अनुभूति होती है। यह बाहर का आलोक नहीं होता, बल्कि चित्त का स्वभावगत अन्तर्हित आलोक प्रज्ञालोक होता है। विक्षिप्त अवस्था में चित्त बहिर्मुख रहता है, अतएव इस आलोक का पता उसे नहीं लगता, परन्तु आंशिक रूप में अन्तर्मुखी भाव का उदय होने पर यह आलोक स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। वस्तुतः इस आलोक के ऊपर समस्त तथाकथित बाह्य जगत् प्रतिष्ठित है। इस आलोक का उदय हो जाने पर इच्छा होते ही पूर्व-निर्दिष्ट वस्तु इस आलोक में प्रकाशित हो उठती है। तब पूर्वोक्त प्रणाली से चित्त के रश्मि विशेष को अवधान-रूप में उस वस्तु के साथ योजित करना पड़ता है। वस्तुतः साधारणतया यह करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है; क्योंकि इच्छा पहले से ही रहती है, अतएव आलोक के आविर्भाव के साथ-साथ आलोक में प्रतिभासित वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार विश्व की किसी भी वस्तु का योगज सन्निकर्ष के द्वारा साक्षात्कार करना सम्भव हो जाता है। यहाँ दृश्य वस्तु के चेतनत्व या अचेतनत्व की कोई बात नहीं रहती; क्योंकि वास्तव में तो द्रष्टा की दृष्टि के सामने भासमान होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुएँ ही अचेतन हैं।

इस विवरण से यह समझ में आ सकता है कि किसी मनुष्य का कोई दूरवर्त्ती योगी यदि विदेह-धारणा के द्वारा साक्षात्कर करता है तो यह समझ लेना चाहिए कि वह साक्षात्कार अन्यान्य अचेतन पदार्थ के साक्षात्कर के अनुरूप ही होगा। यही क्यों, उस मनुष्य के सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर भाव-समूह भी परम्परागत रूप में उस योगी के साक्षात्कार में आ सकते हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी वह मनुष्य-विशेष स्वतन्त्र व्यक्तिरूप में अर्थात् स्वयं भोक्ता बनकर भोग्यस्वरूप इन समस्त आभ्यन्तर भावों को जिस प्रकार प्राप्त होता है, द्रष्टा योगी के लिए वह सम्भव नहीं होता। योगी तो इन समस्त सुख-दुःख आदि भावों को ठीक उसी प्रकार अनुभव-मात्र करेगा, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्य का अनुभव करता है। भोक्ता जिस प्रकार भोग्यरूप में उन्हें ग्रहण करता है, उस प्रकार योगी नहीं कर सकेगा; क्योंकि वह द्रष्टा होने के कारण निर्लिप्त, उदासीन तथा स्वच्छ होता है। दर्पण जिस प्रकार स्वच्छ होने पर भी अपने समीपवर्त्ती नाना प्रकार के वर्णों को ग्रहण करता है, योगी भी बहुत-कुछ वैसे ही करता है, उससे अधिक नहीं।

यह एक ओर तो योगी की निर्विकारिता का परिचायक है, परन्तु दूसरी ओर यह उसकी शक्ति की न्यूनता का निदर्शन है। यदि योगी इस प्रकार उदासीन न रहकर भोक्ता के साथ सचमुच ही भोक्ता बन सकता अर्थात् पापी के साथ पापी, पुण्यात्मा के साथ पुण्यात्मा, सुखी के साथ सुखी एवं दुःखी के साथ दुःखी बन सकता तथा ऐसा होते हुए भी वह सर्वातीत रह सकता तो उसका महत्त्व अधिक होता। इसको सम्भव बनाने के लिए योगी को अपने मन का विश्लेषण करने का सामर्थ्य प्राप्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मन को शरीर से बाहर किये बिना केवल देह में स्थित मन की वृत्ति के द्वारा यह विशाल कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मन देह त्यागकर कभी बाहर नहीं जा सकता। अवश्य ही यह साधारण मनुष्य की बात है। साधारण मनुष्य केवल मृत्यु के समय ही देह से बाहर निकल सकता है, अर्थात् मृत्युकाल में ही उसके मन का बाहर निकलना सम्भव है; परन्तु विशेष योगाभ्यास के फल से जीवित काल में ही ऐसा नहीं हो सकता, सो बात नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिए मन और देह के पारस्परिक सम्बन्ध को शिथिल करना होगा। मन कर्म के प्रभाव से अहङ्कार के अधीन होकर देह में आबद्ध हो रहा है। अभिनव कर्म के द्वारा तथा गुरुदत्त कौशल के प्रभाव से जब यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है, तब जिसे ग्रन्थिमोचन कहते हैं वही योगक्रिया निष्पन्न होती है। यद्यपि उस समय भी मन देह को आश्रय करके ही रहता है, तथापि वह इच्छा करने पर देह को त्याग भी सकता है। इसके बाद एक विषय में और भी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मन जिस समय देह में संचरण करता है, उस समय जिन मार्गों का अवलम्बन करके उसे चलना पड़ता है, उनका नाम है 'मनोवहा नाड़ी'। देह के भीतर असंख्य मनोवहा नाड़ियाँ इधर-उधर प्रवाहित हो रही हैं, परन्तु ये बहुधा नाना प्रकार के क्लेद और मल के द्वारा आबद्ध रहती हैं। जब क्रिया के प्रभाव से ये नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मन के लिए संचरण करना सहजसाध्य हो जाता है। देह के भीतर जो नाड़ियाँ हैं, वे केवल देह में ही हैं—ऐसी बात नहीं है। वे तो शरीर के बाहर विराट् विश्व में भी फैली हुई हैं। इस नाड़ीजाल के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के साथ प्रत्येक मनुष्य—यही क्यों, प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु संश्लिष्ट है। इन सबका ज्ञान न होने के कारण मन के लिए इच्छानुसार संचरण करना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा एक वस्तु और आवश्यक है। जिस देह में प्रविष्ट होकर भोक्तारूप में उसके सुख-दुःख तथा अन्यान्य भावों का अनुभव करना है, उसके साथ योगी के शरीर का योग जिस नाड़ी के द्वारा प्रतिष्ठित है, उसे पृथक् रूप से दृष्टि के सामने रखना आवश्यक है। क्योंकि इस मार्ग का अवलम्बन करके ही उसे देह से निकलना होगा। यह जानना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि विदेह-धारणा का अभ्यास होने पर इष्ट व्यक्ति को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उस समय उसके साथ जिस सूत्र का योग होता है, उसे पकड़ लेना कठिन नहीं होता।

इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेने पर योगी महाविदेहा नाम की धारणा के अभ्यास का अधिकारी होता है। इस महाविदेहा धारणा के द्वारा ही परकाय-प्रवेश सम्भव

होता है। विदेह-धारणा और महाविदेहा धारणा मूलतः अभिन्न हैं, तथापि पहली कृत्रिम है और दूसरी अकृत्रिम—यही पार्थक्य है। विदेह-धारणा के अभ्यास से ही क्रमशः महाविदेहा धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। जबतक मन और देह का सम्बन्ध शिथिल नहीं होता, तबतक देह से मन का बाहर निकलना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः जीवित अवस्था में मन को पूर्णतया बहिर्गत होना कभी सम्भव नहीं होता। मन कुछ अंश में देह को अवलम्बन करके स्थित रहता है तथा आंशिक रूप में एक, दो अथवा अनेक होकर वह बहिर्गत होता है। एक को अनेक भागों में विभक्त किये बिना महाविदेहा धारणा का सूत्रपात होना कठिन है। मन अर्थात् मूल मन योगी की इच्छा के अनुसार देह में रहता है तथा विभक्त किया हुआ मन उससे निकलकर जिस काया में प्रविष्ट होना होता है, उसके साथ युक्त हो जाता है। दोनों के साथ अर्थात् देहस्थ मूल मन के साथ पृथक् किये गये अंशरूप मन का एक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् दोनों एक सूत्राकार तेजोमय पदार्थ के द्वारा जुड़े रहते हैं। यह सूत्र संकोच-विकासशील होता है, विकास के समय प्रयोजन होने पर इसका इच्छानुसार दूर-संचालन किया जा सकता है और संकोच के समय यह मूल मन में आकर लीन हो जाता है। अभीष्ट काया में मन को प्रवेश कराने के लिए किसी एक प्रवेश-द्वार का अवलम्बन करके ही काम बनाना पड़ता है। जिस काया में मन को प्रवेश कराना है, उससे सम्बन्धित मन को उद्भूत नहीं किया जायगा अथवा अपने साथ युक्त नहीं किया जायगा तो प्रवेश करनेवाला मन प्रयोजन के अनुरूप कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। प्रबल इच्छाशक्ति-सम्पन्न मन को अभिभूत करने के लिए उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रबल शक्ति यदि स्वायत्त न हुई तो सब प्रकार की कायाओं में प्रवेश होना सम्भव नहीं होगा। दुर्बल मन सबल मन में युक्त होने जायगा तो स्वयं ही उसमें लीन हो जाने की आशङ्का रहेगी। अतएव कायान्तर-प्रवेश के पूर्व अपना सामर्थ्य और योजनाशक्ति किस परिणाम में विकास को प्राप्त हुई है, इसपर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समझ में आ जाय कि निर्दिष्ट काया से असम्बद्ध मन अभिभूत होने योग्य नहीं है, तो ऐसी स्थिति में योगी के लिए इस प्रकार की काया में प्रवेश करने की चेष्टा करना उचित नहीं है।

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ सकता है कि केवल मन को पृथक् कर लेने से तथा देह से बाहर निकाल लेने से ही अन्य शरीर में प्रविष्ट होने का कार्य नहीं किया जा सकता; इसके लिए मन का बलशाली होना आवश्यक है। मन किसी काया में आविष्ट होता है तो उसके साथ उसकी इन्द्रियाँ भी आविष्ट हो जाती हैं। मन के बाहर निकलने पर इन्द्रियों को पृथक् रूप से बाहर निकालने में कोई कष्ट नहीं होता। योगियों का कहना है कि जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने नायक अथवा नायिका के बिना कोई विचार किये अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मन का अनुसरण करती हैं। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ एक प्रकार से मन की ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र हैं। जिस काया में मन आविष्ट होता है, उस काया का मन अभिभूत होने के साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उसी तरह

अभिभूत हो जाती हैं। योगी के मन और इन्द्रियाँ उस काया में प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं तथा चारों ओर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

इम आवेश की स्थिति में अभिभूत मन तथा अभिभावक मन की अवस्था में एक नियत सम्बन्ध विद्यमान रहता है। मन जिस परिमाण में अभिभूत होता है, उसी परिमाण में अभिभावक मन चैतन्यरूप से कार्य करने में समर्थ होता है। यदि मन पूर्णतः अभिभूत हो जाय, तो आवेश-त्याग के पश्चात् उसमें लौकिक रूप से किसी प्रकार की स्मृति नहीं होती। परन्तु संस्कारों का संचय तथा अलौकिक स्मृति अभिभव के उपरान्त भी रह सकती है। दूसरी ओर, अभिभावक मन आविष्ट देह के पूर्व-संस्कारों से उत्पन्न भोगों को तथा भाव आदि को ठीक अपने ही समान अर्थात् अभिन्न भाव से प्राप्त करता है। आवेश के वाद अभिभावक मन लौट जाने के समय आंशिक रूप से इन सारे भोग और भावों की स्मृति को साथ ले जाता है। इस प्रकार से योगी दूसरे के सुख-दुःख को साक्षात् रूप से भोगकर उसे क्षीण कर सकता है। इसका कारण यही है कि योगी उस समय आंशिक रूप होने पर भी आविष्ट काया के साथ अभिन्न होकर एक प्रकार से उस काया के भोक्ता-रूप में परिणत हो जाता है। यदि मूल मन के साथ योग वनाये रखना सम्भव न होता, यदि पूर्णरूप से पूर्वदेह छोड़कर अभिष्ट देह में प्रवेश हो जाता, तो इम प्रकार का व्यापार सम्भव नहीं था; क्योंकि वैसी स्थिति में अपनी देह के त्याग के साथ ही योगी को परकाया का अभिमान उदित हो जाता और तव उस देह के लौकिक अभिमानी के रूप में ही रहना पड़ता। यह उसके लिए आत्मलोप के अतिरिक्त और कुछ न होता। और यदि योगी दुर्वल होकर इस प्रकार किसी प्रवल आधार में प्रविष्ट होने की चेष्टा करता तो इससे उसका चित्त-लय हो जाता और वह जडत्व अर्थात् अचेतन स्थिति को प्राप्त हो जाता। ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके लिए आत्मलोप के सिवा और कुछ न होतीं। परन्तु अपनी देह से सम्बद्ध मूल मन के अवस्थित रहने पर मन आंशिक रूप में ही वाहर निकलता है तथा परकाया में आविष्ट होने के समय योगी उसके साथ अभिन्न होकर उसके सुख-दुःख आदि की अनुभूति साक्षात् भाव से ग्रहण करने में समर्थ होता है; तथापि उसका मन चेतन द्रष्टा के रूप में स्थिरतापूर्वक स्थित रहता है। यह चैतन्य की अवस्था है, जड़ की नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि देह के साथ मन के संयोग की रक्षा न हो तो द्रष्टा के रूप में चैतन्य अवस्था में रहना सम्भव नहीं होता और लय अवश्यम्भावी होता।

जब योगी के मन और इन्द्रिय पूर्वदेह में यथास्थान लौट आते हैं, उस समय आविष्ट देह में अनुभूत सुख-दुःख और भाव आदि का उसे स्मरण होता है। वस्तुतः वह स्मरणात्मक होने पर भी अत्यन्त स्पष्टता के कारण प्रत्यक्षवत् ही जान पड़ते हैं। इस प्रणाली से काया के साथ काया का संयोग स्थापित होने पर योगी के लिए आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। अर्थात् इच्छा करने पर योगी आविष्ट काया से संश्लिष्ट भोग और भाव आदि को इच्छानुसार खींच ले सकता है। इसके परिणामस्वरूप आविष्ट देह और तदभिमानी जीव के कर्मफल का भार अपेक्षाकृत हलका हो जाता है। इस प्रकार अपनी काया से भी अपनी ही तपस्या से

उत्पन्न शुद्ध तेज को उस काया में प्रेरित किया जा सकता है। इसके द्वारा उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीव का उत्कर्ष और कल्याण-साधन किया जा सकता है।

परन्तु परकाय-प्रवेश न कर सकने पर केवल विदेह-धारणा से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा इस प्रकार महाकरुणा का खेल नहीं खेला जा सकता; क्योंकि इस अवस्था में योगी द्रष्टा ही रहता है, भोक्ता होकर भोग ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरे के प्राप्य भोग में भाग न ले सकने के कारण वह अपने भोग द्वारा किसी का भोग काटने या न्यून करने में समर्थ नहीं होता। द्रष्टा जिस प्रकार दृश्य से परे रहता है, उसी प्रकार योगी परकीय सुख-दुःख के द्वारा अस्पृष्ट ही रह जाता है। यह महा-करुणा के विकास के लिए उपयोगी अवस्था नहीं है।

गुरु की गुरुता का कार्य केवल दूर और समीप के समस्त पदार्थों के अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से ही नहीं हो जाता। दीक्षादान के समय गुरु को अपने विशुद्ध ज्ञान-शरीर का अंश प्रदान करके शिष्य के ज्ञानशरीर के निर्माण का मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है। बीज खेत में पड़ने पर जिस प्रकार अंकुरित होकर वृक्षरूप में परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीजरूप में शिष्यक्षेत्र में पड़कर विकसित हुआ करती है। उपर्युक्त प्रणाली से पृथक् किया हुआ मन ही गुरु की दी हुई ज्योतिर्मय काया का स्वरूप है। अतएव अपने मन के अंश द्वारा जो दूसरों की काया में प्रविष्ट नहीं हो सकते, वे गुरु के गुरुतापूर्ण कर्म को किस प्रकार सम्पन्न कर सकेंगे। केवल यही नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान में किसी शक्ति के संचरित होने पर उस दूसरे स्थान से भी उस स्थान की एक शक्ति प्रथम स्थान में संचरित हो जाती है। उपर्युक्त प्रणाली से योगी का मन किसी काया में समाविष्ट होकर जब अपने स्थान में लौटता है, तब उस मन से भी कुछ अंश को अलग करके अपने साथ ले आता है। इस प्रकार योगी अपने-अपने अभीष्ट मनों को अपने भीतर लाकर धारण करने में समर्थ होता है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्य का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। साधारण भाव से परकाया-प्रवेश न करके यदि गुरु के किसी निजी कार्य-साधन के लिए वैसा किया जाय तो इससे गुरु के मन का अंश दीर्घकाल तक अर्थात् शिष्य के देह-त्याग तक उस शिष्यदेह में ही निबद्ध रह जाता है। ऐसी स्थिति में शिष्य के मन को अभिभूत कर रखने की आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रकारान्तर से वह गुरु के मन के अधीन ही रहता है। इच्छा करने पर गुरु इस अंश को किसी समय भी लौटा ले सकते हैं। परन्तु इसमें शिष्य को वंचित करना पड़ता है, अतएव कृपामय गुरु ऐसा क्यों करेंगे? शिष्य की मृत्यु के साथ ही गुरु का मन शिष्य के मन को आकर्षण कर अपनी काया में लौट आता है। शिष्य का मन गुरु के मन के साथ मिलकर अपने कर्म के प्रभाव से जितनी उन्नति करता है, गुरुस्थान में आकर गुरु की काया में उसे तदनुरूप ही स्थान प्राप्त होता है। इस स्थान में आने पर, अर्थात् गुरु-काया में स्थान प्राप्त करने पर, वह अजर और अमर सत्ता में सत्तावान् होकर मृत्युराज्य से

तर जाता है। इधर गुरु के द्वारा प्रेरित मन का अंश भी गुरु के मूल मन में स्थान प्राप्त कर लेता है।

शिष्य के देह में रहते समय वस्तुत: गुरु का मन ही कार्य करता है, पर करता है शिष्य की काया और मन के साथ एक सूत्र में जुड़कर ही; किन्तु गुरु में अभिमान न होने के कारण तथा शिष्य में स्वकाया का अभिमान विद्यमान रहने के कारण, यह कर्म शिष्य के कर्म के रूप में ही गिना जाता है तथा उसका फल भी शिष्य को ही प्राप्त होता है। गुरुकृपायुक्त कर्म का स्वरूप ही यह है।

जो योगी जितने अधिक लोगों को काय-प्रवेश द्वारा अपना सकते हैं, उतनी ही अधिक संख्या में मन उनमें मिल जाते हैं तथा उतने ही अधिक व्यापक रूप में वे विश्वकल्याण करने में अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। काय-प्रवेश न कर सकने पर ठीक-ठीक दूसरों का उपकार नहीं किया जा सकता एवं खण्ड आत्मा अनेकों को अपनाकर विशाल नहीं बन सकता।



आसन से उत्थान और आकाश-गमन

[१]

श्रेष्ठ योगी और भक्त-सम्प्रदाय के साथ जिनका परिचय है, वे जानते हैं कि योग-क्रिया के प्रभाव से अथवा अन्य किसी आध्यात्मिक शक्ति के सम्बन्ध से योगी का आसन भूतल से आकाश में उत्थित हो जाता है। अवश्य, जिनके आसन का उत्थान नहीं होता, ऐसे योगी भी देखने में आते हैं। फिर किन्हीं-किन्हीं योगियों के सम्बन्ध में ऐसा भी सुनने में आता है कि उनका आसन ही केवल आकाश में उत्थित नहीं होता, बल्कि वे इच्छानुसार आकाश-मार्ग में विचरण भी कर सकते हैं।

आसन के उत्थान का वास्तविक रहस्य क्या है, एवं आसन-उत्थान के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष का कोई सम्बन्ध है या नहीं, इस विषय में अनेक लोगों के मन में जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है। साधारण विचारशील लोगों के मन में सन्देह होता है कि स्थूलदेह जब मध्याकर्षण नियम के अधीन है, तब उक्त नियम का उल्लंघन कर वह ऊपर को उत्थित कैसे होगी? यह सन्देह निर्मूल नहीं है। किन्तु इसके समाधान के पूर्व यह स्मरण रखना होगा कि आसन का उत्थान और आकाश-विहार—दोनों ही सत्य हैं। किन्तु मध्याकर्षण का नियम देह की स्थूलता की निवृत्ति के साथ ही देह के ऊपर अनिवार्य रूप से लागू नहीं हो सकता।

यह स्थूलत्व-निवृत्ति-व्यापार तमोगुण और सत्वगुण के आपेक्षिक विनिमय से होता है, इसमें सन्देह नहीं। यह योग के प्रभाव से भी हो सकता है एवं अन्य कारणों से भी, किन्तु आसन-उत्थान हुए विना वास्तविक आध्यात्मिक सम्पत्ति का लाभ नहीं होता, यह भी कहना उचित नहीं एवं असान-उत्थान होने पर ही आध्यात्मिक उन्नति हुई, यह भी सब समय नहीं कहा जा सकता। आसन का उत्थान सचमुच ही होता है, ऐसा हृदयंगम होने पर उसके कारणों का निर्देश और प्रक्रिया के सम्बन्ध में आलोचना हो सकती है।

प्रत्यक्ष सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। आसन-उत्थान-व्यापार सभी देशों में एक सुपरिचित सत्य है। आकाश-गमन आदि इसी की परिणति है। खीष्टीय धर्म-ग्रन्थ में भी उपासक-वर्ग के साधना-जीवन के इतिहास में दिखाई देता है कि प्रार्थना के समय अथवा अन्य किसी प्रकार के भगवच्चिन्तन के समय किसी-किसी साधक की देह प्रभा-मण्डल से वेष्टित हो जाती थी, यहाँ तक कि कभी-कभी समस्त घर भी उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता था एवं कुछ भाग्यवान् साधक भूमितल से उत्थित होकर अल्प काल के लिए आकाश में अवस्थित हो जाते थे। इसके बहुत-से उदाहरण हैं। उनमें दो-चार आगे उल्लिखित हैं :

प्रसिद्ध सन्त सेण्ट अगास्टिन ने अपने 'जीवनस्मृति-ग्रन्थ' में सेण्ट मणिका नाम की एक साध्वी की कथा लिखी है। वह प्रार्थना के समय लगभग तीन फुट तक आकाश में उत्थित होती थी। मालूम पड़ता था कि मानों उसके शरीर में गुरुत्व है ही नहीं, शरीर वायुमण्डल में तैरता रहता था। यह ख्रीष्टीय चतुर्थ शताब्दी की घटना है।

प्रसिद्ध नव प्लातनिक दार्शनिक जाम ब्लिचास प्रार्थना के समय भूमि से प्रायः १० हाथ ऊपर उठता था। उस समय उसकी देह और वस्त्र-परिधान आदि सोने की भाँति चमकीली ज्योति से ज्योतिर्मय होकर भासमान होते थे।

इजिप्ट की सेण्ट मेरी नामक एक महिला के जीवन में भी इसी प्रकार की अलौकिक घटना देखने में आई थी। इस महिला का पूर्व-जीवन उतना अच्छा नहीं था। किन्तु कालान्तर में इसके जीवन में घोर परिवर्त्तन हुआ। इसने पश्चात्ताप-रूप अग्नि में दग्ध होकर विशुद्ध भागवत जीवन-लाभ किया। सुना जाता है कि वह पैलेस्टाइन की मरुभूमि में अकेले नग्नरूप से वास करती, एक शाक-सब्जी, जब जो पाती, उसी से देह-रक्षा की चेष्टा करती। एक बार फादर जोजिमास् नामक एक धर्म-प्रचारक की दृष्टि हठात् इस साधिका पर पड़ गई। इसकी अवस्था देखकर उन्होंने अपने वस्त्र-खण्ड पहनने के लिए इसे प्रदान किये। कुछ क्षणों के बाद ही उन्होंने गौर करके देखा कि मेरी पूर्व की ओर मुँह करके प्रार्थना कर रही है एवं उसकी देह भूमि से पाँच फुट ऊपर उत्थित है।

विशप सेण्ट आर० के विषय में सुना जाता है कि गिरजाघर बन्द हो जाने पर भी वे किसी अलौकिक कौशल से उसका द्वार खोलते, तब सब पहरेदार सोये रहते। वे गिरजाघर के भीतर मेज पर बैठकर प्रार्थना करते एवं सारी रात जागरण करते। अनेक दिन देखा जाता कि उनकी देह आकाश में उत्थित हुई है। उस समय सम्पूर्ण गिरजाघर दिव्य आलोक से आलोकित हो उठता। यह छठी शताब्दी की बात है। हंगरी के सेण्ट मारग्यरेट गुड फ्राइडे के उत्सव में बहुत बार उत्थित हुए थे, ऐसा देखा गया था।

प्रसिद्ध सन्त सेण्ट फ्रान्सिस (पाओला) बहुधा रात्रि के समय प्रार्थना-काल में आकाश में उत्थित होते। कहा जाता है कि एक बार वे एकादश लुई के अनुरोध से उनके समीप गये थे। नेप्ल्स नामक नगर होकर उनके जाने की बात थी। उनके नेप्ल्स पहुँचने के बाद समग्र नगर ने उनके लिए सम्मान-प्रदर्शन किया एवं प्रथम फारडिनेण्ड ने अपने प्रासाद में उनका स्वागत किया। रात्रि के समय घर के दरवाजे के छेद से महात्मा का अवस्थान देखा गया कि वे प्रार्थना कर रहे हैं एवं एक विशाल ज्योति उन्हें घेरे हुए है। मेज से उनका शरीर कई फुट ऊपर देखा गया। यह देखकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। यह पाँचवीं शताब्दी की घटना है। स्पेन की सुप्रसिद्ध महिला सन्त सेण्ट टेरेसा, जिसकी भारतीय मीराँ के साथ बहुधा तुलना की जाती है, प्रार्थनाकाल में प्रायशः आकाश में उठती थी। वह इस प्रकार उत्थित होकर बहुत समय तक शून्य में रहती थी। उसके बाद भगवान् की सन्निधि में प्रार्थना करने पर उसकी देह नीचे उतरती थी।

प्रसिद्धि है कि स्थानीय बिशप डन आलमेरेस् डे मोनडोसा एक बार सेण्ट टेरेसा से भेंट करने आये थे। उनकी उससे धर्म-सम्बन्धी चर्चा करने की इच्छा थी। किन्तु वे यह देखकर आश्चर्य में पड़ गये कि टेरेसा की देह उस समय जँगले के ऊपर उठकर निरालम्ब रूप से शून्य में स्थित है। विशिष्ट प्रार्थना के समय उसकी देह प्रायः ज्योति से भर जाती और हल्की होकर शून्य में उत्थित होती थी। यह सोलहवीं शताब्दी की बात है।

वर्त्तमान युग में भी इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं है। हमारे देश में भी इस तरह आसन-उत्थान के व्यापार-विशेष योगियों अथवा भक्तों के जीवन में प्राय: दिखाई देते हैं। प्रसिद्ध महात्मा रामठाकुर की कथा सर्वत्र सुपरिचित है। वे अति अल्प अवस्था में ही साधना से इतने उन्नत हुए कि आसन-उत्थान की शक्ति उसी समय से उनके जीवन में लक्षित होती थी। अपेक्षाकृत अल्प वय में वे किसी भद्र पुरुष के यहाँ पाचक ब्राह्मण का कार्य करते थे। तब उनकी माँ जीवित थीं। अपनी माँ के जीविका-निर्वाह के लिए ही उन्हें ऐसा कार्य करना पड़ा था। वे दिन की और रात की रसोई बनाकर बाबू लोगों के भोजन के बाद विश्राम करने जाने के उपरान्त अपनी कोठरी में आकर आसन बाँधकर अत्यन्त गुप्त रूप में यह कार्य करते थे। घर में किसी को भी इसका पता न था। एक दिन विशेष कारण से अधिक रात्रि में उन्हें बुलाने की आवश्यकता पड़ी। जो व्यक्ति बुलाने गया था; उसने कमरे के अन्दर जो दृश्य देखा, उससे उसे अन्दर जाने की हिम्मत नहीं हुई। उसने देखा कि ठाकुर महाशय मशहरी के अन्दर आसन पर बैठे हैं, परन्तु उनकी देह शून्य में उत्थित है और उज्ज्वल आलोक से वेष्टित है। यह देखकर उसने गृहस्वामी से निवेदन किया। गृहस्वामी ने स्वयं आकर अपनी आँखों से देखा। उन्होंने समझा कि यह पाचक ब्राह्मण केवल पाचक ही नहीं है, प्रत्युत एक महापुरुष है। ऐसा समझकर उन्होंने दूसरे दिन से ठाकुर महाशय को पाक-कार्य से मुक्त कर दिया, परन्तु प्रतिमास आर्थिक सहायता पूर्ववत् करते रहे। रामठाकुर महाशय के शून्यमार्ग में विचरण का वृत्तान्त उनके भक्तों में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार, आसन का उत्थान, देह की ज्योतिर्मयता और इच्छानुसार आकाश-मार्ग में गमन का विवरण महायोगी श्रीश्रीविशुद्धानन्द परमहंस, श्रीश्री लोकनाथ ब्रह्मचारी, श्रीश्रीकाठिया बाबा तथा अन्यान्य आधुनिक योगियों के जीवन में मिलता है। ये सब प्रत्यक्ष दृष्ट घटनाएँ हैं, इनकी तथ्यता के विषय में अनेक साक्ष्य दिये जा सकते हैं। गुरु-परम्परा-चरित नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध महात्मा भास्कर राय का भी आसन शून्य में उठता था और उस समय समस्त गृह उज्ज्वल आलोक से उद्भासित हो उठता था।

ईशु खीष्ट के समकालीन योगी टियाना-निवासी एपोलोनियस में भी आकाश-गमन की शक्ति थी। वे भारतवर्ष में आये थे। इसका वृत्तान्त उनके शिष्य और भक्तों ने प्रकाशित भी किया था। उनकी खेचरी शक्ति के विषय में बहुत-सी अलौकिक बातें सुनने में आती हैं। सिमन मेगास् किसी समय प्राचीन पाश्चात्य जगत् में अलौकिक

योग-शक्ति के विषय में आदर्श माने जाते थे। बहुत लोग उन्हें मायावी समझते थे। विभिन्न प्रकार की योग-विभूतियों के सदृश ही आकाश-गमन की शक्ति भी उनमें थी।

योगवासिष्ठ रामायण से पता चलता है कि वीतहव्य, चूडाला प्रभृति आकाश-गमन में पूर्ण अधिकार-सम्पन्न थे। चूडाला में पहले ब्रह्मज्ञान का उदय हुआ था, उसके बाद एकान्त में योगाभ्यास के द्वारा अन्यान्य योग-शक्तियों के सदृश आकाश-गमन की शक्ति भी उन्होंने उपार्जित की थी। चूडाला तथा शिखिध्वज का विस्तृत विवरण योगवासिष्ठ में है। आचार्य शंकर और गोरक्षनाथ आकाश-गमन में दक्ष थे, यह प्रसिद्धि है। बुद्धदेव के आकाश-गमन की बातें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक बार वे श्रावस्ती नगर से आकाश-मार्ग से जाकर धनिय की कुटिया के ऊपर खड़े हो गये थे। श्रावस्तीनगर से धनिय का निवास-स्थान ७०० योजन दूर था। दत्तात्रेय की आकाश-गमन की बातें भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि वे एक अहोरात्र में भारत के विभिन्न तीर्थों में तत्तत् समय पर तत्कालोपयोगी दैनिक कार्य-सम्पादन करते थे और आजकल भी करते हैं।

इतिहास से मालूम होता है कि मियाँ मीर कभी-कभी लाहौर से आकाश-मार्ग द्वारा हिजाद जाते थे और वहाँ रात्रि बिताकर सूर्योदय के पहले ही लाहौर लौट आते थे। इसका विवरण दाराशिकोह ने स्वरचित औलियों के जीवन-वृत्तान्त में दिया है।

शेख अब्दुल कादिर जिलानी एक दिन धर्म-व्याख्या कर रहे थे, अकस्मात् भूमितल से वे शून्य में उठ गये। वहाँ से उनको सुनने में आया, 'हे इसराइलवासी, ठहर जाओ। इस्लाम-धर्म सुनो।' वे शून्य में थोड़ी दूर उठकर फिर अपने स्थान पर लौट आये और व्याख्यान देने लगे। किसी के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा—"मुझे अकस्मात् दिखाई दिया कि खिदिर मस्जिद के पास से जा रहे हैं। मैंने आकाश-मार्ग में जाकर उनका अभिवादन किया और अपना व्याख्यान सुनने के लिए आमन्त्रित किया।" ये महात्मा जिलानी आधे घण्टे में इराक से रोम गये थे। किसी एक महात्मा का देहावसान हो गया था, उनके कल्याण के लिए अन्तिम प्रार्थना करने इन्हें जाना पड़ा था।

प्रसिद्धि है कि गैब्रियल नामक देवदूत एक रात्रि में मुहम्मद साहब को शय्या से उठाकर सप्त स्वर्ग तथा नरकों के यावतीय दृश्य दिखाने के लिए ले गये थे। उनको बहुत बार भगवद्दर्शन कराये और अन्त में यथास्थान पहुँचा दिया। इसमें समय अत्यन्त कम लगा था। मुहम्मद साहब को उस समय भी उनकी शय्या गरम ही लगी थी।

एक बार मिस्र देश के सुलतान ने सूफी महात्माओं की योगशक्ति की महिमा सुनकर राज्य के सब पण्डितों तथा साधकों को अपने प्रासाद में आमन्त्रित किया था। उसने उनसे पूछा कि सूफी शक्ति-सम्पन्न हैं या नहीं? उन्होंने कहा कि सप्त स्वर्गों के भीतर किन्हीं दो स्वर्गों के व्यवधान का अतिक्रमण करने के लिए एक आदमी को ५०० वर्ष चाहिए। प्रत्येक स्वर्ग का विस्तार भी प्रायः ऐसा ही है। अतएव एक क्षण

में सप्त स्वर्ग-भेद करना कैसे सम्भव है ? सुलतान ने कहा कि इसीलिए मुहम्मद साहब के सम्बन्ध में जो वृत्तान्त प्रसिद्ध है, वह विश्वसनीय नहीं है। उस समय उसके उत्तर में किसी ने कुछ नहीं कहा, इसीलिए उक्त प्रश्न पर विचार नहीं हुआ और सभा भङ्ग हो गई। उस समय शेख शहाबुद्दीन अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष थे। किसी विशेष कारणवश वे उस सभा में उपस्थित नहीं हो सके थे। वे सुलतान के संशय का विषय सुनते ही समाधान के लिए व्यग्र हुए। उस समय दिन में अत्यन्त तीव्र ताप रहने पर भी वे सुलतान से मिलने के लिए रवाना हुए। सुलतान ने भी उनका यथाविधि स्वागत किया। सुलतान ने समझा, ये कुछ माँगने के लिए आये होंगे। उसने शेखजी से कहा, 'आप स्वयं कष्ट करके यहाँ क्यों आये, किसी परिचारक को ही भेजने से काम हो जाता।' शेखजी ने कहा कि दूसरा प्रयोजन है।

शेखजी ने, जो बहुत अलौकिक शक्ति-सम्पन्न योगी थे, अपनी योग-शक्ति के द्वारा भगवान् की माया का प्रभाव, विभिन्न प्रकार के दृश्यों में दिखलाते हुए, उनके सामने उपस्थित किया। उन्हें देखकर 'देश-काल का रहस्य अत्यन्त गम्भीर है, यह माया का ही खेल है, एक क्षण के भीतर युगयुगान्तव्यापी काल का स्फुरण हो सकता है तथा विशाल काल में भी एक क्षण की अनुभूति हो सकती है। इसी प्रकार, देश में भी समझना चाहिए। एक बिन्दुमात्र स्थान में विराट् सिन्धु का प्रत्यक्ष आविर्भाव हो सकता है तथा विराट् समुद्र भी सृष्टि-भेद से एक बिन्दु के सदृश प्रतीत हो सकता है, यह सुलतान की समझ में आया और स्पष्ट हृदयंगम हुआ कि मुहम्मद साहब का अनुभव किसी प्रकार अविश्वसनीय नहीं है। भगवत्-शक्ति के प्रभाव से अणु में महान् और महान् में भी अणु सिद्ध होता है।

[२]

प्रकृति के अवयव सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में तमोगुण का धर्म है गुरुत्व और आवरण; किन्तु सत्त्वगुण का धर्म है ठीक इसके विपरीत, अर्थात् लघुत्व और प्रकाश। क्रियाशील रजोगुण दोनों के बीच रहकर सत्त्व को तम में और तम को सत्त्व में ले जाने की चेष्टा करता है। तपस्या, योगक्रिया, प्रार्थना, ध्यान आदि सत्त्व-गुणाश्रित रजोगुण की क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के प्रभाव से सत्त्वगुण का आधिक्य होने से तमोगुण दब जाता है। इसलिए देह का गुरुत्व घट जाता है एवं देह क्रमशः प्रकाशमय सत्त्वगुण में परिणति-लाभ करती है। इसके कारण जो आवरण स्थूल देह को आवृत कर रखता है, वह हट जाता है और देह केवल हल्की ही हो, यह बात नहीं है, तेजोमय अवस्था भी उसे प्राप्त होती है। यह थोड़ा अधिक परिमाण में होने पर देह का लघुत्व होता है—यह देहस्थित सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर ही सम्भव है। यह उत्कर्ष-लाभ प्राणायाम के द्वारा, जप के द्वारा अथवा अन्य किसी उपाय से हो सकता है। जबतक देह सत्त्वगुण-प्रधान रहती है, तभीतक तेजोमय या शुद्ध ज्योतिर्मय रहती है एवं उसके ऊपर मध्याकर्षण-क्रिया कम मात्रा में अनुभूत होती है। इसी का नाम देह की लघुता है। इसी के कारण देह वायु-समुद्र में ऊपर की ओर उत्थित होने की चेष्टा

करती है। देह की लघुता अत्यन्त अधिक होने पर वह ज्योतिर्मय होकर एवं गुरुत्व-रहित होकर वायुमण्डल के ऊपरी स्तर में उठ जाती है। उस समय तमोगुण अत्यन्त दबा रहता है। इसी का नाम देह का उत्थान है। यदि कुण्डलिनी-शक्ति का प्रबल रूप से जागरण हो, तो यह स्वभावतः हो जाता है। कुण्डलिनी-शक्ति की सुप्तावस्था का भङ्ग होने पर यही चैतन्य-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। चैतन्य-शक्ति-युक्त देह ही चेतन देह है। देह की यह चेतनता सामयिक न होकर स्थायी होने पर अणु-परमाणु तक में परिवर्त्तित हो जाती है।

कुम्भक से भी किसी-किसी का आसन भूतल से थोड़ा-बहुत उत्थित होता है। हमलोगों के चारों ओर जो वायुमण्डल है, उस वायु से आभ्यन्तर वायु के हल्की होने पर हमलोगों की देह स्वभावतः ही वायुमण्डल के ऊपर की ओर उठने की चेष्टा करती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-रूप चिदग्नि के प्रज्वलित होने पर भीतर की वायु उस अग्नि के ताप से तपकर लघुत्व को प्राप्त होती है। देह के उपादान के सत्त्वगुण में रूपान्तरित होने पर वायु के साथ ही देह भी उत्थित होती है। देह के उत्थित होने पर ही आकाश में गमन या आकाश में संचरण सिद्ध नहीं होता। उसके लिए और भी अधिक प्रयास आवश्यक है।

आलोच्य विषय को और स्पष्ट करके कहने की चेष्टा की जा रही है। सम्पूर्ण जगत् का आश्रय करके सृष्टि-अवस्था में जैसे दो विरुद्ध शक्तियाँ क्रिया करती हैं, वैसे ही हमलोगों की जीव-देह का आश्रय करके भी निरन्तर दो विरुद्ध शक्तियों की क्रिया हो रही है। इन दो शक्तियों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रहती है। जब एक प्रबल होती है, तब दूसरी क्रमशः दब जाती है। क्रमशः ऐसा समय आता है, जब वह प्रबल शक्ति ही विराजमान होती है। किन्तु इसके बाद वह अभिभूत (दबी हुई) शक्ति फिर धीरे-धीरे जग उठती है। तब वह शक्ति ही प्रबल होती है। पहली शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होकर लुप्तप्राय हो जाती है। बाद; एक समय आता है, जब दूसरी शक्ति का ही प्राधान्य रहता है। प्रथम शक्ति नाम-मात्र रह पाती है। इस प्रकार, परिवर्त्तन निरन्तर चल रहा है। जीव-देह में सर्वत्र ही यह खेल दिखाई पड़ता है। जड़ में भी बहुत-कुछ अंशों में यही बात है। इस आवर्त्तन का नाम ही शुद्ध भाषा में कालचक्र का आवर्त्तन है। चढ़ना और उतरना या भीतर आना तथा बाहर जाना इसका स्वभाव है। इस आवर्त्तन के बाहर यदि जाना हो, तो मध्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। मध्य मार्ग कहने से सन्धि की प्रतीति होती है; जहाँ दोनों का समभाव विद्यमान है। दिन और रात्रि के मध्य में अथवा रात्रि और दिन के मध्य में जैसे सन्धि है, वैसे ही इन दो विरुद्ध शक्तियों के बीच भी एक सन्धि-स्थान है। चाहे जिस किसी कौशल से हो, इन दो विरुद्ध शक्तियों को साम्यावस्था में ला सकने पर सन्धि का पता चल जाता है। तब मध्यम मार्ग प्राप्त हो जाता है, जिसे बुद्धदेव कहते हैं—'मध्यम प्रतिपद'। इसका आश्रय लिये विना कोई भी योगी योग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस मध्यम पथ की प्राप्ति होने पर ही ऊर्ध्वगति आरम्भ होती है। मध्यम पथ की जो प्राप्ति है, वही कुण्डलिनी का उद्‌बोधन भी है। यही मार्ग सत्य है। ऊर्ध्वगति क्रमशः बढ़ते-बढ़ते

देह की ऊर्ध्वसीमा में पहुँच जाती है, इसी को कहते हैं मेरुशिखर। योग-भाषा में यही हुआ आज्ञाचक्र-भेद, जिसके कारण सहस्रदल के महाबिन्दु में स्थिति सम्भव होती है। आसन का उत्थान आदि इस ऊर्ध्वगति के समकालीन व्यापार हैं। इसी का नाम व्याप्ति है। आकाश-गमन आदि इसी व्याप्ति के पूर्वकालीन आनुषंगिक व्यापार-मात्र हैं। खेचरी अवस्था की पूर्णता होने पर यह व्याप्ति स्वभावतः ही प्रकट होती है। पीछे जो कहा गया है, उसका अनुसन्धान कर आसन-उत्थान और आकाश-गमन का भाव गतसम्बन्ध किस प्रकार का है, यह कुछ-कुछ समझ में आ जायगा। असली बात यह है कि विरोध के समन्वय के विना ऊर्ध्वगति का सूत्रपात नहीं होता।

योगवासिष्ठ में लिखा है कि आकाश-गमन आदि की शक्ति जीवन्मुक्त देह में नहीं होती। आत्मविद् इन सब शक्तियों को नहीं चाहते। वह वस्तु-स्वभाव है। आत्म-ज्ञान या मुक्ति न होने पर भी आकाश-गमनादि द्रव्य, मन्त्र, क्रिया और काल शक्ति से उद्भूत हो सकते हैं। द्रव्यशक्ति, जैसे मणि, औषध आदि। जैसे गुटिका-सिद्धिविद् जानते हैं कि यथाविधि निर्मित संस्कारयुक्त पारद की गुटिका के प्रभाव से देह की ऊर्ध्वगति होती है। यहाँ तक कि खेचरीत्व भी हो सकता है। मन्त्र, अर्थात् मन्त्रशक्ति के द्वारा भी आकाश-गति हो सकती है। 'क्रिया' से यहाँ योगाभ्यास आदि समझना चाहिए। 'कालशक्ति' का प्रभाव भी अचिन्त्य है। इसीलिए कहा गया है:

'अनात्मविद् अमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम्।
द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव॥'

तत्त्वज्ञ या अतत्त्वज्ञ पुरुष क्रमानुसार साधन करने पर (मणि, द्रव्य, क्रिया आदि द्वारा) ऊर्ध्वगति आदि प्राप्त कर सकते हैं। नभोगति, सिद्धि, काल—इन सबको आत्मज्ञ नहीं चाहते। नियति के क्रमानुसार ये सब सिद्धियाँ होती हैं। देवादि की खेचरता आदि तथा वस्तु-स्वभाव स्वतःसिद्ध हैं।

पतञ्जलि का मत है, यदि आकाश-गमन करना हो तो देह और आकाश के बीच जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करके उसे आयत्त किया जाता है। आसनादि में देह चाहे जहाँ रहे, वहीं आकाश भी है। कारण, आकाश सर्वव्यापक और सर्व वस्तुओं का अवकाशदायक है। आकाश के साथ देह का व्याप्ति-रूप जो सम्बन्ध है, उसे एकाग्र चिन्तन द्वारा अपनी इच्छा के अधीन करना पड़ता है। तब साथ-ही-साथ देह हल्की हो जाती है। मध्याकर्षण की क्रिया नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त तूल से परमाणु-पर्यन्त अत्यन्त हल्के पदार्थ में चित्त लगने पर भी देह में हल्कापन आता है। तब आकाश आदि में संचरण करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। उसके बाद सूर्य-राशि में विहार किया जा सकता है। वास्तव में ये सब राशियाँ ही साधारणतः आकाश में यातायात के मार्ग-रूप हैं।

बौद्ध आचार्यों ने आकाश के गमनागमन के विषय में बहुत विचार किया है। बुद्धदेव की छह अभिज्ञाएँ हैं—उनमें एक का नाम 'ऋद्धि' है। वस्तुतः प्रथम अभिज्ञा ही ऋद्धिपद-वाच्य है। ये अभिज्ञाएँ योगी-मात्र की हो सकती हैं, उनके लिए आर्य या

अनार्य का कोई भेद नहीं, अर्थात् बुद्धोपदिष्ट धर्म ग्रहण न करके भी ऋद्धि प्राप्त करना सम्भव है। वास्तव में, छह अभिज्ञाओं में ऋद्धि आदि पहली पाँच अभिज्ञाएँ ही बौद्ध-मतानुसार अबौद्धों को भी हो सकती हैं। किन्तु छठी अभिज्ञा या आस्रव-क्षयज्ञान (साक्षात्कार-अभिज्ञा) आर्य या बौद्ध के सिवा दूसरों को नहीं हो सकता। बौद्ध-योगियों के मत में आकाश-गमन नामक सिद्धि तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकती है—(क) वहन-गति : जैसे, पक्षी अपने शरीर द्वारा आकाश में आरोहण करते हैं, यह गति भी उसी तरह की है। यह श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की होती है। (ख) द्वितीय गति का नाम है, अधिमोक्ष-गति। यह गति वस्तुतः योगी की है, अपनी देह की गति नहीं है। यह संकल्प के बल से दूरस्थित वस्तु का निकट में आगमन-मात्र है। योगी को वस्तुतः लक्ष्य-स्थल पर जाना नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों में, लक्ष्य वस्तु ही योगी के निकट उपस्थित हो जाती है। (ग) तृतीय है मनोवेग-गति, यह एकमात्र शास्ता या बुद्ध की ही हो सकती है, अन्य की नहीं। वहन-गति में अपनी देह को बाहर ले जाना पड़ता है; अधिमोक्ष-गति में जाना नहीं पड़ता, वस्तु ही निकट आ जाती है। कहावत है, मुहम्मद पहाड़ के पास नहीं जाता, पहाड़ ही मुहम्मद के पास आता है। तीसरी गति अतिक्षिप्र है, इसलिए अन्यत्र उसको 'मनोजवित्व' कहा है। योगसूत्रकार भगवान् पतञ्जलि के मत में मनोजवित्व इन्द्रिय-जय से उत्पन्न मधुप्रतीक-सिद्धि के अन्तर्गत है। इसे भाष्यकार ने कार्य का अनुत्तम गति-लाभ कहा है। सिद्ध योगी जिस शक्ति द्वारा जिस किसी क्षण में जिस किसी दूरवर्त्ती प्रदेश में स्थूल सत्ता लेकर प्रकट हो सकता है, उसका नाम मनोजवित्व है। यह बुद्ध के अतिरिक्त दूसरे को प्राप्त नहीं होता। बौद्ध लोग 'ऋद्धि' से समाधि का ग्रहण करते हैं। इसके दो भेद—अर्थात् इसका फल आकाश-गमन और निर्मिति, यानी इच्छानुसार रचना—ये दोनों ही हो सकते हैं। पाशुपत योगी महेश्वर के परम ऐश्वर्य को ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति,—इन दो भागों में विभक्त करते हैं। उनमें मनोजवित्व, कामरूपित्व और विकरणधर्मित्व के भेद से क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है। सिद्ध योगी अपनी महेश्वरता का लाभ कर सकते हैं, इसलिए मनोजवित्व सुतरां उनके अधीन है।

तिब्बत में इस समय भी प्रचलित आकाश-गमन के पूर्वाभास-स्वरूप देह के लाघव-निबन्धन क्षिप्रगति की साधना कोई-कोई जानते हैं। इस प्रक्रिया को तिब्बती भाषा में 'लांगोम' कहते हैं। जो इस तरह संचरण करते हैं, उन्हें 'लांगोम्पा' कहते हैं। अलेक्जेण्डर डे० वि० ड० नील ने तिब्बत में अपने निवास-काल में इस प्रकार के तीन सिद्ध पुरुषों के दर्शन किये और गति भी देखी। इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि मीस्टिक्स ऐण्ड मैजिशियन्स इन तिब्बत' के छठे अध्याय में किया है। यह गति आकाश-गमन का ही एक प्राथमिक रूप है। उसका कारण यह है कि इस प्रकार गमन-काल में भूमि-स्पर्श नहीं होता और गमनकारी का चित्त भी लक्ष्य में एकाग्र होता है। उन्होंने कहा है—

"As a result of long years of practice, after he has travelled over in certain distance the feet of the Longom-pa

no longer touch the ground and he glides on the air with an extreme clarity."[1]

अर्थात् दीर्घकाल के अभ्यास के फलस्वरूप कुछ दूर चलने के बाद लोगोम्पा के चरण फिर भूमि-स्पर्श नहीं करते और वे वायुमण्डल का भेदन कर अनायास तथा तीव्र वेग से अग्रसर हो सकते हैं।

१. The Mystics and Magicians in Tibet.

विहङ्गम-योग और महापथ

[१]

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में योग-साधना का विशेष उत्कर्ष दिखाई देता है। योग-पथ के वहुत-से भेद इस देश में प्रचलित थे एवं अब भी गुप्तरूप से कुछ-कुछ हैं। किन्तु साधारण जिज्ञासु के लिए उस गुप्त साधन-मार्ग का पता पाना अत्यन्त कठिन है। योग का श्रेणी-विभाग विभिन्न दृष्टिकोणों से विविध प्रकार से किया जाता है। सन्तों में कुछ लोग योग-मार्ग को दो भागों में विभक्त करते हैं। उनमें एक का नाम पिपीलिका-मार्ग है और दूसरे का नाम है विहङ्गम-मार्ग। इन दो प्रकार के योगों के आपेक्षिक उत्कर्ष का विचार करने पर यह अवश्य ही कहना पड़ेगा कि पिपीलिका-योग की अपेक्षा विहङ्गम-योग श्रेष्ठ है। किन्तु साथ-ही-साथ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि अधिकार के तारतम्य के अनुसार योग के आपेक्षिक उत्कर्ष का निरूपण होता है। विहङ्गम-योग श्रेष्ठ होने पर भी पिपीलिका-योग के अधिकारी के लिए वह उपादेय नहीं है। वैसे ही पिपीलका-योग अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी में गिना जाने पर भी साधारण अधिकारवाले योगाभ्यासी के लिए वही श्रेष्ठ है। साधारणतः जो हठयोग कहा जाता है, वह पिपीलिका-योग का ही एक भेद-मात्र है। प्रक्रिया में आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि सहायक होते हैं एवं सुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को प्रबुद्ध कर और उस जाग्रत् शक्ति के द्वारा मनुष्य-देह में स्थित षट्चक्र नामक छह शक्ति-केन्द्रों का भेदन कर ऊपर उत्थित होना पड़ता है। उसके बाद सहस्रार में पहुँचने के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है। सहस्रार में स्थिति प्राप्त होने पर योगी लक्ष्य-स्थान में उपस्थित होने के कारण अपने को कृतकृत्य मानता है। पिण्ड से ब्रह्माण्ड में प्रवेश करना ही इस योग का उद्देश्य है। आज्ञा-चक्र के ऊपर स्थित विन्दु का भेद करके ही पिण्ड, अर्थात् व्यष्टिदेह (Microcosm) से ब्रह्माण्ड में, अर्थात् समष्टिदेह (macrocosm) में प्रवेश करना होता है। किन्तु विहङ्गम-योग नाना कारणों से ही पूर्वोक्त योग से महत्तर है। अधिकांश सन्त अपने साधन-जीवन में इसी का अनुष्ठान कर गये हैं। पिपीलिका-भूमि का अवलम्बन कर साधक शनैः-शनैः अग्रसर होता है, किन्तु विहङ्गम अथवा पक्षि-भूमि का अवलम्बन कर निरालम्ब आकाश-मार्ग में मन की मौज से स्वेच्छानुसार अग्रसर होता है। एक सन्त ने कहा है—

विहङ्गम चढ़ि गयउ अकासा, बैठि गगन चढ़ि देखु तमासा।

योगी जब शून्य गगन में विचरण करता है और निरन्तर अमृत-पान करता है, तब इस क्षुद्र देह-पिण्ड के साथ उसका विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में योगी की दृष्टि अष्टदल-कमल में स्थित सुई के बराबर सूक्ष्म द्वार का भेदन कर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है और त्रिवेणी में स्नान कर ऊपर को उत्थित

होती है। इसके अनन्तर यथासमय भ्रमर-गुहा में प्रवेश होता है। इस गुहा में निरन्तर शब्द का गुञ्जन होता रहता है। भाँति-भाँति के सुन्दर रूप और दिव्य गन्ध वहाँ सदा ही प्राप्त होते रहते हैं। इस अवस्था में कुछ दिन व्यतीत होने पर ही साधक योगी को अलौकिक और निर्मल दर्शन-शक्ति प्राप्त होती है। इसका नाम दिव्यदृष्टि-लाभ है। भ्रमर-गुहा से सत्य-राज्य में प्रवेश करना अत्यन्त सहज है। सत्य-राज्य में सत्यस्वरूप निराकार चिन्मय पुरुष निवास करते हैं। उद्यमशील योगी सत्य-राज्य में भी अपने को बाँधे नहीं रखते; क्योंकि सत्य-राज्य की भी एक परावस्था है। सत्य-राज्य में बात कही जाती है एवं बात सुनी जाती है। यद्यपि वह बात निःशब्द वाणीमात्र है एवं वहाँ मिथ्या का तनिक भी स्रोत नहीं है, तथापि सत्य-राज्य के ऊपर शब्द की गति नहीं है। उस शब्दहीन राज्य से एक ऊपरी केन्द्र में ऊर्ध्व प्रवाह के कारण आरोहण हो जाता है। उस स्थान में जाना अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग उसका 'अगम लोक' के नाम से वर्णन करते हैं। साधक उस स्थान में उपस्थित होकर परमानन्द का सम्भोग करता है। हठयोग अत्यन्त जटिल और कठिन है एवं अनेक के लिए तो उसे स्वायत्त करना सम्भव नहीं। किन्तु विहङ्गम-योग इतना सहज है कि सरलता के कारण किसी-किसी सन्त ने उसका सहजयोग नाम रख छोड़ा है। पिपीलिका-योग के द्वारा योगी अपनी देह को स्वायत्त कर सकते हैं, यह सत्य है; किन्तु यदि आत्मा को आयत्त करना हो, तो और भी कुछ आवश्यक होता है। केवल प्राणायाम आदि साधन उस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मनुष्य विचित्र अधिकार रखता है, इसीलिए उसकी साधन-प्रणाली में भी एक समन्वय का भाव रहना वाञ्छनीय है। सन्त लोग कहते हैं कि यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाय, तो दोनों पथों का सामञ्जस्य आवश्यक होता है। षट्चक्रों की क्रिया द्वारा अष्टदल-कमल की गुत्थी खुलती नहीं और अष्टदल-कमल की साधना में यदि प्रवेश प्राप्त न हो सके, तो आत्मसिद्धि की अनुकूल साधना यथार्थरूप में अनुष्ठित नहीं हो सकती। यद्यपि विहङ्गम-योग श्रेष्ठ है, तथापि सन्त लोग दोनों मार्गों के समन्वय के पक्षपाती हैं। विहङ्गम-योग के साथ पिपीलिका-योग के मिलन के निमित्त योगी के लिए १४ तत्त्वों का अनुशीलन उपयोगी माना गया है। इन १४ तत्त्वों में कुछ चक्रों के स्वरूप और शेष आठ अष्टदल-कमल के दल-स्वरूप हैं। नवद्वार और पञ्चतत्त्व के योग से जो चौदह संख्या प्राप्त होती है, वह भी इस समन्वय-साधना में अपेक्षित तत्त्वों के अन्तर्गत है।

प्रसिद्ध सन्त दरियासाहब ने अपने 'शब्द' नामक ग्रन्थ में विहङ्गम-योग का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि सुरति और निरति—इन दोनों का समन्वय कर सकने पर ही योग-साधना सिद्ध होती है। 'सुरति' से असाधारण दृष्टि कही गई है। इस दृष्टि के खुलने पर भाँति-भाँति के सुन्दर दृश्य और शब्दों का अनुभव होता है। 'निरति' से निर्विकल्पक ध्यान का बोध होता है। इसमें दृश्य का भान बिलकुल ही नहीं रहता। योगक्रिया लौकिक मन्थन-क्रिया के ही तुल्य है। जैसे एक ही मन्थन-क्रिया में दो जोड़ आवश्यक होते हैं, जिनके द्वारा बरतन में दही का मन्थन कर

घृत निकाला जाता है; वैसे ही इस शरीर-रूपी बरतन में यदि योगक्रिया-रूप मन्थन-कार्य करना हो, तो सुरति और निरति—इन दो क्रियाओं का अनुष्ठान आवश्यक है। सुरति और निरति क्रियाओं का अनुष्ठान होने पर स्थिरता-रूप घृत की प्राप्ति अवश्य ही होती है। इसलिए निरतिहीन, अर्थात् विविकल्प ध्यान-रहित शुद्ध सुरति जैसे सिद्धि-रूप में उपयोगी नहीं होती, वैसे ही असाधारण दृष्टिरूप सुरति-रहित शुद्ध निरति, अर्थात् निर्विकल्प ध्यान भी उपयोगी नहीं होता। दोनों का सामञ्जस्य होने से ही योगी इष्ट-साधन में सफलता प्राप्त करते हैं। मनुष्य के प्रत्येक चक्षु में चार अवयव हैं, फलतः उसके दो नेत्रों में आठ अवयव हैं। इन आठों की समष्टि को अष्टदल-कमल कहते हैं, कारण प्रत्येक अवयव कमल का एक-एक दलस्वरूप है। ये चार अवयव क्या हैं, इसका निर्देश सन्तों ने स्पष्टरूप से किया है। प्रत्येक नेत्र में जो चार अंश हैं, वे हैं—(१) नेत्र की उज्ज्वल तारिका, (२) उसके भीतर स्थित नाचनेवाली अपेक्षाकृत कम काली पुतली, (३) केन्द्र-स्थित तारिकावत् छोटी पुतली और (४) तारिका के सदृश भीतर स्थित सुई के छेद के समान चमकीला सूक्ष्म बिन्दु (नामान्तर अग्रनख या सुई)। इस प्रकार दो नेत्रों में ये आठ अवयव या दल हैं।

अग्रनख की ऊपर कही गई बात ही अग्रदृष्टि है। सुरति इस अग्रदृष्टि या अग्रनख के रूप में परिणत होकर अष्टदल-कमल का भेदन करती है। तब उड़ना आदि विभिन्न धाराएँ त्रिवेणी-संगम में एकाकार हो जाती हैं। एकाग्रता के प्रभाव से सुरति को अग्रनख के भीतर की ओर प्रेरित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया का नाम उन्मनी मुद्रा है। यह महामुद्रा है। सुरति जितनी ही अग्रनख के भीतर की ओर अग्रसर होती है, मन उतना ही स्थिर होता है।

विहङ्गम-योग में बङ्कनाल का स्थान अति उच्च है। हठयोग में मेरुदण्ड की प्रधानता जैसे सर्वसम्मत है, ध्यानयोग में ठीक वैसे ही बङ्कनाल का प्रभाव योगिसमाज में प्रसिद्ध है। बङ्कनाल एक विशेष नाड़ी का नाम है। यह मूलाधार से निकल नाभि की बाईं ओर से ऊपर चढ़कर हृदय और वक्षःस्थल का स्पर्श करती हुई आज्ञाचक्र में रुद्र-ग्रन्थि से मिल जाती है। उसके बाद रुद्र-ग्रन्थि से निकलकर आगे बढ़ते-बढ़ते क्रमशः ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचती है। तदुपरान्त मस्तक के पीछे की ओर कुछ लटकती है एवं फिर ऊपर की ओर बढ़ती है। इस जगह यह नाड़ी अर्धचन्द्राकार दिखाई देती है। इसी स्थान पर यह बङ्कनाल के नाम से परिचित है। तदनन्तर यह धुँधले मण्डल को पारकर महाशून्य के छोर पर भ्रमर-गुहा में प्रवेश करती है। भ्रमर-गुहा सत्य-राज्य का द्वार है।

भ्रमर-गुहा में दृश्य कुछ भी नहीं है, वास्तव में यह शून्य स्थान है, इसीलिए इसे गुहा कहा जाता है। यहीं से योगी विशुद्ध शब्द सुन पाते हैं। इस शब्द के प्रभाव से सत्य-राज्य में प्रवेश का मार्ग खुल जाता है। यह शब्द-श्रवण ही योगियों में सुप्रसिद्ध नादानुसन्धान की ही एक अवस्था है। सन्त कहते हैं एवं आगम और निगम में भी सर्वत्र यह उपदिष्ट है कि ब्रह्म-स्वरूप इस शब्द से ही समग्र विश्व की सृष्टि हुई है। आकाश, भूलोक और पाताल इसी से उत्पन्न हैं। शून्य-मण्डल में जो शब्द सुन पड़ता

है एवं जिसे शब्द का आलय कहा जाता है, वह ब्रह्माण्डातीत भ्रमर-गुहा के अन्तर्गत है। सुरति, निरति, मन और प्राण—इन चारों की एकाग्रता होने पर शब्द सुन पड़ता है। ध्वनि से शब्द की उत्पत्ति होती है एवं फिर ध्वनि में शब्द लीन हो जाता है। सद्‌गुरु अथवा सत्पुरुष के साकार रूप को ही सन्तजन 'ध्वनि' कहते हैं। दो श्वासों के परस्पर आघात से शब्द की अभिव्यक्ति होती है एवं एकाग्रता के कारण वह सुन पड़ता है। शब्द-श्रवण के प्रभाव से मन नियन्त्रित होता है और अपने को सत्पुरुष में निमग्न किया जा सकता है। उस शब्द का उच्चारण नहीं होता, इसलिए वह अजपा-स्वरूप है। वस्तुतः शून्य से उत्पन्न होता है, इसलिए वह अनहद या अनाहत शब्द कहा जाता है। उस शब्द को सुनना ही योगी का मुख्य लक्ष्य है। वह सत्पुरुष के साक्षात्कार या तादात्म्य का प्रतीक है।

पिपीलिका-योग के लक्ष्य से विहङ्गम-योग का लक्ष्य बहुत ऊँचा है; कारण, सत्य-राज्य भ्रमर-गुहा के अतीत है और भ्रमर-गुहा महाशून्य के दूसरे छोर पर स्थित है। सत्य-राज्य तो बहुत दूर की बात है, महाशून्य और भ्रमर-गुहा भी ब्रह्माण्ड के अतीत हैं, किन्तु सहस्रदल-कमल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं। विहङ्गम-योग मुख्यतः इस शब्द-ब्रह्म के सहारे ही अनुष्ठित होता है। शब्द आकाश का धर्म है। शुद्ध चैतन्यमय आकाश के धर्म चिन्मय शब्द का आश्रय लेकर सत्य-राज्य में प्रवेश करना होता है। तब सोऽहंबोध होता है। इस योग के अनुष्ठान में चक्र-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। किन्तु, जो लोग निरालम्ब अवस्था का अवलम्बन नहीं कर सकते एवं जिनमें एकाग्रता नहीं, उनके लिए इस मार्ग का अवलम्बन करना सम्भव नहीं है। पर एक बार शब्द के जग जाने अथवा सत्पुरुष की कृपा से शब्द का सन्धान पा सकने पर फिर कुछ भी असुविधा नहीं रहती। पिपीलिका-मार्ग में क्रम है, कारण वहाँ अवलम्बन है। इसीलिए वहाँ एक का त्याग कर किसी दूसरे का ग्रहण किया जाता है। किन्तु विहङ्गम-मार्ग में वास्तव में कोई क्रम नहीं है; क्योंकि चलने का मार्ग शून्य के मध्य है। मार्ग में विश्राम-स्थान न होने से विहङ्गम-मार्ग अक्रम है।

[२]

उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—इन चार दिशाओं में चार धाम विद्यमान हैं, इसलिए इनकी परिक्रमा करने से एक ही समय में समग्र देश की परिक्रमा हो जाती है। दिग्विजय के समय जैसे पूर्व आदि के क्रम से चारों दिशाओं में विजय प्राप्त करनी पड़ती है, वैसे ही आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने पर भी चारों दिशाओं को यदि अपने अधीन न किया जा सके, तो पूर्णत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता, अर्थात् ऐश्वरिक पद पर स्थिति-लाभ नहीं किया जा सकता। बाहरी दृष्टि से अखण्ड भारतवर्ष को मानव-देह का प्रतीक मानकर चारों धाम इस देश के ही चारों कोनों पर स्थापित किये गये थे। तदनुसार, पुरुषोत्तम-क्षेत्र या पुरी, रामेश्वर, द्वारका और बदरीनारायण इन चार स्थानों की ही चार धामों के रूप में गणना की जाती है। शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित गो-वर्द्धन आदि चार पीठ इसी नीति से स्थापित हुए थे। माध्याचार्य ने

भी आचार्य शङ्कर के अनुकरण पर चार पीठों की स्थापना की थी। तान्त्रिक योग-साधना में भी योगी मानव-देह में चार पीठों का निर्देश करते हैं। इन सब पीठों के अनुरूप पीठ बाहर अर्थात् भारत-भूमि में भी स्थापित हुए थे। तान्त्रिक योगियों ने इस देह के भीतर चार केन्द्रों में कामरूप, पूर्णगिरि, जलन्धर और उड्डीयान—इन चार पीठों की कल्पना की है। इन चार भीतरी पीठों की यदि परिक्रमा न की जा सके, तो योगी की देहतीर्थ की यात्रा सम्पन्न नहीं होती। ये विभिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण से कल्पित हुए हैं। महाज्ञान-प्राप्ति के पूर्व परिव्राजक-अवस्था में समग्र विश्व की परिक्रमा करनी पड़ती है।

प्राचीन सन्त-सम्प्रदाय में योग-साधना की अनुसारी चार दिशाओं को स्वायत्त कर परमधाम में पहुँचने की व्यवस्था रही है। जिस किसी सम्प्रदाय में जो कोई भी साधना प्रचलित क्यों न रही हो, सभी को इस आध्यात्मिक परिव्रज्या के अनुगत जानना चाहिए। मूलाधार में कुण्डलिनी-शक्ति सुप्त सर्प के तुल्य स्वयम्भूलिङ्ग को वेष्टित कर विद्यमान रहती है। यदि कुण्डलिनी को भलीभाँति जाग्रत् न किया जा सके, तो आध्यात्मिक साधना का ठीक-ठीक सूत्रपात ही नहीं होता। कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने के बाद देहस्थ सब चक्रों का भेदन आवश्यक होता है। हठयोग में तथा किसी-किसी तन्त्र-ग्रन्थ में षट्चक्रों के भेदन का प्रसंग विस्तार से वर्णित है। चक्र-भेद करने का उद्देश्य है पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धि-स्थान में पहुँचना। जीव देहात्मबोध से आवृत होकर अपने को भूल गया है एवं इडा और पिङ्गला-मार्ग में श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर संचार कर रहा है। कुण्डलिनी के उद्बुद्ध हुए विना जीव की यह आत्म-विस्मृति हट नहीं सकती। जब मन और प्राण को एकरस करके जीव सुषुम्णा-मार्ग में अग्रसर होता है, तब काल की गति रुद्ध हो जाती है और जीव अपने बल से एक-एक चक्र को प्राप्त कर और उसका अतिक्रमण कर क्रमशः एक के बाद दूसरे चक्र को आयत्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक चक्र से ही वह एक बार विन्दु में प्रवेश करता है, तदुपरान्त बिन्दुभेद हो जाने पर उस चक्र का त्याग कर फिर दूसरे चक्र में प्रवेश करता है। प्रत्येक चक्र का मध्यबिन्दु ही उस चक्र का केन्द्र है, इसलिए ज्ञान की यही निर्वि-कल्प भूमि है। किन्तु निर्विकल्प होने पर भी उसमें विकल्प का बीज सूक्ष्मरूप से रहता है। एक बिन्दु के अनन्तर दूसरे विन्दु का अतिक्रमण करते-करते भ्रूमध्य के कुछ ऊपर विशुद्धतम बिन्दु को वह प्राप्त करता है। इस बिन्दु के ऊपर मातृका-चक्र का कोई भी वर्ण क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता। इसीलिए यह विशुद्ध ज्ञान का प्रकाशक या ज्ञाननेत्र कहा जाता है। इस बिन्दु का अवलम्बन करके ही जीवात्मा अपनी स्थूल देह से बाहर निकलकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करने में समर्थ होता है। देहात्मबोध यदि थोड़ा-सा भी शेष रहे, तो बिन्दु में प्रवेश पाना सम्भव नहीं होता। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धिस्थान-पर्यन्त पूर्व दिशा का पथ विस्तृत है। उक्त सन्धि का भेद होने के साथ-साथ ज्ञान का प्रकाश होता है और ब्रह्माण्ड में प्रवेश हो जाता है। षट्चक्र के भेदन के साथ-ही-साथ सामने के मार्ग की यात्रा समाप्त हो जाती है। फलतः योगी का तृतीय नेत्र खुलने तक ही पूर्वमार्ग की साधना जाननी चाहिए।

ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर महाशून्य-पर्यन्त गति पश्चिम मार्ग का अवलम्बन करके होती है। पूर्व-मार्ग के अन्त में जैसे विन्दु का प्रकाश दिखाई देता है, वैसे पश्चिम-मार्ग के अन्त में महाशून्य के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं देता। यदि पूर्व-पथ शुक्लपक्ष के सदृश माना जाय, तो पश्चिम-पथ को कृष्णपक्ष के सदृश मानना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। पूर्व-पथ और पश्चिम-पथ के अनुभवों में भेद है—पूर्व-पथ में दृश्य सामने रहता है, इसलिए उसकी प्रारम्भिक पथ के रूप में विवेचना की जा सकती है। किन्तु पश्चिम-पथ इसके ठीक विपरीत है। ज्यों ही इस पथ पर अग्रसर हुआ जाता है, त्यों ही स्वभावतः सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च से अन्तर्मुख में प्रत्याहार हो जाता है। अतएव महाशून्य में उपस्थित होने पर सम्पूर्ण सृष्टि लुप्त हो जाती है। पूर्व-पथ में जो गति होती है, वह अन्तर्मुखी गति है। इस गति का उद्देश्य है अपनी सत्ता के मूलकेन्द्र में पहुँचना। पूर्ण एकाग्रता-लाभ होने पर मूलकेन्द्र में स्थिति होती है, इसीलिए पूर्व-पथ का अन्त होता है। सारांश यह कि प्रज्ञा का उदय न होने तक ही अन्तर्मुखी गति रहती है। उसके बाद ऊर्ध्वमुखी गति का आरम्भ होता है। तदनन्तर जब ऊर्ध्वमुखी गति भी समाप्त हो जाती है, तब समझना चाहिए कि पश्चिम-पथ का भी काम समाप्त हुआ। हमलोग साधारणतः मूलाधार से आज्ञाचक्र तक की गति को ऊर्ध्वगति कहते हैं, किन्तु वास्तव में यह ऊर्ध्वगति नहीं है। श्रीअरविन्द ने जो Inward और Upward movement की बात कही है, वे वास्तव से इस अन्तर्गति और ऊर्ध्वगति के ही प्रकार हैं।

महाशून्य में बहुत दुर्बल साधक थककर अपना-अपना तेज खोते हुए सुप्तवत् पड़े हुए हैं। इसे एक प्रकार के लय की अवस्था कहा जा सकता है। श्रेष्ठ योगी अथवा साधक के पूर्ण सत्य के मार्ग में अग्रसर होने पर जब महाशून्य के सुप्त और अणु-रूपी जीवों पर उनकी दृष्टि पड़ती है, तब उनके हृदय में करुणा का उदय होता है, उससे ये सब सुप्त जीव जगकर उनके सहारे सत्य-राज्य में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। जो आत्मा (जीव) भाग्यवान् और सद्गुरु के विशेष कृपापात्र होते हैं, वे महाशून्य में बँधे नहीं रहते—वे महाशून्य में प्रविष्ट होने के पूर्व ही मानस-सरोवर में स्नान कर अपनी मनोमय उपादान-सत्ता को विशुद्ध करने में समर्थ होते। मानस-सरोवर में स्नान करने के साथ-ही-साथ मन पूर्ण तथा शुद्ध हो जाता है एवं चञ्चलता का त्याग कर विशुद्ध आत्मा के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त होता है। महाशून्य मन के परे है, किन्तु ठीक चैतन्यस्वरूप में प्रविष्ट होने के बाद जड़भाव अथवा भेदभाव लुप्त हो जाता है। यदि शून्य का अतिक्रम न किया जा सके, तो आत्मस्वरूप में प्रवेश का द्वार प्राप्त नहीं होता।

विहङ्गम-योग में जो शब्द की बात कही गई है, सुरत शब्द-योग में भी वही बात कही गई है। पश्चिम-मार्ग[1] की समाप्ति के बाद भ्रमर-गुहा में प्रवेश के पहले थोड़ा

१ योगबीज में लिखा है—'पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम्।' इस ग्रन्थ में कर्कटमत और काकमत का उल्लेख है। एक ही देह में क्रमशः शनैः-शनैः दीर्घकाल में योगसिद्धि होने पर वह

टेढ़े-मेढ़े धुंधले मण्डल में घूमकर जाना पड़ता है। तब थोड़ी बाईं ओर, अर्थात् दक्षिण से पश्चिम में जाकर, फिर दक्षिण से उत्तर की ओर आरोहण करना पड़ता है। भ्रमर-गुहा में प्रवेश का यही स्वाभाविक क्रम है।

कर्कटक्रम कहा जाता है। किन्तु यदि एक देह में सिद्धि प्राप्त न हो और प्रमादवश देहनाश हो जाय, तो वासना के प्रभाव से फिर शरीर-ग्रहण होता है, पुण्यवश गुरु की प्राप्ति होती है और पश्चिम-द्वार के पथ पर पूर्व जन्म के अभ्यासवश शीघ्र फल-प्राप्ति होती है। इसका नाम काकमत है। —ले०

सिद्ध पुरुष

[१]

हमारे देश में सभी लोग बचपन से सिद्ध पुरुषों की चर्चा सुनते आ रहे हैं। सिद्ध पुरुष किन्हें कहते हैं, इसका परिज्ञान न होने पर भी साधारणतः उनकी यही धारणा है कि मनुष्य अपने जीवन में ऐसी एक अलौकिक अवस्था प्राप्त कर सकता है जब वह फिर साधारण मनुष्य नहीं रहता— उसे अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है एवं वह मनुष्य-जीवन के एक महान् आदर्श को प्राप्त होकर जीवन के मार्ग में बहुत कुछ पूर्णता प्राप्त कर लेता है। जिस किसी भी साधना में सफलता प्राप्त होने पर ही सिद्ध कहा जा सकता है, यह निर्विवाद है। किन्तु सिद्ध पुरुष कहने से साधारणतः लोगों को उन पुरुषों की प्रतीति नहीं होती। प्राचीन काल में चौरासी सिद्ध पुरुषों की कथा साहित्य में मिलती है। किन्तु वास्तव में सिद्ध पुरुषों की संख्या अनन्त है।

प्रस्तुत निबन्ध में सिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचना करने की मुझे इच्छा नहीं है। सिद्धावस्था-प्राप्ति के उपाय सभी धर्मों के अन्तर्गत हैं। इसलिए हिन्दू-धर्म के तुल्य ईसाई, सूफी, बौद्ध और जैन-सम्प्रदाय में भी सिद्ध पुरुष हैं। किस प्रकार मनुष्य यथार्थ सिद्ध पदवी में पहुँच सकता है, इसी सम्बन्ध में मैं कुछ विवेचन करूँगा।

[२]

समूची सृष्टि अथवा विश्व की जड़ में ऐसी एक महाशक्ति-सम्पन्न सत्ता है, जिसे अद्वैत और अखण्ड के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सत्ता चैतन्य-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप है—इसमें अनन्त प्रकार की अनन्त शक्तियाँ अभिन्न रूप से रहती हैं। यह सत्ता एक और अद्वितीय है, अनादि और अनन्त है, अक्षुण्ण और निर्विकार है—यह पूर्ण सत्य-स्वरूप है। देश, काल और निमित्त इसे छू भी नहीं सकते। कार्य-कारण-भाव की नियम-शृंखलाओं की जकड़ में यह नहीं आ सकती। मनुष्य का जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं से परिचय है, किन्तु पूर्ण सत्य अर्थात् भगवत्-स्वरूप इन तीन अवस्थाओं में बरतन में पारे की तरह रहते हुए इन तीन अवस्थाओं से परे ऊपर में नित्य ही अतिचेतन अवस्था में रहता है। यह अतिचेतन चैतन्य की ही अवस्था है। इसे तुरीयावस्था कहा जा सकता है। यह अप्रतिहत और निरवच्छिन्न साक्षात्कार-स्वरूप प्रकाश की अवस्था है। किन्तु इसके आगे ऐसी एक गहरी अवस्था है, जिसमें बोध का भी उन्मेष नहीं है एवं जहाँ बोध के साथ भी प्रवेश नहीं पाया जा सकता। वस्तुतः यह कोई अवस्था नहीं है, केवल एक स्थिति है। अतिचेतन अवस्था के

भी आगे होने से यह यदि एक प्रकार की अचेतन अवस्था कही जाय तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु यह अचेतन अवस्था नहीं है, बल्कि चैतन्य की घनीभूत अवस्था है। यह प्रकाश का घनीभूत अप्रकाश है। यह स्थूल दृष्टि से जड़ प्रतीत होने पर भी वास्तव में जड़ और चेतन—इस द्वन्द्व के परे है। यही भगवान् का स्वरूप है। उनमें अनन्त शक्तियाँ रहने पर भी इस अवस्था में उन शक्तियों का प्रयोग सूक्ष्म अथवा स्थूल किसी भी स्तर में नहीं होता। जो पूर्ण सत्य हैं, जो सत्य के अगाध-अमोघ प्रकाश हैं, वे स्वयं सत्स्वरूप होकर भी उसे नहीं जानते। यह स्थिति बहुत-कुछ अंशों में हमारी सुपरिचित गहरी सुषुप्ति के तुल्य है।

[३]

किन्तु इस स्थिति में जगत् की सृष्टि नहीं होती। जिन्हें हम जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्त्ता कहते हैं, वे इस पूर्ण सत्य से अभिन्न होने पर भी चेतन पुरुष हैं। वे निरन्तर सृष्टि के कार्य में व्यग्र रहते हैं एवं उसका ज्ञान भी उन्हें रहता है। किन्तु वे ही अखण्ड परम तत्त्व हैं, यह बात सृष्टिकर्त्ता के रूप में वे नहीं-सा जानते एवं यह जानने की उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं-सी है। मनुष्य सिद्धावस्था में जिस पूर्णता को प्राप्त करता है, उसके साथ भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका एकमात्र सम्बन्ध सृष्टि आदि कार्यों के साथ है। ये सृष्टिकर्त्ता ईश्वर, देश और काल के अतीत नहीं हैं एवं कार्यकारण-भाव से पूर्ण परिचित हैं। उनके ज्ञान-केन्द्र से ही अनन्त विश्व निकलते हैं। जितने समय तक वे क़ार्य-निरत रहते हैं उतने समय को एक प्रकार से कल्प अथवा महाकल्प संज्ञा दी जा सकती है। समूचा विश्व उनका कार्यक्षेत्र है।

जिसे हम जीव कहते हैं, वह भी पूर्ण सत्य से पृथक् नहीं कहा जा सकता। ईश्वर भी पूर्ण से अलग नहीं हैं एवं जीव भी अलग नहीं है, किन्तु ईश्वर पूर्ण चेतन हैं और जीव अंशतः चेतन और आंशिक रूप से अचेतन है। जीव अपने क्षुद्र 'अहम्' को जानता है, किन्तु यथार्थ में वह स्वयं ही अनन्त और अखण्डरूप आत्मा है– यह वह नहीं जानता। देश और काल तथा कार्यकारण-भाव के नियमों ने जीव को जकड़ रखा है। जीव भी पूर्वोक्त कल्प अथवा महाकल्प तक रहता है, तदनन्तर वह 'मैं पूर्ण से अभिन्न हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकने पर देशकाल की सीमा को लाँघकर पूर्णरूप से स्थित होता है। आत्मस्वरूप के साथ मन, प्राण आदि उपाधियों का सम्बन्ध होने पर आत्मा का जीव के रूप में आविर्भाव होता है। भगवत्साक्षात्कार करना हो तो पहले उपाधि से प्राप्त जीवभाव का त्याग करना चाहिए। केवल मृत्यु से वह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि लौकिक वासनाओं के रहने तक मृत्यु के बाद भी जीवभाव हटता नहीं एवं पूर्णभाव से वासनाओं के हट जाने पर देह रहने पर भी मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है। इन सब वासनाओं या संस्कारों को ज्ञानपूर्वक रोकना चाहिए। मनुष्य का चित्त इन सब संस्कारों से सदा ही गुँथा रहता है, इसलिए चैतन्य अपने को स्वयं जान नहीं सकता। ज्ञानपूर्वक इन सब संस्कारों को मिटा सकने पर यथार्थ

सत्य का दर्शन हो सकता है। जीवभाव-विहीन आत्मा वास्तव में शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए जीवन की धारा रहते-रहते ही जीवभाव के परे हो जाना आवश्यक है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य यही है कि ज्ञानातीत परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर संसार तथा देह की सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग करे। हर एक मनुष्य निद्रावस्था में वासनाओं का त्याग करता है, यह सही है, किन्तु उसे वह ज्ञानपूर्वक नहीं करता। अचेतन अवस्था में प्राकृतिक नियम से करता है। इसीलिए उसे फिर उठना पड़ता है। यही कारण है कि निद्रा या साधारण मृत्यु सब मनुष्यों के यथार्थ लक्ष्य की साधक नहीं होती। गहरी नींद में भी कुछ त्रुटि रह ही जाती है। क्योंकि यद्यपि नींद में मनुष्यों को देह की स्मृति नहीं रहती तथापि जागकर उठने पर वह स्मृति फिर फूट उठती है। जब यह गहरी नींद मृत्यु से होती है तब जीव जागकर देखता है कि वह नूतन शरीर में, नूतन लिवास में है। किन्तु पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती, इसलिए यह नूतन है—यह नहीं जान सकता। इसी से योगी लोग कहते हैं कि मरकर मरना व्यर्थ है, किन्तु जीते-जी मरना चाहिए। जीते-जी मरना किसे कहते हैं? ज्ञानातीत अवस्था में ज्ञान की भलीभाँति रक्षा करना, यही जीते-जी मरना है। इस अवस्था में एक ओर लिंगहीन निर्मल आत्मस्वरूप का पूर्ण बोध जाग्रत् रहता है और दूसरी ओर देह, मन और विश्व का ज्ञान नहीं रहता।

[४]

जीव यदि माया-जाल को तोड़कर सृष्टि के पार पहुँच सके तो अपने शिव-स्वरूप को पा सकता है। वही उसके जीवन की सार्थकता है। वह उस समय अपने निजी यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है। यही अखण्ड सच्चिदानन्द है। उसके निकट फिर सर्जक और सृष्टि का भेद अर्थात् जीव, जगत् और ईश्वर का भेद नहीं रहता। फिर वह पहले की तरह देश, काल और नियति के अधीन नहीं रहता। तब वह अपने को ही पूर्ण सत्य के रूप में जान जाता है। उसकी इस स्थिति के फिर कभी टलने की सम्भावना नहीं रहती। किसी तरह का लौकिक परिवर्त्तन फिर उसे विचलित नहीं कर सकता। वह समझ सकता है कि वह पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्थावर-जंगम सबके बीच में जैसे था, वैसे ही इस अखण्ड सच्चिदानन्दमय सत्ता में भी था। था क्यों?—है। किन्तु यह वह पहले नहीं समझ सका था, ज्ञान के उदय के बाद यह उसकी समझ में आने लगा। सर्वशक्तिमान् परम तत्त्व के साथ ज्ञान और चैतन्य का सम्बन्ध होने से इस अवस्था का उदय होता है। यही सिद्धावस्था है। यह नित्य जाग्रत् अवस्था है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि एवं प्रेमी, प्रेम-पात्र और प्रेम भी वहाँ अभिन्न हैं। एकमात्र सिद्ध पुरुष ही इस अद्वय स्थिति का अनुभव करने में समर्थ हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमान—तीनों कालों में वे एक हैं। वस्तुतः सभी वे ही हैं, किन्तु अज्ञान अवस्था में यह समझ में नहीं आ सकता।

वास्तव में एक परमात्मा ही परम तत्त्व हैं। वे ही ईश्वर, जीव और सिद्ध पुरुष के रूप में विभिन्न भावों से विभिन्न प्रकार के खेल कर रहे हैं। परमात्म-अवस्था में परम

तत्त्व एक, अखण्ड और अनन्त स्वरूप में ज्ञानातीत रूप से अनन्त शक्तियों, अनन्त सत्ताओं और अनन्त चैतन्यों को धारण किये हैं। ईश्वररूप में ये सभी शक्तियाँ उनकी हैं, किन्तु वे केवल विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार-कार्य का अनुभव करते हैं। जीव-रूप में भी वे सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं, किन्तु अपने को वासनाओं से बाँधकर सीमावद्ध समझ रहे हैं। उनकी सिद्ध अवस्था सेवात्मक अवस्था है। एकमात्र इसी अवस्था में वे चेतनरूप से अपनी अनन्त शक्तियों का साक्षात्कार करते हैं।

[५]

यह जो सिद्धावस्था का वर्णन किया गया है, यही भगवत्साक्षात्कार के बाद की अवस्था है। भगवद्विषयक साक्षात्कार कहने से केवल भगवद्विषयक परोक्ष ज्ञान की प्रतीति नहीं होती--यह वास्तव में भगवान् के साथ युक्त अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त किये विना कोई भी साधक 'योगी' नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में जीव अपनी पृथक् सत्ता के ज्ञान से छुटकारा पाकर सब प्रकार के द्वैतभाव को लाँघ जाता है। परमात्मा के साथ उसका जो तादात्म्य (अभेद) रहा उसका ज्ञान तब स्थिर हो जाता है। जीव को उस समय यद्यपि यह प्रतीति होती है कि उसकी यह अवस्था अनादिकाल से ही थी तथापि साक्षात्कार के पहले इसका उसे ज्ञान और आस्वाद प्राप्त नहीं था, यह कहना ही पड़ेगा। सिद्ध पुरुष जिस असीम और अव्याहत आनन्द का अनुभव करते हैं वह कोई अभूतपूर्व वस्तु नहीं है। वह परमात्म-स्वरूप में अनादि काल से ही थी, किन्तु साक्षात्कार के पहले उसका प्रकाश नहीं था। साधक को साधना कर सिद्ध होने पर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उसे कोई पृथक् स्वरूप प्राप्त हुआ है। वह पहले जो था, उस समय भी वही रहता है। उसके स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। पर जो विषय वह पहले नहीं जानता था, साक्षात्कार के बाद उसे जान सकता है, केवल इतना ही अन्तर होता है। अनादिकाल से यह जो क्रमविकास का खेल चल रहा है, यह एक खेल ही है। यह भाषा का विकास है, इसमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है। यह आत्मविस्मृत जीव का अपने स्वरूप को पुनः पाने के लिए कौशल-मात्र है।

जीव जगत् के मायाजाल में बँधा पड़ा है, यह खेल कभी-कभी अत्यन्त क्लेशदायक हो जाता है। मायाजाल में जकड़े रहने का मूल कारण जीव का अहङ्कार है। जीव प्रारम्भिक अवस्था में अहंकारशून्य ही रहता है, किन्तु उसके चैतन्य के विकास के साथ-ही-साथ अहङ्कार का विकास होता है। इस अहङ्कार का अवलम्बन करके ही मोह अथवा अविद्या गुप्तरूप में विद्यमान रहती है। यही भगवत्साक्षात्कार के मार्ग में मुख्य रोड़ा है। जीव के अपने स्वरूप में अनन्त ज्ञान रहने पर भी उनकी अभिव्यक्ति के मार्ग में यही एकमात्र बाधक है। गहरी नींद के समय जीव परमात्मा के साथ तादात्म्य (अभेद) का उपभोग करता है, किन्तु इस उपभोग का सचेतन अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति के समय जगत् का भ्रम कुछ समय के लिए छिप जाता है; क्योंकि उस समय चेतना निश्चेष्ट अवस्था में रहती है। किन्तु ऐसा होने पर भी भगवान् या आत्म-स्वरूप की सचेतन अनुभूति नहीं होती; क्योंकि अहङ्कार के पूर्णतया निवृत्त हुए विना

और चैतन्य की धारा के भगवान् की ओर मुड़े बिना केवल बाहरी जगत् का ज्ञान निवृत्त होने पर भी भगवत्साक्षात्कार नहीं हो सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि सुषुप्ति की गाढ़ता हट जाती है, पर जाग्रत् अवस्था का उदय नहीं होता। इस तरह के सन्धिकाल में चैतन्य निरालम्ब-रूप में कुछ क्षणों के लिए अपने को प्रकट करता है। यह बोध की अवस्था है—जड़ता की नहीं। किन्तु किसका बोध है? विश्व का बोध नहीं। यह व्यापक अभाव का बोध उस समय जाग उठता है। उसी को महाशून्यावस्था कहते हैं। यही भगवत्साक्षात्कार की पूर्व-सूचना है। चैतन्य के जगत् के इन्द्रजाल से पूर्णतः मुक्त होकर अहङ्कार में स्थित अनन्त ज्ञानों को प्रकाशित करने पर भगवत्साक्षात्कार का प्रकाशकाल माना जा सकता है। एकमात्र सिद्ध पुरुष में ही इस तरह के अनन्त ज्ञान का विकास हो सकता है। सिद्ध पुरुष में परमात्मा अपने को अनन्तरूप में जानते हैं, किन्तु यह ज्ञान साधक आत्मा में अथवा असाधक अवस्था में बद्ध आत्मा में जो परमात्मा हैं, उनमें नहीं रहता है। यही कारण है कि भागवत्साक्षात्कार व्यक्तिगत कार्य है। यद्यपि एक ही परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, फिर भी एक आधार में उनके अनन्त स्वरूपों का ज्ञान खुल जाता है। किन्तु दूसरे आधार में नहीं खुलता। यदि वह खुल जाता तो एक व्यक्ति की भगवत्प्राप्ति के साथ-ही-साथ जगत् की विचित्र लीलाओं का अन्त हो जाता। हाँ, जो कोई आत्मा साधन के बल से यथासमय पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होती है, उसमें कोई बाधा नहीं होती। अहङ्कार की गाँठ और जगत् के इन्द्रजाल से जो आत्मा छुटकारा प्राप्त करती है, उसी में परमात्मभाव का स्फुरण हो सकता है, सबमें नहीं।

बहुत-से लोग पूछते हैं कि भगवत्साक्षात्कार से आत्मा को कुछ प्राप्त होता है क्या? इस प्रश्न का समाधान करने के पहले 'प्राप्ति' शब्द का क्या अर्थ है, इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को प्राप्ति कहते हैं और नित्यप्राप्त वस्तु के भी अज्ञानवश अप्राप्त-सी प्रतीत होने पर अज्ञान की निवृत्ति से नित्यप्राप्त अवस्था की पुनः अभिव्यक्ति को भी प्राप्ति कहते हैं।

आत्मप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति इस द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत है। यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, फिर भी इसका महत्त्व निःसीम है। असिद्ध पुरुष अपने को सीमाबद्ध मानते हैं और सुख-दुःख का भोग करते हैं। किन्तु सिद्ध पुरुष इसके ठीक विपरीत है। उनके आनन्द और ज्ञान का अन्त नहीं रहता।

भगवत्ज्ञान की प्राप्ति विविध उपायों से हो सकती है। उनमें प्रेम ही श्रेष्ठ उपाय है। प्रज्ञान इसके अन्तर्गत हैं। विचारमूलक ज्ञान दूसरे प्रकार का है। प्रेम से ही बुद्धि लाँघी जा सकती है और पूर्णतया अपना विलोप होता है। इसके अनन्तर भगवान् के साथ मिलन होता है। दिव्य प्रेम का प्रेमिक अपनी व्यक्तिगत सत्ता भूल जाता है तथा क्रमशः मानवीय सीमा की परिधि को लाँघता है। क्रमविकास से अपनी परम सत्ता अभिव्यक्त होती है। जब माया और द्वैत प्रपञ्च से आत्मा छुटकारा पाती

है तब वह एकीभाव को प्राप्त होती है। इसीलिए उस समय मूल अद्वय सत्ता का आकर्षण उसमें जाग उठता है। इस मार्ग में प्रेम की प्रेरणा ही विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है।

इस मार्ग के तीन अंश या विभाग हैं। प्रथम अंश में एक के बाद एक अनेक स्तर हैं। इन्हें भूमि कहा जा सकता है। दिव्यज्ञान के श्रीगणेश से लेकर पूर्णतः आत्म-विलोप होने तक इसी अंश का विस्तार है। इस मार्ग की अन्तिम अवस्था में अहङ्कार का नाश हो जाता है और मायिक धारा से सब सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं। उसके बाद विच्छेद के संस्कार तक कट जाते हैं। सूफी साधक लोग इस स्थिति को 'फना' कहते हैं। इस लम्बे मार्ग के जो पथिक हैं, उनका सम्बल क्या है ? शुद्ध आत्मा और उसके साथी चेतना के संस्कार, अहङ्कार और मन। यह अहङ्कार शुद्ध आत्मा का ही विकृत रूप यानी मिथ्या रूप है। इसका पूर्णतया लोप ही स्थिति का लक्ष्य है। अहङ्कार-निवृत्ति के साथ कर्म, वासना, संस्कार आदि सब लुप्त हो जाते हैं। ये सब अहङ्कार से लिपटकर मनोमय कोष में रहते हैं। तब एकमात्र चेतना शेष रहती है। उसका लोप नहीं होता। गुण, कर्म आदि सबका अभाव हो जाता है, ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। किन्तु इस अभाव की चेतना या बोध रहता है। यह शून्य का बोधमात्र है। अहङ्कार न रहने के कारण मैं अकिञ्चन हूँ, इस प्रकार का भाव भी तब नहीं रहता। उस समय भगवान् नहीं, विश्व नहीं, स्रष्टा नहीं, सृष्टि नहीं, कुछ नहीं रहता, पर चेतना रहती है। यह अचेतन चेतना है। इसको बुद्धि से समझना कठिन है। यह चेतना स्थूल, सूक्ष्म, मिथ्या, सत्य, जगत् या भगवान् के विषय में नहीं है—पर चेतना है। यह उपराग-विहीन चेतना है। संस्कार, अहङ्कार, मन आदि के लुप्त होने के बाद भी चेतना रहती है। इस कारण उस समय यथार्थ 'अहम्' (मैं) की ओर ध्यान जाता है। विकृत 'अहम्' उस समय नहीं रहता, इसलिए शुद्ध 'अहम्' भासता है।

साधारण मानव-चेतना से संस्कारवश यह वास्तविक 'अहम्' गृहीत नहीं होता। वह चेतना भ्रान्त है। सृष्टि के पहले परमात्मा भी अन्तश्चेतन थे। सिद्ध पुरुष कहते हैं कि वे परमात्मा के रूप में अपने को पहिचानते नहीं हैं। इसीलिए कहा जा सकता है कि उनमें 'यथार्थ अहम्' नहीं था। स्थूल दृष्टि से विरुद्ध प्रतीत होने पर भी यह सत्य है। मिथ्या ज्ञान के ऊपर ही सत्य ज्ञान निर्भर है। संस्कारजन्य मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न 'मिथ्या अहम्' के ऊपर ही यथार्थ अहम् निर्भर है।

मार्ग के प्रथम अंश का चरम लक्ष्य जो शून्य अवस्था है, उसका वृत्तान्त कहा जा चुका है। अब दूसरे अंश का वृत्तान्त कहता हूँ। पूर्वोक्त चेतना क्रमशः 'यथार्थ मैं' को प्राप्त होगी। इसका इतिहास ही दूसरे अंश का विषय है। उस समय वह अचेतन चेतना रूपान्तरित होकर 'मैं चेतना हूँ' ऐसा रूप धारण करती है। यही बोध परमात्मा का बोध है, जो 'मैं परमात्मा हूँ' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में प्रकट होता है। दूसरे अंश के अन्त में यह ज्ञान उत्पन्न होता है। पूर्वोक्त सूफी लोगों की परिभाषा में यही 'बक़ा' है, यही वास्तविक भगवत्ता का बोध है।

किन्तु यह भी सिद्ध पुरुष की अवस्था नहीं है। सिद्ध पुरुषों की स्थिति 'अहं ब्रह्मास्मि' स्थिति अथवा ब्राह्मी स्थिति से उत्कृष्ट है, यह नहीं कहा जा सकता। पर दोनों की क्रिया में भेद है, यह कहना ही पड़ेगा। वस्तुतः 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अवस्था से ऊँची कोई अवस्था हो ही नहीं सकती। चरम अतिचेतना अवस्था से बढ़कर उत्कर्ष की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित होने पर साधक का कुछ भी अप्राप्त या असिद्ध नहीं रह जाता, यह सत्य है। मन, स्थूल और सूक्ष्म जगत्, देश, काल, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, लोक, लोकान्तर कुछ भी तब नहीं रहता। यह विचार और कल्पना से परे नित्य, स्थिर, त्रिपुटी-रहित, विशुद्ध, अद्वय स्थिति है। उस समय एक ही रहता है—द्वन्द्व की क्रिया नहीं रहती। सब साधनाओं की यही चरम सिद्धि की अवस्था है।

सिद्धि-प्राप्ति के बाद कोई लोग देह रहने पर भी आगे नहीं बढ़ते। स्थूल और शून्य चेतना में इन लोगों का सम्बन्ध नहीं रहता। ये लोग पूर्णता के प्रतीक-स्वरूप हैं। इनकी सत्ता अनन्त और असीम ज्ञानमय है।

परन्तु मार्ग का और भी एक भाग है, वह 'तृतीय भाग' कहा गया है। वह सबके लिए नहीं है। वह सद्गुरु के विश्वोद्धार-कार्य में जिन्हें प्रवृत्त होना है, उनके लिए है। मार्ग के तृतीय भाग में सूक्ष्म और स्थूल चेतना का फिर उत्थान होता है। क्योंकि उसके बिना साधारण जीवों के साथ सम्बन्ध-स्थापन नहीं किया जा सकता और श्रीभगवान् के अनुग्रह-विस्ताररूप जगद्-व्यापार में प्रवृत्त होना भी सम्भव नहीं है। आधिकारिक पुरुषों के लिए मार्ग का यह तीसरा भाग कहा गया है। आगमशास्त्र में निर्वाण-दीक्षा के बाद आचार्य-दीक्षा होती है, यह अङ्गीकार किया गया है। सिद्ध पुरुषों में अतिचेतना तो अक्षुण्ण ही रहती है, उसके अतिरिक्त सृष्टि-विषयक चेतना की भी अभिव्यक्ति होती है। पारमार्थिक दृष्टि ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् 'मजुब' और सद्गुरु-भावापन्न अर्थात् 'कुतुब' संज्ञक पुरुष में स्थितिगत कोई पार्थक्य नहीं रहता, पर भावगत पार्थक्य रहता है। ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि में सृष्टि नहीं है। किन्तु अनुग्राहक गुरु की दृष्टि में सृष्टि है; पर वह व्यक्तिगत 'अहम्' की शुद्ध कल्पना से उत्पन्न है। ये गुरु ही नर-रूपी विरूपाक्ष (God-man) हैं।

सन्त-परिचय

सन्त किसे कहते हैं, सन्त-जीवन का वास्तविक आदर्श क्या है और बाह्य तथा आभ्यन्तरिक किन-किन लक्षणों द्वारा सन्तभाव का यथार्थ परिचय प्राप्त हो सकता है ? इस तरह के प्रश्न बहुतों के मन में उत्पन्न हुआ करते हैं। संसार-ताप से तप्त मनुष्य नित्य आनन्द एवं पराशक्ति की स्निग्ध छाया में विश्राम करने के लिए सदा से ही लालायित है, परन्तु प्रवृत्ति की ताड़ना और बाह्य वासना प्रशान्त हुए बिना चित्त अन्तर्मुख नहीं होता और इसीलिए शान्ति की आकांक्षा होने पर भी बाह्य मोह से वह आकांक्षा ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो सकती। जब सांसारिक भोगों में वैराग्य होता है और चित्त निवृत्तिमुखी होकर अन्तर्गत् के तत्त्व की खोज में व्यग्र हो उठता है तब इसे जगत् के रहस्य को खोजने के लिए पथ-प्रदर्शक सन्त अथवा साधु के अन्वेषण के लिए व्याकुलता होती है। इस अवस्था में सन्त का परिचय और सन्त के लक्षणों को जानने के लिए हृदय में स्वाभाविक ही तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह किसी देश-विशेष अथवा काल-विशेष की बात नहीं। प्रकृति के नियमानुसार सर्वदा और सभी देशों में ऐसा हुआ करता है। हमलोग बाहरी बातों को देखकर अथवा बाहरी व्यवहारों पर विचार कर एक साधारण मनुष्य को भी भलीभाँति नहीं समझ सकते; क्योंकि जिन जटिल शक्तियों की प्रेरणा से मनुष्य किसी कार्य-विशेष को करता है अथवा करने को बाध्य होता है, उनका स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझे बिना कार्य अथवा आचरण के नैतिक दायित्व के विषय में निर्णय करना सम्भव नहीं होता। साधारण मनुष्य स्थूल अभिनिवेश में बँधा होने के कारण उसके कार्य का विस्तार-क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है, किन्तु जो महापुरुष हैं उनपर अलक्ष्य शक्तिपुञ्ज का प्रभाव और भी अधिक व्यापक रूप से पड़ा करता है। अतएव उनको ठीक-ठीक समझ सकना और भी अधिक दुःसाध्य है। इसीलिए हमारे शास्त्रकारों ने लोकोत्तर महापुरुषों के आचरण का जनसाधारण के लिए अनुकरण करना सिद्धान्त नहीं बतलाया। जिस निगूढ़ उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक महापुरुष किसी विशेष कार्य को करते हैं, उस कार्य का अनुकरण करने की चेष्टा करना एक क्षुद्रशक्ति अल्पज्ञ प्राकृत मनुष्य के लिए उपहासास्पद और हानिकारक ही होता है, अतएव सन्त या महापुरुष-परिचय कोई सहज बात नहीं है। जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है, जो स्वयं सन्तभाव पर आरूढ़ होने लगे हैं, वे अवश्य ही अपनी स्वाभाविक विवेकशक्ति के द्वारा असत् से सत् को अलग करके ग्रहण कर सकते हैं। उनके लिए लक्षण-निर्देश अथवा स्वरूप-वर्णन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु साधारण मनुष्य के लिए वैसे परिचय की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है। जिनका आश्रय लेकर हम अन्धकार से ज्योतिर्मय राज्य में प्रवेश करना और सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, वे यदि स्वयं वैसे आधार से सम्पन्न न हों तो उनके आश्रय से हमारी हानि के सिवा कोई इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

अन्धेस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे-पदे ।

अन्धे को पकड़कर चलनेवाले अन्धे का पद-पद पर पतन ही होता है ।

सन्त किन्हें कहते हैं ? जो सत्यस्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्षरूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं, वे ही सन्त हैं । सत्य ही चैतन्यरूप है और चैतन्य ही आनन्दस्वरूप है, अतएव यह कहना नहीं होगा कि जो सत्य में प्रतिष्ठित हैं, वे एक तरह से सच्चिदानन्द परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिए जो ब्रह्मज्ञ हैं, ब्रह्मदर्शी हैं और ब्रह्मसंस्थ हैं, वे ही सन्त हैं । आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न; इस विषय पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु विकल्पभूमि में भेद तथा अभेद सभी को अवस्था और अधिकार के अनुसार सत्य समझा जा सकता है । इसी के अनुसार जिन्होंने ब्रह्म अथवा आत्मा की समस्त परिस्थितियाँ साक्षात् रूप से जानकर तदनुरूप स्थिति-लाभ किया है, वे ही सन्त हैं ।

सन्त के इस प्रकार के संक्षिप्त परिचय से यह बात समझ में आती है कि आत्मा या ब्रह्म के परमभाव में स्थिति प्राप्त किये विना यथार्थ में सन्त-पदवाच्य नहीं हुआ जा सकता । अनन्त शक्तिशालिनी, अनन्तरूपा प्रकृति के माहात्म्य से वहिर्दृष्टि में सन्त असन्त के रूप में दिखाई दिया करते हैं । किन्तु इन बाह्य रूपों के द्वारा सन्त की सच्ची पहचान नहीं हो सकती । महापुरुषों में कोई जड़वत्, कोई उन्मत्तवत् और कोई कदाचारी पिशाच की तरह जगत् में विचरण किया करते हैं । ऐसी अवस्था में बाह्य-दृष्टि से सन्तों के स्वरूप को पहचानना असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी । लौकिक व्यवहार के लिए शास्त्रों में साधुओं के लौकिक लक्षण भी बतलाये गये हैं, परन्तु उनके द्वारा कार्यक्षेत्र में कहाँ तक तत्त्व-निर्णय हो सकता है, इस बात को वही बतला सकते हैं, जिन्होंने कभी परीक्षा की है । बौद्धग्रन्थादि में महापुरुषों के बत्तीस मुख्य लक्षण और चौरासी गौण लक्षण अथवा अनुव्यंजन बतलाये गये हैं, 'उनके सम्बन्ध में भी यह एक ही सिद्धान्त याद रखना चाहिए । जिसकी अन्तर्दृष्टि नहीं खुली है उसके लिए इन लक्षणों का प्रयोग करना असम्भव है ।

सन्त जीव-कोटि में हैं या ईश्वर-कोटि में, इस बात को लेकर आलोचना करने से कोई लाभ नहीं । कोई-कोई तो सन्त को वस्तुतः इन दोनों ही कोटियों से मुक्त बतलाते हैं और ऐसा कहना किसी प्रकार भी असंगत नहीं है; क्योंकि जो निर्गुण परमपद में प्रतिष्ठित हैं उनको न वस्तुतः जीव ही कह सकते हैं और न ईश्वर ही । हमारे देश के कबीर आदि निर्गुण-सम्प्रदायों में सन्तों का स्थान बहुत ही ऊँचा बतलाया गया है । कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि केवल सत्य, ज्ञान और आनन्द में स्वयं प्रतिष्ठित होना ही सन्तभाव का पूर्ण आदर्श नहीं है; क्योंकि दूसरे के अन्दर भी सत्य, ज्ञान और आनन्द का स्फुरण होना इसी आनन्द के अन्तर्गत है । अर्थात् जो स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित होकर भी दूसरों को सत्य में प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, नहीं कर सकता, अथवा नहीं करता, वह सन्त का पूर्ण आदर्श नहीं है । ज्ञान और आनन्द के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए । प्रकारान्तर से ऐसा कहा जा सकता है कि

सत्य, ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य नहीं है, किन्तु उसे प्राप्त करके समस्त जगत् को उस सत्य, ज्ञान और आनन्द में प्रतिष्ठित कर देना— यही मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परिच्छिन्न भाव से क्रमश: अपरिच्छिन्न की ओर अग्रसर होना ही महापुरुषों के जीवन का यथार्थ लक्षण है। लोकोत्तर पुरुष स्वभाव के नियमानुसार अनादि काल से इस आदर्श का अनुसरण करते आ रहे हैं और शायद अनियत काल तक करते रहेंगे। साधारण मनुष्य परिच्छिन्न फल की इच्छा करके कर्मक्षेत्र में अग्रसर होता है। परन्तु महापुरुष स्वाभाविक रूप से ही क्रमश: आत्मविकास के अनुकूल आचरण किया करते हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् परस्पर संश्लिष्ट होने पर भी कारण-जगत् से ही स्थूल का नियन्त्रण होता है। साधारणत: अवतार आदि कारण-जगत् से ही प्रयोजन के अनुसार स्थूल जगत् में अवतीर्ण हुआ करते हैं। कहना नहीं होगा कि वास्तविक सन्त पुरुष एक तरह से कारण-जगत् के निवासी-सरीखे प्रतीत होने पर भी वस्तुत: कारण से भी अतीत हैं। यहीं से ऐश्वरिक शक्ति की धारा जीव के प्रयोजन की सिद्धि के लिए अवस्था के अनुसार प्रवाहित होती है। सन्तों को ऐश्वरिक भूमि के अन्तर्गत समझने से उनको कारण-जगत् का निवासी मानना पड़ता है और अनेक कारणों से बहुत-से लोग इसीको ठीक बतलाते हैं। परन्तु प्रयोजन के भी ऊर्ध्व में एकमात्र स्वभाव की प्रेरणा से ही सन्तों का जीवन नियमित होता है—इस दृष्टि से देखने पर सन्तों को वस्तुत: कारण-जगत् के अन्तर्गत समझना ठीक नहीं मालूम होता। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—सभी मायाचक्र के अन्तर्गत हैं; अतएव स्वभाव में स्थित मायातीत सन्त या महापुरुष को कारण-जगत् के साथ सम्बन्धित न मानना ही युक्ति-युक्त है। प्रकारान्तर से सन्तों के जीवन में जब आत्मविकास होता है—यद्यपि वह विकास कर्मफल-भोग की धारा के अनुसार नहीं होता—तब मायातीत होने पर भी वे महामाया के अन्तर्गत हैं, ऐसा कहा जा सकता है और यदि एक ही पूर्ण सत्ता के स्वाभाविक स्फुरण के अन्दर महापुरुष के जीवन को मान लिया जाय तो फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदि के विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती; क्योंकि पूर्ण के अन्दर सभी कुछ है और कुछ भी नहीं है।

जिन्होंने सत्य को उपलब्ध किया है, वे समर्थ होने पर और आवश्यक समझने पर दूसरे को भी उपदेश देते हैं। यह उपदेश श्रेष्ठ अधिकारी को प्रातिभ ज्ञान के रूप में दिया जाता है। यह प्रातिभ ज्ञान अपने-आप ही हृदय में उत्पन्न हुआ करता है। यह अनौपदेशिक ज्ञान होने पर भी एक प्रकार से उपदेशरूप है। बाह्यशब्द का आश्रय लेकर इसको अन्यत्र सञ्चारित नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ही हृदय का संशय सम्यक् प्रकार से मिट जाता है। "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्य: संछिन्नसंशय:" इस कथन का यही तात्पर्य है। मध्यम अधिकारी को वे विशुद्ध चेतन के साथ उपदेश दिया करते हैं। इस चेतन शब्द में इतना सामर्थ्य है कि यह कानों में प्रवेश करते ही मर्मस्थान में प्रविष्ट हो जाता है और हृदय को असाधारण रूप से आन्दोलित कर देता है। इस शब्द को सुनने के बाद बाह्य जगत् की

ओर आकर्षण नहीं रह सकता। मन, प्राण और इन्द्रियाँ समस्त एकीभूत होकर प्रबल वेग से और उद्दाम स्रोत से अन्तरात्मा के साथ मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं। श्याम की वंशीध्वनि सुनकर राधा अथवा गोपियों का कैसा भाव होता था, इस बात को वैष्णव महापुरुषों ने अपनी पदावलियों में कविता के द्वारा संक्षेप में बतलाया है। तन्त्रशास्त्र के मन्त्रचैतन्य की व्यवस्था भी इसीलिए है; क्योंकि शब्द को चेतन किये बिना उस शब्द की सहायता से परब्रह्म का साक्षात्कार नितान्त असम्भव है; क्योंकि अचेतन शब्द शब्दब्रह्म नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी के सभी धर्म-सम्प्रदायों में इस शब्द-चैतन्य की बात गम्भीरता के साथ कही गई है। शब्द चेतन होते ही कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् हो गई, यह कहा जा सकता है। अचेतन शब्द का बार-बार जप करने की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा बहुत परिश्रम से उसे चेतन किया जा सकता है। सन्त महात्मागण इच्छा करने पर साक्षात् रूप से चेतन शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। यह मध्यम अधिकारी की बात है। अधम अधिकारी को सन्त लोग अचेतन शब्द के द्वारा ही उपदेश दिया करते हैं, पर उसके साथ ही ऐसी कोई क्रिया बतला देते हैं, जिसके करने से वह अचेतन शब्द क्रमशः चेतन शब्द के रूप में परिणत हो जाता है। अवस्था-विशेष में क्रिया-कौशल के बिना भी दीर्घकाल के विचारादि के प्रभाव से अथवा अन्य किसी कारण से तीव्र संघर्षवश अचेतन शब्द चेतन शब्द के रूप में प्रस्फुटित हो सकता है।

नाना प्रकार के उपायों से कुण्डलिनी का जागरण हो सकता है। व्यवहारभूमि में पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के तारतम्य के अनुसार किसी के लिए साधन भक्ति, किसी के लिए श्रवण, मननादि ज्ञानमार्ग का अनुष्ठान और किसी-किसी के लिए हठयोग, मन्त्रयोग अथवा राजयोग का दीर्घकालव्यापी अभ्यास इस जागरण के अनुकूल साधन हुआ करता है। चित्त की शुद्धि करनेवाले सभी कर्मों को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए। भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुष्ठान और ध्यानादि का निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी उपाय से हो, जीव को मायिक स्वप्न और सुषुप्ति से प्रबुद्ध होकर सत्य के मार्ग पर पदार्पण करना होगा। असार और असत्य प्रपञ्च से चित्त को अलग करके उस सत्य में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। विक्षिप्त भूमि से अपनी वृत्तियों को लौटाकर एकाग्र भूमि में स्थापित करना पड़ेगा—कुण्डलिनी को अथवा शब्द को चैतन्य करने का यही एकमात्र पथ है। जागतिक भिन्न-भिन्न उपायों के वैचित्र्य में यह एक ही मार्ग दृष्टिगोचर होता है।

जबतक कुण्डलिनी-रूपी महाशक्ति सत्यमार्ग को ढककर घोर सुषुप्ति में निमग्न हो रही है, जबतक जीव जड़भाव को प्राप्त है, शिव शवरूप में निष्क्रिय होकर अवसन्न हो रहा है तबतक मिथ्या का प्रकोप, माया का प्रलोभन और विचित्र प्रपञ्च की मोहिनी शक्ति प्रकट होती ही रहेगी। कुण्डलिनी के जागते ही जीव की घोर निद्रा टूट जाती है और वह अपने स्वरूप-दर्शन में समर्थ होता है। पूर्ण जागरण होने पर जीव जड़त्व का परिहार कर शिवत्व को प्राप्त करता है अर्थात् उसकी अन्तर्निहित महाशक्ति जाग्रत होकर नित्य जाग्रत परशिव के साथ मिलने के लिए दौड़ पड़ती है।

अवश्य ही शिवशक्ति के इस मिलन की पूर्णता के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता है। एक दृष्टि से आत्मदर्शन हुए विना इस मिलन का सूत्रपात ही नहीं होता और दूसरी दृष्टि से यह पूर्ण मिलन हुए विना सम्यक् प्रकार से आत्मदर्शन नहीं हो सकता। साधननिष्ठ पाठक कुछ विचार करेंगे तो वे इस कथन की सत्यता का अनुभव कर सकेंगे। शिव-शक्ति के मिलकर एक अद्वय ब्रह्मरूप से प्रकाशित होने पर ब्रह्मपथ का प्रारम्भ होता है, ऐसा कहा जा सकता है। इसके बाद ही असंख्य विचित्र अवस्थाओं में होते हुए आगे चलकर भगवान् की अप्राकृत नित्यलीला में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस लीला से अतीत, निरञ्जन और निष्कल तत्त्व का अथवा तत्त्वातीत का सन्धान आभासरूप से प्राप्त होता है। इस अवस्था का वर्णन असम्भव है।

एक अखण्ड ब्रह्म को क्रमविकास के नियमानुसार देखने पर उसकी पहले सत्यरूप में, फिर चिद्घनरूप में और अन्त में आनन्दमय सत्ता के रूप में उपलब्धि होती है। कुण्डलिनी-जागरण के फलस्वरूप जिस नित्य सत्ता की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और जिससे किसी भी कारण से वस्तुतः च्युत होने की सम्भावना नहीं रहती, उसी को सत्य में स्थिति समझना चाहिए। साधक इस अवस्था में शान्तपद पर प्रतिष्ठित होकर देख पाता है कि वह घोर कल्लोलमय अनन्तप्रसारित मायातरङ्ग के उच्च स्थान पर स्थित हो रहा है। इस अवस्था की प्राप्ति के साथ-ही-साथ आत्मदर्शन की सूचना होने के कारण चैतन्यभाव का उन्मेष होता रहता है, तदनन्तर शिव-शक्ति के मिलन की अवस्था से ही आनन्द का सूत्रपात होता है। शिव और शक्ति का मिलन पूर्ण होने पर जो ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठा होती है, लौकिक भाषा में उसी को ब्रह्मानन्द कहा जा सकता है। इसके बाद नित्यलीला और निरञ्जन-पद हैं, जो प्राकृतिक बुद्धि से सर्वथा अगोचर होने के कारण वर्णन करने योग्य नहीं हैं।

जो साधनबल से, पूर्व पुण्य के प्रभाव से और सद्गुरु के कृपाकटाक्ष से इन सारे स्तरों का भेद कर परम भाव को प्राप्त हो गये हैं और अहेतुकी करुणा के द्वारा निरन्तर जगत् का कल्याण करने में लगे हुए हैं, वे ही सन्त या साधु हैं। इस पद की तुलना में बड़े-बड़े देवताओं का पद भी अति तुच्छ समझा जाता है। अतएव बाहरी या भीतरी किसी भी लक्षण के द्वारा वास्तविक सत्पुरुष का यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता।

हाँ, एक बात है, शिशु जैसे शास्त्र विना पढ़े भी और दूसरे के द्वारा वर्णन सुने विना भी सहजज्ञान से अपनी गर्भधारिणी जननी को पहचान सकता है वैसे ही जब हृदय में सत्य के लिए प्रबल पिपासा जाग उठती है तब सहज ही सत्य का परिचय प्राप्त हो जाता है। उसके लिए शास्त्रीय लक्षणों से मिलान करने की आवश्यकता नहीं होती। जो जिज्ञासु नहीं है वह जैसे ज्ञान का अधिकारी नहीं, वैसे ही जिसके हृदय में सत्य के लिए बड़ी भारी प्यास नहीं लगी, वह भी सत्य को पहचान नहीं सकता। जो यथार्थतः व्याकुल होकर सत्य की खोज करता है, सत्यस्वरूप भगवान् उसके सामने कभी छिपकर नहीं रहते। वे उसके अधिकारानुसार उसके सामने अपने स्वरूप को खोल देते हैं और वह स्वाभाविक ज्ञान के प्रभाव से उनको पहचान लेता है और सदा के लिए धन्य हो जाता है।

काशी में मृत्यु और मुक्ति

हिन्दूशास्त्रों में तीर्थों के माहात्म्य-प्रसङ्ग में अनेकों स्थानों पर कर्मतीर्थ और ज्ञानतीर्थ के नाम से दो प्रकार के तीर्थों का वर्णन मिलता है। कर्मतीर्थ क्षेत्र की विशेषता के कारण धर्म या पुण्य-संस्कारों को उत्पन्न कर स्वर्गादि सुखमय अवस्था की प्राप्ति कराते हैं। परन्तु यदि ज्ञानतीर्थों का विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो उससे क्रमश: ज्ञान-संस्कार सञ्चित होते हैं और अन्त में पूर्ण ज्ञान का विकास होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए ज्ञानतीर्थों को मोक्षदायक तीर्थ कहा गया है और इसीलिए शास्त्रों में अयोध्या, मथुरा, माया आदि नगरियों को प्राचीन काल में मोक्ष-दायिनी बतलाया गया है। परन्तु दूसरे-दूसरे मुक्ति-स्थानों की अपेक्षा काशी की कुछ विशेषताएँ हैं। क्योंकि अन्यान्य ज्ञान-भूमियों में जीवन-धारण करने से अर्थात् उन स्थानों पर निवास करने से ही स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय होता है; परन्तु काशी में निवास से नहीं, अपितु देहत्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ लोग ऐसा सोचा करते हैं कि "किसी स्थान-विशेष में मृत्यु होने से ही मुक्ति हो जायगी, ऐसा मानना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। काशी-मरण के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो प्रशंसा-सूचक वाक्य हैं, वे अर्थवादमात्र हैं; यानी लोगों को आकर्षित करने के लिए बढ़ाकर कहे गये हैं। यदि काशी में मरने से ही मुक्ति हो जाय तो फिर कृत कर्मों का फलभोग नहीं हो सकता और यदि कर्मों का फल न मिलेगा तो सृष्टि में नाना प्रकार की विषमता उत्पन्न हो जायगी तथा पापी और पुण्यात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल न भोगें और दोनों को समान गति मिल जाय, यह भी अनुचित मालूम होता है। इसके सिवा आत्मज्ञान हुए विना मुक्ति भी कैसे हो सकती है? ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती, यह ऋषियों का चरम और अभ्रान्त सिद्धान्त है? यह भी समझ में नहीं आता कि पापी और पुण्यात्मा दोनों ही काशी में मरते ही अपने पाप और पुण्य के संस्कारों से छूटकर तत्त्वज्ञान की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं और कर्मों का क्षय हुए विना ज्ञान का उदय भी कैसे हो सकता है? आदि-आदि।"

जिनके मन में इस प्रकार के सन्देह पैदा होते हैं, उनको यह समझना चाहिए कि स्थान-माहात्म्य का निरूपण युक्तियों से नहीं हो सकता। बाह्य अथवा पाञ्चभौतिक दृष्टि से काशी तथा अन्य पार्थिव स्थानों में कोई लौकिक भेद नहीं दिखलाई पड़ता। काशी में कोई अलौकिक विशेषता है या नहीं, इसका निर्णय किसी शक्ति-सम्पन्न पुरुष के अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। कार्य के द्वारा ही शक्ति का अनुमान होता है; क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अग्नि की

दाहिका शक्ति साधारण दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। साधारण मनुष्य तो दहनादि कार्यों को देखकर ही उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार काशी में ऐसी कोई विशेषता है या नहीं, जिसके प्रभाव से जीव ज्ञानवान् होकर मुक्ति-लाभ कर सकता है—इस तत्त्व की यथार्थ उपलब्धि करने के लिए उसका कुछ स्थूल परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा किये विना इस प्रकार के माहात्म्य का अनुमान करना भी सम्भव नहीं है।

मृत्यु के समय प्रत्येक मनुष्य का सूक्ष्म (लिंग) शरीर स्थूल शरीर से अलग होकर अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार गति प्राप्त करता है। जबतक स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता तबतक यह गति आरम्भ नहीं होती। अर्थात् मृत्यु के बाद ही सूक्ष्म शरीर में गति दिखलाई पड़ती है। इस गति की विचित्रता कर्म-वैचित्र्य के अनुसार ही होती है। ऊर्ध्वगति, अधोगति तथा तिर्यग्गति और प्रत्येक गति के असंख्यों अवान्तर भेद अनन्त प्रकार के जटिल कर्म-संस्कारों के कारण ही हुआ करते हैं। परन्तु काशी-क्षेत्र में जब मृत्यु के समय वह लिंग-ज्योति अर्थात् सूक्ष्म शरीर स्थूल या अन्नमय कोष से पृथक् होता है तब वह अपने को एक तीव्र ऊर्ध्वगामी आकर्षण के मध्य देखता है और इस आकर्षण के प्रभाव से वह लिंग-देह सूक्ष्म शरीर अर्थात् क्रमशः ऊर्ध्वगामी होता है। काशी के सिवा अन्यान्य स्थानों में मृत्युकाल में लिंग की ऐसी गति नहीं होती। अवश्य ही जिनको ज्ञान हो गया है, उनकी मृत्यु कहीं भी क्यों न हो, उनका लिंग-शरीर ज्ञान के प्रभाव से स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी होता है। यह क्रम-मुक्ति के अनुसार उत्क्रमण की व्यवस्था है।

अब प्रश्न होता है कि काशी-क्षेत्र में शरीर छोड़ने पर साधारण मनुष्यों की अर्थात् अज्ञानी जीवों की भी इसी प्रकार ऊर्ध्वगति होती है या नहीं? जब इसका साक्षात् अनुभव, जिनकी मृत्यु हो गई है उन्हें छोड़कर, दूसरों के लिए असम्भव है तब जीवित मनुष्य इस सम्बन्ध में किसी स्थिर सिद्धान्त पर कैसे पहुँच सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगियों एवं योगाभ्यासियों के लिए इस संशय को दूर करना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। कारण, पके हुए फल के डाल से टूटकर भूमि पर गिर पड़ने की भाँति जैसे प्रारब्ध कर्म का भोग पूरा होने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग हो जाता है, ठीक वैसे ही योगलब्ध बल से सम्पन्न पुरुष जीवन-काल में अपने इच्छानुसार योगशास्त्रोक्त कौशल के द्वारा अन्नमय कोष से लिंग (सूक्ष्म देह) को पृथक् करके बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार योगी जब अभ्यास के समय लिंग-शरीर को स्थूल शरीर के सम्बन्ध से कुछ अंश में मुक्त करके बाहर ले आता है तब उसी क्षण वह बाह्य जगत् के विचित्र आकर्षण का अनुभव करता है। कहना नहीं होगा कि इस आकर्षण से ही लिंग (शरीर) की भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियों का आरम्भ हुआ करता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आकर्षण और तज्जनित गति लिंगनिहित कर्म-संस्कारों का फल है। यदि यह देखा जाय कि किसी स्थान-विशेष में अभ्यासकाल में लिंग-शरीर अन्नमय कोष से पृथक् होने के साथ ही किसी अचिन्त्य शक्ति के आकर्षण से ऊर्ध्वगामी होता है, यहाँ तक कि उसके विचित्र कर्म-संस्कार भी उस

खींचकर नीचे की ओर नहीं ला सकते तो यह समझना होगा कि यह स्थान-माहात्म्य का ही फल है। अनुभूति-सम्पन्न योगियों को काशी में इस प्रकार की अचिन्त्य विशेषता की उपलब्धि हुआ करती है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर योगबल से देह-त्याग करने पर जिस प्रकार लिंग-शरीर की ऊर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार काशी में भी मृत्युकाल में लिंग पृथक् होने के साथ ही ऊर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊर्ध्वगति ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, इसलिए अज्ञानावृत, पापी अथवा पुण्यवान् कोई किसी प्रकार के भी कर्मवाला हो, इस ज्ञान-क्षेत्र में देह त्यागने के साथ ही ज्ञान प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पाता है। शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथिवी के अन्तर्गत नहीं है। इसका असली तात्पर्य यह है कि दूसरे-दूसरे स्थानों में जैसे पार्थिव आकर्षण या मध्याकर्षण स्थूल देह से पृथक् हुए लिंग को नीचे की ओर खींचते हैं, काशी में ठीक इसके विपरीत ऊर्ध्व आकर्षण लिंग को ऊर्ध्व की ओर आकर्षित करता है। स्थूल देह का सम्बन्ध टूटने के साथ-ही-साथ ऐसा दीखने लगता है। जिस प्रकार अधःआकर्षण अज्ञान का कार्य है, उसी प्रकार ऊर्ध्व आकर्षण ज्ञान का कार्य है। काशी-मृत्यु से लिंग-देह एक प्रकार की ऊर्ध्वगतिशील अवस्था को प्राप्त होती है; इसीलिए काशी की श्रेष्ठ ज्ञान-क्षेत्र के रूप में पूजा होती है तथा शास्त्रों में 'मरणं यत्र मङ्गलम्' कहकर काशी-मृत्यु की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

काशी का ऐसा माहात्म्य या वैशिष्ट्य है या नहीं— इसका निर्णय केवल अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है, युक्तियों द्वारा नहीं। ऋषियों के इस प्रकार के अनुभव के बल पर ही शास्त्रकार काशी की महिमा का प्रचार कर गये हैं। अब भी समर्थ योगी अपने जीवन-काल में ही इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्ति साक्षात् कृपा का फल होने के कारण इसके साथ कर्मों का कोई विरोध नहीं रह सकता। कहना नहीं होगा कि ज्ञानस्वरूप श्रीभगवान् की कृपा के बिना कभी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। कर्मक्षय होने से ही ज्ञान का उदय होता है—यह प्रकृत सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भाव होते ही हृदय-ग्रन्थि का भेदन होकर समस्त संशयों का भञ्जन एवं कर्मों का क्षय हो जाता है। अतएव काशी-मृत्युरूप सौभाग्य को प्राप्त करना अथवा आत्मज्ञान का उदय होना, दोनों ही भगवान् की कृपा से होते हैं। दार्शनिकगण जानते हैं कि Justice (न्याय) और Mercy (दया) में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। Mercy (दया) से Justice (न्याय) की पूर्णता होती है—Love is the fulfilment of law (प्रेम न्याय का पूरक है)—इस वाक्य के द्वारा ईसा के उपासकों ने भी इसी बात की घोषणा की है। जिस कृपा के द्वारा काशी-मृत्यु प्राप्त होती है, उसके साथ कर्मों का विरोध न रहने का कारण यह है कि काशी-मृत्यु द्वारा तारक ज्ञान का उदय न होने से अधःआकर्षण और गर्भवास-यन्त्रणा निवृत्त हो जाती है, पर कृत कर्मों का फल चाहे वह सुख हो या दुःख ही हो—ऊर्ध्वलोक में भोगना पड़ता है। अवश्य ही ज्ञानोदय होने के कारण नये कर्म नहीं होते और पुराने कृत कर्म क्रमशः सुख और दुःख-रूप

फल-भोग के द्वारा क्षीण हो जाते हैं। पर ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करता है और जीव परमा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अतएव काशी में मृत्यु होने पर भी पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख भोग करना ही पड़ता है। तब किसी प्रकार के वैषम्य अथवा अन्याय का कारण नहीं रह जाता। परन्तु देवादिदेव महादेव की कृपा से स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय हो जाता है; इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में भी कोई बाधा नहीं आती। इस सम्बन्ध में अन्यान्य विषयों पर फिर कभी आलोचना की जा सकती है। यह ज्ञानाग्नि सञ्चित कर्मों को निःशेष रूप से जला डालती है।

यहाँ सद्योमुक्ति के सम्बन्ध में आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है।



भक्ति-रहस्य

वर्त्तमान युग में भक्ति-साधन और उसकी उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता है, ऐसा मैं नहीं समझता। प्रायः सभी विश्वास करते हैं तथा शास्त्र-वाक्य और महापुरुषों के अनुभव इस विश्वास का समर्थन करते हैं कि दुर्बल मनुष्य के लिए भगवत्प्राप्ति का, एकमात्र न होते हुए भी, प्रधान उपाय भक्ति-साधना है। परन्तु सच पूछा जाय तो भक्ति-साधना का रहस्य सबके लिए सुपरिचित नहीं है। रहस्य जाने विना किसी को किसी तत्त्व का माहात्म्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतएव इस प्रबन्ध में भक्ति-तत्त्व के रहस्य के सम्बन्ध में अपने ज्ञान और अनुभव के अनुसार मैं संक्षेप में कुछ कहने की चेष्टा करूँगा।

साधना के समस्त मार्गों को आलोचना की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसके एक-एक भाग साधना की एक-एक स्थिति के द्योतक हैं। प्रथम भाग का नाम प्रवर्त्तक-अवस्था, द्वितीय भाग का नाम साधक-अवस्था और तृतीय भाग का नाम सिद्धावस्था है। प्रवर्त्तक-अवस्था में एक के बाद एक दो स्थितियों का विकास स्वीकृत किया गया है। उसी प्रकार साधक अवस्था में भी दो क्रमिक स्थितियों की अभिव्यक्ति देखने में आती है। परन्तु सिद्धावस्था में इस प्रकार का कोई अवान्तर भेद नहीं पाया जाता। प्रवर्त्तक-अवस्था में प्रथम साधना है नाम-साधन। नाम की महिमा भारतवर्ष की भक्तमण्डली में किसी को अविदित नहीं है। वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार नाम और नामी में एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। वृक्ष के बीज के साथ जिस प्रकार वृक्षफल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान् के नाम के साथ भगवत्स्वरूप का सम्बन्ध जानना चाहिए। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह अप्राकृत वस्तु है और अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न है। भगवान् जिस प्रकार चिदानन्दमय हैं, उनका नाम भी उसी प्रकार चिदानन्दमय है। परन्तु नाम में चिद् और आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती; साधना के प्रभाव से क्रमशः ये अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु वे उसमें पहले से ही अव्यक्त भाव से निहित रहते हैं। नाम अनन्त शक्तियों का भाण्डार है। जाग्रत् महापुरुष के श्रीमुख से निकले हुए नाम की तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाम में भी निज शक्ति विद्यमान रहती है। नाम-दाता की शक्ति के साथ योग होने पर नाम की निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर उज्ज्वल रूप में फूट पड़ती है। वैसा न हो तो वह नाम यथार्थ नाम नहीं होता, नामाभास-रूप में ही प्रकटित होता है। नाम की महिमा अनन्त है; नामाभास भी व्यर्थ नहीं जाता; उसका भी सुफल होना अनिवार्य है। वस्तुतः भगवान् का नाम अर्थात् जाग्रत् नाम

कोई अपने बल से कर्त्तृत्वाभिमानपूर्वक नहीं उच्चारण कर सकता। जिसके ऊपर नाम की कृपा होती है; नाम स्वयं ही उसके कण्ठ का अवलम्बन करके ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिए बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु नामाभास में उच्चारणकर्त्ता का कर्त्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकाल तक विधिपूर्वक गुरूपदेश अथवा आन्तरिक शुद्ध प्रेरणा के अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी किसी-किसी भाग्यवान् के कण्ठ में नामरूप में परिणत होकर अपने-आप ध्वनित हो उठता है।

दीर्घकाल तक नियमित रूप में नाम-साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है, और वे पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं। नाम-साधना के द्वारा चित्त-शुद्धि तथा देह-शुद्धि यथा-सम्भव अवश्य ही होती है, परन्तु जबतक भक्त गुरुदत्त बीज को प्राप्त कर अपने अशुद्धबीज देह को शुद्ध काया में परिणत नहीं कर पाता, तबतक वास्तविक साधना का सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृत शरीर में भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकार के अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्व की साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधना के फलस्वरूप क्रमशः बीज की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभाव से मलिन सत्ता को दूर करना सम्भव हो जाता है। पाञ्चभौतिक उपादानों का आश्रय लेकर उनसे अनुस्यूत जो हमारा अशुद्ध शरीर विद्यमान है, उसका जबतक संस्कार नहीं होता, तबतक उसके लिए प्राकृत साधन-मार्ग में प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुदत्त साधना के फलस्वरूप भूत और चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं; अतएव पूर्वस्थित अशुद्ध शरीर विगलित हो जाता है और अपने-अपने भाव के अनुसार एक अभिनव शरीर का आविर्भाव होता है।

यह स्वभाव का शरीर होता है, इसी का पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह देह निर्मल, अजर और अमर होता है तथा क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मों से वर्जित होता है। इस भावदेह को प्राप्त कर भक्त प्रवर्त्तक-अवस्था से साधक-अवस्था में पहुँच जाता है। साधारणतः जगत् में जिसको साधना कहते हैं, वह वास्तविक साधना नहीं है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्यबोध के रहते हुए कोई भी साधना क्यों न की जाय, वह अकृत्रिम स्वाभाविक साधना के रूप में परिगणित नहीं हो सकती। भाव का साधन ही यथार्थ साधन है। अभाव के शरीर में भाव की साधना नहीं हो सकती। अतएव प्रवर्त्तक-अवस्था में अभाव के शरीर को भाव के शरीर में परिणत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। नाम और मन्त्र—ये प्रारम्भिक चेष्टा में सहायक होते हैं।

जिन्होंने भक्तितत्त्व का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि क्रिया-रूपा भक्ति क्रमशः फलरूपा भक्ति में पर्यवसित होती है। प्रवर्त्तक-अवस्था में जो कुछ किया जाता है, वह क्रिया-भक्ति के ही अन्तर्गत है। कोई-कोई इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परन्तु वास्तविक साधन-भक्ति यह नहीं है, यह कृत्रिम साधन-भक्ति है; क्योंकि

प्राकृत देहाभिमान के रहते हुए प्रकृत साधन-भक्ति का उदय नहीं हो सकता। जिस नवधा भक्ति की बात भक्त लोग कहते हैं तथा भक्त-सम्प्रदाय में जिसका साधन देखने में आता है, वह भी वस्तुतः प्रवर्त्तक-अवस्था का ही व्यापार है। इन सभी अनुष्ठानों के पीछे केवल देहात्मबोधमूलक कृत्रिम अहंभाव की क्रीड़ा विद्यमान रहती है। भाव कैसे उदित होता है, इसकी आलोचना करते समय आचार्यों ने कहा है कि भाव का प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपा से लक्षित होता है। कर्म से अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते साधन-भक्ति भाव-भक्ति के रूप में परिणत हो सकती है। परन्तु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती साधन के लक्षित न होने पर भी भाव-भक्ति का उदय होते देखा जा सकता है, ऐसे स्थल में कृपा को ही मूल कारण मानना पड़ता है। यह कृपा साक्षात् भगवान् की भी हो सकती है अथवा सिद्ध भगवद्भक्त की भी। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि भक्ति के कार्य-कारणभाव का विचार करने पर कृत्रिम भक्ति-साधना को कहीं भी भक्ति का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वह क्षेत्र-विशेष में भक्ति की यथार्थ कारणरूपा भगवत्कृपा अथवा भगवद्भक्त की कृपा की अभिव्यञ्जिका है, इसलिए उसका कारण-रूप में ग्रहण होता है।

भक्ति ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभाव-स्वरूपा है। अतएव शुद्ध भक्ति स्वरूपतः महाभाव का अंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनापूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुतः महाभाव से ही स्फुरित होती है। अतएव कृत्रिम साधन-भक्ति की प्रयोजनीयता स्वीकार करने पर भी, भाव के उदय को सभी साधन द्वारा दुष्प्राप्य मानते हैं। कृत्रिम साधना के मूल में जीव रहता है; परन्तु भक्ति जीव का स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है; क्योंकि महाभाव अथवा भाव ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति होने के कारण स्वरूप-शक्ति के विलास तथा भगवत्स्वरूप के साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है, परन्तु भाव को प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत् से उसमें भाव का अनुप्रवेश हुआ करता है।

इस प्रकार भाव का उदय भाव-जगत् की प्रेरणा से होता है। मायिक शरीर भावग्रहण के लिए उपयोगी नहीं होता; अतएव इस देह में भाव का आविर्भाव नहीं होता। भाव का आविर्भाव होता है भाव धारण करने योग्य आधार में। यह आधार शुद्ध देह या भावदेह के नाम से परिचित है। अशुद्ध देह साधना के प्रभाव से शुद्ध होकर अन्त में भावदेह के रूप में प्रकट होता है। पाञ्चभौतिक प्राकृत देह का अवलम्बन कर यदि भाव का विकास हो तो भावदेह मिश्ररूप मे अवस्थित हो सकता है। इस अवस्था में वह अपने पृथक् स्वरूप में कार्य करता रहता है। अथवा भाव के विकास के साथ-साथ प्राकृत देह का त्याग होने पर, विशुद्ध भावदेह भावजगत् में विराजित होता है और वहाँ कार्य करता रहता है। भाव के उदय के पूर्व यदि मृत्यु हो, अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्ति के अनुशीलन के समय बीच में ही देहत्याग हो जाय तो भाव-जगत् में गति प्राप्त नहीं होती। जब भाव का उदय होता है, तब समझना चाहिए कि भावदेह कार्य कर रहा है। भावदेह के कार्य करते समय प्राकृत देह

जड़वत्, स्थिर तथा निःसाररूप में पड़ा रहता है। भाव की तीव्रता में यह अवश्य ही समक्ष में आ जाता है। यदि भाव उतना तीव्र न हो तो प्राकृत देह में उसका उतना प्रभाव देखने में नहीं आता, परन्तु वस्तुतः वह स्वरूप में ठीक-ठीक कार्य करता रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

भावदेह प्राकृत देह के साथ योगयुक्त होने पर भी प्राकृत देह के अनुरूप नहीं होता। प्राकृत देह में जिस समय कृत्रिम साधना होती रहती है, उस समय भाव का विकास नहीं होता। अतएव इस अवस्था में बाह्य शास्त्र-वाक्य, बाह्य गुरु-वाक्य तथा तदनुसार महापुरुषों के वचन और तन्मूलक विधि-निषेध प्रभृति को मानकर चलना पड़ता है। परन्तु स्वभाव का विकास होने पर बाहर से किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसका जो स्वभाव होता है, वह उसके अनुसार ही चलता है। उस समय स्वभाव ही प्रेरक होता है। उस समय स्वभाव ही गुरु, स्वभाव ही शास्त्र तथा स्वभाव का निर्देश ही विधि-निषेध होता है। बाहर से कोई नियन्त्रण करनेवाला नहीं रहता। गम्भीर आन्तर राज्य की नीरवता में बाह्य जगत् की किसी भी वस्तु का कोई स्थान नहीं होता। तथापि वहाँ भी कोई शक्ति अन्तर्यामी रूप से भीतर रहकर भक्त को परिचालित करती है। इसीको स्वभाव कहते हैं।

भावदेह बाह्य देह के अनुरूप नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि बाहर से जो वृद्ध दीख पड़ते हैं, जिनके केश पक गये हैं, दाँत गिर गये हैं और दृष्टि क्षीण हो गई है, वे अपने भावदेह में ठीक इसके विपरीत हों। हो सकता है कि उनका भावदेह उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, किशोरवयस्क, सर्वांगसुन्दर और माधुर्यमय हो। बाह्यदेह के साथ भावदेह का कोई योग नहीं होता। अवश्य ही यह प्रथमावस्था की बात कही गई है। आगे चलकर योग प्रतिष्ठित हो सकता है। यह स्वतन्त्र विषय है। भक्त शुद्ध वात्सल्यभाव का साधक हो, अथवा सख्य, दास्य या उज्ज्वल भाव का, उसका भावदेह तदनुरूप ही होगा। स्वभावसिद्ध देह के स्वभाव का आश्रय लेकर स्वभाव की साधना चलती है। यदि कोई मातृभाव का साधक हो तो स्पष्ट ही देखने में आयगा कि उसका भावदेह ठीक शिशु के आकार का है। आकृति और प्रकृति परस्पर अनुरूप ही हुआ करती हैं। जो प्रकृतितः अर्थात् स्वभावतः शिशु हैं, और इस शिशुभाव से ही (माँ-माँ) कहकर पुकारते हैं, वे आकृति से भी शिशु क्यों नहीं होंगे? उनका बाह्य शरीर जरा-जीर्ण होने पर भी भावदेह शिशु ही रहता है, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है! शिशु को जिस प्रकार शिक्षा नहीं दी जाती कि वह किस प्रकार माँ को पुकारे अथवा माँ के साथ व्यवहार करे—वह अपने स्वभाव के द्वारा ही नियमित होता है; ठीक उसी प्रकार जो भक्त भावदेह में शिशु है, उसे मातृभक्ति सिखानी नहीं पड़ती। वह स्वभाव की सन्तान है, स्वभाव ही उसे परिचालित करता है। वह अपने-आप जो करेगा, वही उसका भजन है। रागात्मिका भक्ति में बाह्य शास्त्र या बाह्य नियमावली की आवश्यकता नहीं होती।

जगत् में अनन्त भाव विराजित हैं। महाभाव के एक होने पर भी खण्डभाव असंख्य हैं। प्रत्येक भाव की विशेषता है और उसकी एक सार्थकता होती है। एक भाव के साथ दूसरे भाव की शबलता अथवा सांकर्य भावसाधक के लिए निषिद्ध है। स्वभाव के मार्ग से इसके होने की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु, जो लोग कृत्रिम भाव की भावना के द्वारा भाव-साधना के मार्ग में अग्रसर होते हैं, उनसे भूल या भ्रान्ति का होना अनिवार्य है। वस्तुतः यह अकृत्रिम साधना का कृत्रिम अभिनय-मात्र है। एक वृक्ष के हजारों पत्तों में जिस प्रकार साम्य होते हुए भी प्रत्येक पत्ते में विशेषता रहती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाव में भी एक विशेषता होती है। भाव को मर्यादा दिये विना भाव-साधना में कोई अग्रसर नहीं हो सकता। बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य जिस प्रकार पृथक्-पृथक् होते हैं तथा उनका आचरण और तन्मूलक व्यक्ति आदि भी पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक भाव के अङ्गोपाङ्ग और विलास भी पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव भाव के प्रति बाहर से कोई निर्देश नहीं दिया जा सकता। भावसाधक के लिए गुरु की आज्ञा की आवश्यकता नहीं। उसके अन्तःस्थित भाव की प्रेरणा ही उसको परिचालित करने के लिए पर्याप्त होती है। एक भाव के साथ दूसरे भाव का व्यक्तिगत भेद तो है ही, इसके सिवा उसमें गुणगत तथा मात्रागत भेद भी रहते हैं।

भाव का विकास ही प्रेम है। भाव-साधना करते-करते स्वभावतः ही प्रेम का आविर्भाव हो जाता है। जबतक प्रेम का उदय नहीं होता, तबतक भगवान् का अपरोक्ष दर्शन नहीं हो सकता; भाव के उदय के साथ-साथ आश्रय-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जबतक प्रेम का उदय नहीं होता तबतक विषय-तत्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। यद्यपि भाव अथवा प्रेम एक ही वस्तु है, तथापि अपक्व और पक्व भेद से दोनों अवस्थाओं में कुछ पार्थक्य है। भाव-जगत् में प्रवेश के साथ-साथ भक्त अपने को अर्थात् अपने विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधन का और अधिक विकास होने पर भक्ति का विषयभूत भगवत्स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। भाव जिस प्रकार अनन्त है, उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी अनन्त है; तथा प्रत्येक भाव के साथ जिस प्रकार भक्त का अपना स्वरूप संश्लिष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके अनुरूप भगवत्-स्वरूप भी सम्बद्ध रहता है। जब प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती; इष्ट भगवत्-स्वरूप का आविर्भाव नहीं होता।

बात यह है कि प्रवर्त्तक-अवस्था में दो आवरण अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं। इन दोनों आवरणों में से एक तो प्रमाता के निजी स्वरूप को आच्छन्न किये रहता है और दूसरा प्रमेय के स्वरूप को आच्छन्न करता है। प्रवर्त्तक-अवस्था के अन्त में भावदेह के विकास के साथ-साथ प्रथम आवरण कट जाता है, परन्तु दूसरा आवरण तब भी रहता है। अर्थात् भक्त अपने भावदेह में जाग उठने पर ही इष्ट वस्तु को नहीं प्राप्त होता। जबतक भाव का विकास नहीं होता, तबतक पूर्वोक्त प्रमेय का आवरण उन्मुक्त नहीं होता। भाव के विकास से ही अनुसन्धान और अन्वेषण आरम्भ होता है तथा प्रमेय का आवरण कट जाने पर, अन्वेषण भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब प्राप्ति हो जाती है। यही प्रेम की अवस्था है। भाव में प्रवेश के साथ-साथ अभाव के जगत् से ज्योतिर्मय भावजगत् में प्रविष्ट होने पर अपना एक विशिष्ट स्थान

प्राप्त हो जाता है। तब उसी स्थान से इष्ट वस्तु का अन्वेषण चलने लगता है। इस प्रकार अन्तर्जगत् में क्रमशः अधिकतर गुह्यस्थान प्राप्त होते-होते चरम अवस्था में अन्तरतम बिन्दु में प्रवेश प्राप्त होता है। तब इष्ट का स्वरूप उन्मुक्त हो जाता है और भक्त को भगवत्साक्षात्कार सिद्ध होता है। अन्तर्जगत् में प्रवेश के पश्चात् जगत् के अन्तिम बिन्दु तक अनवच्छिन्न भाव से अग्रसर होना पड़ता है। इसी का नाम है साधना का क्रमविकास। आवर्त्त-क्रम से वृत्त के मध्य बिन्दु में स्थिति प्राप्त करने पर बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का भेद दूर हो जाता है। तब साधना की परिसमाप्ति हो जाती है। इसी का नाम रस का उदय है। इसका भक्त महाजनों ने सिद्धावस्था के नाम से निर्देश किया है।

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे धामतत्त्व का स्वरूप कुछ-कुछ समझा जा सकता है। भाव के विकास के पहले धामतत्त्व अभिव्यक्त नहीं हो सकता। जबतक काया का विकास नहीं होता, तबतक उस काया की स्थिति और क्रिया के लिए उपयोगी धाम का आविर्भाव कैसे होगा? भाव-विरहित भक्त बहिरंग होने के कारण धाम के बाहर रहने के लिए बाध्य होता है। इसी से प्रवर्त्तक-अवस्था में धाम में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। धाम में प्रवेश प्राप्त करने के लिए शुद्ध भावदेह आवश्यक होता है। अभाव का देह अर्थात् मायिक देह अथवा अज्ञानमय देह को भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं है। जबतक इस देह का त्याग करके शुद्ध देह-ग्रहण नहीं किया जाता, तबतक धाम में प्रवेश नहीं किया जा सकता। मायिक देह का त्याग होने पर ही धाम में प्रवेश हो जायगा, ऐसी बात नहीं; क्योंकि ऐसी अवस्था भी है, जब मायिक देह निवृत्त हो जाता है, फिर भी विशुद्ध भावदेह की प्राप्ति नहीं होती। यह कैवल्य की अवस्था है। इस अवस्था में भगवद्धाम में प्रवेश की सम्भावना नहीं होती; क्योंकि यह विदेह-स्थिति है। भक्त लोग इसका कैवल्य के नाम से निर्देश करते हैं। केवली जीव भगवद्धाम के बाहर विशाल प्रान्तर में सुप्तवत् विद्यमान रहता है। यह मायातीत अवस्था होते हुए भी वस्तुतः पाशविक अवस्था है। इस अवस्था में भगवद्धाम में प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता। एकमात्र भगवदनुगृहीत जीव ही धाम में प्रवेश कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

भगवद्धाम एक होने पर भी भाव के अनुसार अनन्त हैं। कुण्ठाहीन होने के कारण वैष्णव लोग इस धाम को व्यापी वैकुण्ठ कहते हैं। यह विशुद्ध सत्त्वमय है। अतः प्राकृतिक रजस्, तमस् तथा मलिन सत्त्व इस स्थान में कार्य नहीं कर सकते। जिस काल के प्रभाव से प्राकृतिक जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार और नाना प्रकार के परिणाम संघटित होते हैं, वह काल भगवद्धाम में कार्य नहीं कर सकता। उस स्थान में भी एक प्रकार का काल होता है। वह कालातीत काल है। वह भगवान् का लीलासहचर है और वह भगवदिच्छा का अनुवर्त्ती होकर कार्य करता रहता है। ज्योतिर्मय विशुद्ध सत्त्व भगवद्धाम का उपादान है। उस धाम में लीला की उपकरणभूत अनन्त वस्तुएँ भोग्य; भक्त और भगवान् के लीलाविग्रह, सभी विशुद्ध सत्त्व से रचित होते हैं; यही आगम-शास्त्रों के बिन्दु का स्वरूप है तथा इस धाम का नाम है—'बैन्दव जगत्'। विशुद्ध सत्त्व माया

से सर्वांश में विलक्षण है। अर्थात् माया अशुद्ध है और यह शुद्ध है। अतएव माया अनादि और सान्त है, परन्तु विशुद्ध सत्त्व सादि और अनन्त है। भगवद्धाम और भगवद्विग्रह तथा भक्त का निजी विग्रह सभी अन्तहीन हैं।

भाव स्थायी और संचारी भेद से दो प्रकार का होता है—यह पहले कहा जा चुका है। संचारी भाव आविर्भूत होकर कार्य करके तिरोहित हो जाता है, परन्तु स्थायी भाव तिरोहित नहीं होता। वस्तुतः यही स्वभाव है। संचारी भाव से रसा-स्वादन नहीं हो सकता; परन्तु स्थायी भाव से रसास्वादन की सम्भावना होती है। संचारी भाव भावदेह प्राप्त करके पहले भी जीवहृदय में कार्य करता रहता है; परन्तु वह वीजशक्ति-सम्पन्न नहीं होता, अतएव उससे फलोद्गम की सम्भावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भाव की संचारी अवस्था से स्थायी अवस्था में पहुँच सकता है। इसके लिए भक्त लोग नाम और मन्त्र की साधना की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। स्थायी भाव वस्तुतः भावदेह का ही नामान्तर है। भाव के विकास के साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरङ्ग हृदयकमल अष्ट-दलों से विभूषित है, इसलिए स्थायी भाव भी मूल अष्टभाव में विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल[1] कमल का एक-एक दल एक-एक भाव का स्वरूप है। भाव में प्रविष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत करना पड़ता है। यही भाव-साधना का रहस्य है। वस्तुतः महाभाव ही भाव-साधना का लक्ष्य है, परन्तु महाभाव में पहुँचने के लिए, भाव कुछ मध्यवर्ती अवस्था में होते हुए प्रस्फुटित होता जाता है। इसकी आलोचना क्रमशः की जायगी। जिन आठ अङ्गरूपी भावों की बात कही गई है, आलङ्कारिक लोग उनका अपनी-अपनी परिभाषा के अनुसार नामकरण करते हैं, परन्तु भाव का साधक अपनी दृष्टिभूमि से उनको प्राप्त हो सकता है, उसके लिए दूसरों की दृष्टिभूमि का अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। वास्तव में तो प्रत्येक भक्त को इन आठों भावों को एक-एक करके जगाना पड़ता है, नहीं तो जिस किसी भाव को उसके चरम विकास की अवस्था-पर्यन्त अभिव्यक्त (स्फुटित) नहीं किया जा सकता। कमल के विकास के लिए

---

१ यह गुप्त कमल है। षट्चक्र के अन्तर्गत जो द्वादशदलरूपी हृदयकमल है उससे यह पृथक् है; क्योंकि द्वादशदल का भेद करने के बहुत पीछे आज्ञाचक्र का भेद करने पर अन्तर्लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परन्तु जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, अष्टदल में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्ययुग के बहुतेरे सन्त अष्टदल को एक प्रकार से सहस्रदल से अभिन्न समझते थे, तथा कोई-कोई इसको सहस्रदल के अन्तर्गत मानते थे। वस्तुतः इस अष्टदल को यदि भावराज्य मान लें तो प्रचलित द्वादशदल को भाव का आभास समझा जा सकता है। इससे ज्ञान के बाद भक्ति होती है या भक्ति के बाद ज्ञान होता है—इस प्रश्न का समाधान हो जायगा। द्वादशदल के बाद लक्ष्य का उन्मेष होता है, यह प्रचलित सिद्धान्त है। इस मत से भक्ति के बाद ज्ञान का उदय होता है, प्ररन्तु वस्तुतः लक्ष्य-उन्मेष के बाद जिस भाग्यवान् भक्त को अष्टदल की प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टि में ज्ञान के बाद ही भक्ति का स्थान है, यह स्वीकार करना ही होगा। भक्ति के दो भेद हैं—अपरा और परा भक्ति, अथवा साधन और साध्य भक्ति। इसे समझ लेने पर उपर्युक्त विरोध का समन्वय सहज-साध्य हो जायगा।

जिस प्रकार एक ओर जलपूर्ण सरोवर और उसके साथ पृथ्वी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर ज्योतिर्युक्त तेजोमण्डल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है, नीचे रस और ऊपर रवि-किरण--इन दोनों का एक साथ संयोग होने पर कमल स्फुटित होता है, अन्यथा स्फुटित नहीं हो सकता; भाव के विकास के लिए भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाश में स्थित सूर्यमण्डल आवश्यक होता है, और दूसरी ओर रसोद्गम का मूल कारण स्थायी भाव आवश्यक होता है; क्योंकि संचारी भाव का विकास नहीं होता, स्थायी भाव का ही विकास होता है।

भाव के विकास के पहले तदुपयोगी क्षेत्र का निर्माण होता है। नाम-साधना के बाद तथा मन्त्र-साधना की समाप्ति के पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होने के समय यह लक्षित नहीं होता, परन्तु पीछे दृष्टि के उन्मेष के साथ-साथ यह दिखाई देने लगता है। तब यह समझ में आ जाता है कि कब और किस ढंग से उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही वस्तुतः एक कुण्ड या सरोवर है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह जलहीन सरोवर है। जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तबतक खेचरीभाण्ड अथवा अमृतभाण्ड से अमृत-क्षरण नहीं होता। लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ अमृत-क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त शुद्ध कुण्ड सलिलपूर्ण सरोवर के रूप में शोभायमान होता है। किसी-किसी रहस्यविद् भक्त ने इसका काम-सरोवर के रूप में वर्णन किया है। 'काम' से यहाँ अभिप्राय शुद्ध प्रेम से है। परन्तु वस्तुतः वह तब भी प्रेमरूप में परिणत नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष भी कामसूर्य का ही उदय है। कामकला-तत्त्व के जाननेवाले इसे विशेष रूप से जानते हैं। भाव सरोवर में पहले भावकलिका के रूप में प्रकट होता है। पश्चात् सूर्य की किरणें उसे प्रेम-कमल के रूप में विकसित कर देती हैं। जब भाव का विकास होता है अर्थात् कमल प्रस्फुटित हो जाता है, तब वह सरोवर से ऊपर उठ आता है; वह फिर सरोवर में नहीं रहता, एक नाल अथवा मृणाल के द्वारा सरोवर के साथ उसका केवल सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तभी वस्तुतः भाव में प्रवेश प्राप्त होता है। अब-तक जो हुआ था, वह सब आभास-मात्र था, अन्तर्जगत् में प्रवेश के पश्चात् आभास के त्याग के साथ-साथ सत्यरूप में अष्टदल की प्राप्ति होती है। इस अष्टदल की रचना अति अद्भुत होती है। अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिन्दु है, वही अष्टदल का सार है। उसका दूसरा नाम है 'महाभाव'। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टधा विभक्त स्वरूप-मात्र है; इसे महाभाव का कार्यव्यूह भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि महाभाव यदि बिन्दु है, तो इन आठ भावों के साथ उसका क्या सम्बन्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि ये आठ भाव महाभाव के स्वगत आठ अंगमात्र हैं। इन आठ अवयवों की समष्टि महाभाव का स्वरूप है। प्रत्येक भाव महाभाव के साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भाव का जो पूर्ण विकास है; वही महाभाव है। भाव से महाभाव की ओर जाने के दो प्रधान मार्ग हैं। एक आवर्त्तक्रम से और दूसरा साक्षात् तथा सरल रूप से। आवर्त्त-मार्ग का अवलम्बन करते समय

प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा करके भाव से भावान्तर में चलते-चलते क्रमशः महाभाव में पहुँचा जाता है। इस मार्ग से महाभाव में उपस्थित होने पर महाभाव का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है; परन्तु आवर्त्त-मार्ग से न जाकर सरल गुप्त मार्ग से भी महाभाव में पहुँचा जाता है। लेकिन इस मार्ग से महाभाव का पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता। क्योंकि इस मार्ग से बिन्दु के साथ केवल उस विशिष्ट दल का ही सम्बन्ध होता है, अन्य दल का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

इस बात को और भी स्पष्ट करके बतलाना है। माता और उसकी आठ सन्तानें विद्यमान हैं। माता प्रत्येक सन्तान की जननी है। अतएव उसका सम्बन्ध आठों में से प्रत्येक के साथ समान रूप से है। इस प्रकार उसका स्नेह, प्यार आदि प्रत्येक सन्तान के लिए ही प्राप्य होने के कारण आठ भागों में विभक्त हो जाता है। दूसरी ओर से, सन्तान के लिए एक माता के सिवा दूसरा कोई नहीं है। माता जानती है कि उसकी आठ सन्तानें हैं; और प्रत्येक सन्तान जानती है कि उसकी एक ही माता है। पुत्र यदि अपने को आठ भाइयों में से एक मानकर माता को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह सम्पूर्ण माता को प्राप्त न करके उसके एक देश को ही प्राप्त करेगा। क्योंकि सम्पूर्ण माता को ग्रहण करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है; कारण कि वह अपने को आठ सन्तानों में से एक समझता है। यहाँ सम्पूर्ण माता को प्राप्त करने के लिए उसे आठ में से एक न बनकर आठों के समष्टि-रूप में एक बनना होगा। यह क्रम-विकास का मार्ग है, अर्थात् उसको अगली सन्तान के भाव में तथा उसके आगे उससे अगली सन्तान के भाव में और इस प्रकार क्रमशः भावान्तर में प्रवेश करते-करते अष्टम सन्तान के भाव में अपने को प्रस्फुटित कर डालना होगा। तब वह आठ सन्तानों के समष्टि-भूत तथा अष्ट भावों के प्रतिनिधि-रूप में मध्य बिन्दु पर महाभावरूपिणी माता के पास पहुँचने का अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार आधार पूर्ण होने पर वह पूर्णरूप से माता को प्राप्त हो सकेगा। यह हुआ एक मार्ग। दूसरी दृष्टि से यदि पुत्र अपने को माता की आठ सन्तानों में से एक न समझकर केवल अपने को ही माता की एकमात्र सन्तान माने तो वह पूर्वोक्त आवर्त्त-मार्ग में पूर्णता प्राप्त नहीं करेगा; उसके लिए तो सरल मार्ग है और वह गुप्त है। उसे चाहे तो योगमाया का मार्ग कह सकते हैं। अर्थात् वह साक्षात् रूप से अपने स्थान से ही सरल मार्ग द्वारा माता को प्राप्त हो सकता है। उसे विभिन्न सन्तानों के भाव को ग्रहण करके पूर्णता की प्राप्ति नहीं करनी पड़ेगी। वह जहाँ अवस्थित है वहीं से माता का दर्शन कर सकता है और माता को प्राप्त हो सकता है। इस मार्ग में उसको बाधा देनेवाला कोई नहीं है, कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। वह जानता है कि एकमात्र मैं ही माता की सन्तान हूँ। और, माता भी जानती है कि वही एकमात्र मेरी सन्तान है। अतएव इस क्षेत्र में वह माता के पूर्ण स्नेह और प्यार का दावा करता है, और उसे प्राप्त भी कर लेता है। माता के इस स्नेह और प्यार में उसकी अन्य सन्तान का भाग नहीं होता। अन्य सन्तान इस बात को नहीं जानती और जान भी नहीं सकती। योगमाया के आच्छादन

में माता और सन्तान का यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषंगिक लीला प्रकाशित होती है। प्रत्येक सन्तान के लिए यह व्यवस्था एक ही प्रकार की होती है। परन्तु इसका विकास होने में समय लगता है। यहाँ माता को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत भाव से प्राप्त करने पर भी उसे आठ सन्तानों की जननी के रूप में समष्टिभाव से पाना नहीं बनता। लीला-आस्वादन की यह भी एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टान्त में जो सन्तान के विषय में उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्त्तगति के मूल में आत्मलोप-अवस्था रहती है, अर्थात् प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था में जाने के साथ-साथ प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्था में परिणत हो जाती है, यह जानने की बात है। इस प्रकार आवर्त्तन पूर्ण होने पर आगे-आगे परिणति को प्राप्त होते-होते प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्था में परिणत हो जाती है, यह जान लेना चाहिए। तब उस अष्टम अवस्था में पूर्ण विकास प्राप्त हो जाने के पश्चात् माता को पूर्णरूप में प्राप्त किया जाता है। परन्तु इसके सिवा समष्टि-प्राप्ति की एक और भी प्रणाली है; वह आत्मविकास है, आत्मलोप नहीं। उसके फलस्वरूप प्रथम अवस्था में ही द्वितीय अवस्था आकर लीन हो जाती है। और उसके बाद आत्मविकास के साथ-साथ सारी अवस्थाएँ उसी में लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अष्टम सन्तान के भाव के लीन हो जाने के बाद जिस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, वही इस मार्ग में समष्टि-सन्तानभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसके पश्चात् माता की प्राप्ति भी तदनुरूप ही होती है। वस्तुतः समष्टिमार्ग के समन्वय के द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथ की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार व्यष्टिभाव की प्राप्ति भी समझनी चाहिए; क्योंकि व्यष्टिभाव में भी स्वयं माता के आकर्षण से आकृष्ट होकर माता के समीप जाना तथा अपने आकर्षण से माता का आकृष्ट होकर आना और सन्तानों को गोद में लेना—ये दो विभिन्न दिशाएँ रहती हैं। व्यष्टिभाव में भी प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावों के समन्वय के ऊपर प्रतिष्ठित है।

इससे यह समझा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति परवर्त्ती सारी विकास-भूमिका—चाहे वह अनुलोम-क्रम से हो या प्रतिलोम-क्रम से—अनुभव न करके भी अपने व्यक्तिगत स्थान से ही महाभाव के साथ युक्त हो सकता है, अथवा महाभाव को अपने साथ युक्त कर सकता है। लीला के आस्वादन की दिशा में व्यक्तिगत दिशा का यह एक वैशिष्ट्य है, इसे मानना पड़ेगा। मूलतः व्यक्ति का व्यक्तित्व यदि स्वीकृत हो तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के स्थान पर अधिकार नहीं कर सकता; क्योंकि एक व्यक्ति में जो वैशिष्ट्य होता है, वह दूसरे में नहीं हो सकता, अतएव क्रमविकास के मार्ग से जाने पर वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का मार्ग नहीं होगा—यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस स्थल में व्यक्तित्व की रक्षा करके ही क्रमविकास मानना होगा। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति, अपने स्वभाव में विद्यमान रहते हुए भी, समष्टि में आत्मप्रसार कर सकता है। इस प्रकार समष्टि के साथ अथवा उसके एक देश के साथ उसको तादात्म्य की प्राप्ति भी हो सकती है; परन्तु फिर भी उसका व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण

ही रहता है। इस प्रसंग में यह भी याद रखना चाहिए कि विकासाभिमुख व्यक्तित्व का विसर्जन करने पर, यद्यपि वह विसर्जन स्थायी नहीं होता, तथापि अनिर्दिष्ट काल के लिए व्यक्तित्व का लय अनिवार्य हो जाता है। भाव से महाभाव-पर्यन्त लीला-राज्य का विस्तार है, महाभाव के साथ भावातीत का योग हुए बिना लीला का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। खण्डभाव से भावातीत में ठीक तौर पर स्थिति प्राप्त नहीं होती। अतएव खण्डभाव का महाभाव के द्वारा भेद करके ही भावातीत के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

प्रचलित दृष्टान्त के द्वारा हम विषय को समझने की चेष्टा करते हैं। हमारे परिचित भक्ति-शास्त्रों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—इन पांच मुख्य भक्ति-भावों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक भाव का एक वैशिष्ट्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार एक ओर जिस प्रकार भक्त का वैशिष्ट्य निरूपित होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भाव की परिपक्व अवस्था में आविर्भूत भगवान् का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है। शान्त भक्त जिस प्रकार का होता है, उसके सामने प्रकटित भगवत्स्वरूप भी तदनुरूप ही होता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि शान्त भक्ति एक है, तथापि उसमें असंख्य प्रकार-भेद हैं—इस बात को भक्त लोग स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के भेदों के अन्तर्गत फिर अवान्तर प्रकार-भेद हैं। जो जितना ही विश्लेषण कर सकेगा, वह उतने ही सूक्ष्म भेद करने में समर्थ होगा। परन्तु इन समस्त सूक्ष्म भेदों को मान लेने पर भी उसके द्वारा व्यक्तित्व की समस्या का समाधान नहीं होता; क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकार के हों, सर्वत्र ही व्यक्तिगत भेद के लिए स्थान रहेगा। अतएव प्रश्न यह है कि एक दृष्टि से जैसे शान्त भाव अन्यनिरपेक्ष और पूर्ण है, दूसरी ओर उसी प्रकार एक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी दूसरी दृष्टि से पूर्णता के लिए भावान्तर की अपेक्षा करता है। शिशुरूप में शिशु निरपेक्ष पूर्ण होता है; तथापि उसका एक क्रम-परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वह बालक-रूप में, किशोर-रूप में और युवक-रूप में परिणत में होता है। इसी प्रकार शान्त भावरूप में शान्त भाव की एक निरपेक्ष पूर्णता है, यह सत्य है; परन्तु शान्त भाव की परिणति में दास्यभाव का विकास, दास्यभाव की परिणति में सख्यभाव का विकास इत्यादि भावों का क्रम-विकास अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक-एक भाव के विकास के साथ-साथ एक-एक गुण की भी अभिव्यक्ति होती है। अतएव इस प्रणाली से महाभाव में उपस्थित होने पर सभी सम्भाव्य गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो जाती है। एक-एक भाव के अन्तर्गत अवान्तर श्रेणी-विभाग में भी इसी प्रकार क्रमविकास निहित है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व इस समस्त विकास में भी अक्षत रहता है। व्यक्तित्व की महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादन के अन्तर्गत रसवैचित्र्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

शान्तभाव के दृष्टान्त-स्वरूप में 'क' और 'ख' को ग्रहण कीजिए; 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' एक दूसरा व्यक्ति है। मान लीजिए कि दोनों शान्त भक्त हैं। व्यक्तिभेद

के वश 'क' और 'ख' के भाव एक पर्याय के होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। यह जो पार्थक्य है, वह अक्षुण्ण रूप में चिरकाल तक रहता है। अर्थात् शान्त भक्ति के बाद यदि 'क' और 'ख' दोनों दास्यभक्ति के स्तर में पहुँचते हैं तो वैसा होने पर भी दोनों का यह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना ही रहेगा। इस प्रकार माधुर्य-पर्यन्त क्रमोत्कर्ष प्राप्त कर लेने पर भी 'क' 'क' ही रहेगा, वह 'ख' या कोई दूसरा नहीं बन जायगा और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा, 'क' या कोई दूसरा नहीं बनेगा। केवल इतना ही नहीं, माधुर्यभाव के अन्तर्गत अवान्तर विभागों का भेद करके महाभाव में प्रवेश कर लेने पर भी यह व्यक्तिगत पार्थक्य लुप्त नहीं होगा। इस प्रकार समझना चाहिए कि वृत्त के अन्तर्गत प्रत्येक विन्दु केन्द्र-रूपी मध्यविन्दु में प्रविष्ट होने पर तथा उसके साथ अभिन्न होने पर भी अपने-अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। ऐसा न करने पर लीलास्वादन का माधुर्य नहीं रहता। एक जिस प्रकार एक रूप में सत्य है, उसी प्रकार वह अनन्तरूप में भी सत्य है; क्योंकि वहाँ भी तो वह एक ही तद्रूप में खेल करता है। एक में जैसे अनन्त है, वैसे ही अनन्त में एक है—यही लीला का रहस्य है।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्ति के वृत्तिविशेष का नाम है; यही भक्ति का स्वरूप है। परिपक्व अवस्था में इसी का नाम प्रेम है। यह अनन्त प्रकार का है—यह बात भी जानी गई। परन्तु इस अनन्त प्रकार के प्रत्येक प्रकार में व्यक्तिगत अनन्तत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नहीं चल सकता। इस व्यक्ति में ही वैलक्षण्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्ति के समान नहीं होता। कुछ स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूप से उसमें रहता है। स्वरूप-शक्ति और तटस्थ शक्ति के संयोग से ऐसा घटित होता है। अर्थात् भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उस भक्ति का आश्रय स्वरूप-शक्ति की वृत्ति नहीं, तटस्थ शक्ति का कार्य है अर्थात् जीव है। अतएव रागात्मिका भक्ति जीव की नहीं होती। जीव को तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। अर्थात् भाव-विशेष के जीव-विशेष में अभिव्यक्त होने पर उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीव में उसी भावविशेष के अभिव्यक्त होने पर उसे ठीक वही वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्व की महिमा है। इसी के कारण लीला लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनय-मात्र होता।

जीवरूपी अणु भाव का आश्रय है; परन्तु देह के सम्बन्धकाल में जीव अन्तःकरण के साथ विजड़ित होकर प्रकाशित होता है। चाहे जिस कारण से हो, सांसारिक अवस्था में जीव और अन्त.करण तादात्म्य-सूत्र में आबद्ध हैं। अतएव भाव का अवतरण जीव में होने पर भी वह प्रथम अवस्था में अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में प्रतिफलित होता है। परन्तु वस्तुतः वह अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है। अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर वह समस्त देह को अनुप्राणित करता है। लौकिक भाव का यही नियम है। परन्तु प्रवर्त्तक अवस्था में देह और अन्तःकरण शुद्ध होने पर जब उसके बाद स्वभाव का विकास हो जाता है, तब इस प्रकार स्थूल देह के साथ सांकर्य सम्भव नहीं होता; क्योंकि उस समय यह भाव स्थूल देह से पृथक भावदेह के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह भावदेह

भावरूपी या शुद्ध सत्त्वात्मक कार्य एवं चिदणुस्वरूप जीवरूपी प्राण—इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप होता है।

भाव अथवा भक्ति-साधना की चरम परिणति में एक ओर रस की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर, महाभाव का विकास होता है। रस का जो विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप है, उसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभाव के विकास के बिना नहीं हो सकती। परन्तु महाभाव का विकास भाव की विशिष्ट अभिव्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है। भाव के नाना प्रकार के भेद हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन समस्त भेदों के अन्तर्गत एक पारस्परिक क्रमानुगत सम्बन्ध है—यह भी ठीक है और प्रत्येक भाव स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष है—यह भी सत्य है। सृष्टिकालीन जीव के स्वरूपगत वैशिष्ट्य के कारण इस प्रकार का भेद होता है।

भाव क्रमविकास के फल से हो या अक्रमविकास के फल से—शान्त से मधुर में परिणाम को प्राप्त हुए बिना, अथवा स्वभावसिद्ध मधुरभाव के हुए बिना, भाव से महाभाव के मार्ग को प्राप्त होने की सम्भावना नहीं रहती। मधुरभाव के प्राप्त होने पर भी, यदि प्रतिबन्धक दूर न किया जा सके तो, भाव की गति विकास-मार्ग से महाभाव तक नहीं पहुँचती; क्योंकि मधुरभाव में सामञ्जस्य और साधारणत्व प्राप्त न हो तो उसमें सामर्थ्य का उदय नहीं होता। इसका विशेष विवरण आगे दिया जायगा।

भाव-साधना की दो दिशाएँ हैं। एक में गुणवृद्धि के साथ-साथ शान्त से दास्य, दास्य से वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदय के साथ माधुर्य का विकास होता है। ठीक इसी प्रकार माधुर्य प्राप्त करके सामञ्जस्य और साधारणत्व का परिहार करना आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसी के अनुरूप साधन-क्रम का ठीक-ठीक अवलम्बन करने पर महाभाव की ओर अग्रसर होना सम्भव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिविशेष में कृपादि निमित्त से अथवा स्वभावतः उत्कर्ष विद्यमान रहने पर, उपर्युक्त साधन-क्रम का गुरुत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। दूसरी दिशा में, गुणवृद्धि की चेष्टा न करके अपने गुण में आबद्ध रहने तथा अपनी भूमि में रहते हुए भी भाव को प्रेम में परिणत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। शान्तभाव शान्त रहते हुए भी प्रेम में परिणत हो सकता है। इसके लिए दास्यभाव में अथवा तदनुरूप अन्य भाव में विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्था-पर्यन्त भाव की परिपक्वता होने पर भाव के विषयभूत श्रीभगवान् के दर्शनों की प्राप्ति प्रत्येक भाव के द्वारा ही हो सकती है। उसके लिए भावान्तर का आश्रय आवश्यक नहीं होता। परन्तु यह सत्य है कि भगवान् के दर्शन होने पर भी तथा भविष्य में रस की अभिव्यक्ति और लीला में अधिकार होने पर भी उसे एक ही भाव की सीमा में बँधा रहना पड़ेगा।

पहले जिस अष्टदल-कमल की बात कही गई है, उसे बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का समझना चाहिए। आभ्यन्तरीण कमल 'बिन्दु'-स्वरूप होता है और बाह्य कमल इस बिन्दु की आठ दिशाओं के आठ दलों की समष्टि होता है। इस बाह्य कमल को भावराज्य ही समझना चाहिए। इसमें निरन्तर आठ भावों का खेल चल

रहा है। वस्तुतः ये मौलिक अष्टभाव ही अष्टकालीन लीला के कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमों से इन आठ दलों की परिक्रमा पूर्ण कर लेने पर मध्य-बिन्दु में प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यबिन्दु माधुर्यमय है। मध्यबिन्दु का विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि वह भी स्थूलतः आठ भागों में विभक्त है। इन आठ भागों में से प्रत्येक भाग मध्यबिन्दु का अवयव ही है, जिसे 'कला' कहा जाता है। इन आठ कलाओं का नाम है 'अष्टसखी'। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद हैं। इन अष्टभावों का जो निष्कर्ष या निर्यास है वह यथार्थ महा-बिन्दु अर्थात् महाभाव है। महाभाव में भी उत्कर्षगत तारतम्य के भेद से विकास के लिए अवसर रहता है। इस विकास की जो चरम परिणति है, उसी का वैष्णव शास्त्रों में, विशेषतः अन्तरङ्ग महापुरुषों की अनुभूति में 'श्रीराधा-तत्त्व' नाम से वर्णन किया गया है। भाव-साधना के फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलों के प्रथम दल से आवर्त्तित होते-होते क्रमशः महाभाव के चरम विकास तक पहुँच सकता है। उस समय पूर्णतम रस की उपलब्धि में पूर्णतम मिलन और सामरस्य होता है। बाह्य अष्टदल तथा अष्टकलारूपी भीतर के अष्टदल—इन दोनों के बीच असंख्य अवान्तर स्तर हैं। जिस रस के विषय में कहा गया है; उसकी अभिव्यक्ति भावराज्य में सर्वत्र ही हो सकती है; परन्तु भाव के अन्तर्मुखी विकास की आवश्यकता, अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने स्वरूप में विशुद्ध रूप से स्थित हो तो उसके प्रेमरूप में परिपक्व होने पर साथ-ही-साथ, अपने स्वभाव के अनुसार, भगवान् के दर्शन और रस की उपलब्धि के क्रम से, तदनुरूप लीलारस का आविर्भाव हो सकता है। परन्तु इस रस का पूर्णत्व और मधुरत्व तभी सम्भव है, जब भावों की गुणवृद्धि से होनेवाले अन्यान्य प्रकार के विकास भी सम्पन्न होते रहें।



रामभक्तिमूलक रस-साहित्य

रसतत्त्व का विश्लेषण और रस-साधना का सम्यक् आलोचन अभीतक कहीं ठीक प्रकार से हुआ है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। भारत के बाहर आध्यात्मिक साहित्य की विवेचना के प्रसंग में तो इस प्रकार का उद्यम तक दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ के आध्यात्मिक साहित्य की अवस्था भी प्राय: इसी प्रकार की है। प्रारम्भिक और परस्पर असम्बद्ध आलोचना विभिन्न प्रसंगों में न्यूनाधिक मात्रा में हुई है, परन्तु पूर्वापर संगति का संरक्षण करते हुए विशेष पर्यालोचन का सूत्रपात तक अभी नहीं हुआ है।

भगवत्साधना के भेद नाना प्रकार के हैं। जो आध्यात्मिक साधना के इतिहास के मर्मज्ञ हैं, वे इस विषय में विशेष रूप से अभिज्ञ हैं। खृष्टीय सम्प्रदाय में, विशेषत: कैथोलिक मत की विभिन्न शाखाओं में, भक्तिमूलक और कहीं-कहीं उसके साथ विभिन्न प्रकार की योगाश्रित साधनाएँ प्रचलित हैं। बौद्धधर्म में भी विविध साधनाओं का प्रचलन है। हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय की योग-साधना इसी के अन्तर्गत है। फिर भी दोनों में बहुत भेद है। महायान में प्रज्ञा तथा करुणा की साधना में वैचित्र्य लक्षित होता है। इसके बाद पारमितानय छोड़कर मन्त्रनय के विकास के साथ योग-साधना के मूल पन्थ में भी पर्याप्त भेद है। धीरे-धीरे इसी के भीतर गुप्त साधना की धारा भी प्रवाहित होने लगी। वज्रयान, सहजयान तथा काल-चक्रयान में योग के अन्तर्गत महासुख के निगूढ़ रहस्य का इंगित विद्यमान है। इतिहास के मर्मज्ञ समालोचक इस रहस्य में अन्त:प्रवेश करने पर बहुत अमूल्य तथ्यों का सन्धान पा सकते हैं। किन्तु सम्भवत: अभीतक संस्कार-मुक्त चित्त से ऐसी चेष्टा नहीं हुई है। इसी प्रकार सूफ़ी-साहित्य में भगवत्प्रेम-विषयक बहुमूल्य सामग्री है। यह सब फारसी तथा अरबी भाषा में निबद्ध है। इसका बहुत ही कम अंश पाश्चात्त्य भाषाओं में प्रकाशित हुआ है। भारतीय भाषाओं में इन सब विषयों का उद्धार यथोचित रूप से नहीं हो सका है। भारतीय भक्ति-साहित्य में भी रस-साधना की एक स्पष्ट धारा का निदर्शन मिलता है, परन्तु इस क्षेत्र में अभीतक तथ्य-संग्रह तक नहीं हुआ है, उसके क्रमविकास की आलोचना का प्रश्न तो दूर रहा।

वास्तव में रस-साधना की आलोचना, एक दृष्टि से रस-ब्रह्म की लीला की आलोचना है। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित हुआ है कि ब्रह्म रसस्वरूप है अर्थात् आनन्दस्वरूप है और उसके इस आनन्दमय स्वभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृत्ति हुई है। अतएव सृष्टि-रचना का हेतु अभाव नहीं है, किन्तु स्वभाव है। जो नित्य आप्तकाम है, आत्माराम है, सदातृप्त है, सततपूर्ण है, उसको किसी प्रकार का अभाव नहीं रह सकता। अतएव किसी अभाव की पूर्ति के लिए सृष्टि का उन्मेष हुआ, यह नहीं कह सकते—'आप्तकामस्य का स्पृहा ?'

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है—विश्वसृष्टि ब्रह्म के लिए लीला-मात्र है ('लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्')। विष्णुपुराण में कहा गया है—"क्रीडतो बालकस्येव क्रीडा तस्य निशामय।" (बालक जैसा अपने स्वभाव से खेल के बहाने किसी वस्तु को तोड़ता भी है, बनाता भी है, उसका उसमें कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार इस जगत् के सृष्टि-संहार भी ब्रह्म की क्रीड़ामात्र हैं।) लीला अथवा क्रीड़ा का अर्थ है खेल। है तो यह खेल ही, परन्तु आनन्द का खेल है। इस खेल का आदि भी नहीं है, अन्त भी नहीं है—यह नित्य प्रवर्त्तमान है। यही आनन्दमय श्रीभगवान् की नित्यलीला है। इसके दर्शन का अधिकार सबको नहीं है, इसमें प्रवेश करने की तो बात ही क्या? पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि प्रत्येक नरदेही का ही इसमें अधिकार है। किसी विशिष्ट समय और विशिष्ट अवस्था में श्रीभगवान् का अनुग्रह होने पर, यह अधिकार जग जाता है—दर्शन के लिए भी, प्रवेश के लिए भी।

भारतीय भक्ति-साधना के अत्यन्त निगूढ़ प्रदेश में इस भागवती लीला का सन्धान मिलता है। जो भक्ति को केवल भावरूप से नहीं पहचानते हैं, किन्तु रस-रूप से उसका साक्षात्कार कर सकते हैं, भक्ति-रस के आस्वादन के अधिकारी वे ही हैं। जिनके चित्त में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न होती है, वे ही रसिक भक्त हैं। अन्य भक्त, भक्ति-सम्पन्न होते हुए भी, 'रसिक' पदवाच्य नहीं होते। अतएव 'रसिक-सम्प्रदाय' शब्द से हम उस सम्प्रदाय को समझते हैं, जो भक्ति को केवल भावरूप-मात्र में नहीं, किन्तु रसरूप में ग्रहण करने में समर्थ हैं।

अपने यहाँ भक्ति-साधना के लिए विभिन्न सम्प्रदाय हैं। वैष्णव-मत में तो हैं ही; क्योंकि वैष्णव ही भक्तिमार्ग के मुख्य पथिक हैं, शैव-शाक्तादि मार्गों में भी हैं। श्रीरामानुज (श्री), श्रीनिम्बार्क (सनकादि या हंस), श्रीमध्व (ब्रह्म) तथा श्रीविष्णुस्वामी और तदनन्तर श्रीवल्लभ (रुद्र) आदि वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रवर्तित चार सम्प्रदाय लोकप्रसिद्ध हैं। बंगदेश में श्रीचैतन्य का गौड़ीय तथा उड़ीसा में उत्कलीय वैष्णव सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त उनकी छोटी-बड़ी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ भी हैं, जिनमें राधावल्लभी, हरिदासी, प्रणामी, श्रीनारायणी इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीसम्प्रदाय की प्रसिद्धि के पूर्व द्रविड़-देश में आलवार लोग भक्तिमार्ग में, विशेषतया रागमार्ग में, यथाविधि साधना करते थे। भक्ति-साधना के पथ में वैराग्यमार्ग तथा रागमार्ग—दोनों का ही उपयोग होता है। जिनका लक्ष्य मुक्ति है, उनके लिए वैराग्य अधिक उपयोगी है। ज्ञान की भी यही स्थिति है, परन्तु जिनका उद्देश्य भगवद्धाम में प्रविष्ट होकर श्रीभगवान् की अन्तरंग सेवा में अधिकार-लाभ करना है, उनके लिए वैराग्य श्रेयस्कर होने पर भी अधिक उपयुक्त रागमार्ग ही है। विषय-वितृष्णा आध्यात्मिक मार्ग में सर्वत्र ही सहायक है। इसीलिए वैराग्य का प्राथमिक उपयोग निस्सन्देह है। किन्तु इष्टसिद्धि के लिए इनको रागरूपा भक्ति का ही आश्रय लेना पड़ता है। रागमार्ग में वैराग्य, ज्ञान प्रभृति सम्पदाएँ भगवद्विषयक राग से सदैव यथासमय उत्पन्न होती रहती हैं। इस अंश में भक्ति में राग तथा वैराग्य-मार्ग में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। वैष्णवों के भीतर सब भक्त रसिक या रागमार्गी नहीं हैं। ... भक्तों में भी इस

प्रकार का भेद लक्षित होता है। शैव-साधना में ज्ञान का प्राधान्य रहने पर भी भक्ति को ऊँचा स्थान दिया गया है। सिद्धान्तशैवमार्ग में जो दासमार्ग, सहमार्ग इत्यादि नामों से प्रसिद्ध मार्गचतुष्टय का निर्देश मिलता है, उसमें भी भगवान् और भक्त का सम्बन्धमूलक वैचित्र्य देखने में आता है। अद्वैत शैवगण ज्ञानी होते पर भी परम भक्त हैं, शुष्क ज्ञानी नहीं। उत्पलाचार्य की 'शिवस्तोत्रावली' देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१] अभिनवगुप्त के वक्तों में भी इस विषय में प्रमाण विद्यमान हैं।[२] शाक्त उपासकों के सम्बन्ध में भी यही बात है। 'हारितायनसंहिता' नामक त्रिपुरारहस्य के ज्ञानखण्ड में स्पष्ट लिखा है कि परम अद्वैत अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर भी भक्ति के अस्तित्व का अभाव नहीं होता। अद्वैत-दृष्टि में विशुद्ध आत्मा ही सर्वापेक्षया प्रियतम है। अद्वैत भक्त उसी का भजन करते हैं। इस भजन में 'कैतव' अर्थात् कौपट्य अथवा कृत्रिमता नहीं है। इस स्थिति में सेव्य-सेवकभाव न रहने पर भी ज्ञानी भक्त भेदभाव का बलपूर्वक आहरण करके सेव्य-सेवकभाव की रचना कर लेते हैं। वे स्वात्म-स्वरूप अद्वय-पद की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि करने पर भी अपने स्वभाव या चित्त की स्वरसता से ऐसा किये बिना रह नहीं सकते।[३] वस्तुतः वासना का वैचित्र्य ही इसका निमित्त है।

वैष्णव-साधना की ऐतिहासिक क्रम-परिणति के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस रस-साधना की धारा विशेष रूप से श्रीकृष्णोपासना के भीतर से ही प्रवाहित हुई। महाप्रभु श्रीगौरांगदेव के अन्तरंग पार्षद श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातनगोस्वामी तथा अन्य गौड़ीय आचार्य अपनी रचनाओं में इसका किंचित् आभास दे गये हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय में भी स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने अपने लेखों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अनुसन्धित्सुओं की जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए यह समग्र साहित्य आलोच्य है।

१—उत्पलाचार्य का कहना है कि ध्यान के द्वारा ध्येय का स्वरूप और जप के द्वारा जप्य का स्वरूप नियत आकार में प्रकाशित होता है। परन्तु समावेशमयी भक्ति के प्रभाव से बिना किसी उपाय के निराकार और सर्वाकार चिदानन्दघन शिवात्मतत्त्व सदा स्फुरित होता है। इसके लिए किसी विधि की आवश्यकता नहीं है।

२—अभिनवगुप्त के 'महोपदेशविंशति' नामक स्तोत्र (श्लोक ४) में कहा गया है,—

भवद्भक्तस्य संजातभवद्रूपस्य मेऽधुना।
त्वामात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः॥

अर्थात् मैं तुम्हारा भक्त हूँ। अब तुम्हारा जो रूप है, वही मेरा रूप होकर प्रकट हुआ है (क्योंकि मैं भक्ति के प्रभाव से तुम्हारा सारूप्य प्राप्त कर चुका हूँ)। इसलिए इस समय तुम्हारा ही आत्मरूप में अथवा निजरूप में दर्शन करता हुआ तुमसे अभिन्न जो मैं हूँ, ऐसे मुझे और मुझसे अभिन्न जो तुम हो, ऐसे तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

३—अतः सुभक्तं रतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतां ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्॥
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परः।
—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड २०।३३,३४

श्रीरामभक्ति-साधना में रस की धारा इतना अधिक विकास को प्राप्त नहीं हुई थी, साधारण लोगों का यही विश्वास है। श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तमरूप में पूजित होते हैं। लीलापुरुषोत्तमाख्या श्रीकृष्ण-विषय में ही प्रसिद्ध रही है। दीर्घकाल के अनुसन्धान तथा गवेषणा के अनन्तर श्रीभगवतीप्रसाद सिंह द्वारा रचित 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ से, पता चलता है कि श्रीरामभक्ति-क्षेत्र में भी रसिक-साधना की धारा का विस्तार कम नहीं है। इस विषय में खोज करने पर प्रायः १००० ग्रन्थों का पता लगा है। इनमें लगभग ५० ग्रन्थ मूल संहितादि रूप में संस्कृत में विद्यमान हैं। इन्हें छोड़कर हिन्दी में लिखी गई रचनाओं की संख्या ८०० के करीब है। इस विषय के आनुषंगिक ग्रन्थों की संख्या भी १०० के ऊपर है।

अति प्राचीन काल से ही श्रीराम की उपासना चली आ रही थी, किन्तु उसका विशेष विकास नवीं शताब्दी ई० के पश्चात् हुआ। शठकोप (नम्मालवार) से लेकर श्रीकृष्णदास पयहारी-पर्यन्त श्रीरामचन्द्रजी की उपासना के विषय में जिस साहित्य की रचना हुई थी, उसमें रसिक-भावना की स्पष्ट छाप विभिन्न स्थलों में दिखाई देती है। इतस्ततः बिखरे रूप में रहने पर भी यह समस्त वाङ्मय एक अप्रकाशित गुह्य साधना का अंगीभूत है। आचार्य अग्रदास को इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। इसका तात्पर्य सम्भवतः यही है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही इन बिखरे अंशों को सुसज्जित करके एक सुसंगत सिद्धान्त का रूप प्रदान किया था। वैसे वर्त्तमान रामभक्ति-सम्प्रदायों के अधिष्ठाता और अग्रदासजी के पूर्वाचार्य स्वामी रामानन्द की रचनाओं में भी इस साधना के मूलतत्त्वों की व्याप्ति पाई जाती है—जगन्माता का पुरुषकारत्व (कृपादि गुणत्रयमूलक), नवधा भक्ति के ऊपर प्रेमलक्षण दशधा भक्ति का अंगीकार, भगवान् के साथ जीव के भावमूलक सम्बन्धों में अन्य भावों के सदृश भार्या-भर्तृ-सम्बन्ध का स्वीकार और साथ-ही-साथ स्वकीयत्व का समर्थन आदि तथ्यों से इसका समर्थन होता है।

रसिक-साधना की प्रकरण-पद्धति को पुष्ट करने के लिए आगम-साहित्य से भी सहायता ली गई थी। वैष्णवागमों के अतिरिक्त शैव तथा शाक्त आगमों का भी उपयोग किया गया था—इनमें अगस्त्यसंहिता, सदाशिवसंहिता, हनुमत्संहिता प्रभृति विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त ग्रन्थ में इस विषय की विस्तृत आलोचना की गई है। साम्प्रदायिक रामकाव्यों तथा रामचरित-साहित्य में माधुर्य-भावना के विकास का परिचय भी इसके विभिन्न स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। यह साहित्य (कम्बन-रामायण को छोड़कर) प्रायः पंचदश तथा षोडश शती का माना जाता है। रामावत-सम्प्रदाय में मधुर उपासना के प्रचलित होने के प्रमाण भक्तमाल में उल्लिखित तथा उसके बाहर के रामभक्तों की जीवनधारा हैं। कहा जाता है कि महात्मा तुलसीदास इस धारा के ठीक-ठीक अन्तर्गत न होने पर भी इसके द्वारा प्रभावित हुए थे। उनके समकालीन सम्राट् अकबर द्वारा प्रवर्तित ('रामसीय' भाँति की) मुद्राओं से उसकी भी श्रीराम के प्रति आस्था व्यक्त होती है। तुलसीदासजी के तिरोधान के पश्चात् प्रायः

शतवर्ष तक इस विषय में एक अवसाद का युग रहा। इसके प्रधान कारण थे— धार्मिक असहिष्णुता, सामाजिक अधःपतन तथा साम्प्रदायिक संघर्ष। मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद इसका पुनरुत्थान हुआ। यह अष्टादश शतक की बात है। वस्तुतः ऊनविंश शताब्दी में यह साधना पूर्ण विकास को प्राप्त हुई।

मुगल-साम्राज्य का पतन होने पर जब पुनः हिन्दू-जागरण हुआ तब स्वभावतः ही अन्य धार्मिक साहित्य की भाँति रामभक्ति-साहित्य का भी उत्थान हुआ। देश में शान्ति-स्थापना तथा शासन-व्यवस्था सुप्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक विकास का द्वार उन्मुक्त हो गया। मन्दिरों का जीर्णोद्धार, नूतन अखाड़ों की स्थापना और धर्मसंक्रान्त नियमावली का प्रचार इसकी विशेषता थी। इस काल में सभी हिन्दू-सम्प्रदाय उन्नति-पथ पर अग्रसर हुए। वैष्णवों के भीतर श्रीकृष्ण और श्रीराम-भक्तों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना इसी समय हुई थी। रस-साधना की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णोपासना का इतिहास कुछ अधिक प्राचीन है। श्रीरामोपासना अपेक्षाकृत उतनी पुरानी न होने पर भी अधिक समृद्ध थी, इसमें सन्देह नहीं। नाना शाखा-प्रशाखाओं में विस्तृत होने के साथ ही तत्संसृष्ट साहित्य भी विशाल था। मुगल-शासनकाल में श्रीविष्णुस्वामी प्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदाय के नेतृत्व का भार श्रीवल्लभाचार्य के ऊपर पड़ा। इस सम्प्रदाय के बहुत-से ग्रन्थ संस्कृत तथा हिन्दी में लिखे गये थे। वस्तुतः रसिक-साधना में इससे भी अधिक मूल्यवान् साहित्य गौड़ीय सम्प्रदाय में रचा गया था।[1] उप-सम्प्रदायों का साहित्य भी कम नहीं था। इस साहित्य के प्रभाव

१. उत्कलीय वैष्णव-साहित्य में महाप्रभु श्रीचैतन्य देव के भक्त पंचसखाओं में जिस प्रकार भक्ति-साधना का प्रचार हुआ था, उसकी प्रकृति में वंगीय वैष्णवोपासना से कुछ विलक्षणता पाई जाती है। उत्कलीय वैष्णव-साधना के मूल में है—उत्कल (उड़ीसा) में प्रचलित उत्तर-कालीन बौद्धधर्म का, नाथपन्थ का, शैव तथा शाक्त आगमों का, पौराणिक कृष्णभक्ति का तथा सम्भवतः विभिन्न मार्गीय रससाधना का स्पष्ट प्रभाव। उसपर महाप्रभु के व्यक्तिगत दिव्य जीवन का प्रभाव तो है ही, मध्ययुग की सन्त-साधना से भी वह किसी अंश तक प्रभावित दिखाई देती है।

महात्मा यशोवन्तदास के 'प्रेमभक्तिब्रह्मगीता' नामक ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में नित्य-रास का जो वर्णन मिलता है, उसी में 'रामनाम' का रहस्य-वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि रासमण्डल की नित्यस्थली में 'जीव' और 'परम' का जो लीला-विहार है, वही रामनाम का तात्पर्य है। उक्त दोनों तत्त्वों (जीव तथा परम) का अवस्थान मानव-देह में ही है। उसके ऊपर है अनक्षर, जिसके ऊर्ध्व में निराकार या महाशून्य है, जहाँ से निरन्तर नाम का क्षरण होता है। सृष्टि के प्रसंग में उल्लेख है कि निःशब्द से शब्द का और शब्द से ऊँकार का उद्भव होता है। यह ऊँकार ही एकाक्षर शिशुवेद है। इस एकाक्षर ऊँकार से 'रा' और 'म' ये दो अक्षर उत्पन्न होते हैं और इन दो अक्षरों से त्रिकोण अथवा त्रितत्त्व का उद्भव होता है। 'रा' और 'म' का तात्पर्य है राधा तथा कृष्ण। त्रितत्त्व हैं—जीव, परमात्मा तथा हरे-राम-कृष्ण, अथवा पराबीज, रमाबीज और कामबीज, अथवा ब्रह्मा, विष्णु और महेश, अथवा गुरु, शिष्य और भगवान्, अथवा कृष्ण, राधा और चन्द्रावली, अथवा जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा। "हरे राम कृष्ण"—इन तीन तत्त्वों या तीन नामों से आविर्भूत हुए चार नाम या चार तत्त्व—"हरे, राम, कृष्ण, हरे।" चार तत्त्वों से उत्पन्न हुए

का राम-भक्ति-सम्प्रदाय के रसिक साधक अपने साधारण जीवन में विशेष रूप से अनुभव करते थे। कहीं-कहीं वंगीय वैष्णव गोस्वामियों की रागमार्गी साधना के रसिक रामभक्तों द्वारा इसके आदर्श रूप में ग्रहण करने के भी चिह्न मिलते हैं। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जिन प्राचीन संहिताओं के नाम रसिक रामभक्ति-सम्प्रदाय में दृष्ट होते हैं, उनका प्रभाव किसी-न-किसी अंश में चैतन्य-सम्प्रदाय पर भी पड़ा होगा। परन्तु श्रीकृष्णयामल, गौतमीयतन्त्र, सनत्कुमारसंहिता, आलवन्दारसंहिता, सुन्दरीतन्त्र आदि आगम-ग्रन्थों ने श्रीकृष्ण तथा श्रीराम-विषयक दोनों लीला-साहित्यों को समान रूप से प्रभावित किया है। त्रिपुर-सुन्दरी की उपासना के साथ श्रीकृष्णलीला का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह भी ध्यान देने योग्य विषय है। भविष्य में जो इस क्षेत्र में कार्य करने में प्रवृत्त होंगे, उन्हें इन सब विषयों में तत्त्व-निरूपण करना पड़ेगा।

पूर्वोक्त ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में रसिक-सम्प्रदाय की साधना की विशेष रूप से विवेचना की गई है। हिन्दी-साहित्य में यह आलोचना विभिन्न दृष्टियों से अभूतपूर्व और अतुलनीय है। साम्प्रदायिक दृष्टि से यह जैसी मूल्यवान् है, उसी प्रकार रस-साधना के ऐतिहासिक क्रमविकास की दृष्टि से भी इसका महत्त्व निर्विवाद है।

रस-ब्रह्म की नित्यलीला के विषय में सम्यक् आलोचन अभी तक नहीं हुआ है। ठीक यही स्थिति रागमार्गी साधना-प्रणाली की व्यवस्थित स्वरूप-योजना की भी है। वल्लभ-सम्प्रदाय की पुष्टि-भक्ति, गौड़ीय सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति तथा अन्य सम्प्रदायों की प्रेमलक्षणा भक्ति की विभिन्न अवस्थाओं की तुलनात्मक समीक्षा का भी प्रायः अभाव ही है। इनका पृथक्रूपेण भी ठीक-ठीक अध्ययन अभीतक नहीं हो पाया है। इस रागभक्ति की विभिन्न धाराएँ हैं—बौद्ध वज्रयान-साधना में महासुख का जो उच्च स्थान है वही महत्त्व सहजयान तथा परवर्त्ती साम्प्रदायिक सहजियों तथा बाउलों के सम्प्रदाय में रसतत्त्व को प्राप्त है। कौल-सम्प्रदाय की रस-साधना भी, साधना-दृष्टि से, आलोचना का विषय है। मैं समझता हूँ कि इस रस-साधना के क्षेत्र में मध्ययुग में बौद्ध तथा तान्त्रिक सिद्धाचार्यों का प्रभाव भी कम नहीं था। केवल एक प्रदेश में नहीं, भारत के विभिन्न भागों में, एक सहस्र वर्ष से अधिक समय तक इस साधना का गुप्त स्रोत प्रवाहित हुआ। इसका धारावाहिक इतिहास (केवल ऐतिहासिक बहिर्मुख विवरण-मात्र नहीं) आज तक संकलित नहीं हो सका।

राम भक्तिमूलक, रसिक-सम्प्रदाय की साधना के तत्त्व, क्रम और अनुष्ठानादि अवान्तर प्रकरणों का विवरण इस ग्रन्थ में पहली बार, प्रामाणिक रूप में, संगृहीत हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में गुरु-परम्परा और विभिन्न प्रकार के तिलक-चिह्नों की विस्तृत व्यवस्था की गई है। यह अध्याय विशेष मूल्यवान् है; क्योंकि इस विषय का विस्तृत विवरण अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया।

आठ तत्त्व या आठ नाम (षोडश अक्षर)—'हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।' आठ नामों या आठ तत्त्वों से सोलह नामों का आविर्भाव हुआ (बत्तीस अक्षर)—"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥" यही कलियुग का महामन्त्र है। ... ग्रन्थ में ... भक्ति का विशेष विवरण भी दिया गया है।

पंचम अध्याय में जितने महापुरुषों का परिचय दिया गया है, उनकी साधना, सिद्धि, रचनाएँ आदि रसिक-सम्प्रदाय की चिरन्तन सम्पत्तियाँ हैं और भारतीय साधना में विशिष्ट अवदान हैं। इन महात्माओं में से ६८ का कुछ विस्तृत परिचय दिया गया है, शेष १२२ के नाम, काल तथा ग्रन्थादि का निर्देश यथासम्भव संक्षेप में योजित किया गया है।

साकेत-लीला अथवा वृन्दावन-लीला के तात्त्विक रूप से, प्राचीन काल में भी, विशिष्ट साधक-समाज परिचित रहा है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं। उनके भाव भी अनन्त हैं। इसलिए उनकी लीलाएँ भी अनन्त हैं, धाम भी अनन्त हैं तथा प्रत्येक लीला का वैचित्र्य भी अनन्त है। भाग्यक्रम से जो उनके जितने अंश का सन्धान पा सके हैं, उनका परिचयदान उतने पर ही अवलम्बित है अर्थात् उन्होंने उतने का ही वर्णन किया है। वाह्य जीवों के लिए वही एकमात्र उपजीव्य है। "देवानां पूरयोध्या"—यह वाक्य श्रुति का है। पाश्चात्त्य देशों में भी 'Eternal Jerusalem' प्रभृति ध्वनि सुनने में आती है। असली बात यह है कि प्राकृत देह में जो अभिमान है उसका त्याग और अप्राकृत देह में उसकी स्थापना कर सकने पर ही अप्राकृत जगत् का दर्शन तथा उसमें प्रवेशादि सम्भव हो सकता है। परन्तु अप्राकृत देह का लाभ सहज व्यापार नहीं है। प्रकृति से ही अविद्या-कल्पित कारणदेह की रचना होती है और उसके अनन्तर क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल देह का प्रकाश होता है। भोगायतन स्थूल देह के प्रकाश में जीव का प्रारब्ध कर्म ही मुख्य हेतु है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ऊर्ध्व में जो 'प्रकृष्ट सत्त्व' या विशुद्ध सत्त्वरूप परमोज्ज्वल भगवद्विभूति ('त्रिपाद') विद्यमान है, उसे आगम में विन्दु कहा गया है। वही अप्राकृत सत्त्व है। उसकी प्राप्ति के विना 'अप्राकृत देह' अथवा 'वैन्दव देह' नहीं मिल सकता, जिसे मतान्तर में 'महाकारण देह' की संज्ञा दी गई है। जबतक प्रणव की अर्धमात्रा[1] में प्रवेश नहीं किया जाता है तबतक उसकी कल्पना

१. प्रणव ईश्वर का वाचक है। प्रणव में अकार, उकार और मकार--इन तीन मात्राओं के अनन्तर एक अर्धमात्रा है। अ, उ और म क्रमशः जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के वाचक हैं। परन्तु अर्धमात्रा तुरीय तथा तुरीयातीत की द्योतक है। साधक जप, ध्यान या अन्य किसी भी प्रकार से एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित होने पर मायिक विश्व के केन्द्र में उपस्थित होता है, किन्तु मायातीत विशुद्ध जगत् में प्रवेश करने के लिए प्रणव की एक मात्रा को तोड़कर अर्धमात्रा में परिणत करना पड़ता है। अ, उ, म के पश्चात् यही बिन्दु की स्थिति है। बिन्दु अर्धमात्रात्मक है। बिन्दु से लेकर उन्मना अवस्था की पूर्ववर्ती समना भूमि तक क्रमशः सूक्ष्मतर कलाएँ विद्यमान हैं। प्रत्येक कला में मात्रा निम्नस्तर से कम है। इस मात्रा को मन की मात्रा समझना चाहिए। कारण कि बिन्दु चन्द्रबिन्दु का ही द्योतक है। मन की मात्रा की सूक्ष्मता के अनुसार चित्-शक्ति का अवतरण क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल रूप में होता है। समना तक सूक्ष्मता की पराकाष्ठा का लाभ होता है। इसलिए मन के क्रमिक उत्कर्ष की भी यही परिसमाप्ति है। उन्मना में मन नहीं है। विशुद्ध चैतन्यशक्ति जड़सम्बन्ध-रहित होकर अपने-आप विराजती है। बिन्दु से लेकर समना-पर्यन्त महाकारण अवस्था मानी जा सकती है। यह अर्धमात्रा स्वतः उच्चारणशील है। श्वास-प्रश्वास की वायु से इसका उच्चारण नहीं हो सकता। अशुद्ध माया से विलक्षण योगमाया इसी का नामान्तर है।

भी नहीं हो सकती। यह अर्धमात्रा ही योगमाया है। साधारण जीव भगवान् की अशुद्ध माया-रूप एकपादविभूति में रहकर उनकी त्रिपादविभूति का समाचार कहाँ से पायेंगे ? जिन्हें गुरु-कृपा से इसकी प्राप्ति होती है, वे भाग्यवान् हैं, वे ही धन्य हैं।

प्राचीन उपनिषद्-युग में 'दहरविद्या'-प्रकरण में जो अन्तराकाशवर्ती ब्रह्मपुर की वात कही गई है, वही भगवद्धाम है। उस आकाश को हृदयाकाश भी कहा जाता है। वस्तुतः वह चिदाकाश है। ज्ञानसविता का उदय होने पर जब दिव्य कमल अथवा पुण्डरीक-रूप में उसका स्फुरण होता है, तव वह लीलास्थली के रूप में आत्म-प्रकाश करता है। उस कमल की कर्णिका में सशक्तिक परमपुरुष का अवस्थान है। यह व्यष्टिभाव की वात है। व्यापक दृष्टि से भी भक्त-समाज में अक्षरब्रह्म का हृदय ही परब्रह्म पुरुषोत्तम के लीला-स्थान रूप में गृहीत होता आया है। अक्षरब्रह्म ही व्यापी वैकुण्ठ है। यह गुहारूपी हृदयाकाश ही परव्योम है, जहाँ परमपुरुष निहित रहता है। ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर शुद्ध हो जाने पर पुरुषोत्तम-प्राप्ति की स्वरूप-योग्यता उत्पन्न होती है। उसके वाद सहकारि-योग्यता आती है, तव भगवान् महती कृपा का प्रकाश करते हुए इस शुद्ध मुक्त आत्मा का स्वीयरूपेण ग्रहण करते हैं। इसी का नाम वरण अथवा अनुग्रह है। उसके प्रभाव से चित्त में भक्ति का उदय होता है। भगवत्प्राप्ति इसी समय होती है, इसके पूर्व नहीं। 'आनन्दवल्ली' के "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" का भी यही तात्पर्य है। अन्त में लीला-प्रवेश होता है। तव भक्त का अलौकिक आकार सिद्ध होता है। कहना न होगा कि पुरुषोत्तम क्षर तथा अक्षर दोनों से परे है। चिदाकाश ही लीला-स्थान है, यह वात सर्वत्र प्रसिद्ध है—

'चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्भुतम्।"

(पुराणसंहिता, ३२।१२)

साधारणतया सव जीव लीलाप्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। पहले भगवदनुग्रह से उनको ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है, उसके वाद परम अनुग्रह से भगवान् के द्वारा 'स्वीय' रूपेण वरण होता है। अनुग्रह का फल हैं मुक्ति। यह सभी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु परम अनुग्रह का फल है भक्ति—यह अत्यन्त दुर्लभ है। जो आत्मा मुक्त हैं, वे ब्रह्म के साथ सायुज्य-लाभ करते हैं। परन्तु जो भगवान् के परम अनुग्रह का विषय होता है, सायुज्य-अवस्था से उसका उद्धार वे स्वयं ही करते हैं। भगवान् उसका विरह सहन नहीं कर सकते। इसीलिए वे ब्रह्म-सायुज्य से उस आत्मा को उद्‌बुद्ध कर लेते हैं और अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न दिव्य देह का प्रदान करते हैं, जिसको धारण करते हुए वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो सकता है और भगवान् के साथ अनन्त प्रकार के आनन्द का आस्वादन कर सकता है। श्रुति कहती है—

"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।"

जिस देह से भगवल्लीला में प्रवेश होता है, वह अलौकिक या सिद्ध देह है। यह आकार अलौकिक होते हुए भी नित्य और विभु है। यह प्राकृत शरीर में तिरोहित रहता है। यह आनन्दाकार है—आनन्द ही उस आकार का स्वरूप है।

आनन्द के तिरोधान के साथ-साथ अणु जीव निराकार चिन्मात्र रहता है, आनन्द के प्रादुर्भाव से उसी में फिर साकारत्व आ जाता है।[1]

लीला-प्रविष्ट भक्त अक्षरब्रह्म से अभिन्न होने पर भी परमपुरुष से अभिन्न नहीं है। लीला नित्य है, परन्तु लीला का अनुभव क्रमशः होता है। वस्तुतः भगवान् की अनन्त लीलाएँ हैं—वे सभी सर्वदा वर्त्तमान रहती हैं। नित्यधाम में प्राकृत काल न रहने पर भी भगवान् के लीला-परिकररूप में काल की सत्ता रहती है। शास्त्रों में कहा गया है—"कालाद् गुणव्यतिकरः"—यह काल वहाँ नहीं है। इसका भी उल्लेख है कि "कालः पचति भूतानि"—इस प्रकार का परिणाम-साधक काल भी वहाँ नहीं है। वहाँ का उपादान विशुद्ध सत्त्व कर्म से या काल-प्रभाव से परिणाम को प्राप्त नहीं होता, परन्तु भक्तेच्छाधीन ईश्वर की इच्छा-मात्र से अथवा भगवदिच्छाधीन भक्तेच्छा से अथवा लीलाधिष्ठात्री महाशक्ति योगमाया के अधिष्ठान से अनुरूप लीलोपकरणरूप में परिणति-लाभ करता है। इसीलिए कहा जाता है—

"न कालस्तत्र वै प्रभुः।"

समग्र लीला-व्यापार ही अलौकिक लीला-कैवल्यरूप में भाव का खेल है। जो सब भावों से अतीत है, वही फिर सर्वभावमय है, अर्थात् महाभावमय है। कौन खेलता है? किसके साथ खेलता है? कब खेलता है? कहाँ खेलता है? क्यों ऐसा खेल खेलता है? यह खेल देखता है कौन? ये सब प्रश्न चिन्ताशील मनुष्य के मन को अवश्य आलोड़ित करते हैं। वस्तुतः एक अद्वय अखण्ड तत्त्व ही विद्यमान है। वह स्वतन्त्र एवं परमानन्द-स्वरूप है। वही खेल करता है; क्योंकि आनन्द का स्वभाव ही खेलना है, क्रीड़ा करना है। इसीलिए वह आप्तकाम और स्पृहाहीन होने पर भी स्वभाववश होकर लीला अथवा क्रीड़ामग्न रहता है—"आत्मारामोप्यरीरमत्।" वह स्वयं एक से अनेक बन जाता है, अनन्त रूप धारण करता है, अनन्त भावों के अनुगुण अनन्त रूप धारण करता है—पुरुष होता है, प्रकृति होता है, सब कुछ होता है। एक दृष्टि से जो असंग पुरुष है, दूसरी दृष्टि से वही प्रेममय होकर सबके साथ विभिन्न सम्बन्धों से सम्बद्ध होता है। प्रति सम्बन्ध में ही भाव के एक-एक रूप का प्रकाश होता है। रूप अनन्त हैं, क्रियाएँ अनन्त हैं, उसके बाद आश्रय और विषय के भेद से भाव के आलम्बन भी अनन्त हैं। इसीलिए सम्भोग में अनन्त प्रकार का रसास्वादन होता है। जो रस का स्वरूप है, वही रस का भोक्ता भी है अर्थात् भोक्ता और भोग्य अभिन्न हैं व भोग की भी यही स्थिति है। अथच लीलास्थल में अनन्त वैचित्र्य हैं। ('भाव' शब्द से यहाँ स्थायी भाव समझना चाहिए)

१—बृहद्वामनपुराण में उल्लेख है कि श्रुतिवर्ग ने भगवान् के इस आनन्दमात्र स्वरूप का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की थी। इस रूप का दर्शन इतना दुर्लभ है कि इसके साक्षात्कार की इच्छा को भी 'दुर्लभ' और 'दुर्घट' कहकर वर्णित किया गया है।

"अक्षरं चिन्मयं प्रोक्तं ज्ञानरूपं निराकृति।
नित्यमेव पृथग्भूतो ह्यानन्दोऽपि हि साकृतिः॥"

यह लीला देशकाल के अतीत है। प्राकृत देशकाल से परे उसकी स्थिति मायातीत है—वहाँ अप्राकृत देशकाल की सत्ता है।[१] चिदाकाश अथवा अनन्त परव्योम ही धाम या देश है। अष्टकाल ही काल है। इसीलिए नित्यलीला मायिक देश-काल के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। त्रिपादविभूति के लीला-विषय में ही यह बात कही गई है। एकपादविभूति की लीला भी है, किन्तु ब्रह्माण्डवर्त्ती तथा सृष्टि-प्रलय घटित होने के कारण वह अनित्य तथा परिमित है। वस्तुतः यह एकपादविभूति की लीला ही जीव का कालाधीन सांसारिक जीवन है।

वह परम वस्तु, "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" जो इस लीलाचित्र का उद्घाटन करते हैं वे अपने भीतर ही करते हैं। धाम या देश भी स्वयं ही, काल भी स्वयं ही, उसका उपादान भी स्वयं ही और निमित्त भी स्वयं ही हैं। उन्हें द्वितीय की अपेक्षा नहीं है। जिसको इस लीला का अभिनय दिखाया जाता है, वह भी स्वयं ही हैं। स्वयं ही अभिनेता हैं। स्वयं ही अपने अभिनय के प्रेक्षक भी हैं—केवल प्रेक्षक नहीं हैं, 'सहृदय' प्रेक्षक हैं, अर्थात् भावयुक्त द्रष्टा हैं। इसीलिए रस का आस्वादन होता है। जहाँ मुख्य रस शृंगार है, वहाँ तदुपयोगी सभी आयोजन विद्यमान रहते हैं—नायक-नायिका रूप में आश्रय-विषयात्मक आलम्बन विभाव, चन्द्र-चन्दनादि रूप में उद्दीपन विभाव, स्वरभंगकम्प-मूर्च्छादि रूप में अनुभाव तथा उत्कण्ठादि रूप में संचारी भाव। अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। वह एक होने पर भी आस्वादन के लिए नाना रूपों में प्रकाशमान होता है। इसीलिए कहा जाता है—

"आनन्दः परमं ब्रह्म स एव हि रसः स्मृतः।

× × × ×

न एकाकी रमते यस्मात् लीलाधिष्ठानसिद्धये ॥

अनादिसिद्ध एवायं धामरूपेण वै रसः।

नद्युद्यानवद्यनोद्यानरूपेणैव विजृम्भितः ॥"

—पु० सं०, ३३।२८,२९,३०

वास्तविकता यह है कि जीव-भाव के रंग से दृष्टि को रंजित करके प्राणमयी प्रकृति का खेल देखते हैं। कारण, सहृदय हुए विना अभिनय देखने पर भी रसानुभूति नहीं होती। भावहीन द्रष्टा के लिए खेल, खेल नहीं रहता। इस प्रकार विशुद्ध द्रष्टा जब मन तथा प्राण का दर्शन करता है तब ये दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं और खेल बन्द हो जाता है। वस्तुतः उस समय विश्रान्ति का उदय होता है। परन्तु

१—जो लोग इस गुह्य विषय में कल्पना नहीं कर सकते हैं, वे **Emanuel Swedenborg** रचित **"Heaven and Hell"** नामक ग्रन्थ के **Heaven** या दिव्यधाम-प्रकरण के **'Time in Heaven'** तथा **'Space in Heaven'** शीर्षक दो अध्याय देख सकते हैं। इस विषय में **Davis** लिखित **Harmonial Philosophy** भी द्रष्टव्य है।

यह भी लीला का ही एक अंग है, यह लीलावादियों का मत है। लीला में जिस प्रकार लीलातीत असंगरूपेण वर्त्तमान रहते हैं, ठीक उसी प्रकार लीलाहीन स्थिति में भी लीला का अनुगम रहता है।

लीलारसिक महापुरुष लीला के तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत-वेदान्त मत में—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से सत्य के तीन रूप माने गये हैं। बौद्ध-विज्ञानवाद के मत से स्वभाव के परिनिष्पन्न, परतन्त्र तथा परिकल्पित—ये तीन भेद कहे गये हैं। ठीक इसी प्रकार लीलातत्त्वविद् मनीषियों ने भी लीला के अनुरूप सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया है। 'आलबन्दारसंहिता' के षष्ठ अध्याय में लिखा है कि लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार की होती है। वास्तविक लीला का अभिनय अक्षरब्रह्म के हृदय में होता है। अबतक इस लेख में लीला के सम्बन्ध में जो कुछ चर्चा की गई है, वह इसी (वास्तविक) लीला का विषय है। अक्षरब्रह्म का हृदय-स्थान कैसा है? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह स्थान अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से परे है। केवल इतना ही नहीं, वह ब्रह्माण्डातीत महाशून्य से भी विलक्षण है। उसका कोई मान नहीं है। वह असीम और अनन्त है। वहाँ की भूमि, आकाश, जल, तेज और वायु सभी स्वप्रकाश चिदानन्दमय हैं। उस चिन्मय आकाश में आनन्दमय सुधा-समुद्र है। उसके भीतर मणिद्वीप या चिन्तामणिद्वीप विद्यमान है। उसमें नवरसमयी लीला के लिए नवखण्ड भूमि है। उनमें मध्यखण्ड ही शृंगारशाला के नाम से प्रसिद्ध है इत्यादि। इस प्रकार के वर्णन अन्यत्र भी बहुत स्थलों पर पाये जाते हैं (द्रष्टव्य, पुराण-संहिता)। नित्यसाकेत अथवा नित्यवृन्दावन में जो लीला होती है, वह प्रातिभासिक है। अयोध्या अथवा व्रजभूमि में काल-विशेष में जो लीला होती है, वह व्यावहारिक है। 'आलबन्दारसंहिता' में नित्य वृन्दावन-लीला का भी प्रातिभासिक रूप से वर्णन किया गया है।[1] परन्तु इस प्रकार की भेद-कल्पना प्रचलित कृष्णभक्ति-साहित्य में सर्वत्र नहीं पाई जाती। 'चैतन्य-चन्द्रोदय' के तृतीय अंक में नित्य-वृन्दावन का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वह स्थान विरजा के उस पार नित्य चिन्मय भूमिरूप परव्योम से अभिन्न प्रतीत होता है। 'षट्सन्दर्भ' में भी उल्लेख है कि प्रधान (प्रकृति) या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बाद विरजा नदी है। उसके अनन्तर परव्योम अथवा त्रिपादविभूति है। वही शुद्ध सत्त्वमय अक्षरब्रह्म-पद है। उसी में पूर्ववर्णित नित्य-वृन्दावन की स्थिति है। अतएव समन्वय-दृष्टि से कहा जा सकता है कि वास्तविक लीला और प्रातिभासिक लीला के स्वरूप में कुछ विशेष मतभेद नहीं है। अर्थात् अक्षरब्रह्म के हृदय में जैसी लीला का भान होता है, भक्त के हृदयाकाश में भी ठीक उसी प्रकार की लीला का स्फुरण होता है।

रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति-साहित्य में गोलोक की एक विशेष महिमा है। रामभक्त कहते हैं कि ज्योतिःस्वरूप गोलोक के बीच में साकेतधाम विराजमान है।

---
१. देखिए—आलबन्दारसंहिता, ६।६—१०

उसे एक दृष्टि से गोलोक का अन्त:पुर माना जा सकता है। साकेत के मध्य में कनक-भवन नामक स्वर्णमय प्रासाद (विहार-स्थान) है। कनक-भवन के मध्य में कल्पवृक्ष है, उसके नीचे दिव्य मण्डप है, उसके मध्यस्थल में रत्नसिंहासन (छत्र-चामर-मण्डित) विद्यमान है। इस सिंहासन के मध्य में सहस्रदलकमल है। इसकी कर्णिका बहुत उन्नत है। उसके भीतर बिन्दु है। बिन्दु में आह्लादिनी शक्ति-सहित परात्पर ब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी विराजते हैं। उनकी अंगप्रभा समस्त गोलोक को उद्भासित करती है। परन्तु 'स्वयम्भू-आगम' के ८५वें पटल में नित्यवृन्दावन का जो वर्णन है, उससे पता चलता है कि यह स्थान कालिन्दी के उस पार है। साथ ही यह भी विदित होता है कि वृन्दावन अथवा गोकुल ही गोलोक के नाम से प्रसिद्ध है। 'लघुब्रह्मसंहिता' में सहस्रदलकमल को ही गोकुल कहा गया है। इसके बाहर जो चतुष्कोण स्थल है, उसका नाम श्वेतद्वीप है। श्वेतद्वीप का अन्तर्मण्डल वृन्दावन है अथवा वह वृन्दावन का बहिरंग है। उक्त ग्रन्थ में गोलोक को श्रीभगवान् का निजधाम बताया गया है—"**गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य**...." इत्यादि।

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् न मानकर नारायण का नवम अवतार माना गया है। इसीलिए उनका लोक परव्योम का एक आवरण-विशेष कहा गया है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्णधाम परव्योम के ऊर्ध्व में अवस्थित है। यह उर्ध्व स्थान पूर्व दिक् से क्रमश: गिनने पर नवम सिद्ध होता है। अतएव नवम अवतार की लीला का स्थान यही है। परन्तु 'स्वयम्भू-आगम' के मतानुसार श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और उनका धाम आवरणात्मक न होकर स्वतन्त्र है। इतना होते हुए भी इस विषय में मतभेद नहीं है कि उनका स्थान नारायण के स्थान के ऊर्ध्व में स्थित है।

भगवान् अनन्तभावमय हैं, इसीलिए उनकी लीला के अनन्त रूप हैं, यह पहले कहा जा चुका है। जिस भक्त की जैसी भाव-सम्पत्ति है वह तदनुरूप धाम को प्राप्त होता है। खीष्ट (Christ) ने कहा था—"There are many mansions in my Father's house", यह नितान्त सत्य है। महायान-बौद्धधर्म में असंख्य बुद्धक्षेत्रों की कल्पना है—"सुखावती" इन क्षेत्रों में अन्यतम है। स्कन्दपुराण में लिखा है—

या यथा भुवि वर्त्तन्ते पुर्यो भगवतः प्रियाः।
तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थमादृताः॥

अर्थात् एक परव्योम अथवा व्यापी वैकुण्ठ ही कल्पित नाना प्रदेशों में तत्तद् भगवत्स्वरूप का विहार-स्थल है। इसलिए श्रीराम तथा श्रीकृष्ण-लीला के धाम में स्वरूपत: कोई भेद नहीं है। किन्तु भावानुसार अनन्त भेद हैं। इस विषय में यहाँ अधिक आलोचना का अवकाश नहीं है। जो कुछ कहा गया है, वह एक दिग्दर्शन-मात्र है।

उपर्युक्त ग्रन्थ में रसिक रामभक्ति-साहित्य के आधार पर भक्तिरस तथा लीला-विस्तार का जो विवरण दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि यह विशाल रस-साहित्य हिन्दी-भाषा की एक विशिष्ट सम्पत्ति के रूप में परिगणित होने के सर्वथा योग्य है। खेद की बात है कि सम्यक् अनुसन्धान के अभाव से यह इतने दिनों तक उपेक्षित होकर पड़ा रहा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस समृद्ध रसधारा की विस्तृत विवेचना तो दूर की बात है, इसका संक्षिप्त परिचय भी यथोचित रूप में नहीं मिलता। इसका कारण है—ग्रन्थों की अनुपलब्धि, आलोच्य विषय के प्रति उदासीनता तथा इसके सम्बन्ध में साधारण ज्ञान का अभाव। मैं आशा करता हूँ कि यह विशाल वाङ्मय अनेकांशों में साहित्य-मण्डलों से प्रकाशित होकर लोकदृष्टि का विषय बनेगा।[1]

---

१. यह लेख श्रीभगवतीप्रसाद सिंह-कृत 'रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ के लिए लिखी गई भूमिका का किञ्चित् परिवर्तित रूप है।

धर्म का सनातन आदर्श

प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म का स्वरूप

(प्रश्नोत्तर रूप में)

जिज्ञासु—ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही सभ्य जगत् में धर्म के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार और वितर्क चले आ रहे हैं। कौन-सा धर्म सत्य है और कौन-सा मिथ्या, इस प्रश्न को लेकर जगत् में कितने भिन्न-भिन्न मत प्रवर्त्तित हुए हैं, सो कहा नहीं जा सकता। परन्तु अव भी यथार्थ तत्त्व के सम्वन्ध में समाधान हो गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। शास्त्र ने भी कहा है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्म का रहस्य अत्यन्त गुह्य पदार्थ है। वह सवके लिए सहज ही वोधगम्य नहीं है। अव मेरा प्रश्न यह है कि यथार्थ धर्म क्या है और किस प्रकार से उसकी उपलब्धि होती है। नाना प्रकार के मतों की आलोचना में पड़कर तत्त्वजिज्ञासु का हृदय विह्वल हो उठता है, इसीलिए मैं आपसे पूछ रहा हूँ। कृपापूर्वक आप धर्म का यथार्थ तत्त्व यथासम्भव सरल भाषा में मुझे समझा दें।

वक्ता—वत्स ! तुम्हारे प्रश्न को सुनकर प्रसन्नता हुई। मैं इस विषय में यथाशक्ति तुम्हारे साथ आलोचना करूँगा। परन्तु आलोचना करने से पूर्व मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह तुम्हारे हृदय की यथार्थ जिज्ञासा है या नहीं ? मैं देख रहा हूँ कि तुम अभीतक धर्म-तत्त्व-सम्वन्धी यथार्थ जिज्ञासा की स्थिति पर नहीं पहुँचे हो। तुम्हारी जिज्ञासा के कुछ अंश में कारण है उत्सुकता और कुछ अंश में यह हृदय की स्वाभाविक स्फूर्ति है। जो कुछ भी हो, मैं तुम्हारी जिज्ञासा के अनुसार उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। अवश्य ही, अभी मैं धर्म के गूढ़ तत्त्वों को लेकर विशेष आलोचना नहीं करूँगा। यदि निष्कपट और सरल भाव से तुम इस आलोचना का अनुसरण करते रहोगे, तो एक दिन तुम्हारे हृदय में वास्तविक जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हो जायगी, तव फिर उसके समाधान के लिए तुम्हें किसी भिन्न उपदेष्टा के पास जाने की आवश्यकता नहीं होगी। तुम्हारे अन्तर से ही अन्तर्यामी गुरु समस्त संशयों का समाधान कर देंगे।

जिज्ञासु—समझ में नहीं आता कि मेरे प्रश्न को आप यथार्थ प्रश्न क्यों नहीं मान रहे हैं ? वहुत-से ग्रन्थों को पढ़कर और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् मतों पर विचारकर मैं उन सवका परस्पर समन्वय नहीं कर सका, इसी से मैं संशय-ग्रस्त हो गया और उसी संशय से चित्त में धर्म-सम्बन्धी इस प्रश्न की उत्पत्ति हुई। इसमें तनिक भी अस्वाभाविकता नहीं है।

वक्ता—तुम्हारा कथन ठीक है। परन्तु याद रखो, जीवन-क्षेत्र में यथार्थ संशय की उत्पत्ति इस तरह नहीं हुआ करती। बहुत-से शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर सकने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं. वे यथार्थ प्रश्न नहीं हैं—उनका प्राणों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। शास्त्रीय विचार-सभा में पूर्वपक्ष-स्थापना करने के लिए उन प्रश्नों की यथेष्ट उपयोगिता हो सकती है, परन्तु उनको यथार्थ प्रश्न नहीं कहा जा सकता। जो अपनी अनुभूति के राज्य से बाहर की वस्तु है, उसके सम्बन्ध में संशय का कोई अवकाश ही नहीं है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अनुभव के राज्य में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों यथार्थ संशय की सम्भावना बढ़ जाती है। जो किसी अतीन्द्रिय पदार्थ को देख ही नहीं सकते, अथवा जिनको उसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, उनके चित्त में उस पदार्थ या विशेष धर्म के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उठता है तो वह अस्वाभाविक ही समझा जाता है। जीवन के कठोर और अनन्त पथ पर चलते-चलते जो अभिज्ञता प्राप्त होती है, उसके भलीभाँति संशोधित न होने पर जो एक प्रकार का द्वन्द्व उपस्थित होता है, जिसकी निवृत्ति हुए बिना जीवन की गति रुक जाती है—वही यथार्थ प्रश्न है।

धर्म-सम्बन्धी तुम्हारी जिज्ञासा यथार्थ न होने पर भी आंशिक भाव से सत्य है और सरल हृदय में उठी हुई है, अतएव इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारे साथ यथाशक्ति आलोचना करने को तैयार हूँ। परन्तु इससे पहले एक बात के लिए तुम्हें सावधान कर देना चाहता हूँ। मेरे कहने से तुम कहीं यह न समझ बैठना कि मैं जो कुछ कहता हूँ, वही चरम अथवा एकमात्र सत्य है, या उसमें भ्रम का कहीं लेश भी नहीं है। मैं यह दावा नहीं करता और मेरा विश्वास है कि कोई भी ऐसा दावा नहीं कर सकता। परन्तु यह विश्वास रखना कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह अमूलक नहीं है।

जीवन के मार्ग पर जितना ही अग्रसर हुआ जाता है, अनुभव की मात्रा और प्रकाश क्रमशः उतना ही बढ़ता जाता है एवं वह अधिकतर गम्भीर भाव धारण करता है। वस्तुतः आत्मिक अनुभूति का अधिकांश तो भाषा द्वारा प्रकट ही नहीं किया जा सकता और जितना अंश प्रकट करने योग्य प्रतीत होता है, उतना भी यथार्थ रूप में प्रकट नहीं हो पाता। कारण, जो विशुद्ध बोध का विषय है, उसे चिन्तन के क्षेत्र में और वाक्यरूप में उतारते ही उसकी विशुद्धि नष्ट हो जाती है—एवं कुछ अंश में वह मलिन हो जाता है।

जिज्ञासु—अब धर्म के सम्बन्ध में कुछ कहिए। हमलोग अपने चारों ओर धर्म का जो रूप देखते हैं, क्या वही धर्म की तात्त्विक रूप है? यदि ऐसा ही है तो नाना देशों और नाना कालों में धर्म के सम्बन्ध में इतने विभिन्न सिद्धान्त क्यों उत्पन्न होते हैं?

वक्ता—वत्स! धर्म का तात्त्विक रूप एक होने पर भी उसके व्यावहारिक रूप नाना प्रकार के हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। देश, काल और जागतिक घटनाओं के वैचित्र्य से धर्म के तात्त्विक रूप में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता—यही उसका अन्तरङ्ग

स्वरूप है। पर, जो धर्म का बहिरङ्ग स्वरूप है वह देश-कालादि के भेद से व्यवहार-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न हुए विना नहीं रह सकता। परन्तु जो धर्म के रहस्य को जानते हैं, वे इस बाहरी रूप की विचित्रता में भी उसके शाश्वत नित्यरूप को देख पाते हैं। कारण, वे जानते हैं कि जिसको बाह्य रूप बतलाया जाता है वह अन्तर्निहित भाव का ही बहि:प्रकाशमात्र है। गर्भ में यदि वास्तविक सत्ता हो, तो बाह्य रूप के आश्रय से भी उस सत्ता की उपलब्धि अवश्य ही हो जायगी। बाहर का आवरण अन्दर के जीवित प्रवाह को रोक नहीं सकता।

जिज्ञासु—आपके कथन से यह समझ में आया कि यथार्थ धर्म एक होने पर भी उसके बाह्य रूप नाना प्रकार के हो सकते हैं। अतएव किसी भी बाह्य रूप का विश्लेषण करने पर उसके अन्दर से धर्म का सनातन तत्त्व प्रकट हो जायगा। यदि यही सत्य है तो फिर बाह्य धर्मों में उत्कर्ष, अपकर्ष के विचार का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वक्ता—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उत्कर्ष और अपकर्ष का अथवा बड़े और छोटे का विचार बाहर-ही-बाहर रहता है, अन्तर में प्रवेश करने पर यह विचार नहीं रहता। अतएव जबतक बाह्य भाव है, तबतक धर्म के वास्तविक तत्त्व को कोई जान नहीं सकता और इसलिए, तबतक उत्कर्ष और अपकर्ष को मानना ही होगा। आत्मा सर्वत्र और सर्वदा अखण्ड एवं अद्वैत होने पर भी जैसे सब जीवों का एक-सा नहीं कहा जा सकता, वैसे ही धर्म का मूल-तत्त्व सर्वत्र एक होने पर भी बाह्य दृष्टि से सब धर्मों को समान नहीं कहा जा सकता। बिम्ब एक होने पर भी दर्पण की आपेक्षिक स्वच्छता आदि कारणों से जैसे प्रतिबिम्ब में नाना प्रकार के भेद स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही सार धर्म एक होने पर भी बाह्य धर्म में उत्कृष्ट और अपकृष्ट का विचार उठे विना नहीं रह सकता।

जिज्ञासु—जब सभी धर्म एक ही मूल-धर्म के विकास हैं, तब उनके पारस्परिक भेद का नियमन किस प्रकार हो सकता है?

वक्ता—धर्म मूलतः एक होने पर भी सब क्षेत्रों में उसके पूर्ण रूप का प्रकाश नहीं हो सकता। जिस आधार में जितना सामर्थ्य है उसमें उतना ही प्रकाश हो सकता है, अधिक नहीं। व्यक्तिगत और जातिगत भाव से भी मनुष्यों में यथेष्ट भेद देखने में आता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक योग्यता-सम्पन्न होगा, वह धर्म के वास्तविक तत्त्व को उतने ही गम्भीर और विशिष्ट रूप में उपलब्ध कर सकेगा। यही बात जाति के सम्बन्ध में है। यह समझ लेने पर, विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के धर्मों की उत्पत्ति क्यों हुई, इसका रहस्य कुछ-कुछ समझ में आ जायगा। कालभेद से जो धर्म में भेद होता है, उसका भी यही कारण है। इसीलिए बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध के धर्म परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं। इसीलिए सत्यादि चारों युगों के लिए ऋषियों ने एक ही प्रकार के धर्म का अनुशासन नहीं किया।

जिज्ञासु—आपके कथन से तो धर्म का तत्त्व क्रमशः जटिल हुआ चला जा रहा है। देश-काल-भेद और अन्यान्य कारणों से यदि धर्म में भेद होना अनिवार्य

है, तो सूक्ष्मदृष्टि से देश और काल के किञ्चित्-किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ ही धर्म का आदर्श और आचरण भी वदलना ही चाहिए। ऐसी अवस्था में शास्त्र द्वारा धर्म का निर्णय किस प्रकार हो सकता है? कारण, शास्त्र में प्रत्येक उपदेश साधारण भाव से ही दिया जाता है, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति मुहूर्त्त के धर्म के देशगत और अवस्थागत पार्थक्य की ओर दृष्टि रखकर शास्त्र के द्वारा कदापि निर्णय नहीं हो सकता, यदि यही सत्य है तो क्या शास्त्र को मिथ्या कहा जाय?

वक्ता—शास्त्र मिथ्या क्यों होने लगा? हाँ, तुमलोग जिसे शास्त्र कहते हो, वह यथार्थ शास्त्र नहीं है - वह यथार्थ शास्त्र का केवल वाह्य परिच्छिन्न प्रकाश है। जबतक ज्ञानचक्षु नहीं खुल जाते, प्रकृति के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुआ जाता - सारांश यह कि जबतक वेद या शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तवतक शास्त्र-वाणी को कैसे समझा जा सकता है? अनन्त चिदाकाश से जिस वोधरूप वाणी का उद्गम होता है, वही शास्त्र है। ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्त्ति की वाणी हो सकती है, अशरीरी की आकाश-वाणी हो सकती है; हृदय से उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु-स्थान से निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूप दिव्यवाणी हो सकती है। कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं।

जिज्ञासु—शास्त्रतत्त्व के सम्वन्ध में इस समय मैं कुछ भी नहीं पूछता। केवल एक वात जानना चाहता हूँ। आपने जिसको नित्यशास्त्र कहा है, उसमें और हमारे प्रचलित शास्त्र में क्या कोई भेद है? यदि है तो वह कैसा है?

वक्ता—संक्षेप में तुम्हारी इस वात का उत्तर मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ। फिर भी, तुम्हारे इस विशेष प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोनों में भेद है और नहीं भी है। शास्त्र ही धर्म का प्रकाशक है। धर्म के नित्य रूप का ज्ञान तो नित्य शास्त्र से ही हो सकता है। हमारे प्रचलित शास्त्र से हम केवल व्यावहारिक धर्म का रूप जान सकते हैं। धर्म का सार्वभौम तत्त्व जानने के लिए वुद्धि-गुहा में प्रवेश करना पड़ता है। वह ग्रन्थ-पाठ से जानने का विषय नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के लिए देश और अवस्थागत अधिकारमूलक धर्म का निर्देश व्यावहारिक शास्त्र में नहीं मिल सकता।

जिज्ञासु—तो क्या आपका यह अभिप्राय है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के यथार्थ निर्णय के लिए ग्रन्थ-पाठ यथेष्ट नहीं है?

वक्ता—अधिकार और अवस्था के भेद के अनुसार कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित, इसका निर्णय केवल साधारण उपदेशों की आलोचना से नहीं किया जा सकता, जवतक अन्तःकरण जाग्रत् नहीं होता, जवतक हृदय में गुरु-शक्ति की जागृति नहीं होती, तवतक कर्त्तव्य का निर्णय अभ्रान्त हो ही नहीं सकता। वेदरूपी नित्यगुरु के हृदय में जाग्रत् हुए विना कर्म-पथ पर अग्रसर होना सम्भव नहीं है।

"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।"

यह बात बिलकुल सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो सन्त हैं, साधु हैं, शुद्धचित हैं और मोहनिद्रा से जागकर जिन्होंने सत्य वस्तु की ओर देखना आरम्भ कर दिया है, उनको ग्रन्थ पढ़कर अथवा किसी से उपदेश सुनकर सन्दिग्ध विषय का सन्देह दूर करना नहीं पड़ता, उनका ज्ञानोज्ज्वल चित्त ही संशय का उच्छेद कर उनके हृदय में विश्वास का बीज बो देता है। शुद्धचित्त-पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी अनुचित अथवा निषिद्ध विषय की ओर हो ही नहीं सकती। इसीसे समझ लेना चाहिए कि साधारण जीव के लिए धर्म के गूढ़ तत्त्व को जान लेना कितनी दूरी की बात है। दूसरे को धर्म का उपदेश करना तो दूर रहा, स्वयं ही कर्म-पथ पर चलने के लिए धर्म के जितने प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता है, उतना ही सहज में नहीं मिल सकता। सारांश यह कि वाह्य शास्त्रीय ज्ञान यथार्थ शास्त्र-ज्ञान नहीं है।

जिज्ञासु—आपने जो कुछ कहा, इससे यह समझ में आता है कि विषय अत्यन्त कठिन होने पर भी उसे जानना ही चाहिए; क्योंकि धर्म का तत्त्व जाने बिना मनुष्य के पशुत्व का नाश होने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। एकमात्र धर्म ने ही मनुष्य को दूसरे पशुओं से अलग करके मनुष्यपद के योग्य बनाया है। धर्म की उन्नति से व्यक्तिगत और जातिगत रूप में मनुष्य की उन्नति होती है और धर्म का लोप होने पर मनुष्य क्रमशः पुनः पाशवरूप में उतर आता है।

वक्ता—वत्स ! वास्तव में ही धर्म की उन्नति और विशुद्धि से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है। "धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु"— धर्मरूप कल्पवृक्ष का आश्रय ले लेने पर मनुष्य की कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती। मनुष्य सब विषयों में परमानन्द प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है।

जिज्ञासु—ये सब बातें तो हुईं। अब प्रस्तावित विषय में मेरे सन्देह को दूर करके मुझे कृतार्थ करें।

वक्ता—वत्स ! मैं कहता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनो। आलोचना के लिए धर्म-तत्त्व को दो भागों में बाँट लेने से सुविधा होगी। धर्म का एक नित्य और अविनश्वर रूप है, जिसका कुछ-कुछ आभास मैं तुम्हें पहले बातों-ही-बातों में करा चुका हूँ। उसके सम्बन्ध में आगे आलोचना करूँगा। परन्तु धर्म का एक रूप और है, जो व्यावहारिक होने के कारण अनित्य होने पर भी स्वाभाविक है। चिरस्थायी होने पर भी प्रथमतः इसकी आवश्यकता है। यह अनित्य प्राकृतिक धर्म और निवृत्ति-भेद से दो प्रकार का है। अवश्य ही यहाँ मैं पुरुषकार-मूलक कृत्रिम धर्म की बात नहीं कह रहा हूँ।

जिज्ञासु—आपने जो प्रवृत्ति को धर्म का एक अंग बतलाया, यह बात ठीक समझ में नहीं आई; क्योंकि प्रवृत्ति तो वासन-मलिन जीव के लिए स्वाभाविक है। यदि इसको धर्म के अन्तर्गत माना जाय तो फिर अधर्म का क्या लक्षण किया जायगा ? मैं तो समझता हूँ कि प्रवृत्ति का निरोध किये बिना धर्म-जीवन की सूचना ही नहीं हो सकती। फिर आप निवृत्ति-धर्म के अतिरिक्त एक नित्य-धर्म और बतलाते हैं, यह बात भी ठीक समझ में नहीं आई। निवृत्ति के फलस्वरूप जीव अनन्तकाल

के लिए शान्तिदेवी की गोद में जा पहुँचता है—फिर उसके लिए धर्म की कौन-सी बात शेष रह जाती है ?

वक्ता—वत्स ! तुम्हारे दूसरे संशय का समाधान मैं अभी नहीं करूँगा। कारण, नित्यधर्म की आलोचना के प्रसंग में यह बात समझाने से तुम्हें समझने में विशेष सुविधा होगी। तुम्हारे पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'प्रवृत्ति होने से ही अधर्म होगा' ऐसी कोई बात नहीं है। 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला', यह बात सत्य अवश्य है, परन्तु इतना याद अवश्य रखना चाहिए कि प्रवृत्ति की समाप्ति न होने तक निवृत्ति का उदय होने की कोई भी आशा नहीं है। तुमने जो व्यावहारिक दृष्टि से निवृत्ति को ही उत्तम कहा, इस बात को मैं भी मानता हूँ। परन्तु बात यह है कि प्रवृत्ति का दमन करके अथवा बलपूर्वक उसे रोककर निवृत्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। कारण, 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?' जिन उपादानों से जीव का जीवत्व है—अवश्य ही यहाँ मैं बद्ध जीव के विषय में ही कह रहा हूँ—वे स्वभाव से ही बहिर्मुख हैं। जबतक यह बहिर्मुखी गति शान्त नहीं होगी, तबतक निवृत्ति की आशा करना क्या दुराशा नहीं है ? अन्तर में जो भोगाकांक्षा विद्यमान है, उस आकांक्षा को तृप्त न कर यदि उसे अभिभूत करने की चेष्टा की जायगी, तो क्या वह चेष्टा कभी सफल हो सकती है ? विरोधी प्रबल शक्ति के द्वारा कुछ समय के लिए वह अभिभूत हो सकती है, परन्तु अवसर मिलते ही वह दूने वेग से पुनः जाग्रत् हो उठेगी। कारण, जिस बाह्य शक्ति के प्रयोग से उस आकांक्षा को अभिभूत किया जाता है, वह शक्ति चाहे कितनी ही प्रबल हो, एक दिन उसका क्षय अवश्यम्भावी है। अतएव उस दिन अतृप्त वासना का पुनः उदय होना निश्चित है।

जिज्ञासु—तब क्या आप संयम की कोई भी सार्थकता नहीं मानते ? यदि प्रवृत्ति के निरोध की कोई आवश्यकता ही न हो तो फिर मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में निवृत्ति की भी आवश्यकता कैसे समझी जा सकती है ? निवृत्ति का प्रवृत्ति से विरोध है। अतएव प्रवृत्ति की सार्थकता स्वीकार करते ही प्रकारान्तर से निवृत्ति की उपयोगिता कुछ अंश में कम हो ही जाती है।

वक्ता—वत्स ! तुम मेरी बात को अभी समझ नहीं सके। निवृत्ति को अनुपयोगी बतलाना तो दूर रहा, मैं तो उसका प्राधान्य ही मानता हूँ। वस्तुतः निवृत्ति के बिना धर्ममार्ग के पहले सोपान पर भी पैर नहीं रखा जा सकता। परन्तु अभिप्राय यह है कि केवल निवृत्ति-निवृत्ति चिल्लाने से ही तो हृदयस्थ चिर-सञ्चित वासना की जड़ नहीं उखड़ सकती। सृष्टि के सभी पदार्थ विषम-भावापन्न हैं; जबतक साम्यभाव नहीं आता तबतक सृष्टि-चक्र से बाहर निकलने की आशा अलीक आकाश-कुसुम-मात्र है। ऋणशोध किये बिना जैसे छुटकारा नहीं मिलता, उसी प्रकार अतृप्त वासना को लेकर संसार-सागर से तरा नहीं जा सकता। वासना की निवृत्ति हुए बिना मुक्ति की चेष्टा वृथा श्रममात्र है। अब वासना की तृप्ति या भोग से वासना की निवृत्ति सम्भव है या नहीं, इसी पर विचार करना है। यह सभी जानते हैं कि

प्यास लगने पर जल पीना पड़ता है और जल पीने से पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु वह निवृत्ति क्या वास्तविक निवृत्ति है? अवश्य ही नहीं है। यदि होती तो कालान्तर में पुनः पिपासा क्यों लगती? अतएव यह मानना पड़ता है कि सामयिक जलपान द्वारा पिपासा की सामयिक निवृत्ति होने पर भी उसका ऐकान्तिक उपशम नहीं होता। हमारे उपादान के अन्दर अभाव का एक ऐसा स्रोत है, जिसको किसी भी वस्तु के द्वारा हम सदा के लिए निवृत्त नहीं कर सकते। यदि उपादानगत इस अभाव को हम उपादान से निकाल दे सकें, तो फिर कभी अभाव के वोध की सम्भावना ही नहीं होगी। परन्तु यहाँ अभाव-वोध को हटाने के साथ-ही-साथ वोध-भाव तक का लोप हो जायगा; क्योंकि बोधभाव को जाग्रत् रखने के लिए उसके एक अवलम्बन की नितान्त आवश्यकता है। पक्षान्तर में, उपादान-स्थित उस अभाव को न हटाकर यदि उसके उपयुक्त किसी भाव-वस्तु की उसके साथ योजना कर दी जाय, तो वह अभाव-वोध तृप्ति के आनन्दरूप से उज्ज्वल होकर जाग उठता है। प्रतिक्षण नाना रूपों से जो अभाव का आविर्भाव हो रहा है वह उस मौलिक एक ही अभाव की अभिव्यक्ति है। अतएव यदि किसी कौशल से उस मूल अभाव को जान लिया जाय और उसकी तृप्ति के लिए सम्यक् उपाय से काम लिया जाय, तो वह अभाव और उसके निवृत्त करने का उपाय दोनों परस्पर मिलकर एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का विकास कर देंगे, जिससे फिर अभावबोध की जागृति के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जायगा।

जिज्ञासु—ऐसा भी कभी हो सकता है? संसार में ऐसी साध्य वस्तु कौन-सी है, जिसके द्वारा अभाववोध या आकांक्षा सदा के लिए निवृत्त हो सकती हो? मान लीजिए, मुझे प्यास लगी—मैंने जल पीया, प्यास निवृत्त हो गई। परन्तु वह निवृत्ति अन्तिम नहीं है। कारण, फिर प्यास लगेगी, फिर जल पीना पड़ेगा। काल-प्रवाह से पिपासा और जलपान की पुनः-पुनः एक के वाद एक की आवृत्ति होती रहेगी। वार-वार जल पीना पड़ता है, इस कष्ट से वचने के लिए एक ही वार सारा जल नहीं पीया जा सकता। कारण, जितनी प्यास है, उससे अधिक पीने की शक्ति ही नहीं है। इसीलिए आपने जो कुछ कहा, मैं उसे अच्छी तरह हृदयंगम नहीं कर सका।

वक्ता—तुम्हारे न समझने का कारण मैं जानता हूँ। जगत् के भीतरी रहस्य को अभी तुम नहीं जानते हो, इसी से तुम्हारा संशय नहीं मिटता। परन्तु इस एक वात पर थोड़ा-सा विचार करने पर तुम सत्य का किंचित् आभास पा सकते हो। देखो, जव प्यास से व्याकुल होकर हम जल पीते हैं, तव वस्तुतः सम्पूर्ण जल हमारा ग्राह्य नहीं होता, जल का जो सार है—एक शब्द में जिसे 'रस' कहा जा सकता है, हमारे लिए वही उपादेय होता है। बहुत-से जल में भी एक क्षुद्र कण से अधिक रस का मिलना निश्चित नहीं है। परन्तु कणमात्र होने पर भी उसमें ऐसी असाधारण शक्ति है कि वह दीर्घकाल-पर्यन्त पिपासा को निवृत्त करके शान्तिदान कर सकता है। पिपासा अग्नि का धर्म है; देह में अग्नि की क्रिया होने के कारण ही पिपासा का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार रस सोम का धर्म है। इस अग्नि को शान्त करने के लिए इस

सोमविन्दु के अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी उपाय नहीं है। अवश्य ही यहाँ प्रसंगतः हम एक ही दिशा को लेकर आलोचना कर रहे हैं। परन्तु सभी दिशाओं में इसी प्रकार समझना होगा। जीव के हृदय में जो भोगाकांक्षा है, वस्तुतः वह अग्नि का ही विकास-मात्र है, यद्यपि वह आधार-भेद के कारण नाना प्रकार से प्रकट होती है। भोग्यरूप सोम या अमृत का बिन्दु अर्पण किये विना इस आकांक्षा की निवृत्ति नहीं हो सकती—यह अग्नि साम्यभाव को प्राप्त नहीं कर सकती।

जिज्ञासु—शास्त्र कहता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

काम्य वस्तु के भोग से कामना की शान्ति नहीं होती। जैसे, अग्नि में घी डालने से अग्नि बढ़ती है, वैसे ही काम्य वस्तु की प्राप्ति और उपभोग से कामना का ह्रास न होकर उलटे उसकी वृद्धि होती है। यदि यह सत्य है, तो आपके सिद्धान्त के साथ इसका सामञ्जस्य कहाँ होता है, यह बात समझ में नहीं आती। कारण, आप कहते हैं कि सोम के सम्वन्ध से ही अग्नि की शान्ति होती है; और मैं देखता हूँ तथा मुझे मालूम होता है कि गीता में भी यही कहा गया है कि 'भोग्य वस्तु के सम्वन्ध से भोग की वृद्धि होती है।'[१] मैं वहुत ही स्थूलवुद्धि हूँ, अतएव अनुग्रह कर मुझे और भी स्पष्ट रूप से समझाइए।

वक्ता—काम्य वस्तु के उपभोग से कामना की शान्ति नहीं होती, वरन् वृद्धि होती है, तुम्हारा यह कथन अवश्य ही ठीक है। क्योंकि विशुद्ध भोग्य वस्तु न मिलने के कारण भोगाकांक्षा तृप्त नहीं होती। जगत् में जितनी भी भोग्य वस्तुएँ देखने में आती हैं, वे सभी मिश्र हैं। सभी भोग्य वस्तुओं में सोम अथवा अमृत भी है, परन्तु उसके साथ ही आगन्तुक मल इतने अधिक परिमाण में है कि उससे पृथक् करके सोमकला का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इधर, जागतिक भोक्ता भी विशुद्ध भोक्ता नहीं है। विशुद्ध भोक्ता न होने के कारण भोगजनित आनन्द भी वन्धन का हेतु ही वन जाता है। जैसे सोम विशुद्ध भोग्य है, वैसे ही अग्नि विशुद्ध भोक्ता है; किन्तु जगत् में साधन-संस्कार के विना ऐसा कोई जीव देखने को नहीं मिल सकता, जिसमें शुद्ध अग्नि प्रज्वलित हो चुकी हो। सौभाग्य से जिनके अन्दर यह अग्नि जल उठी है, वे दिव्य भाव को प्राप्त होकर अग्निरूप मुख का अवलम्वन करके दृष्टि के द्वारा ही भोग्यनिहित अमृत का आस्वाद लेते हैं। देवता अमृत का भोग करते हैं और उनके भोग दृष्टि से ही सम्पन्न हो जाते हैं—यह बात तो तुमने सुनी ही होगी। साधक भी इसी प्रकार दिव्य भाव को प्राप्त होने पर वैसा ही शुद्ध दिव्य भोग का अधिकारी हो जाता। 'अग्निर्वै देवानां मुखम्'—शास्त्र के इन वचनों में बड़ा गूढ़ अर्थ भरा है।

जिज्ञासु—आपके विवेचन से प्रतीत होता है कि विशुद्ध भोगों से बन्धन नहीं होता ; तृप्ति ही होती है। विशुद्ध भोगी भोग्य वस्तु के असार अंश का त्याग कर शुद्ध

सार अंश का ही ग्रहण करता है और उससे उसकी भोग-तृष्णा निवृत्त हो जाती है।

वक्ता -- यही बात है, परन्तु एक बात याद रखनी चाहिए। जो मिश्र भोग करता है तथा जो भोग्य का केवल सार अंशमात्र ही ग्रहण करता है, भोग-तृष्णा तो निस्सन्देह दोनों की ही निवृत्त हो जाती है और दोनों प्रकार से होनेवाली तृष्णा-निवृत्ति अस्थायी है, यह भी निश्चित है। तथापि इन दोनों में बड़ा अन्तर है। कारण, मिश्र भोग्य ग्रहण करने से तृष्णा के अस्थायी रूप से निवृत्त होने पर भी, वस्तुतः तृष्णा की वृद्धि होती है। परन्तु शुद्ध भोग से तृष्णा क्रमशः क्षीण हो जाती है। इस बात को मैं और भी स्पष्ट करके समझाता हूँ; विशेष मन लगाकर समझने की चेष्टा करना। थोड़ी देर के लिए मान लो, तुम्हारी भोगाकांक्षा का परिमाण आठ कला है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर प्रसुप्तरूप में है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। जबतक किसी उत्तेजक कारण को पाकर यह सोई हुई तृष्णा जाग्रत् नहीं होती, तबतक उसकी सत्ता का पता नहीं लगता। परन्तु जब किसी उद्दीपक कारण के प्रभाव से वह प्रकट हो जाती है, तब उसके गुण और क्रिया कार्य-क्षेत्र में दिखाई देते हैं। परन्तु उद्दीपक कारण के तारतम्य से प्रसुप्त भोगाकांक्षा का न्यूनाधिक कुछ ही अंश अभिव्यक्त हो सकता है। जितना अंश अभिव्यक्त होता है, ठीक उसी परिमाण में भोग प्राप्त हुए बिना उसकी शान्ति नहीं होती। यदि वहाँ उस आठ कला-भोगाकांक्षा की केवल एक ही कला प्रकट हुई हो और यदि उसे विशुद्ध भोग्य नहीं प्राप्त हो, तो यद्यपि भोग्य वस्तु के सम्बन्ध से उसकी क्षणिक तृप्ति होती है—थोड़े समय के लिए वह जागी हुई भोगाकांक्षा की एक कला दब जाती है,—परन्तु उसकी सदा के लिए निवृत्ति नहीं होती, वरन् बाह्य मल का सम्बन्ध होने के कारण उसकी मात्रा और भी बढ़ जाती है। फलस्वरूप आठ कला-भोगाकांक्षा सम्भवतः नौ कला हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बार एक-एक कला बढ़ती ही चली जाती है। पुनः-पुनः भोग के द्वारा भोगशान्ति न होकर भोगों की क्रम-वृद्धि का यही कारण है। परन्तु वह भोग्यवस्तु यदि विशुद्ध अमृतरूप होती है—यदि उसमें आगन्तुक मल का सम्बन्ध नहीं रहता—तो उसके भोग से शान्ति तो होती ही है; क्रमशः भोग की मात्रा भी घट जाती है। फलस्वरूप आठ कला-भोगाकांक्षा में सम्भवतः एक कम होकर वह सात ही कला रह जाती है। और, निरन्तर इस प्रकार होते-होते अन्त में भोगाकांक्षा सर्वथा लुप्त हो जाती है। तब वह विशुद्ध भोक्ता साक्षी या उदासीन द्रष्टा बनकर प्रकृति का खेल देखता रहता है।

जिज्ञासु—आपकी व्याख्या-प्रणाली से एक गहरे सत्य का पता लगा। एक ओर भोग से भोग की वृद्धि होती है और क्रमशः बन्धन दृढ़ होता है, यह बात समझ में आई और दूसरी ओर भोग का नाश होता है तथा अन्त में भोग-शून्य होकर परम शान्ति का उदय होता है। दोनों ही भोग हैं, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है।

वक्ता—हाँ, तुमने ठीक समझा है। जिस भोग से भोग का नाश होता है, वह भोग वैध है; और जिससे भोग की मात्रा बढ़ती है, वही निषिद्ध भोग है। विधि-निषेध की विस्तृत व्याख्या मैं यहाँ नहीं करूँगा। परन्तु वैध भोग निन्दनीय विषय नहीं है और

वही त्याग का एकमात्र मार्ग है, इसी बात को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए मैं अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा करता हूँ। तुमने कहा था—प्रवृत्ति-मार्ग धर्म के अन्दर कैसे आ सकता है? इस बात को मैं नहीं समझ सकता। मैं आशा करता हूँ, अब तुम्हारी उस शङ्का का कुछ समाधान हुआ होगा। वस्तुतः प्रवृत्ति का आश्रय लिये विना निवृत्ति को पाने का दूसरा उपाय ही कहाँ है? कोई कुछ भी करें या कहें, जगत् में अधिकांश मनुष्य प्रवृत्ति के गर्भ में ही पड़े हुए हैं। प्रवृत्ति के सर्वथा त्याग का उपदेश देना वृथा है। क्योंकि, वह उपदेश फल उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता। केवल निषिद्ध प्रवृत्ति को छोड़कर वैध प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करना ही शास्त्रोपदेश का तात्पर्य है। प्रवृत्तिमात्र ही निवृत्ति की विरोधिनी नहीं है—शुद्ध प्रवृत्ति तो निवृत्ति में प्रधान सहायक है। मैं आशा करता हूँ, अब तुम इस बात को समझ रहे हो।

जिज्ञासु—हाँ, अब मैं बहुत-कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु इस प्रसङ्ग में एक बात जानने की इच्छा होती है। आप अनुमति दें तो पूछूँ?

वक्ता—तुम जो चाहो, पूछ सकते हो। मैं अपनी समझ के अनुसार विवेचन करने की चेष्टा करूँगा।

जिज्ञासु—आपने कहा है कि सांसारिक जीव—जो अभी अपने अन्दर विशुद्ध अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सका है—अशुद्ध भोग्य वस्तु का भोग करता है। निश्चय ही वह विशुद्ध भोग नहीं है और उसके फलस्वरूप भोग की वृद्धि होती है। यहाँ पर मैं पूछना चाहता हूँ कि यह भोग-व्यापार किस प्रकार निष्पन्न होता है, जिससे जीव देवता की भाँति विशुद्ध भोक्ता न होकर, मुक्त-भाव से भोग करने में समर्थ न होकर, भोग के साथ ही भोग से बँध जाता है?

वक्ता—वत्स! भोक्ता और भोग्य; अन्नाद और अन्न, अग्नि और सोम—ये एक ही मूल वस्तु के दो विभक्त रूप हैं। जिस अनिर्वचनीय कारण से महाविन्दु विक्षुब्ध होता है एवं जगत्-सृष्टि की सूचना होती है, उसी कारण से मूल ज्योति विभक्त होकर एक ओर अग्नि और दूसरी ओर सोम के रूप में आविर्भूत होती है। अग्नि सोम को चाहता है और सोम अग्नि को। ये दोनों एक-दूसरे को खींचते रहते हैं। किसी भी उपाय से हो, अग्नि के साथ सोम का मिलन होते ही अग्नि का अग्नित्व और सोम का सोमत्व विलुप्त होकर, दोनों के संयोग से दोनों के अन्तर्निहित परम सत्ता का आविर्भाव हो जाता है। अतएव विशुद्ध सोमबिन्दु के विशुद्ध अग्नि के सम्मुख होते ही दोनों मिल जाते हैं। और इस मिलन से आनन्द का आविर्भाव होता है, वही यथार्थ आनन्द है। वह एक पक्ष से भोग होने पर भी पक्षान्तर से आंशिक भाव से मुक्ति भी है। साधारण जीव साक्षात् रूप में भोग्य वस्तु से इस अमृत का आकर्षण करके उसका पान नहीं कर सकता और इस आनन्द को न पाने से उसकी अस्थायी तृप्ति भी नहीं होती। प्रकृति के विचित्र कौशल से उसका देह-यन्त्र इस प्रकार से बना हुआ है कि उस अशुद्ध भोग्य वस्तु से उन यन्त्रों की सहायता द्वारा क्रमशः विशुद्ध रस निकाला जाकर आनन्दमय कोश-स्थित दिव्यभावापन्न

जीवात्मा के भोग के लिए लाया जाता है। भोग्य वस्तु से ही क्रममन्थन-नीति के अनुसार निम्न स्तर के कोश अपनी-अपनी भूमि के लिए उपयोगी रस खींचकर उससे पुष्टि-लाभ करते हैं। वास्तव में इस सोम-रस से ही पञ्चकोश अपनी-अपनी मात्रा ग्रहण करके तृप्त होते और जीवित रहते हैं। परन्तु तुम्हें यह निश्चय जान रखना चाहिए कि यह पुष्टि कालमार्ग में ही सम्पन्न होती है—इसलिए यह पुष्टि होने पर भी क्षय का ही प्रकार-भेद है। कारण, मलिन देह के प्रत्येक स्तर में बुभुक्षु अग्नि विद्यमान है। यह अग्नि विशुद्ध न होने के कारण उस स्तर में ही रस को शुष्क कर डालती है। फलस्वरूप आनन्दमय कोश तक शुद्ध रस बहुत ही अल्प मात्रा में पहुँच सकता है। यही जरा और मृत्यु का कारण है। किसी अन्य समय तुम्हें यह बात समझा दी जायगी। शुद्ध भोग के विना जरा और मृत्यु से शून्य अवस्था का आविर्भाव नहीं हो सकता।

अब, एक बार फिर विचार करके देखो कि अशुद्ध भोग से भोग-वासना की निवृत्ति क्यों नहीं होती।

जिज्ञासु—अब आप प्रस्तावित विषय को समझाइए। कहीं संशय होगा तो निवेदन करूँगा।

वक्ता—मैं कह रहा था कि अनित्य और व्यावहारिक धर्म भी प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेद से दो प्रकार का है। कौशलपूर्वक भोग का नाम ही प्रवृत्ति-धर्म है। अर्थात् भोग का एक ऐसा कौशल है कि जिसका अवलम्बन करने से भोग के द्वारा ही भोग का अवसान हो जाता है। तब निवृत्ति अपने-आप ही आ उपस्थित होती है। उसके लिए पृथक् रूप से चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इस कौशल का अवलम्बन न किये जा सकने पर ही भोग बन्धन का कारण हो जाता है और वह कभी धर्म-पद-वाच्य नहीं हो सकता। चित्त में जबतक जिस विषय के संस्कार रहेंगे तबतक उस विषय का त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायों से यथार्थ-त्याग नहीं हो सकता। पहले जो अग्नि और सोम की बात कही थी, यदि भोग-कौशल के द्वारा उस अग्नि और सोम का मिलन करा दिया जाय, तो चित्त में स्थित वासना अपने-आप ही शुद्ध भोग्य वस्तु के मिलने से तृप्त होकर शान्त हो जाती है और ऐसा होने पर उसके फिर उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह साम्यभाव धारण कर लेती है। इस अवस्था में निवृत्ति-देवी का आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है। फिर शुद्ध भोक्ता भी पूर्णत्व को प्राप्त होकर भोग के अतीत शुद्ध साक्षिभाव से स्थित हो जाता है।

जिज्ञासु—आपकी बात मैं समझ गया, खूब युक्तिसंगत मालूम होती है। परन्तु कार्यक्षेत्र में इसकी उपयोगिता कितनी है, यह बात अभी समझ में नहीं आती। कारण, हमलोग सांसारिक जीव हैं। हमें शुद्ध भोग का अधिकार नहीं है। और जिन सब भोग्य वस्तुओं द्वारा हम जगत् में घिरे हुए हैं, उनमें एक भी विशुद्ध नहीं है। इस

स्थिति में हमारे लिए तो विशुद्ध भोग की सम्भावना ही कहाँ है? और जब विशुद्ध भोग असम्भव हो गया, तब प्रवृत्ति-धर्म का पालन हमसे किसी प्रकार हो सकता है?

वक्ता—वत्स! तुम्हारी शंका ठीक है, परन्तु कुछ विचार करने पर यह शंका दूर हो सकती है। निश्चय ही भोग्य वस्तु मिश्रभावापन्न है, परन्तु उसमें कुछ अंश शुद्ध सत्त्व का भी अवश्य है। परन्तु नाना प्रकार के मलों से मिश्रित होने के कारण उसे खींचकर बाहर निकालना कठिन है। जीव का दैहिक यन्त्र इस प्रकार से बना हुआ है कि साधारण अवस्था में उसके द्वारा भोग्य वस्तु से शुद्ध सत्त्व के अंश को, विश्लेषण करके, निकालकर आनन्दमय कोश तक ठीक-ठीक पहुँचाया नहीं जा सकता। परन्तु ऐसा सूक्ष्म उपाय भी है, जिसके द्वारा वह शुद्ध सत्त्व-बिन्दु अपेक्षाकृत सहज रूप में आनन्दमय कोश तक उठकर तथा उसके ऊपर विराजमान परमात्मा में निवेदित होकर प्रसादरूप में कारण-शरीर में जीवात्मा का भोग बन सकता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—ईशोपनिषद् के इस मन्त्र में त्याग और भोग का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। इसको और भी स्पष्ट करके कहता हूँ। यदि लोहे के लाखों छोटे-छोटे कण दूसरी-दूसरी वस्तुओं के बहुत-से कणों के साथ मिश्रित होकर जहाँ-तहाँ बिखरे हों और दूसरी वस्तुओं को छोड़कर शुद्ध लोहे के उन कणों का एक जगह संग्रह करना हो तो इसका एकमात्र उपाय है चुम्बक को उन कणों के पास ले जाकर रख देना। चुम्बक का स्वभाव ही लोहे के कणों का आकर्षण करना है; अतएव उसकी आकर्षण-सीमा के भीतर जितने लोहे के कण पृथक्-पृथक् बिखरे होंगे, वह निश्चय ही उन सबको खींच लेगा। इसी प्रकार हमारी भोग्य वस्तुओं में जो शुद्ध सत्त्व के कण हैं, उन्हें उस शुद्ध सत्त्व के ही एक अंश के अवलम्बन से हमारा आनन्दमय कोश और नीचे के समस्त कोश अपने-अपने सत्त्व के अनुसार चुम्बक-धर्म को प्राप्त कर स्वभावतः ही अपनी-अपनी पुष्टि के लिए भोग्य वस्तुओं में से खींच लेंगे। इस उपाय से मन्थन अथवा विवेक-क्रिया द्वारा यदि भोग्य वस्तुओं का विश्लेषण किया जा सके तो चुम्बकाकर्षण के प्रभाव से उनका सत्त्वांश कोशों में पहुँचकर उनको तृप्त कर सकता है।

कहना नहीं होगा कि मैंने जिस प्रवृत्ति-धर्म के विषय में कहा है, वही उसका स्वरूप है। जगत् की भोग्य वस्तुएँ निर्मल और शुद्ध सोममय नहीं हैं, इसीलिए तो इस प्रकार विवेक की आवश्यकता है। शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओं को परस्पर पृथक् कर देने का नाम ही विवेक है। विवेक होने पर असार अंश के प्रति वैराग्य और सार अंश के प्रति अनुराग या आकर्षण होना स्वाभाविक है। स्थूल रूप से विचार करने पर भी यही बात प्रतीत होती है। हम भोग्यरूप में जो कुछ भी खाते हैं, भीतर पहुँचने पर पूर्वोक्त प्रकार से उसका विश्लेषण होता है और असार अंश स्वभाव के नियम से ही देह का पुष्टिकारक न होकर क्षतिकारक होने के कारण देह से निकाल दिया जाता है और सार अंश देह में रहकर उसका पोषण करता है। यह सार अंश भी अवश्य ही सर्वथा विशुद्ध नहीं होता, इसीलिए विश्लेषण की क्रिया क्रमशः होती ही रहती है और साथ-ही-साथ उस-उस भूमि में असार अंश का त्याग और सार अंश का ग्रहण होता

रहता है। साधारण खाद्य वस्तु के सम्बन्ध में जो नियम है, वही एक नियम समस्त भोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

जिज्ञासु—इन्द्रिय-द्वारों से रूप, रस आदि विषयों का ग्रहण भी क्या इसी नियम से होता है?

वक्ता—इसमें सन्देह ही क्या है? भोक्ता के भोग के लिए किसी भी द्वार से कोई भी विषय ग्रहण किया जाय, सर्वत्र एक ही नियम है। चक्षु के द्वारा जब तुम किसी रूप का ग्रहण करते हो, तब यदि तुम निरपेक्ष द्रष्टा होकर उसको नहीं देख सकते, तो समझना चाहिए कि वह रूप-दर्शन भी तुम्हारे भोग के सिवा और कुछ नहीं है। गम्भीर रात्रि के निस्तब्ध आकाश में जब तुम दूर से आई हुई मधुर वंशी-ध्वनि सुनते हो और सुनते-सुनते स्वप्नमय भाव के आवेश में तन्मय हो जाते हो, तब यदि वह तुम्हें अच्छी लगती है तो समझ लो कि वह भी तुम्हारा भोग-विशेष है। इसी प्रकार सब जगह समझो। हमारी साधारण सांसारिक अवस्था में हम इन रूप-रसादि समस्त विषयों का अपने-अपने प्राक्तन संस्कारों के वश में होकर नाना प्रकार से भोग करते हैं। परन्तु इस भोग से भोग का नाश नहीं होता, हमारी जानकारी के अभाव में भोगाकांक्षा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही चली जाती है। इसका कारण यह है कि हम लोग उचित रीति से भोग करना नहीं जानते। भगवान् के मंगलमय विधान में अशुभ कुछ भी नहां है। उचित रीति से भोग करने पर हम जान सकेंगे कि भोग भी मंगलमय हैं; किसी भी अंश में अमंगल नहीं हैं।

यथार्थ में बात यह है कि त्याग के साथ भोग को एक सूत्र में ग्रथित नहीं किया जाता, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—इस नियम का अनुसरण नहीं होता। इसीलिए भोग के मंगलमय रूप का दर्शन हम नहीं कर पाते। इसीलिए हमारे भोग धर्म के अन्तर्गत न समझे जाकर अधर्म के अंग बन जाते हैं।

जिज्ञासु—हमलोग जो रूप-दर्शन या शब्द-श्रवण आदि करते हैं, वह भोग के अन्तर्गत है, इस बात को मैं खूब समझता हूँ। और, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यह भोग भी विशुद्ध भोग नहीं है। परन्तु बात यह है कि चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो रूप देखा जाता है—उसमें ऐसा क्या कौशल हो सकता है; जिससे वह दर्शन विशुद्ध भोग-रूप में परिणत हो सके और अपने को शुद्ध दर्शन या आत्मदर्शन रूप से प्रकट कर सके?

वक्ता—अवश्य, ऐसा कौशल तो है ही। पहले चुम्बक के दृष्टान्त से जिस तत्त्व को समझाने की चेष्टा की गई है, यहाँ भी उसी का स्मरण करना चाहिए। यह सत्य है कि हम जो रूप देखते हैं, वह विशुद्ध रूप नहीं है। विशुद्ध रूप के दर्शन हो जाते तो अन्य इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि नेत्र भी उस रूप के गहरे नशे में विह्वल हो जाते। क्षण-भर के बाद ही वह दूसरे रूप की खोज में नहीं निकल पड़ते। तुमने कभी उस यथार्थ रूप को देखा नहीं है, इसीसे तुम्हारी धारणा में शायद उस शुद्ध रूप की महिमा अभी नहीं आ सकेगी। उस शुद्ध रूप के साथ आँखों का सम्बन्ध

हो जाने पर फिर वे दूसरी किसी ओर दौड़ ही नहीं सकतीं। यही नियम सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

जिज्ञासु—आपने जिस कौशल की बात कही थी अब उसके सुनने की इच्छा होती है।

वक्ता—उस कौशल को ठीक-ठीक समझ सकने की अभी सम्भावना न होने पर भी तुम्हारी उत्सुकता की निवृत्ति के लिए मैं संक्षेप में कुछ कहता हूँ। जैसे खाद्य वस्तु देह के अन्दर जाकर दैहिक यन्त्र की क्रिया द्वारा विश्लिष्ट होती है और उसका सार अंश क्रमशः ऊपर की ओर सञ्चारित होता है, उसी प्रकार रूप-रसादि कोई भी विषय, जिसका इन्द्रिय द्वारा आहरण किया जाता है, भी देह के अन्दर जाकर विश्लिष्ट होता है और उसका सत्त्वांश नाड़ी-पथ से ऊपर की ओर प्रवाहित होकर भोक्ता के भोग-स्थान पर पहुँच जाता है। कारण, भोग-स्थान पर पहुँचे विना किसी भी वस्तु को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। रूप देखने पर जो आनन्द होता है, वह भी भोग-विशेष है—वह आनन्द भी वाह्य विषय भोक्ता के समीप भोग्यरूप में उपस्थित हुए विना उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सकाम मलिन भोग तो भोग्य वस्तुमात्र से ही बद्ध जीव को निरन्तर ही होता रहता है। परन्तु विशुद्ध भोग सहसा उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण, जवतक द्रष्टा होकर विषय का ईक्षण नहीं किया जा सकता, तबतक भोग की विशुद्धि नहीं हो सकती। भोग-शोधन के मूल में दो रहस्य हैं—एक है आधार का शोधन और दूसरा है उसका बोधन। अभी चित्त को ही आधार मान लो। वास्तव में तो विन्दु ही आधार है, ब्रह्मचर्य के विना बिन्दु की शुद्धि नहीं हो सकती। विन्दु के शुद्ध हुए विना उसमें बोध-शक्ति का सञ्चार करना निष्फल है। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा करना हानिकारक होता है। विन्दु ही वह मूल सत्ता है, जिससे देहादि विकास को प्राप्त हुए हैं। इस सत्त्व को शुद्ध करके उसमें चैतन्य का उज्ज्वल प्रकाश प्रतिफलित कर देने पर उसको सहज ही ऊपर की ओर खींचा जा सकता है। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्य की भित्ति-स्वरूप हैं। यहाँ अभी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हुए विना प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म की साधना हो ही नहीं सकती। इसीलिए प्राचीन काल में पहले (ब्रह्मचर्य) आश्रम में ही बिन्दु को स्थिर करके, दूसरे (गृहस्थ) आश्रम में विवाह करके प्रवृत्ति-धर्म का पालन करने की व्यवस्था थी। वैदिक युग का वह गार्हस्थ्य धर्म ही यथार्थ प्रवृत्ति-धर्म का सामाजिक विन्यास था।

सत्त्वशुद्धि और ज्ञानोदय हुए विना रूप-रसादि विषय-भोग सम्भोग के अन्तर्गत रहते हैं; उनसे क्रमशः भोग-त्याग होने की कोई सम्भावना नहीं है।

जिज्ञासु—स्थिररेता और जातप्रज्ञ पुरुष के सामने रूपादि विषय आने पर उसके देह के अन्दर किस प्रकार की क्रिया होती है, अब यह बात समझाइए।

वक्ता—पहले ही कहा जा चुका है कि जैसे चुम्बक लोहे का आकर्षण करता है वैसे ही शुद्ध वस्तु शुद्ध वस्तु का आकर्षण करती है। जिसके ज्ञान का विकास हो गया है और जिसकी शुद्ध शक्ति क्रियाशील हो गई है उसके भीतर की क्रियाएँ साधारण मनुष्यों के भीतर की क्रियाओं से भिन्न प्रकार की होती हैं। मान लो, उनके चक्षु-इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण किया गया, अन्दर प्रविष्ट होने पर उस रूप का दैहिक यन्त्र द्वारा विश्लेषण किया गया। विश्लेषण करते ही उसका सत्त्वांश ऊपर की ओर खींचा जाकर ज्ञानी आत्मा के सामने दृश्य रूप में उपस्थित हो गया। परमात्मा द्रष्टामात्र हैं, भोक्ता नहीं हैं। अतएव वह शुद्ध रूप, जो द्रष्टा परमात्मा का दृश्य-मात्र है, अपने-आप ही वहाँ से लौटकर योगयुक्त जीवात्मा के विशुद्ध भोग्यरूप में, अर्थात् प्रसादरूप में उसके सामने अवतीर्ण हो जाता है। यह प्रसाद-भोग वास्तविक भोग नहीं है। एक प्रकार से भोग होने पर भी, दूसरे प्रकार से यह भोग का नाशक है। यही त्याग और भोग का समन्वय है।

जवतक जीवात्मा भगवत्-प्राप्य प्राकृतिक उपहारों को भगवान् की ओर न जाने देकर अहङ्कारवश या कामना से पीड़ित होकर स्वयं ही ग्रहण करने को तैयार रहता है, तवतक परमात्मा के साथ उसका स्वाभाविक सम्वन्ध नहीं हो सकता। परन्तु जव जीव काम को निरुद्ध करने में समर्थ होता है और परम पुरुष की ओर प्रवाहित होनेवाले प्रकृति के स्रोत को रोकने की चेष्टा नहीं करता, तव वे प्राकृतिक उपहार परम पुरुष के समीप जाकर उनकी दृष्टि से पवित्र होकर आशीर्वाद-रूप से उसी पर वरस पड़ते हैं।

जिज्ञासु—वस्तुत: जीव की दृष्टि और उसका लक्ष्य किस ओर रहना चाहिए? भोगलिप्सु की दृष्टि तो विषयों की ओर ही रहेगी अर्थात् वह स्वभाव से ही वहिर्मुखी होगी। और यदि किसी कारण से कामना का निरोध हो गया तो फिर उसकी वाह्य दृष्टि रहेगी नहीं; इसलिए भोग्य वस्तु उसका न तो स्पर्श कर सकती है और न वद्ध कर सकती है। इन दोनों अवस्थाओं में ही वह भगवत्-प्रसाद को कैसे ग्रहण कर सकता है?

वक्ता—जवतक जीव की इन्द्रियाँ आदि वाहर की ओर विषयों के प्रति दौड़ती हैं, तवतक जीव वहिर्दृष्टि या वहिर्लक्ष्य कहलाता है। संसार के अधिकांश जीव इसी प्रकार के हैं। जव इन्द्रिय आदि करणवर्ग, चित्त और समाहृत विषय संशोधित होते हैं तव किसी प्रकार के भोग की उपलब्धि नहीं होती। इसके वाद प्रवुद्ध भाव का उदय होने पर अर्थात् ज्ञान का उन्मेष होने पर, ये करणादि सभी वस्तुएँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। सुतरां उस समय जीव भी अन्तर्मुखी हो जाता है। इस अवस्था में विक्षुब्ध प्रकृति का जो स्रोत स्वाभाविक नियम से परमात्मा की ओर वहता है, वही लौटकर उस उन्मुख जीव के शुद्ध भोग के उपकरण-रूप में परिणत हो जाता है—यही प्रसाद है।

अव प्रवृत्ति-धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में तुम्हें और कुछ पूछना हो तो पूछ सकते हो।

जिज्ञासु—प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म के सम्बन्ध में मैं जो कुछ समझ सका हूँ, इससे उसके रहस्य का कुछ-कुछ आभास मिला है, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु अब यह पूछना है कि आपने प्रवृत्ति-धर्म की साधना का जिस अवस्था से प्रारम्भ होना बतलाया है, बहुत-से लोग शायद उसको निवृत्ति समझेंगे। कारण, आपके मत से जबतक बिन्दु का शोधन और चित्-शक्ति का उन्मेष नहीं होता, तबतक प्रवृत्ति-धर्म की सूचना ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में जगत् में जो सब धर्मानुष्ठान प्रचलित हैं, वे तो प्रवृत्ति-धर्म के अन्तर्गत आ ही नहीं सकते। फिर निवृत्ति या अनुत्तर धर्म की बात तो बहुत ही दूर है। वास्तव में प्रवृत्ति-धर्म की पूर्णता और निवृत्ति-धर्म का प्रारम्भ कहाँ है, मैं यहाँ इस बात को जानना चाहता हूँ।

वक्ता—प्रवृत्ति और निवृत्ति में सम्पूर्ण रूप से पार्थक्य है। अतएव प्रवृत्ति को निवृत्ति मानकर भ्रम में पड़ने का कोई भी कारण नहीं है। जिस धर्म के अनुष्ठान से आत्मा की समस्त शक्तियाँ विकसित और पूर्णरूप से परितृप्त होती हैं, वही प्रवृत्ति-धर्म का परम आदर्श है। यदि चक्षु किसी ऐसे रूप को देख सके, जिसके देख लेने पर रूप-दर्शन की तृष्णा फिर कभी उदित ही न हो, तो मेरे मत से उसका वह रूप-दर्शन शुद्ध भोग है अथवा प्रवृत्ति-धर्म का अङ्ग है। अवश्य ही इसका क्रमिक विकास है, इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु जिस रूप के दर्शन से रूप-दर्शन की लालसा तृप्त नहीं होती, उस रूप को चाहे भगवत्-रूप ही क्यों न बतलाया जाय, यथार्थ में वह शुद्ध भोग नहीं माना जा सकता। वह सांसारिक रूप-दर्शन का ही एक प्रकारभेद-मात्र है। एकाग्र-भूमि पर आरोहण करके उसे वश में कर लेने पर जैसे निरोध अपने-आप ही वश में हो जाता है, वैसे ही रूप-रसादि का शुद्ध भागवती शक्ति के रूप में सम्भोग कर लेने पर फिर कोई भी वैषयिक भोग उसे बाँध नहीं सकता।

जिज्ञासु—अब इस समय प्रवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं पूछना है। इस सम्बन्ध में मैंने जो कुछ समझा है, मेरा वह समझना ठीक है या नहीं, इस विषय में फिर कभी आपसे बातें करूँगा। सम्प्रति, मैं निवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता हूँ। निवृत्ति-धर्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है, साधन क्या है और निवृत्ति-धर्म का पूर्णआदर्श किस प्रकार का है?

वक्ता—प्रवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ आलोचना हुई है, उससे निवृत्ति-धर्म को हृदयङ्गम करने का मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया है। प्रवृत्ति-धर्म का आचरण किये बिना निवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान स्वाभाविक रूप से नहीं हो सकता। आत्मा की यावतीय शक्तियों की पूर्ण तृप्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति—यह प्रवृत्ति-धर्म की पराकाष्ठा है। जब ये पूर्णता को प्राप्त हुई शक्तियाँ तृप्त होकर नित्य अचल शिवभाव के साथ एकाकार हो जाती हैं, तभी निवृत्ति का आविर्भाव होता है। प्रवृत्ति की पूर्णता में भोगशक्ति और भोग्य-वस्तु—दोनों ही विशुद्ध होकर पूर्णरूप से प्रकाशित होती हैं। परन्तु निवृत्ति में यह शक्ति और भोग्य—दोनों ही अव्यक्त हो जाते हैं। भोग की पूर्णता सिद्ध होने के कारण भोग अतिक्रान्त हो जाता है। सुतरां एक ओर भोग-

शक्ति तृप्त होकर शुद्ध दृक्-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है और दूसरी ओर भोग्य वस्तु शुद्ध होकर केवल सत्त्वरूप से स्थित हो जाती है। इस अवस्था का पूर्ण विकास होते ही निवृत्ति-साधना का अवसान हो जाता है। प्रवृत्ति-धर्म के अन्त में विशुद्ध परमानन्द जाग्रत् रहता है। इस परमानन्द में भोक्ता, भोग्य और भोग—तीनों ही शुद्ध हैं। इसी प्रकार निवृत्ति-धर्म का अवसान होने पर आनन्द का आस्वादन भी अतिक्रान्त हो जाता है। अर्थात् आनन्द पूर्ण हो जाने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अथवा भोग नहीं होता। यही विशुद्ध चैतन्य-अवस्था है। इस अवस्था में द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि—तीनों अभिन्नरूप रहते हैं।

जिज्ञासु— तब तो निवृत्ति-धर्म स्वाभाविक धर्म है—उसके लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भूखे का पेट भरने पर उसमें जैसे अन्नसंग्रह की चेष्टा नहीं रहती, वह आप्तकाम होकर निश्चेष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म के पूर्ण होने पर आप्त-काम-भाव का आविर्भाव हो जाने के कारण निवृत्ति का अपने-आप ही उदय हो जाता है। अतएव निवृत्ति-धर्म की साधना नहीं है। जो स्वाभाविक है, वह तो स्वभाव के नियम से अपने-आप ही होता है; उसके लिए चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती वरन् चेष्टा तो स्वाभाविक प्रवाह में प्रतिवन्धक होती है।

वक्ता—निवृत्ति-धर्म जैसे स्वाभाविक है; ठीक वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म भी स्वाभाविक ही है। अवतक जो कुछ कहा गया है उसे भलीभाँति समझ लेने पर यह बात तुम्हारी धारणा में आ जायगी कि प्रवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान भी किसी कृत्रिम उपाय से नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि जवतक पुरुष अपने पुरुषकार का त्याग कर, अभिमान छोड़कर प्रकृति का आश्रय ग्रहण नहीं करता; तबतक प्रवृत्ति या निवृत्ति किसी भी प्राकृतिक या स्वाभाविक धर्म का अनुष्ठान नहीं होता। यौवन में जैसे भोग स्वाभाविक है, वैसे ही बुढ़ापे में त्याग भी स्वाभाविक है। भोग के मूल में त्याग न रहने से जैसे वह भोग धर्मरूप में परिणत होने के योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्याग के मूल में भोग न रहने से वह त्याग भी धर्मपदवाच्य नहीं हो सकता। स्वाभाविक या प्रकृतिगत धर्म में भोग और त्याग स्वाभाविक नियम से यथासमय अपने-आप आ जाते हैं। किसी के लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती। धर्म का जो नित्य आदर्श है, अर्थात् जो यथार्थ सनातनधर्म है; उसमें अहंकारमूलक कृत्रिम साधना कुछ भी नहीं रहती। प्रवृत्ति-साधन के प्रारम्भिक विन्दु से लेकर निवृत्ति-साधन के अन्तिम विन्दु-पर्यन्त समस्त साधनचक्र प्राकृतिक या सनातन-साधन हैं। देश, काल अथवा सांसारिक विचित्रता के कारण इस नित्य-साधन के आदर्श में किसी प्रकार भी परिवर्त्तन नहीं होता।

जिज्ञासु— आपने प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म का जो स्वरूप वतलाया, यही सनातन-धर्म का रहस्य प्रतीत होता है। परन्तु जगत् में जितने ऐतिहासिक धर्म हैं —यहाँ तक कि सनातन-धर्म के नाम से जो व्यावहारिक धर्म प्रचलित हैं, उनमें से कोई भी बहिरंगरूप से आपके द्वारा वर्णन किये हुए प्रवृत्ति-धर्म के अन्तर्गत नहीं जान

पड़ता। तब, हमलोग जगत् में जिसे प्रवृत्ति-धर्म या निवृत्ति-धर्म मानते हैं, वह क्या वस्तुतः कुछ भी नहीं है ?

वक्ता—कुछ भी नहीं है, यह किसने कहा ? जो स्वाभाविक है, वही सनातन है। जो पुरुषकार-मूलक है, वह सनातन नहीं हो सकता। तुम जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहते हो अर्थात् तुम्हारे शास्त्र में जिसे धर्म-पथ और मोक्ष-मार्ग वतलाया गया है, वह एक प्रकार से पौरुष-धर्म है। क्योंकि स्वयं कर्ता हुए विना उस धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता। मैं जिस धर्म की वात कह रहा हूँ, वह पौरुष-धर्म नहीं है, अर्थात् वह कृत्रिम धर्म नहीं है—स्वयं कर्त्ता वनकर उसका अनुष्ठान नहीं करना पड़ता, वस्तुतः उसका कोई भी अनुष्ठाता नहीं है—हृदय में भाव का विकास होने पर वह अपने-आप ही प्रकट होता है और वह स्रोत अपने-आप ही वढ़ता रहता है। जीव जवतक आत्म-समर्पणपूर्वक अर्थात् व्यावहारिक समस्त धर्मों का त्याग कर एकमात्र प्रकृति की शरण नहीं लेता, तवतक प्रकृति के धर्म का विकास नहीं होता। उसे धर्म-मन्दिर के वाहर ही पड़ा रहना पड़ता है।

वत्स ! अभिमान रहते धर्म की योजना नहीं होती। अभिमानशील जीव नित्य प्रवृत्ति-धर्म का भी आचरण करने में असमर्थ होता है। जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा एक-एक कला वढ़ता हुआ पूर्णिमा के दिन पूर्ण-भाव को प्राप्त हो जाता है और फिर कृष्णपक्ष में उसकी वे सारी कलाएँ क्रमशः क्षीण होते-होते अन्त में वह सर्वथा कला-हीन अवस्था को प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव नित्य प्रवृत्ति-पथ पर स्थित होकर स्वभाव के आकर्षण से सर्वशक्ति-सम्पन्न और परमानन्द की अवस्था को अपने-आप ही प्राप्त हो जाता है, एवं तदनन्तर क्रमशः उसकी परिपूर्ण सर्वशक्ति उपसंहृत होने पर उसका आत्म-समर्पण पूर्णता को प्राप्त करता है। इस शुक्लपक्ष के आदर्श के अनुसार ही सामाजिक जीवन में गार्हस्थ्य-धर्म का विकास होता है और कृष्णपक्ष का आदर्श ही संन्यास-धर्म का मूल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अव हम पूर्णविन्दु और शून्यविन्दु—विन्दु की इन दोनों अवस्थाओं को समझ सके हैं। इन दोनों बिन्दुओं के समरस होने पर प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म जब एकाकार हो जाते हैं, तब परम धर्म का उदय होता है। इस परम धर्म का रहस्य एकमात्र परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। उन्हीं की कृपा से कोई-कोई भाग्यवान् जीव चकित की भाँति उसका आभास-मात्र पाते हैं; तुमने तो बौद्धधर्म की आलोचना की है। इससे तुम यह जानते ही हो कि नागार्जुनादि महापुरुषों ने संसार और निर्वाण को इशारे से एकरस और अद्वय ही वतलाया है। यही परम धर्म का आभास-मात्र है। कारण, प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप विरुद्ध स्रोतों में यहाँ समन्वय हो गया है।

जिज्ञासु—इस परम धर्म की बात अभी रहने दीजिए। क्योंकि यह अत्यन्त ही गम्भीर और दुर्दर्श है। अभी तो निवृत्ति-धर्म के सम्वन्ध में ही कुछ बातें पूछनी हैं। प्रवृत्ति-धर्म के चक्र में प्रवेश करने के लिए जैसे एक अधिकार-सम्पत्ति की आवश्यकता

है, वैसे ही क्या प्रवृत्ति-धर्म की पूर्णता होने पर निवृत्ति की ओर चलने के लिए भी किसी प्रारम्भिक योग्यता की आवश्यकता है ?

वक्ता—नहीं, इसमें पृथक् योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्ति की पूर्णता होते ही निवृत्ति-पथ पर चलने की योग्यता हो गई, यह समझ लेना चाहिए। परन्तु कोई साधक स्वाधीन रूप से इस पौर्णमासी के अन्दर ही रह सकते हैं; उधर, कोई इच्छा होने पर कृष्ण पक्ष में प्रवेश कर सारे चक्र को समेट ले सकते हैं। परन्तु एक बात है, प्रवृत्ति-गति और निवृत्ति-गति एक ही चक्राकार गति के अन्तर्गत होने पर भी दोनों में विरोध है। गति के विरुद्ध न होने पर यह विरोध आप ही समता को प्राप्त हो जाता है।

जिज्ञासु—हमलोग जगत् में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, वह तो आपके द्वारा वर्णित प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म से पृथक् ही प्रतीत होती है। इन दोनों में क्या पार्थक्य है, जिसके लिए आप इस जांगतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति को धर्म के नित्य-आदर्श के अन्तर्गत नहीं मानते ?

वक्ता—जगत् में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, उसे एक प्रकार से कृत्रिम और पौरुष-धर्म कहा जा सकता है। अहङ्कार की प्रेरणा से अथवा 'मैं करता हूँ'—यह बोध रखते हुए, जो कुछ भी किया जाता है, वह सभी पुरुषकार का ही प्रकार-भेद है। प्रकृति के स्रोत में पड़े विना प्रकृति-धर्म का उदय ही नहीं हो सकता। प्रकृति के स्रोत में प्रवृत्ति और निवृत्ति का वास्तविक विरोध नहीं है; क्योंकि एक से ही दूसरी का आविर्भाव होता है। जैसे बालक युवक होता है और युवक ही वृद्धरूप में परिणत होता है, वैसे ही प्रवृत्ति से ही अपने-आप निवृत्ति का उदय होता है। जैसे एक अखण्ड जीवन-प्रवाह में बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य सभी को स्थान है, वैसे ही नित्य स्वाभाविक धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रभृति सभी को स्थान है। इस धर्म का कोई अनुष्ठाता नहीं हैं। इससे यह मुक्त धर्म है। परन्तु पुरुष जबतक अपने को कर्त्ता मानकर अभिमान करता है और इस अभिमान के वश होकर सब कर्मों का सम्पादन करता है, तबतक उसके वे सभी कर्म कृत्रिम हैं। जागतिक प्रवृत्ति कृत्रिम क्यों है, जरा विचार करने से ही यह बात समझ में आ जाती है। मनुष्य जो चाहता है, उसको वह ठीक-ठीक नहीं पाता और जो कुछ पाता भी है, उसे भी ठीक-ठीक नहीं पाता। सुतरां जैसे उसका चाहना अपूर्ण है वैसे ही उसकी प्राप्ति भी अपूर्ण है। परन्तु, तुम यह निश्चय ही समझो कि जीव के चक्षु की यह व्याकुलता यथार्थ व्याकुलता नहीं है। यदि सचमुच आँखें रूप के लिए व्याकुल होतीं तो निश्चय ही वह रूप के दर्शन कर कृतार्थ हो जातीं। फिर यथार्थ रूप-दर्शन करने की उसकी शक्ति ही कितनी है ? वैसे किसी एक रूप या अलोक-सामान्य सौन्दर्य की आभा यदि कभी भाग्यवश उसके नेत्रों के सामने आ जाती है तो उसका भोग करने की उसमें शक्ति ही नहीं रहती। अतएव जागतिक दृष्टि से देखा जाने पर भी यह स्पष्ट समझ में आता है कि सांसारिक जीव ठीक-ठीक भोग करने में भी समर्थ नहीं होता। संसारी जीव किसी प्रकार के भोग का अधिकारी नहीं है। जब उसका भोग ही पूर्ण नहीं होता,

कल्प-कल्पान्तर तक काम्यवस्तुओं का उपभोग करने पर भी जब उसकी कामना तृप्त नहीं हो सकती, तब उसके लिए निवृत्ति का आश्रय ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है ? कारण, तुमसे यह पहले ही कहा जा चुका है कि आकांक्षा के अतृप्त रहते शान्ति या निवृत्ति के मार्ग पर चलने की सम्भावना नहीं है। संयम आदि का जो आचरण किया जाता है, वह निवृत्ति-धर्म की साधना नहीं है, वह तो चित्त-शुद्धि के लिए किये जानेवाले आवश्यक उपाय-मात्र हैं। याद रखना चाहिए कि अशुद्ध-चित्त जीव नित्य धर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकता—चित्त-शुद्धि हुए विना प्रकृति के स्रोत में पड़ने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए प्रवृत्ति-धर्म किंवा निवृत्ति-धर्म में कोई अधिकार नहीं होता।

यह जो नित्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति-धर्म की वातें तुमसे कहीं, यही यथार्थ उपासना है। ज्ञान का उन्मेष होने पर ही इसका आरम्भ होता है और इसके अवसान के साथ-ही-साथ ज्ञान की पूर्णता सिद्ध होती है।

जिज्ञासु—आपकी वातों से यह समझ में आता है कि जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति अहङ्कारमूलक कर्मों का ही प्रकार-भेद है। वस्तुतः इसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहना उचित नहीं है। कारण, कर्म के मूल में अहङ्कार होता है और उपासना के मूल में स्वभाव रहता है—इसलिए इन दोनों में यथेष्ट भेद है।

वक्ता—तुमने यह ठीक कहा है। आज हमलोगों ने धर्म-रहस्य के एक अङ्ग की कुछ आलोचना की। अब तुम्हें और जो कुछ पूछना हो सो पूछ सकते हो।

जिज्ञासु—अवतक जो कुछ वातें हुई हैं, उनसे यह समझ में आ गया कि धर्म का नित्यस्वरूप प्रकृति का आश्रय किये विना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृति के आश्रय से यह धर्म पहले प्रवृत्तिरूप में और उसके पीछे निवृत्तिरूप में प्रकट होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। यही ऐश्वरिक धर्म का पारमार्थिक रूप है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में हम जिसे धर्म कहते हैं, वह पुरुषार्थ के विना अनुष्ठित नहीं हो सकता। अभिमान का नाश हो जाने पर व्यावहारिक धर्म के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अब मुझे यह पूछना है कि नित्यधर्म का अधिकार प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक धर्म का अनुष्ठान किस प्रकार होना चाहिए ? क्या सभी प्रचलित धर्मों में इस लक्ष्य का निर्देश प्राप्त हो सकता है ?

वक्ता—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पारमार्थिक धर्म एक और अभिन्न है और वही वास्तविक सनातन-धर्म है। क्योंकि, वह देश, काल और पात्र की अपेक्षा न रखते हुए सर्वत्र समान रूप से प्रकाशित होता है। परन्तु व्यावहारिक धर्म सांसारिक अवस्था के परिवर्त्तन के साथ-साथ न्यूनाधिक रूप में परिवर्त्तित हुए विना नहीं रहता। परन्तु इस अवश्यम्भावी परिवर्त्तन के होते हुए भी जो व्यावहारिक धर्म नित्यधर्म की उपलब्धि में अधिक सहायक होता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। अर्थात् जिस धर्म का आचरण करते-करते जीव अज्ञात रूप से, परन्तु नियमपूर्वक आत्माभिमान और देहाध्यास का त्याग करने में समर्थ होता है, जिस धर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप

जीव धीरतापूर्वक परिशुद्ध होकर नित्य-प्रवाहित प्रकृति के स्रोत में आत्म-समर्पण करने में समर्थ होता है, वही धर्म व्यावहारिक धर्मों में सर्वापेक्षा उत्कृष्ट गिना जाने योग्य है। जगत् कर्म का ही रूप है। इसलिए जगत् में अनन्त प्रकार के कर्म-वैचित्र्य का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु वास्तविक कर्म वही है, जिसके करते-करते जीव सदा के लिए कर्म-जाल से छूट जाता है। इसी प्रकार जगत् में देशभेद से, कालभेद से तथा जातीय संस्कारभेद से जितने प्रकार के धर्मों का अभ्युत्थान हुआ है, वे सब एक ही भूमि में हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दर्पण जितना ही स्वच्छ होता है उतना ही अधिक उसमें प्रतिबिम्ब उद्भासित होता है, उसी प्रकार जिस लौकिक धर्म में जितना ही अधिक नित्य और पारमार्थिक धर्म के आदर्श का विकास होता है वह उतना ही उत्कृष्ट है।

जिज्ञासु—आजकल जगत् में जिन धर्मों का विशेष प्रचार है, उनमें हिन्दू, बौद्ध, जैन प्रभृति भारतीय धर्म तथा इस्लाम, ईसाई और पारसी प्रभृति वैदेशिक धर्म प्रधान हैं। आपने व्यावहारिक धर्म की श्रेष्ठता के निदर्शन जो बतलाये हैं, उनके अनुसार इन सब धर्मों में किसको सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया जा सकता है? यही जानने की मेरी इच्छा होती है। आपके निष्पक्ष निर्णय को जानकर मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

वक्ता—मैं नाम लेकर किसी भी धर्म पर विचार करना नहीं चाहता। और कई कारणों से इस प्रकार का विचार उचित भी नहीं है। परन्तु किस प्रकार के लौकिक धर्म के आचरण से अलौकिक दिव्य धर्म का आश्रय ग्रहण करना सम्भव होता है, इसकी आलोचना अवश्य करूँगा। तुम प्राचीन, मध्य किंवा वर्त्तमान युग के समस्त धर्मों के प्राप्य शास्त्रीय ग्रन्थों की आलोचना करके मेरे बतलाये हुए लक्षणों के साथ उनका मिलान कर लोगे तो फिर उनके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होने का विचार अपने-आप ही कर सकोगे।

प्रचलित धर्मों में भी आदर्श और आचार की विभिन्नता सदा से देखी जाती है। किसी धर्म के दोष-गुण का विचार करते समय पहले यह देखना आवश्यक है कि उसका आदर्श क्या है? जो लोग लोक में किसी एक धर्म का आचरण करनेवाले माने जाते हैं, परन्तु जो कार्यक्षेत्र में उस धर्म के आदर्श का सम्यक्रूप से आचरण नहीं करते, उन लोगों के इन भ्रष्ट आचरणों के आधार पर उस धर्म के गुण-दोष के विषय में सिद्धान्त स्थिर करना उचित नहीं है। व्यावहारिक धर्म की आलोचना करते समय भी इस साधारण नीति को सामने रखना होगा। ऐसा न करने से सत्यसिद्धान्त तक पहुँचना असम्भव है।

जिज्ञासु—आप जिस नीति का अवलम्बन करना चाहते हैं, यही श्रेष्ठ नीति है; क्योंकि जिस प्रकार जीवन के आदर्श द्वारा ही मनुष्य की आकांक्षा के महत्त्व का अनुमान होता है, उसी प्रकार धर्म की उत्कृष्टता भी उसके अन्दर रहनेवाले आदर्श की महत्ता के द्वारा ही निरूपित हो सकती है।

वक्ता—जिस उपाय से मनुष्य सहज में तथा अल्प समय में नित्य प्राकृतिक धर्म में प्रवेश कर सकता है, वही श्रेष्ठ उपाय है। यदि यह निश्चय हो जाय कि एकमात्र गङ्गा-प्रवाह के सहारे ही समुद्र तक पहुँचना सम्भव है तो अपने निवास-स्थान से जो मार्ग अल्प समय में तथा सहज में गङ्गा के किनारे ले जाता है, वही समुद्रयात्री के लिए श्रेष्ठ मार्ग कहा जा सकता है। व्यावहारिक धर्म के विचार में भी प्रकृति का अनुसरण कर देश, काल तथा पात्र के अनुसार पुरुषार्थ को यथासम्भव प्राकृतिक स्रोत में विलीन करने की व्यवस्था किस धर्म में किस परिमाण में रहती है, यही वस्तुतः विचारणीय विषय है।

जिज्ञासु—जिन आधारों पर व्यावहारिक धर्म प्रतिष्ठित होता है, उनकी भी कुछ आलोचना धर्मतत्त्व के समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक एक-एक कर इन सभी विषयों की आलोचना करें।

वक्ता—व्यावहारिक क्षेत्र में सभी जगह अधिकार का विचार करना आवश्यक है। जिसका जैसा अधिकार है, उसके लिए उसी प्रकार के धर्म का उपदेश उत्तम फलप्रद होगा और अधिकार का तारतम्य पूर्वजन्म के कर्म, उनके संस्कार तथा योग्यता के ऊपर भी निर्भर करता है। उच्च अधिकार प्राप्त न होने पर उच्च पद के कर्म करने में प्रवृत्त होने से केवल वे कर्म निष्फल ही नहीं होते, बल्कि उनसे भविष्य की सिद्धि का मार्ग भी विघ्नपूर्ण हो जाता है।

जिज्ञासु—क्या इससे आपका यह तात्पर्य है कि आदर्श व्यावहारिक धर्म में अधिकार का विचार होना अत्यन्त ही आवश्यक है?

वक्ता—इसमें सन्देह ही क्या है? व्यष्टि और समष्टि भाव से देखने पर संसार में सर्वत्र ही अधिकार का विचार पाया जाता है और इसी पर सब प्रकार की अवस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य जिस कार्य अथवा जिस फल का अधिकारी नहीं है, उसे उस कार्य में प्रवृत्त होने अथवा उसे उस फल के भोग के लिए सुविधा देने से कभी परिणाम शुभ नहीं हो सकता। योग्यता और अयोग्यता का निर्णय किये विना अधिकार का निर्णय नहीं किया जा सकता। योग्यता भी सब मनुष्यों में समान नहीं होती और न हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य के अथवा मनुष्य-समाज के कर्म-जीवन-सम्बन्धी अतीत इतिहास की आलोचना करने से पता लग सकता है कि इस योग्यता की विभिन्नता अपने कर्म के फल के रूप में ही उत्पन्न होती है। इसके लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। इस विषमता के लिए ईश्वर अथवा बाह्य प्रकृति उत्तरदायी नहीं है। अतः प्राकृतिक नीति के अनुसार क्रमशः उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ना हो तो शिक्षा अधिकारमूलक ही होनी चाहिए। जो अत्यन्त कठिन दार्शनिक सिद्धान्त के अनुशीलन के योग्य है उसे जिस प्रकार साधारण सरल उपदेश देने से उसकी शिक्षा का उत्कर्ष नहीं होता; इसी प्रकार ज्ञान की निम्नतम भूमि में रहनेवाले को उच्च भूमि के दुरूह तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है। जिसकी जैसी पाचनशक्ति होती है, उसके लिए वैसा ही आहार शरीर की पुष्टि में सहायक होता है। यह अधिकार अनेकों प्रकार से आलोचनीय है। सूक्ष्म दृष्टि से किसी की भी

योग्यता का निरूपण करते समय उसके उपादान में जितनी विशेषताएँ हों उन सबको धीरतापूर्वक जानना होगा। इससे यह समझना चाहिए कि यदि कोई व्यावहारिक धर्म के अधिकार का विचार न कर सबको समान उपदेश देने की व्यवस्था करता है तो उसको सर्वांश में प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। प्रकृति के रंगमंच पर अधिकार की विषमता निश्चित दीख पड़ती है। ऐसी अवस्था में अधिकारगत वैषम्य की उपेक्षा करने से व्यावहारिक धर्म से प्राकृतिक धर्म में प्रविष्ट होने की सम्भावना कभी नहीं हो सकती।

जिज्ञासु—आपके इस उपदेश से जान पड़ता है कि स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध इत्यादि के अवस्था-भेद से प्रत्येक व्यक्ति का धर्म पृथक् रूप से निर्दिष्ट होना चाहिए। परन्तु बहुधा देखा जाता है कि जिसे हम निकृष्ट समझते हैं वह अनेकों उत्कृष्ट कहे जानेवाले व्यक्तियों से भी उच्च स्थान में बैठने योग्य होता है। दूसरी ओर, जिसे साधारणतः उच्च स्थान दिया जाता है, योग्यता की दृष्टि से वह अनेकों साधारण लोगों की स्थिति से भी नीचे की भूमि का अधिकारी होता है। ऐसी अवस्था में अधिकार के विचार का मूल आधार क्या है, इसका पता लगाना सहज नहीं होता। इस विषय में कुछ और स्पष्ट जानने की इच्छा होती है।

वक्ता—वत्स! तुम्हारे सन्देह को मैंने कुछ-कुछ समझ लिया है, किन्तु मेरी बात ठीक-ठीक समझने पर तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि यहाँ संशय का कोई भी कारण नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से धर्म का आचरण और प्रचार दोनों ही अधिकार-सम्पत्ति पर निर्भर करते हैं। इस विषय में भी किसी को सन्देह करने का अवकाश है, ऐसा मैं नहीं समझता। कोई तो अखिल विश्व के अन्तराल में निहित तथा सर्वत्र व्यापक एवं अखण्ड सत्ता को ध्यानयोग के द्वारा उपलब्ध करने में समर्थ होता है, किन्तु किसी के लिए नेत्र मूँदकर एक साधारण मूर्त्ति का ध्यान करना भी कठिन होता है। किसी का चित्त स्वभावतः भोगोन्मुख होता है और किसी के हृदय में वैराग्य का भाव अधिकतर प्रबल होता है। इस प्रकार से नाना वैषम्य जगत् में सर्वत्र ही देखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में एक ही प्रकार का आचार और साधन सब प्रकार की प्रकृतियों से युक्त मानव-समाज के लिए कभी उपयोगी नहीं हो सकता। इस अधिकार का विचार करना अत्यन्त ही कठिन है। केवल स्थूल दृष्टि से इस योग्यता का निरूपण नहीं किया जा सकता। ऐसे-ऐसे सूक्ष्म तत्त्व हैं, जो स्थूल दृष्टि के विषय कभी नहीं हो सकते। किन्तु स्थूलदर्शी साधारण लोगों की दृष्टि में वे तत्त्व नहीं आते, इसीलिए वे उपेक्षणीय नहीं होते। अतः जिन कर्मों के संस्कार से स्थूल देह उत्पन्न होता है उनके तारतम्य के अनुसार ही स्त्री, पुरुष आदि के देहगत भेद भी उत्पन्न होते हैं।

जिज्ञासु—अतएव अधिकार का निर्णय करने के लिए केवल वर्त्तमान जन्म पर ही ध्यान रखना यथेष्ट नहीं है। परन्तु जगत् में ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो जन्मान्तर-रहस्य को प्रत्यक्ष कर प्रत्येक व्यक्ति के कर्म एवं पूर्वप्रज्ञा को साक्षात्‌रूप में प्राप्त कर सकते हैं?

वक्ता—तुम्हारा कहना ठीक है। इन्द्रियातीत विषयों के देखनेवाले योगी महापुरुष सभी युगों में दुर्लभ होते हैं। वर्त्तमान समय में भी इस प्रकार के पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कालधर्म के कारण यह दुर्लभता क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। किन्तु दुर्लभ होने पर भी इस घोर दुर्दिन में भी ऐसे पुरुषों का एकान्त अभाव नहीं है। जिज्ञासु एवं तत्त्वान्वेषी पुरुष के लिए भगवत्कृपा से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है; पर यहाँ इस सम्बन्ध में बात नहीं हो रही है। इन्द्रियातीत विषयों के द्रष्टा, प्रकृति पर विजय प्राप्त करनेवाले दिव्यज्ञान-सम्पन्न महापुरुष शास्त्र के रूप में जो उपदेश दे गये हैं, उनके पीछे उत्पन्न होनेवाले श्रद्धालु पुरुषों के लिए उनका प्रतिपालन करने से ही श्रेयोमार्ग की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ मेरा केवल यही वक्तव्य है कि जिस धर्मशास्त्र में धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में सूक्ष्मतया अधिकार और योग्यता का विचार नहीं किया गया, व्यावहारिक रूप में वह धर्म श्रेष्ठ नहीं कहला सकता।

जिज्ञासु—कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य की क्रमिक उन्नति को समझने के लिए एक ओर जहाँ वंशगत संस्कार को मानना आवश्यक है वहाँ ही दूसरी ओर पारिपार्श्विक अवस्थाओं के प्रभाव को भी बिना माने काम नहीं चलता। वैज्ञानिक लोग Laws of Heredity तथा Environment के नाम से इसकी व्याख्या किया करते हैं। यदि यह सत्य है तो वर्त्तमान जन्म की शक्तिगत तथा संस्कारगत विशेषताओं को सिद्ध करने के लिए जन्मान्तर स्वीकार करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। अतएव आप जो अधिकार-भेद के प्रसंग में जन्मान्तरवाद को खींच लाते हैं, वह नितान्त अप्रासंगिक जान पड़ता है।

वक्ता—यह कभी अप्रासंगिक नहीं है। पूर्वजन्म के न मानने से वर्त्तमान जन्म की विषमता तो सिद्ध होती ही नहीं—कर्मप्रवाह के आपेक्षिक मूलसूत्र का भी पता नहीं चल सकता। कर्म और जन्मान्तर-तत्त्व की आलोचना करते समय इस विषय को विस्तृत रूप से समझने की चेष्टा करेंगे। परन्तु तुम्हें अभी इतना याद रखना चाहिए कि व्यक्तिगत प्राक्तन कर्म के बिना केवल वंशगत संस्कार अथवा शिक्षा-संसर्ग प्रभृति पारिपार्श्विक अवस्था (परिस्थिति) के द्वारा किसी के चरित्र में विशेषता नहीं आ सकती। तुम्हें शेक्सपियर के विषय में ज्ञात है, जिस अलौकिक प्रतिभा एवं प्रज्ञा ने उसको संसार में इतने सुदीर्घ काल तक अतुलनीय बना रखा है, वह क्या उसके अल्पशिक्षित एवं ग्राम्य-भाव से युक्त पुरुखों की बुद्धि-सम्पत्ति के द्वारा अथवा उसकी व्यक्तिगत क्षुद्र शिक्षा और संसर्ग के द्वारा कभी सम्भव मानी जा सकती है? अधिकार का विचार करते समय प्राक्तन कर्मों का अनुसन्धान नितान्त ही आवश्यक है। आगे चलकर जब कर्म-विज्ञान की आलोचना की जायगी तब तुम समझ सकोगे कि सैकड़ों प्रदेशों में सैकड़ों नये-नये शरीरों के द्वारा मनुष्य-जीवन के प्रकट होने पर भी वे समस्त असंख्य विभक्त जीवन एक अखण्ड मानव-जीवन के ही आंशिक प्रकाश-मात्र हैं। सृष्टि के आदि से लेकर मुक्ति-पर्यन्त प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होता रहता है। कर्म के अनुसार विभिन्न युगों में, विभिन्न देशों में एवं

विभिन्न प्रकार की योनियों में मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इन समस्त विभिन्नताओं के अन्दर एक निर्दिष्ट जीवन की धारा जड़भाव एवं मोह से आच्छन्न अस्पष्ट अचेतन-राज्य से क्रमशः उन्नति करती हुई पूर्णता की ओर अग्रसर होती रहती है। जिस प्रकार 'यह जगत् आज कहाँ और किस रूप में है', इसे ठीक-ठीक जानने के लिए, 'वह कल कहाँ और किस रूप में था', यह जानना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को वर्त्तमान जन्म में प्राप्त शरीर, योग्यता, संस्कारादि का कारण जानने के लिए उसकी पूर्वावस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। एक साधारण-सा कार्य भी असंख्य परस्परसंश्लिष्ट विभिन्न जटिल शक्तिपुंज के घात-प्रतिघात के विना सम्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह सत्य है तो इसे अवश्य ही मानना पड़ेगा कि मनुष्य का जन्म भी विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों की परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा संघटित होता है। केवल रजोवीर्य के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिस शक्ति के द्वारा यह संयोग नियन्त्रित होता है, जिस सत्ता के प्रभाव से संयुक्त रजोवीर्य संजीवित होकर प्राणमय रूप धारण करते हैं, जो संस्कार इस जीवभावापन्न विन्दु में अपने को प्रकाशित करते हैं, उन सब कारणों के उपस्थित हुए विना किसी भी देह की उत्पत्ति एवं विकास सम्भव नहीं है।

जीवन-पथ में चलते-चलते मनुष्य जो-जो कर्म करता है तथा जिन-जिन विचित्र सुख-दुःखों का सम्भोग करता है, उसी के सारांश से नित्य जीवन पुष्टि-लाभ करता है, अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखने से यह वात समझ में आ सकती है। सभी मनुष्यों में यह पुष्टता समान नहीं होती। कोई सुदीर्घ काल तक कर्म करते-करते थककर तथा नाना प्रकार की तीव्र यन्त्रणाओं के भोगने पर कहीं वैराग्य अथवा निर्वेद को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जिसका जीवन अव भी अतृप्त वासना से परिपूर्ण है, उसका चित्त स्वभावतः ही विषयप्रवण तथा भोगलोलुप रहता है। मनुष्य के प्रकृति-भेद का यही कारण है। इससे समझा जा सकता है कि अल्प वयस् में वैराग्य का होना तथा वृद्धावस्था में भी भोग-लोलुपता का रहना—दोनों एक ही प्राकृतिक शृंखला के अन्तर्गत हैं। देह, मन, प्राण, बुद्धि प्रभृति प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति की विभिन्नता का यही एकमात्र कारण है। अतएव केवल वर्त्तमान जन्म से ही अधिकार-भेद ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, इस वात को मानना ही होगा। जिस धर्म में यह प्राकृतिक अधिकार-वैचित्र्य नहीं माना गया है, वह स्वाभाविक धर्म के अनुकूल नहीं हो सकता।

जिज्ञासु—क्या जन्मान्तरमूलक अधिकार का विचार ही व्यावहारिक रूप से सनातन-धर्म के निर्णय का एकमात्र निदर्शन है?

वक्ता—नहीं, और भी अनेक प्रकार के निदर्शन हैं। उनमें से कुछ की आलोचना करके समझने की चेष्टा करेंगे। परन्तु इस अधिकार-तत्त्व के समझ लेने पर सनातन-धर्म के कुछ अंग अपेक्षाकृत स्पष्टभाव से समझे जा सकते हैं। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** कालिदास का यह कथन तुमने अवश्य सुना होगा। परन्तु इसका गूढ़ रहस्य कदाचित् तुमने अवतक नहीं समझा है। तुम इससे क्या समझते हो?

जिज्ञासु—मैं समझता हूँ कि शरीर के स्वस्थ न रहने से किसी प्रकार का धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रकार का धर्मानुष्ठान करने के लिए सबसे पहले शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना उचित है। शरीर ठीक न रहने पर वह धर्म-साधन में सहायक नहीं हो सकता और इसलिए धर्म की अन्यान्य साधन-सम्पत्ति भी फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। कालिदास के इस वाक्य का यह साधारण अर्थ ही मेरी समझ में आता है, यदि इसके अतिरिक्त भी कोई तात्पर्य हो तो उसको मैं नहीं जानता।

वक्ता—तुमने जो कुछ कहा है, वह किसी अंश में ठीक है। तथापि वास्तविक सत्य का स्वरूप इसकी अपेक्षा और भी गम्भीर है। धर्म-साधन के साथ शरीर का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में मैंने जो कुछ समझा है उसी से दो-एक बातें संक्षेप में तुमसे कहता हूँ, इन्हें समझ लेने पर सनातन-धर्म के कुछ अंगों को तुम सहज ही समझ सकोगे। याद रखो कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन प्रकार के शरीर मनुष्य-मात्र के हैं। परन्तु वर्त्तमान स्थल में 'शरीर' शब्द से हमारा अभिप्राय स्थूल शरीर से ही होगा। तुम जानते हो कि उद्भिज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज—इन चार प्रकार की योनियों के अन्तर्गत चौरासी लाख योनियों में मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ है। इसके अनेक कारण हैं, जिनका विस्तृत विवरण करना अभी सम्भव नहीं है। भगवान् शंकराचार्य 'विवेक-चूडामणि' में जिन तीन वस्तुओं को अत्यन्त दुर्लभ बतलाते हैं उनमें से मनुष्य-देह प्रधान है। बौद्ध-धर्म में भी यही बात मानी गई है। संसार के धर्मों के अन्तस्तत्त्व के ज्ञाता आचार्यों ने इसकी यथार्थता स्वीकार की है। अतएव इस मनुष्य-देह का, धर्म-जीवन का उपयोगी बनाकर, व्यवहार करना ही युक्तिसंगत है। शरीर के साथ अन्तःकरण एवं व्यावहारिक आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए चित्त-शुद्धि एवं आत्मकल्याण चाहनेवालों के लिए शरीर के तत्त्व और व्यवहार का जानना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर बिन्दु से उत्पन्न होता है, इसलिए बिन्दु की आपेक्षिक शुद्धि के बल और स्थिति के अनुसार शरीर में भेद होना अवश्यम्भावी है। जो बिन्दु नाभिचक्र को भेदकर, शुद्ध और ज्योतिर्मय रूप धारण कर, सहस्रदल-पद्म की कर्णिका पर विष्णुपद में स्थित हो चुका है, संकल्प के द्वारा उसे नीचे उतारने पर उसके द्वारा जिस शरीर की उत्पत्ति होती है, उसमें और नाभि के निम्नस्थ बिन्दु के सञ्चार से उत्पन्न शरीर-संगठन में अवश्य ही विभिन्नता होगी, इसमें सन्देह नहीं। स्वाभाविक वर्णभेद के रहस्य की आलोचना करने पर यह बात समझ में आ सकेगी। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी मनुष्य शरीरधर्म-साधन के लिए उपयोगी होने पर भी एक प्रकार के नहीं हैं। शरीर प्रारब्ध-कर्म से उत्पन्न होता है, अतः प्रारब्ध-कर्म के तारतम्य के अनुसार स्वभावतः शरीर का भी तारतम्य संघटित होता है। यह शारीरिक विभिन्नता संस्थानगत एवं गर्भ-सञ्चार के बाद से ही आविर्भूत होती है। इसकी उपेक्षा करने पर धर्म का अनुशासन सम्भव नहीं होता। इस प्राकृतिक भेद के ऊपर ही विभिन्न आचारों की प्रतिष्ठा हुई है। जिन लोगों को सूक्ष्म तत्त्वों का पता नहीं है, वे भी जानते हैं

कि शारीरिक अवस्था तथा स्थूल जगत् की विशिष्टता के अनुसार आचारों का प्रवर्त्तन हुआ है। अतएव स्थूल शरीरधारी के लिए आचार का प्रतिपालन भी गौणरूप से धर्म-साधन का ही अंग है।

जिज्ञासु—क्या यही सदाचार है ? सदाचार का लक्षण क्या है ?

वक्ता—सत् अर्थात् साधुजन के द्वारा प्रतिपालित आचार को सदाचार कहते हैं और साधु-आचार को भी सदाचार कहा जा सकता है। दूसरों का साधु-आचरण धर्म-निर्णय का उपाय-स्वरूप होता है। परन्तु अपना साधु-आचरण साधन का एक आवश्यक अंगविशेष है। यद्यपि आचार शरीर की अपेक्षा रखता है तथा धर्म का वहिरंग-स्वरूप है, तथापि साधक को इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आचार की विशुद्धता से शारीरिक पवित्रता, दीर्घ आयु, आरोग्य तथा चित्त की स्थिरता आदि में सहायता मिलती है। जो लोग उच्च तत्त्वों का विचार करते हैं, परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में उनका आचरण नहीं करते, वे कभी सत्य धर्म का पता नहीं पा सकते।

जिज्ञासु—वहुतों का ऐसा विचार है कि धर्म-साधना हृदय का एक व्यापार-विशेष है, उसके साथ वाह्य आचार के अनुष्ठान का सम्वन्ध किसी प्रकार नहीं हो सकता। यदि मनुष्य शुद्धचित्त हो तो उसका आचरण चाहे जिस प्रकार का हो, उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। दूसरी ओर, यदि कोई आचारवान् होने पर भी भाव शुद्ध रखने में समर्थ नहीं है तो उसकी कोई भी प्रशंसा नहीं कर सकता। सुनते हैं, शास्त्र में भी **'भावग्राही जनार्दनः'** कहा गया है। इसलिए वाहरी आचरणों का विचार न कर जिससे भावशुद्धि हो वही मनुष्य को करना चाहिए। आप इस विषय में क्या निर्णय करते हैं, यह जानने की इच्छा है।

वक्ता—वत्स ! तुम जो कहते हो वह एक प्रकार से ठीक है, तथापि इसका अनुशासन ठीक नहीं। शरीरशुद्धि चित्तशुद्धि का द्वार-स्वरूप है। शरीर के शुद्ध न होने से चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, यह वात मेरी समझ में नहीं आती। चित्त और शरीर के परस्पर पृथक् होने पर भी सांसारिक जीवन में ये दोनों इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि शरीर के विना चित्त का कोई स्थायी संस्कार सम्भव नहीं है। इसी कारण तान्त्रिक साधना में चित्तशुद्धि के साथ-साथ भूतशुद्धि का भी विधान है। पञ्चभूतों के शुद्ध हुए विना चित्त निर्मल हो ही नहीं सकता। मलिन चित्त में आत्मज्ञान का विकास ही किस प्रकार सम्भव होगा ? जिस धर्म में शरीर के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेद का अनुसरण कर भिन्न-भिन्न आचारों की व्यवस्था निश्चित हुई है वही प्रकृत सनातनधर्म का व्यावहारिक रूप है। तुम जो कहते हो कि शुद्धचित्त व्यक्ति आचार-हीन होने पर भी माननीय है एवं कलुषित प्रकृतियुक्त व्यक्ति आचारवान् होते हुए भी निन्दनीय है, यह अवश्य ही सत्य है। ऐसा क्यों होता है, यह विशेष रूप से विचारणीय है। यदि गर्भाधान से ही समस्त संस्कार ठीक-ठीक सम्पादित हों तो उससे कुछ अंश में यह असामञ्जस्य-दोष निवारित हो सकता है। पूर्वकाल में व्यवस्था भी इसी प्रकार की थी। परन्तु चित्त और शरीर—इन दोनों में चित्त का आपेक्षिक प्राधान्य स्वीकार कर देने पर भी शारीरिक संस्कार की आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती। प्रारब्ध-कर्म के तारतम्य के कारण स्थूल शरीर की

पृथकथता हुआ करती है। अतएव प्राकृतिक नियमों के अनुसार कर्म के अपकर्ष के कारण वर्तमान जन्म में हीन शरीर की प्राप्ति होती है, यह बात सहज में ही समझी जा सकती है। परन्तु शरीर के हीन होने पर भी चित्त की प्रकृति उच्चावस्था की हो सकती है। ऐसी अवस्था में शारीरिक धर्म का आचरण तथा शारीरिक उपादान निकृष्ट होने पर भी चित्त में उत्कृष्ट भाव का उदय होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। दूसरी ओर, विशिष्ट कर्मों के फलस्वरूप उत्कृष्ट शरीर प्राप्त करके सदाचारी होने पर भी चित्त की आपेक्षिक मलिनता के कारण चित्त की निकृष्टता अक्षुण्ण बनी रह जाती है। यहाँ यद्यपि एक प्रकार से चित्त की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है, तथापि दैहिक आचार की सार्थकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने से काम नहीं चलता। प्रत्येक यन्त्र का ही एक निर्दिष्ट कार्य होता है। उसे न करने से अथवा किसी कारणवश इसके स्थगित हो जाने से यन्त्र की सार्थकता जाती रहती है। मान लो, नेत्र एक यन्त्र है और दर्शन करना इसका कार्य है। दर्शन करने के लिए ही इस यन्त्र का उद्भव हुआ है। 'रूपरागाद्भवेच्चक्षुः' यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। अतएव निर्माण के पश्चात् रूप-दर्शन ही इसका स्वाभाविक कार्य माना जा सकता है। यह कार्य कर सकने पर ही नेत्र-यन्त्र की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। किन्तु यदि किसी कारण से यह यन्त्र दर्शन-कार्य सम्पादन करने में समर्थ न हो तो इससे दीर्घ काल के पश्चात् इसकी केवल दर्शन-शक्ति ही नहीं नष्ट होगी, बल्कि यह यन्त्र क्रमशः विकृत होते-होते अन्त में लुप्त हो जायगा। घोर अन्धकारमय गुफा के भीतर दीर्घकाल से रहते-रहते एक जाति की मछलियाँ अन्धी होकर क्रमशः नेत्रहीन हो गई थीं, यह बात प्राणितत्त्ववेत्ता पण्डितों को अज्ञात नहीं है। इससे समझ सकते हो कि प्रत्येक जाति के शरीर का एक स्वाभाविक स्पन्दन होता है, यही उसका छन्द है। इसकी रक्षा न कर सकने से वह अकर्मण्य होकर क्रमशः विकृत हो जाता है, तथा अधोगति को प्राप्त होता है। इसी कारण धर्म-साधन के लिए देह का विचार करना इतना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि देह भी कार्य सिद्ध करनेवाला एक यन्त्र-विशेष है। इससे ठीक-ठीक कार्य न करा सकने से प्राकृतिक नियमों के अनुसार इसका अपकर्ष अनिवार्य है। इसी कारण शरीर को धर्म-साधन का प्रथम अङ्ग कहा गया है। ऐसा न समझो कि देह की उपेक्षा करके अथवा उसे पीछे छोड़कर तुम धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ सकोगे। शारीरिक तत्त्व को शुद्ध कर चित्त के साथ-साथ यदि उसे नहीं उठाया जायगा तो चित्त उच्च पद को पहुँचकर भी माध्याकर्षण के प्रभाव से कभी-न-कभी भूमिसात् हो ही पड़ेगा। इसमें बहुतेरे गम्भीर रहस्य भरे-पड़े हैं। जो लोग अल्पदर्शी हैं वही स्थूल रूप से मोहित होकर इसके रहस्य को समझने में समर्थ नहीं होते। प्राचीन काल में ऋषियों ने देहतत्त्व की आलोचना अत्यन्त सूक्ष्मभाव से की थी। इसी से उन्होंने गर्भाधान से लेकर उपनयन-संस्कार तक विभिन्न संस्कार-क्रियाओं की व्यवस्था करके बीजगत और गर्भगत दोषों को हटाते हुए शरीर के शुद्ध करने की प्रक्रिया का प्रचार किया था।[1]

१. यह लेख पत्रिका में यहीं तक प्रकाशित है।

श्रीगुरु-चरणों के प्रथम दर्शन

[१]

बहुत दिनों की बात है। मैं तब अध्ययन-जीवन का परिशिष्ट भाग व्यतीत कर सेवा-जीवन में प्रवेश कर चुका था। उसके भी लगभग साढ़े तीन वर्ष बीत चुके थे। तब विद्या-अर्जन और विद्या-वितरण ही बहिर्जीवन का प्रधान लक्ष्य था। परिगृहीत सेवा-जीवन भी उस लक्ष्याभिमुखी गति के अनुकूल ही था। साक्षात् रूप से जिनके अधीन मैं सेवा-जीवन में नियुक्त हुआ था वे भारतीय न होने पर भी भारतीय संस्कृति की तत्कालीन विद्वन्मण्डली में अप्रतिम पथप्रदर्शक थे एवं व्यक्तिगत जीवन में मेरे गुरुस्थानीय थे (अध्यापक और संरक्षक की दृष्टि से)। अध्यात्म-पथ पर, अन्तर-जीवन के पथ पर, ऐसे एक महापुरुष मुझे आदर्श-रूप में प्राप्त हुए थे, जो परा और अपरा दोनों विद्याओं में एवं प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा में सब विभागों में समान रूप से शिक्षित थे। इस प्रकार के वातावरण में नाना प्रकार के ज्ञान की आलोचना के मध्य मेरे कर्म-जीवन की धारा बही जा रही थी।

एक दिन एक युवक ब्रह्मचारी ने, जो मेरे एक घनिष्ठ बन्धु के अति परिचित मित्र थे, एकाएक बातचीत के सिलसिले में मुझसे कहा, "यहाँ कुछ दिनों से एक महात्मा आये हुए हैं, वे इच्छा करते ही अंगुलि के स्पर्श से नाना प्रकार की गन्ध की सृष्टि कर सकते हैं। उनके शरीर से भी निरन्तर दिव्य सुगन्ध निकलती है। सुना है, वे बहुत समय तक तिब्बत में रहे एवं वहीं से उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। मैं उनके दर्शन करने एकाधिक बार गया था; मुझे बहुत अच्छे लगे हैं। आप एक दिन जायँ।" मैंने इच्छा प्रकट की। मेरे बन्धु समीप में ही थे। उन्होंने ब्रह्मचारी के कथन का समर्थन कर कहा कि बात यथार्थ है, मैंने बहुतों के मुँह से यह बात सुनी है। मैं तिब्बत का नाम सुनकर महात्मा के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित हुआ। अलौकिक रूप से गन्ध-सृष्टि करना मैं अन्यत्र एक बार देख चुका था। एक मुसलमान फकीर को इस काशी में ही कुछ दिन पहले ड्रेन की दुर्गन्धमय काली मिट्टी को हाथ की मुट्ठी में लेकर स्थायी सुगन्धयुक्त करते मैंने देखा था। यह कोई सम्मोहन का काम नहीं है, यह भी मुझे ज्ञात हुआ था। क्योंकि, उन्होंने जो काली मिट्टी मेरे दाहिने हाथ में लगा दी थी, उसकी सुगन्ध कई दिनों तक हाथ में विद्यमान रही थी एवं खूब तीव्र थी। निकटवर्त्ती सभी लोग उसका अनुभव करते थे। मैंने ब्रह्मचारी से पूछा, "वे कहाँ हैं?" ब्रह्मचारी ने कहा, "वे हनुमानघाट[1] के निकट एक मकान में हैं। यदि आपको दर्शन करने की इच्छा हो तो मैं आपको अपने साथ ले जा सकता हूँ।" कल अपराह्न

---

१. काशी-स्थित, गङ्गा के एक घाट का नाम।

ब्रह्मचारी आकर मुझे ले जायेंगे, यह निश्चय हुआ। तब जाड़े के दिन थे—सम्भवतः नवम्बर महीने का अन्तिम भाग रहा हो अथवा दिसम्बर मास का आरम्भ रहा हो (१९१७ ई०)। इसलिए कुछ दिन रहते ही जाने की व्यवस्था करने के लिए मैंने कहा।

वही हुआ। दूसरे दिन चार बजने के पहले ही ब्रह्मचारीजी आये। उनके साथ मैं रवाना हुआ। यह मेरे जीवन का एक अति स्मरणीय दिन था। हनुमानघाट के निकट बाबाजी के आश्रम में जब पहुँचा तब मालूम हुआ कि चार बज चुके हैं। ब्रह्मचारीजी ने कहा, "मैं आपको पहुँचाकर वहाँ अधिक देर रह नहीं सकूँगा, कुछ ही देर रहूँगा। मेरा एक काम है, इसलिए मुझे शीघ्र ही लौटना पड़ेगा। आप जितनी देर तक चाहें, रह सकते हैं।" आश्रम एक छोटा-सा तिमंजला मिकान था। पहली मंजिल और दूसरी मंजिल में कई रहने के कमरे थे। तीसरी मंजिल में छत थी और छोटे-छोटे दो कमरे थे। इन दो कमरों में से एक में बाबाजी शयन और सन्ध्यादि आह्निक कृत्य करते थे एवं निकटस्थ दूसरे कमरे में उनका भोजन तैयार होता था। बीच में खुली छत थी। उस शयन-गृह के प्रायः समानान्तर दोतल्ले में एक कमरा था—वह अन्यान्य कमरों की अपेक्षा कुछ बड़ा था। वहाँ आह्निक के बाद और दोपहर के भोजन के उपरान्त बाबाजी बैठते थे। यह कमरा सत्संग का स्थान था। जो लोग उनके दर्शन करने के लिए आते थे, इसी कमरे में बैठते थे एवं वहीं दर्शन और बातचीत होती थी।

आश्रम में पहुँचते ही मुझे एक अपूर्व सुगन्ध का अनुभव हुआ। यह अनुपम दिव्य गन्ध कहाँ से आ रही है, यह पहले मैं समझ न सका। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि यह बाबाजी के शरीर की गन्ध है। मैंने दूसरी मंजिल के सभागृह में प्रवेश किया। कमरा उत्तर-दक्षिण लम्बा था। उत्तर की ओर एक चौकी पर मोटा गलीचा बिछा हुआ देखा, उसके ऊपर विशाल व्याघ्रचर्म का आस्तरण था; उसपर सौम्य-मूर्त्ति सुदर्शन जोगिया रंग का रेशमी वस्त्र पहने एक महापुरुष बैठे थे। ये ही वे महायोगी थे, जिनके चरणों के दर्शनों की लालसा से मैं उपस्थित हुआ था। उनकी अवस्था तब साठ से ऊपर होने पर भी उनको देखने से ५५-५६ वर्ष की प्रतीत होती थी। मुँह पर प्रज्ञा और करुणा की अभिव्यञ्जनाकर सफेद काली दाढ़ी, कानों तक फैले दो विशाल नेत्र, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ, लम्बोदर, कण्ठ में लम्बायमान शुभ्र यज्ञोपवीत और निरन्तर चारों ओर दिव्य गन्ध फैला रही सुडौल देह थी। दर्शन करते ही अपने-आप उन पावन चरणों में मेरा मस्तक नत हो पड़ा। सारा कमरा विभिन्न जाति के भक्तों से ठसाठस भरा था। भक्त लोगों में पुराने वयस्क लोगों के साथ युवकों की संख्या भी कम नहीं थी। युवकों में अधिकांश कॉलेज के—नूतन स्थापित हिन्दू-विश्वविद्यालय के—छात्र थे।

बाबाजी का दर्शन करते ही न मालूम क्यों, वे मुझे अतिपरिचित आत्मीय ऐसे प्रतीत हुए थे। भारतीय सिद्ध पुरुष और दार्शनिकों की मण्डली में अग्रगण्य महामहेश्वर अभिनवगुप्तपाद की श्मश्रु-विभूषित शान्त मूर्त्ति की स्मृति—जिस मूर्त्ति

का उनके शिष्यों ने वर्णन किया है[१]—बाबाजी के दर्शन करते ही मेरे मन में जाग उठी थी। मैं कमरे में प्रवेश करते ही बाबा को प्रणाम कर उनकी चौकी के सामने बाईं ओर बैठ गया। ब्रह्मचारीजी कुछ दूर में थोड़ा स्थान बनाकर बैठ पड़े। बाबा ने मेरा नाम पूछा एवं कहाँ रहते हो? क्या करते हो—यह जिज्ञासा की। मैंने उत्तर दिया। मैं नवागत था, बैठे-बैठे सब देखने लगा। उस समय बाबा सूर्यविज्ञान का कुछ खेल दिखा रहे थे। तब सूर्यविज्ञान[२] क्या है—यह मैं जानता न था। पहले उसके विषय में सुना भी नहीं था। बाद में सुना, उससे सृष्टि, स्थिति और संहार सब कुछ हो सकता है। वे तिब्बत के अन्तर्गत ज्ञानगञ्ज नामक गुप्त योगाश्रम में योग-साधना के लिए बहुत दिन रहे थे। तब वहाँ उन्हें नाना प्रकार की विज्ञान-शिक्षा भी प्राप्त हुई थी। उन सब विज्ञानों में सूर्यविज्ञान मुख्य था। मैंने देखा, बाबा कमरे के भीतर प्रार्थियों के इच्छानुसार किसी के हाथ में, किसी के रूमाल में, किसी की चादर के छोर पर नाना प्रकार की सुन्दर-सुन्दर गन्ध केवल दाहिने हाथ की अंगुली के स्पर्श द्वारा दे रहे थे। वे सब गन्ध केवल आकर्षक थीं सो बात नहीं, वे सब दीर्घकाल तक रहती थीं। कभी-कभी तो कपड़ा धोने पर भी गन्ध नहीं हटती थी। जो-जो माँग रहा था उसे वही दे रहे थे—चन्दन, गुलाब, हेना, खसखस, चम्पक, बेला, जुही आदि नाना गन्ध दे रहे थे। किसी-किसी के साथ योग और आध्यात्मिक प्रसंग में भी बातें चल रही थीं, पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। कभी किसी के ज्ञानगञ्ज के आश्रम के सम्बन्ध में कुछ जानने की उत्कण्ठा प्रकट करने पर उस विषय में भी समुचित उत्तर प्रदान कर रहे थे। बहुत व्यापार देखे, बहुत प्रकार की बातें सुनीं। ब्रह्मचारी कुछ देर रहकर चले गये—क्रमशः एक के बाद एक अन्यान्य सब लोग भी एक-एक करके जाने लगे। क्योंकि तब सन्ध्या बढ़ रही थी। सभा भङ्ग कर बाबा के भी उठने का समय हुआ था। वे तीसरी मंजिल पर सन्ध्या के कमरे में आह्निक करते थे। कभी किसी कारण से भी समय का लंघन नहीं करते थे। सब लोगों के चले जाने पर मैंने भी प्रणाम किया। प्रणाम करते ही उठने पर बाबा ने पूछा, "हार्ट की अवस्था अब अच्छी है ना? अब कोई कष्ट तो नहीं होता?" "हाँ बाबा, इस समय अच्छा ही हूँ।" उन्होंने कहा, "चिन्ता की कोई बात नहीं है। दीक्षा होने

१. इस वर्णन में एक श्लोक यों है—

आनन्दान्दोलिताक्षः स्फुटकृततिलको भस्मना भालमध्ये
रुद्राक्षोल्लासिकर्णः कलितकचभरो मालया लम्बकूर्चः।
रक्ताङ्गे यक्ष-पङ्कोल्लसदसितगलो लम्बमुक्तोपवीतः
क्षौमं वासो वसानः शशिकरधवलं वीरयोगासनस्थः॥

आश्चर्य की बात है कि इसके सात वर्ष बाद अभिनवगुप्त की साक्षात् शिष्य-परम्परा में परिगणित साधकश्रेष्ठ काश्मीर के सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० बालकृष्ण कौल को उन्हीं के अनुरोध से श्रीगुरुदेव के निकट ले जाकर उनसे परिचय करा देने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। बालकृष्णजी काशीस्थ तात्कालिक हिन्दू कॉलेज के अन्यतम प्रतिष्ठापक थे। बालकृष्णजी ने स्वयं भी अभिनवगुप्त की तरह लम्बी दाढ़ी धारण कर रखी थी।

२. सूर्यविज्ञान के विषय में द्रष्टव्य "भारतीय संस्कृति और साधना", भाग १, पृष्ठ ४२६ से ४३८ तक।

पर एकदम अच्छा हो जायगा। आज के लिए जा रहा हूँ। कल आओगे तो ?" यह कहकर वह उठ पड़े—मैं भी बाहर आ गया।

अकेले ही लौटा। क्योंकि ब्रह्मचारीजी पहले ही चले गये थे। मन में नाना प्रकार की भावनाओं की तरंगें खेलने लगीं। मैंने सोचा कि मैं हार्ट की बीमारी से पीड़ित रहा, यह उन्होंने कैसे जाना ? यह सन् १९११ ई० की बात है—लगभग छह वर्ष पहले की घटना। फिर बहुत-से लोग उसे जानते भी नहीं। उसके अतिरिक्त उन्होंने ये बातें ऐसे कहीं, मानों कितने आत्मीय जन हैं। मानों कितने काल के परिचित हों। मुझे भी उनको देखते ही वे आत्मीय प्रतीत हुए। यह सोचते-सोचते मैं घर लौटा। घर आकर भी वे ही विचार मन पर अधिकार कर बैठे थे।

मन में सोचता था कि इस प्रकार सुगन्धि का निकलना और कहीं भी तो आज तक मैंने देखा नहीं। सुगन्धि पैदा करना अवश्य दूसरी बात है। सुना है कि बुद्धदेव का शरीर गन्धमय था। वे जिस कुटी में रहते थे, वह गन्धकुटी के नाम से प्रसिद्ध थी। गन्धकुटी नाम के हेतु के सम्बन्ध में नाना लोग नाना प्रकार के अनुमान लगाते हैं। नाना प्रकार की सुगन्धित पुष्पराशि से, जो उनके चरणों में नियमतः चढ़ाई जाती थी, शायद कमरा सुगन्धित रहता था, यह भी किन्हीं-किन्हीं का अनुमान है। किन्तु देह की गन्ध से कमरा सुगन्धित रहता है, ऐसा किसी ने सोचा नहीं; क्योंकि ऐसा अनुभव सर्वदा होता नहीं। श्रीकृष्ण की अङ्ग-गन्ध की बात मैंने चैतन्य-चरितामृत में पढ़ी है—

"निरन्तर नासाय पशे कृष्ण परिमल
गन्ध आस्वादिते प्रभु हइला पागल॥"
(श्रीचैतन्यचरितामृत, अन्त्यलीला, १९ परिच्छेद)

गोविन्दलीलामृत में श्रीकृष्ण की अङ्गगन्ध के वर्णन के प्रसङ्ग में लिखा है—

"कुरङ्गमदजिद्वपुः परिमलोर्मिकृष्टाङ्गनः
स्वकाङ्गनलिनाष्टके[1] शशियुताब्ज[2] गन्धप्रथः।
मदेन्दुवरचन्दनागुरुसुगन्धिचर्चाचितः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम्॥" (८।६)

भक्तगणों को श्रीकृष्णाङ्ग से निकली हुई जिस पुण्य गन्ध का अनुभव प्राप्त होता था वह मृगमद या कस्तूरी, कपूर, नीलोत्पल, चन्दन, अगुरु, तुलसीमञ्जरी आदि सुगन्धि-द्रव्यों की सम्मिलित गन्ध के तुल्य थी। श्रीराधा की देह से नियमतः पद्म-गन्ध निकलती थी—वे 'पद्मिनी' थीं। योगी लोग कहते हैं, योग की चार अवस्थाओं में से प्रारम्भ की अवस्था में ही देह की शुद्धि के साथ-साथ देह में दिव्य-गन्ध का उदय होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी योगी की 'शुभगन्ध' की बात पाई जाती है। गोविन्ददास के विवरण से ज्ञात होता है कि महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव की

---

१. देह के अङ्ग—चक्षु २, मुख १, नाभि १, कर २ और पद २=८।
२. शशी = कपूर।

देह से विशेष-विशेष समय में पद्मगन्ध निकलती थी। ललितासहस्रनाम स्तोत्र में भगवती त्रिपुरसुन्दरी 'दिव्यगन्धाढ्या' कही गई हैं। विन्दुजय अथवा ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा सिद्ध होने पर देह में सुन्दर गन्ध का आविर्भाव होता है।[1] इस प्रकार विविध प्रकार का आलोडन मन में चल रहा था—धारणा हो रही थी कि ये दिव्य पुरुष, योगिराज, करुणामय हैं, इसमें सन्देह नहीं।

दूसरे दिन फिर वावा के दर्शन करने के लिए मैंने हनुमानघाट की ओर यात्रा की। उस दिन एक घण्टा पहले ही अर्थात् तीन वजे रवाना हुआ, जाकर देखा—वावा आसन पर वैठे हैं। कमरे में दो-चार ही भक्त थे। मेरे लिए तत्त्वालोचन की सुविधा हुई।

मैं प्रणाम कर पूर्व दिन की जगह वैठ गया। वावा ने पूछा, "कहो, कैसे हो?" मैंने कहा, "अच्छा हूँ, वावा!" मैंने और भी कहा,—"वावा, आप जो कुछ अर्थात् गन्धादि वस्तु दिखाते हैं वह क्या योग का कार्य है, अथवा और कुछ?"

वावा—नहीं, यह ठीक योग नहीं है—यह विज्ञान का व्यापार है। सूर्यविज्ञान के द्वारा सव दिखाता हूँ। सूर्यविज्ञान से अर्थात् सूर्यरश्मि पहिचान सकने पर और उन सव रश्मियों को यथाविधि मिश्रित कर सकने पर सव कुछ तैयार किया जा सकता है—नष्ट भी किया जा सकता है, गढ़ा भी जा सकता है, यदि प्रयोजन हो तो रखा भी जा सकता है। सूर्य को जो तुमलोग सविता कहते हो, उसका मूल यही है।

मैं—रश्मियाँ तो चन्द्रमा की भी हैं। क्या उनसे नहीं होता?

वावा—होता है, पर कम होता है। सूर्य ही मूल है। अवश्य चन्द्रविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, वायुविज्ञान आदि भी हैं।

ज्ञानगञ्ज में हमलोगों को ये सव विज्ञान सीखने पड़ते थे। वहाँ प्रकृति की चर्चा और योग की शिक्षा साथ-साथ चलती थी। विज्ञान-विभाग के उपदेष्टा श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस थे। वे असाधारण विज्ञानवेत्ता थे। योगशिक्षा श्रीमत् भृगुराम परमहंस देते थे। ये सभी श्रीगुरुदेव के शिष्य थे। मनुष्य के वयःक्रम से इनका वयःक्रम वहुत ऊपर था। सूर्यविज्ञान सीखने पर सव प्रकार के विज्ञानों का द्वार खुल जाता है—स्वयं भी अनेक सूक्ष्म विज्ञान आयत्त किये जा सकते हैं। मैंने भी सूर्यविज्ञान आयत्त कर वहुत-से अवान्तर विज्ञान अपने प्रयत्न से आयत्त किये हैं और अव भी कर रहा हूँ।

---

१. पाश्चात्त्य सन्तों में भी किसी-किसी की देह में दिव्य गन्ध का प्रकाश होता था। सुना जाता है कि सन्त टेरेसा (St. Teresa) की देह से दिव्य गन्ध निकलती थी—यहाँ तक कि मृत्यु के वाद भी निकलती रही। Mrs. St. Clair Stobert ने कहा है: "It was for instance attested by many that after her death, as well as during her life, strange fragrance emanated from her. This is a phenomenon which was not peculiar to Teresa, it is found in a certain stage of trance in many mediums. And is this not possibly the origin of the phrase "to die in the odour of sanctity?"

(Torch-bearers of spiritualism, p. 172)

मैं—बाबा, पश्चिमी देशों में विज्ञान की चर्चा खूब अधिक है। हमारे देश में योग और धर्म की चर्चा अधिक थी, यही सबका विश्वास है।

बाबा—प्रकृष्ट विज्ञान अभी तक भी जगत् में विशेष रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। कर्म और ज्ञान दोनों को आयत्त किये बिना विज्ञान में अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान रहने पर कर्म नहीं रहता और कर्म रहने पर ज्ञान भी नहीं रहता—एक साथ दोनों की सत्ता अत्यन्त दुर्लभ है। यह मानों बाघ और बकरी की मैत्री है। इसीलिए यथार्थ विज्ञान इतना कठिन है।

मैं—योग और विज्ञान क्या एक ही भूमि की विद्याएँ हैं ?

बाबा—दोनों में पार्थक्य है। योग-बल से भी सृष्टि होती है, विज्ञान-बल से भी सृष्टि होती है, किन्तु दोनों में अन्तर है। कौन बड़ा है और कौन छोटा है, यह नहीं कहा जा सकता। इच्छाशक्ति का पूर्ण विकास ही योग है। किन्तु ज्ञान के बिना उसका होना सम्भव नहीं। ज्ञान के बिना विज्ञान भी नहीं हो सकता। अज्ञानी के पास योग भी नहीं रहता, विज्ञान भी नहीं रहता। जगत् में जिस विज्ञान की उन्नति हो रही है उससे मूल का अज्ञान रह जा रहा है। यह अज्ञान जबतक न हटे तबतक क्रिया का सामर्थ्य सीमाबद्ध न रहे, वह नहीं हो सकता।

मैं—यह सब आलोचना पीछे होगी। सरसरी तौर पर मुझसे योग के सम्बन्ध में कुछ कहने की कृपा करें।

बाबा—तुम्हारे शास्त्र योग के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ?

मैं—इस सम्बन्ध में बहुत बातें हैं। पर मोटामोटी यही कहा जाता है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। वह निरोध ऐसा होना चाहिए कि तब द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित रहे और बुद्धि की तरङ्गों में अपने को खो न डाले, अर्थात् वृत्तिसारूप्य से मुक्त हो। यह चित्त की वृत्तिहीन अवस्था है, किन्तु जड़त्व नहीं है। क्योंकि साक्षी जागरूक रहता है। ऐसा यदि न रहे तो वह योग की अन्तराय होगी। इसीलिए शास्त्र के मतानुसार विदेह और प्रकृतिलीन गणों की चित्तवृत्ति न रहने पर भी उन्हें योगी नहीं कहा जाता।

किसी-किसी स्थान पर जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को भी योग कहते हैं। इस प्रकार की बहुत बातें हैं। आप योगी किसे कहते हैं ?

बाबा—देखो, मूल वस्तु महाशक्ति है। उनके साथ यदि किसी का स्थायी अथवा नित्य योग हो अथवा रहे तो उसे योगी कहना ठीक है। उदाहरण के रूप में अग्नि को लो। जो लोहे का टुकड़ा दीर्घकाल तक अग्नि में पड़ा रहने के कारण अग्नि की लालिमा और दाहिकादि शक्ति धारण करता है, वह अग्नि के साथ युक्त है। उसको योगी का दृष्टान्त समझ सकते हो। लोहा लोहा ही है, पर अग्नि के संयोगवश वह अग्निभावापन्न और दाहशक्ति-सम्पन्न होता है। उसी प्रकार जीवात्मा के उस महाशक्ति के साथ युक्त होने पर उसमें अनन्त शक्तियों के द्वार खुल जाते हैं—वह योगी होता है। यह शक्ति का विकास जीवधर्म नहीं है—यह महाशक्ति के अनुग्रह से प्राप्त सम्पत् है, जो योगवश जीव में प्रकाशित होती है। यही योगैश्वर्य है।

मैं—लोहा कुछ काल बाहर रहने पर फिर लाल नहीं रहता, दहनशील नहीं रहता, यहाँ तक कि नरम भी नहीं रहता। तब तो योग रहता ही नहीं। पक्षान्तर में निविडतम योग के कारण लोहखण्ड के एकदम गल जाने की भी आशङ्का है।

बाबा—हाँ, यह सत्य है। वह सम्बन्ध यदि नित्य और अच्छेद्य हो तभी उसे योग कहना बनता है; अन्यथा नहीं। अग्नि-सम्बन्ध यदि सार्वकालिक हो तो लोह में अग्निधर्म सर्वत्र विद्यमान रहता है। अग्नि यदि लोह को भस्म कर डाले तब फिर लोहे की अपनी सत्ता कहाँ रही ? यह योग नहीं है। अवश्य यह अवस्था भी है। उसी प्रकार लोहे को यदि अग्नि स्वीकार न करे तो भी सम्बन्ध न होने के कारण योग नहीं हुआ। यह मायाधीन अवस्था अथवा संसारभाव है। योग यदि समझना हो तो दोनों प्रान्तों (छोरों) का त्याग कर मध्य की स्थिति पकड़नी चाहिए अर्थात् अग्नि का सान्निध्य इतना अधिक हो सकता है कि लोहे में लौहभाव फिर रह नहीं सकता, वह अग्नि में लीन हो जाता है। दूसरे पक्ष में लोहे की अग्नि की सन्निधि के विषय में व्यवधान इतना अधिक हो सकता है कि अग्नि का कोई धर्म ही मानों उसमें संचारित नहीं होता—लोहा साधारण लोहा ही रहता। ये दो प्रान्त-भाव हैं। योग के उत्कर्ष से अभेद होता है और अपकर्ष से भेद होता है। मध्य अवस्था ही वास्तविक योग है। अन्यथा महाशक्ति के साथ योग तो सभी का सदा ही रहता है। उससे किसी को भी योगी कहना नहीं बनता।

मैं—ऐसा भी तो हो सकता है कि लोहा अग्नि हो जाने पर भी लोहा ही रहे। उसका स्वरूप लुप्त नहीं होता और वह अग्नि के साथ अभिन्न हो जाता है। वह अग्नि होकर भी अग्नि नहीं है और अग्नि न होकर भी अग्नि है।

बाबा—बहुत ठीक है। यही वास्तविक योगी की अवस्था है। जागतिक योगी का यही आदर्श है। वास्तविक योग अभेद को प्राप्त होकर भी भेद की रक्षा करता है। फिर भेद में रहकर भी अभेद के गौरव से महीयान् है। यह न होने पर आस्वादन नहीं रहता। मोटामोटी यही जान रखो। इसके भीतर बहुत गुह्य बातें हैं। कर्मपथ पर चलने पर उन्हें जान सकोगे।

मैं—बाबा ऐसे योगी कौन हैं ?

बाबा—वही ईश्वर। वे महायोगी हैं, योगेश्वर हैं। वे योगी-मात्र के आदर्श हैं। वे ही उपास्य हैं।

मैं—वे और महाशक्ति क्या अभिन्न नहीं हैं ? महाशक्ति और ईश्वर को एक ही महासत्ता के दो नाम नहीं कहा जा सकता क्या ?

बाबा—कह सकते हो। पर वह बहुत दूर की बात है। इस समय वह नहीं कह सकोगे। इस समय समझ रखो–ईश्वर उपासक है और महाशक्ति उपास्य है। ईश्वर होकर ही महाशक्ति की उपासना करनी चाहिए–इसीलिए योगी का पथ ईश्वर का पथ है। योगी प्रयत्न करता है ईश्वर होने के लिए–इसलिए महायोगी ईश्वर ही योगपथ का आदर्श है। योगी के ईश्वरत्व पाने पर भी उनका निज स्वरूप लुप्त नहीं होता। वैसे ही ईश्वर भी नित्ययोगी होने से निरन्तर महाशक्ति की उपासना

कर रहे हैं—उसके कारण उनके साथ एकात्मता-लाभ कर रहे हैं। फिर भी ईश्वर-रूप से उनका अपना स्वरूप लुप्त नहीं हो रहा है।

मैं—अर्थात् लुप्त होते हैं, एकत्व का बोध होता है अथ च लुप्त नहीं होते—एकत्व रहने पर भी उपासक ईश्वरभाव विद्यमान रहता है। यही क्या आपका अभिप्राय है ? इसे एक प्रकार से भेदाभेद कहा जा सकता है।

बाबा—हाँ, अधिकांश में वैसा ही है। पर इसकी भी परावस्था है—जहाँ अद्वैत के सिवा दूसरा कुछ कहना नहीं बनता। पर उस अवस्था को इस समय रहने दो। महाशक्ति की दिशा से कहा जा सकता है कि उन्हीं का एक रूप नित्य उनका भजन करता है। महाशक्ति को समझो जननी—ईश्वर को समझो उनकी एक अग्रज सन्तान।

मैं—जीव भी तो उन्हीं की सन्तान हैं—अनुज सन्तान कहना, प्रतीत होता है, ठीक होगा।

बाबा—निश्चय। वे ही तो एकमात्र माँ हैं। जीव उन्हें पहिचानता नहीं, ईश्वर उनको पहिचानते हैं। ईश्वर जीव को उनका परिचय या पहिचान करा देते हैं।

मैं—तब तो ईश्वर ही गुरु—विश्वगुरु हैं।

बाबा—इसमें सन्देह क्या ? ईश्वर के सिवा माँ को कौन पहिचानता है—कौन पहिचान कराता है ?

मैं—माँ कौन हैं ?

बाबा—(हँसकर बोले) माँ आत्मा-स्वयम्। तुम्हारी आत्मा, मेरी आत्मा, विश्व की आत्मा, ईश्वर की भी आत्मा—एक अद्वितीय परम आत्मा। ईश्वर जानते हैं कि माँ उनसे अभिन्न हैं, माँ से वे अभिन्न हैं, किन्तु जीव में वह बोध नहीं है। माँ को जानते हैं, इसीलिए ईश्वर का नाम भगवान् है।

मैं—ईश्वर की क्या पृथक् अपनी शक्ति नहीं है ?

बाबा—एक ही महाशक्ति हैं—वे ही अखण्ड शक्ति हैं, सबकी शक्ति, ईश्वर की शक्ति हैं, मूल में वही सब हैं। जहाँ जो शक्ति तुम देखते हो सभी का मूल उन्हीं में है। सभी शक्तियाँ उनका आभासमात्र हैं। जिस आधार में जितनी प्रकट होती हैं उतने का ही आभास दिखाई देता है।

तब सन्ध्या सन्निकटप्राय थी। बाबा का उठने का समय हो जाने के कारण फिर मैंने आलोचना नहीं की। मैं उठ पड़ा, बाबा भी उठे। प्रणाम करने के बाद बाबा ने कहा—"फिर आना और भी बातें होंगी।"

[२]

इसके बाद मैं प्रायः प्रतिदिन ही अपराह्न में बाबाजी के निकट पहुँच जाता था। साधारणतः अकेले ही जाता था, किन्तु कभी-कभी साथी भी जुट जाते थे। मैं तब पिशाचमोचन[1] में रहता था, वहाँ से सारा मार्ग पैदल ही तय कर, साधारणतः

१. काशी के उत्तर की ओर स्थित एक मुहल्ला, जो बाबा के आश्रम से लगभग ३ मील दूर है।

बंगाली-टोला के मध्य से केदारघाट अथवा चिन्तामणि गणेश के निकट से हरिश्चन्द्र रोड पारकर, आश्रम में उपस्थित होता था। आश्रम में सर्वदा ही बहुत लोगों का समागम होता था। कोई अपना मार्मिक दुःख निवेदन करने आते तो कोई रोग-शान्ति के लिए आते थे एवं अति विरल कोई-कोई ही पारमार्थिक मार्ग-दर्शन के लिए आते थे, किन्तु अधिकांश लोग कौतूहलवश इस अभिनव विज्ञान के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे। वहाँ नाना प्रसङ्ग उठते एवं प्रयोजनानुसार बीच-बीच में बाबाजी जिज्ञासुओं को सूर्यविज्ञान का खेल भी दिखाते थे। मैं चुपचाप एक ओर बैठकर सब देखता और सुनता था, मन में सन्देह उठने पर प्रश्न पूछकर मीमांसा कर लेता था। मेरे साथ शिक्षित सम्प्रदाय के अनेक लोग गये थे एवं कोई-कोई इच्छा रहते भी जा नहीं सके थे। क्वीन्स कॉलेज के तात्कालिक संस्कृताध्यापक कैम्ब्रिज विद्यालय के डॉक्टर टी० के० लड्डू अत्यन्त व्याकुलता रहते भी जा नहीं सके थे। डॉ० वेनिस अस्वस्थ होने के कारण नहीं जा सके। उनकी इच्छा थी कि उत्तरप्रदेश के तत्कालीन गवर्नर का बाबाजी से साक्षात्कार कराया जाय, किन्तु वह अवसर फिर आया नहीं; क्योंकि कुछ दिनों के बाद ही वेनिस साहब का परलोकवास हो गया (अप्रैल, १९१८)।

रायबहादुर अभयचरण सान्याल क्वीन्स कॉलेज के फिजिक्स के प्रधान अध्यापक थे—वे उस समय सेवानिवृत्त थे। सूर्यविज्ञान देखने की उनकी बड़ी उत्कण्ठा थी—मुझसे विशेष अनुरोध करने पर मैंने एक दिन नियत कर उनके लिए बाबाजी के दर्शन-लाभ की व्यवस्था कर दी थी। उस दिन उनके साथ मैं स्वयं भी गया था। उन्होंने एक दिन बातचीत के सिलसिले में मुझसे कहा था कि सूर्य-रश्मियों से पदार्थों की सृष्टि होना वैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है। वे उसपर विश्वास नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि इस व्यापार को जो लोग देखते हैं, वे दृष्टिभ्रमवश गलत देखते हैं। किन्तु उन्होंने यह कहा था कि यदि मैं अपनी आँखों से देख सकूँ तब अवश्य ही विश्वास करूँगा। मैं उनसे कुछ न कहकर, जिससे उन्हें सूर्य-विज्ञान का व्यापार प्रत्यक्ष देखने का अवसर प्राप्त हो, ऐसा उपाय ढूँढ़ने लगा। एक दिन मैंने बाबा से उनके विषय में सब बातें निवेदन कीं और कहा कि इस प्रकार के एक विशिष्ट विज्ञानवेत्ता को हमारे प्राचीन हिन्दूविज्ञान के दो-एक रहस्य दिखाना उचित प्रतीत होता है। बाबा ने कहा—"अपने वैज्ञानिक को कल अथवा परसों प्रातःकाल यहाँ ले आओ। वे वैज्ञानिक हैं, इसीलिए अपनी आँखों से कुछ बिना देखे एवं उस विषय में आलोचना बिना किये केवल सुनी बात पर विश्वास कैसे करेंगे?" तदनुसार मैंने अभय बाबू को खबर दी एवं बाबा के निर्दिष्ट दिन में उपस्थित होने के लिए उनसे अनुरोध किया।

निर्दिष्ट दिन अभय बाबू आये। उनके साथ और दो-तीन सज्जन थे। बाबा पहले से ही अपने आसन पर बैठे थे और उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं आकर यथास्थान बैठ गया। प्रसंग उठते ही अभय बाबू ने स्पष्ट रूप में कहा—"बाबाजी जो कह रहे हैं उसे मैं विज्ञानविरुद्ध होने से स्वीकार नहीं कर सकता। अपने सन्तोष के

लिए मैं उसका स्वयं प्रत्यक्ष करने की इच्छा करता हूँ एवं उसके पहले मैं स्वामीजी से अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे यदि अपने इच्छानुसार वस्तु की सृष्टि न कर मेरे निर्देश के अनुसार वस्तु की सृष्टि कर दिखा सकें तो मैं इस सृष्टि-व्यापार को प्रामाणिक मान सकता हूँ। यदि यह वात वे स्वीकार कर लें तो मैं एक वस्तु का नाम ले सकता हूँ।" उन्होंने आगे और भी कहा, "दिखाते समय कोई अवान्तर वस्तु उनके निकट न रहे एवं वे अपने दोनों हाथ धोकर बैठें।" वावा उसी में सम्मत हुए। बाबा ने कहा, "वावा, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा। जिससे तुम्हें तसल्ली हो एवं संशय न रहे, वही करना उचित है। कहो, तुम किस वस्तु की रचना देखना चाहते हो ?" अभय वावू ने निश्चल होकर अनेक क्षणों तक विचार किया। प्रतीत हुआ कि वे एक अद्भुत वस्तु ढूंढ़ रहे हैं, जो सहसा सूझ नहीं रही। विचार करने के उपरान्त उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"एक टुकड़ा ईंट के रंग का कड़ा ग्रेनाइट पत्थर सूर्यरश्मि द्वारा तैयार करें। यह हो सकता है क्या ?" वावा—"निश्चय ही हो सकता है। तुम सृष्टि के अन्तर्गत जिस किसी वस्तु का नाम लोगे, वही हो सकेगी। यहाँ असम्भव कुछ भी नहीं है। जिन रश्मियों के संघात से समग्र विश्व उत्पन्न हुआ है, उन रश्मियों को पहिचानकर उनके योग-वियोग की प्रणाली से परिचित होने पर विज्ञानवेत्ता योगी के लिए कोई भी सृष्टि असम्भव नहीं मानी जा सकती।"

अभय बावू—वह क्या यथार्थ सृष्टि होगी अथवा कल्पित मानसिक सृष्टि होगी, जिसको सम्मोहन-विद्या में निपुण पुरुष संकल्प केवल से सम्मोहित व्यक्तियों को दिखलाते हैं ?

वावा—तुमलोगों ने अधिक पढ़ना-लिखना सीखा है, इसलिए सरल विश्वास से वंचित हुए हो। अभी तुम्हारे सामने तुम्हारे ही निर्देश के अनुसार जिस वस्तु का निर्माण कर मैं दिखाऊँगा उसे देखने पर तुम स्वयं ही समझ सकोगे कि यह कल्पना है अथवा वास्तविक। जो निर्माण शक्ति से प्रकट होता है उसे सभी देख पाते हैं एवं उससे अन्यान्य वाह्य वस्तुओं के तुल्य व्यवहार करना भी सम्भव है।

यह कहकर वावा ने आगे भी कहा, "इस वक्त थोड़ी शुद्ध रूई ले आओ, जिसपर सूर्य-किरणों का संचार किया जायगा। चाहे जो कोई भी पदार्थ हो तव भी होता है, परन्तु साधारणतः रूई होने पर ही अच्छा होता है। रश्मि-ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है। क्रमशः उपादान के आकर्षण के साथ-साथ यह विलीन हो जायगी। निरालम्ब रूप से किसी शक्ति का आकर्षण नहीं किया जा सकता, आधार चाहिए।" जो हो, इसके बाद थोड़ी रूई मँगाई गई एवं अभय वावू ने उसकी अपने हाथ से परीक्षा कर, देखभाल कर वह वावा के हाथ में दी। तब वावा ने एक लेन्स बाहर निकाला, जिसके द्वारा निर्दिष्ट सूर्य-रश्मि का आकर्षण कर वह आधार के ऊपर फेंकी जाय। इस प्रकार के विभिन्न शक्तिवाले बहुत-से लेन्स वावा के निकट मौजूद रहते थे। उनमें से एक छोटा-सा लेन्स वावा ने बाहर निकाला। लेन्स को देखते ही अभय बाबू ने कहा, "यह तो एक Magnifying glass मालूम पड़ता है। वावा ने कहा, वैसा प्रतीत होता है यह ठीक है, किन्तु यह glass या काँच नहीं है, स्फटिक

है। विशेष रीति से तिब्वत के आश्रम में यह वनाया जाता है। वहाँ की विज्ञान-शाला में प्रत्येक विज्ञान-शिक्षार्थी को विज्ञानशिक्षा के लिए एक-एक लेन्स उपहार दिया जाता है। शक्ति के तारतम्य के अनुसार नाना प्रकार के लेन्स हैं। उसके अतिरिक्त सबका आकार भी एक प्रकार का नहीं है। इस तरह की वस्तु तुमलोगों के पाश्चात्य जगत् में मिलेगी नहीं।" अभय वावू लेन्स को देखकर मन्त्रमुग्ध हो बोले, "लेन्स तो देखने में अत्यन्त सुन्दर है एवं हैण्डिल अपूर्व देखकर प्रतीत होता है कि यह किसी विशिष्ट कारीगर की रचना है।"

इसके अनन्तर वावा दाहिने हाथ से लेन्स पकड़कर वाँये हाथ में स्थित रूई के ऊपर उसकी सहायता से विशिष्ट आलोक की छटा फेंकने लगे। प्रत्येक छटा में एक विशिष्ट रंग रहा। जो छटा जब डाली उसके पहले ही उसके रंग की बात कह जाने लगे, किन्तु उस सूक्ष्म रंग का उपस्थित सब लोग भलीभाँति अनुसरण नहीं कर सके। वावा ने कहा, "देखो, रूई किस प्रकार क्रमशः जम रही है। तीव्रभाव से पाक की क्रिया चल रही है।" सबको दिखाई दिया कि सचमुच ही रूई मानों लम्बी होकर पक रही है। जमने का भाव भी अच्छी तरह ज्ञात हुआ और एक लाल आभा भी दिखाई दी। बाद में ज्ञात हुआ कि इस जमी रूई का कुछ भाग कड़े काठ के आकार का हो गया है, शेष भाग पूर्ववत् रूई ही रह गया है। ८-१० सेकण्ड के वाद सारी-की-सारी रूई ने लम्बे काष्ठ का आकार धारण कर लिया। लाल ईंट का रंग अधिक साफ दिखाई देने लगा। तव फिर रूई का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहा। यह देख-कर अभय वावू का मुँह और आँखें आश्चर्य से स्तब्ध प्रतीत होने लगीं। वावा ने वह टुकड़ा अभय वावू के हाथ में दिया एवं कहा, "यह एक पर्व हुआ। इसके आगे के पर्व में यह टुकड़ा पत्थर के रूप में परिणत होगा।" अभय वावू भलीभाँति परीक्षा कर देखने लगे तथा वोले, "यह काठ-सा प्रतीत हो रहा है।" इसके अनन्तर वावा ने दूसरी वार उसे हाथ से पकड़कर लेन्स द्वारा रश्मि-पात करना शुरू किया। १०-१५ सेकण्ड में ही वह तथाकथित काठ का टुकड़ा खूब सख्त पत्थर के टुकड़े के रूप में परिणत हो गया। देखने में अपूर्व सुन्दर लाल रंग का ग्रेनाइट स्टोन हो गया। वावा ने कहा, "देखो, हुआ है या नहीं।" अभय वावू अव क्या कहेंगे ? उन्होंने कहा, "देख तो रहा हूँ अति आश्चर्य व्यापार है। मैं इसे ले जा सकता हूँ क्या ? मेरी इच्छा है, इसे मैं अन्यान्य वहुत लोगों को दिखाऊँ। सभी इसे देख सकेंगे न ?" वावा ने कहा, "निश्चय ही देख सकेंगे। तुम इसे निःसंकोच ले जा सकते हो।"

अभय वावू ने पत्थर ले लिया। तव मैंने उनसे कहा, "अव तो आप सूर्य-विज्ञान को स्वीकार करेंगे ? प्रत्यक्ष से बढ़कर तो और कोई प्रमाण नहीं है ?" अभय वावू ने कहा, "प्रत्यक्ष कर रहा हूँ यह सत्य है। यह ग्रेनाइट स्टोन है यह भी सत्य है। किन्तु सूर्य के आलोक से यह किस प्रकार प्रस्तुत हो सकता है, यह नहीं समझ पा रहा हूँ। विज्ञान के मतानुसार सूर्य-रश्मि से यह सम्भव नहीं है। वावाजी ने सम्भवतः योगवल से यह रचना की है। मैं इसे विज्ञान की सृष्टि नहीं मान सकता।"

वावाजी—"तुम क्या योगवल या इच्छाशक्ति का तत्त्व कुछ जानते हो ? जो इच्छाशक्ति नहीं मानता, सूर्यविज्ञान भी नहीं जानता, उसके लिए ज्ञानी कर्मी का

वाक्य विना ननु-नच किये स्वीकार कर लेना कर्त्तव्य है।" अभय बाबू ने सिर झुकाकर उसे स्वीकार किया। अन्त में उन्होंने कहा, "हुआ है सही, किन्तु किस प्रकार हुआ, यह कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ सका।" उन्होंने बाबा को प्रणाम कर पत्थर लेकर प्रस्थान किया।

लगभग इसी समय के आसपास और एक विशिष्ट जिज्ञासु पुरुष बाबा के निकट आ उपस्थित हुए। उनको उन्हीं के इच्छानुसार एक फूल को अंशतः भिन्न-भिन्न फूलों के रूप में परिणत कर और शेष अंश को पत्थर के रूप में परिणत कर अखण्ड एक फूल के आकार में रचना कर बाबा ने दिखाया था। समग्र वस्तु एक फूल मालूम पड़ती थी, जिसकी एक पँखुड़ी गुलाब की, एक पँखुड़ी अड़हुल की, एक पँखुड़ी कमल की, एक पँखुड़ी चम्पा की और शेष अंश पत्थर का था।

एक दिन मैंने आलोचना के सिलसिले में आकृति (Form) और द्रव्य (Matter) के परस्पर सम्बन्ध के विषय में बाबा से प्रश्न किया। बाबा ने कहा, "विज्ञान के बल से जिस किसी आकार का जिस किसी द्रव्य में संचार किया जा सकता है।" किस प्रकार वह होता है उसे प्रत्यक्ष दिखाने के लिए एक पान का पत्ता भाण्डार-गृह से लाने को कहा। वह लाया गया। यह पान का पत्ता बंगाल देश में प्रचलित बड़े आकार का पान था, काशी का छोटा मघई पान भी मँगाया गया। तब बाबा ने कहा, "इस बँगला पान को काशी के मघई पान में परिणत किया जाता है।" तब वहाँ उपस्थित एक भद्र पुरुष ने कहा, "काशी का पान अच्छा होता है सही, किन्तु वह आकार में बहुत छोटा है।" इसके बाद बाबा ने काशी के पान की सत्ता का बँगला पान में संचार किया और बँगला पान की सत्ता लेकर काशी के पान के आकार में अभिनव पान की रचना की। काशी का पान ठीक बँगला पान के तुल्य बड़े आकार में हुआ एवं बँगला पान काशी के पान के तुल्य छोटे आकार का हुआ देखा गया। खाकर देखा गया तो स्वाद भी दोनों का बदला हुआ प्रतीत हुआ।

देखते-देखते प्रयाग महाकुम्भ का पर्व आ पहुँचा। बाबाजी कई एक शिष्यों और भक्तों के साथ ९ जनवरी को प्रातःकाल इलाहाबाद चले गये। यह सन् १९१८ ई० की बात है। मैं भी इलाहाबाद को रवाना हुआ। मेरे साथ भूषणचन्द्र वसु, मास्टर महाशय (खुलनावासी उपेन्द्रचन्द्र भट्टाचार्य) और राजस्थान जयपुर-निवासी विजय-चन्द्र चतुर्वेदी (काशी संस्कृत कॉलेज में आगे चलकर ये वेदाध्यापक नियुक्त हुए)। ये वर्त्तमान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदाध्यापक श्रीभगवत्प्रसाद मिश्र के बहनोई थे। जार्जटाउन में एक भद्र पुरुष के मकान में बाबा के रहने की व्यवस्था की गई थी। हम तीन लोगों ने भी उसी मकान में स्थान ग्रहण किया था। प्रयाग में महाकुम्भ का यही प्रथम दर्शन मेरा था। इसके पूर्व सन् १९१२ ई० में मैं प्रयाग में अर्धकुम्भ का दर्शन करने गया था सही, किन्तु तब उस तरह दर्शन हुए नहीं। इस बार बाबाजी के साथ साधु-दर्शन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने कई अच्छे अर्थात् औरों की अपेक्षा अधिक उन्नत साधुओं को दिखा दिया था। उनमें से नेपाल की एक संन्यासिनी की खूब अधिक प्रशंसा की थी।

जार्जटाउन में रहते समय पहली रात में एक विशेष घटना घटी थी। वाल-वाल वच जाने के कारण जो एक दुर्घटना में परिणत नहीं हुई। जार्जटाउन के मकान में जिस कमरे में श्रीश्रीगुरुदेव के रहने की व्यवस्था की गई थी, ठीक उससे सटे हुए दूसरे कमरे में उनके शिष्य और सङ्गी लोगों के रात्रिवास की व्यवस्था हुई थी। इन दोनों कमरों के वीच में एकमात्र दरवाजा था। उसको खोल देने पर एक कमरे से दूसरे कमरे में गमनागमन किया जाता था। रात्रि के समय यह दरवाजा वन्द किया गया था सही, किन्तु अर्गल वन्द नहीं किया गया। रात्रिशेष में श्रीश्रीगुरुदेव क्रियासन से उठकर अपने नित्यकृत्य के अन्तर्गत चण्डीपाठ कर रहे थे। उस समय दूसरे कमरे से रामऋषि नामक एक व्यक्ति ने शौच के लिए वाहर जाने के निमित्त तन्द्रा के आवेश में भ्रमवश दूसरा दरवाजा न खोलकर वावा के कमरे की ओर का दरवाजा खोल डाला। खोलते ही देखते हैं कि वावा आसन पर वैठकर चण्डीपाठ करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। देखते ही उन्हें झटका लगा एवं अपनी भूल समझकर उन्होंने वह दरवाजा वन्द कर दिया। वह व्यक्ति दूसरा कोई नहीं था, वावा का नित्य साथ रहनेवाला रामऋषि नामक पाचक ब्राह्मण था। वावा उसपर वहुत स्नेह करते थे। इसके थोड़ी देर वाद ही वावा पाठ समाप्त कर किसने एकाएक कमरे में प्रवेश किया था यह जानने के लिए दूसरे कमरे में पधारे और सवसे पूछा। रामऋषि ने अपना भ्रम स्वीकार कर वावा के चरणों में मस्तक नवाकर क्षमा-प्रार्थना की। वावा ने तव कहा, "ऋषि, तुम वालवाल वच गये हो। यदि ५ मिनट पहले तुम कमरे में प्रवेश करते तो प्रवेश करते ही तत्क्षण अचेतन हो पड़ते। यहाँ तक कि और भी तीव्र वैद्युतिक आघात पाने की सम्भावना थी। क्योंकि मैं जव आसन पर था तव सारा कमरा अत्यन्त उत्कट तडित्-शक्ति से परिपूर्ण था, विजातीय तडित्-शक्ति का संस्पर्श होते ही वह उसपर आघात करती। अस्तु, जगदम्वा ने तुम्हारी रक्षा की है। ऐसी गलती फिर कभी न हो।" वस्तुतः ही वावा की क्रिया के कमरे से सटे किसी कमरे में रहना, विशेषकर रात्रि के समय, निरापद नहीं है—यह तव सभी की समझ में आया।

वावा कई एक दिनों के वाद ही इलाहावाद से काशी लौट आये। उसके कुछ दिनों के वाद ही मेरा दीक्षा-कार्य सम्पन्न हुआ। वास्तव में मैंने उनके इलाहावाद जाने के पूर्व दिन ही एक छात्र की मार्फत पत्र भेजकर दीक्षा का दिन स्थिर करने के लिए उनसे अनुरोध किया था। इसके वाद १७ जनवरी को मैंने दूसरी वार उन्हें स्मरण करा दिया। मेरी दीक्षा का दिन निश्चित हुआ २१ जनवरी, १९१८ ई० अथवा सौर ८ माघ, १३२४ वं० सं०। मेरी दीक्षा के लिए अनुमति की प्रतीक्षा करनी नहीं पड़ी। क्योंकि प्रथम दर्शन के दिन ही वावा मुझे दीक्षा देंगे, ऐसा आभास वावा ने स्वयं ही मुझे दे दिया था। जो कुछ विलम्व हुआ था वह केवल दिन निश्चित करने में ही हुआ था। ५।२८१ दिलीपगञ्ज विशुद्धानन्द कुटीर में अर्थात् हनुमानघाट के आश्रम में मेरी दीक्षा हुई थी। उसी दिन और भी एक वृद्ध भद्रपुरुष को दीक्षा प्राप्त हुई थी। उनका नाम क्षेत्रनाथ वन्द्योपाध्याय था। वे लम्वी दाढ़ीवाले तथा पुष्ट-शरीर थे, प्रायः १७ वर्ष तक लगातार अनुरोध कर प्रतीक्षा में दीर्घकाल व्यतीत करने

के बाद उन्हें अनुमति मिली थी। दीक्षा के पहले दिन प्रचलित नियम के अनुसार दीक्षा की उपयोगी वस्तुएँ एकत्र कर सन्ध्या समय मैंने आश्रम में रामऋषि के निकट पहुँचा दी थीं। उन सामग्रियों में मुख्य कतिपय ये थीं—एक कुशासन, उसके ऊपर बिछाने के लिए एक गनीचावाला आसन, सबके ऊपर बिछाने के लिए एक रेशम का आसन, एक ताँबे का तावीज, पाँच छटाँक विशुद्ध गोघृत, उसके अनुरूप एक काँसे की थाली, अपने पहनने के लिए एक जोड़ा पट्टवस्त्र, कुमारी को देने के लिए लाल किनारे की साड़ी और एक योगदण्ड। इनमें से घी का संग्रह करना ही सबसे अधिक कठिन था; क्योंकि विशुद्ध गोघृत होना आवश्यक था। उसका भूषण बाबू ने मेरे लिए संग्रह कर दिया था। तीन आसन बाबा विधिपूर्वक संस्कार कर दीक्षार्थी को उसके बैठने के लिए लौटा देते थे। ताँबे का तावीज वस्तुतः रक्षा-कवच है। वह अति मूल्यवान् तथा शिष्य की अकालमृत्यु का निवारक है। विशुद्ध गोघृत पाँच छटाँक काँसे की कटोरी में रखकर उसके ऊपर इष्ट-मन्त्र के उच्चारण की क्रिया करनी पड़ती है। उसमें मन्त्र के प्रभाव से अपने-आप ही अग्नि-प्रज्वलन होता है। बाह्य अग्नि की आवश्यकता नहीं होती। यही चिदग्नि है, इसके द्वारा ही कुमारी के वस्त्र का संस्कार करना चाहिए। यह संस्कारयुक्त वस्त्र दीक्षार्थी को लौटा दिया जाता है एवं उसे किसी एक कुमारी को पहनने के लिए देकर यथाविधि कुमारी की सेवा की व्यवस्था करनी चाहिए—अवश्य दक्षिणा के साथ। इस सम्प्रदाय में होम के बदले ऐसी व्यवस्था है। इसमें लौकिक अग्नि के बदले इष्टमन्त्रात्मक कुमारीशक्ति-रूप चिदग्नि का उपयोग किया जाता है। यह अवश्य दीक्षादाता गुरु ही किया करते हैं। अस्तु, पहले दिन यह सब सामग्री पहुँचाकर दूसरे दिन प्रातः अर्थात् बहुत तड़के गङ्गा-स्नान कर और शुद्ध वस्त्र पहनकर दीक्षा के लिए मैं आश्रम में उपस्थित हुआ।

दीक्षाकार्य विधिपूर्वक समाप्त हुआ। गुरुदेव ने मस्तक पर शिवहस्त प्रदान किया, कान में इष्टमन्त्र प्रदान किया, अपने मस्तक से आकर्षण कर उनके सहस्रारस्थ ज्योतिर्लिंग को ताँबे के तष्टा में रखकर उसमें मेरे इष्टमन्त्र द्वारा, पुष्प आदि उपचारों से मुझसे मेरे इष्ट देवता की पूजा कराई तथा क्रिया-पद्धति सिखा दी, रक्षाकवच प्रदान किया एवं सम्प्रदायगत समयाचार बतला दिया। विधि-निषेध में जो-जो उन्होंने कहा था उनमें से सस्त्रीक ब्रह्मचर्य-पालन आदि और भोजन के विषय में अण्डे, प्याज, लहसुन का वर्जन आदि मुख्य हैं। जप और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध कैसा है, यह बतला दिया। प्रातःकाल और सन्ध्या को यथासम्भव क्षण पकड़कर यदि कार्य किया जा सके तो उत्तम है, यह भी बतला दिया था। इसके अतिरिक्त मेरे व्यक्तिगत अध्यात्म-जीवन के इतिहास के सम्बन्ध में उन्होंने जो-जो कहा था, गोपनीय होने से, उसका मैंने यहाँ उल्लेख नहीं किया। साधन-जीवन के गुह्यतत्त्व बाहर प्रकाशयोग्य नहीं हैं। विश्वास और कर्म के सम्बन्ध के विषय में प्रश्न करने पर बाबा ने कहा था—"यथाविधि कर्म करने की चेष्टा करनी चाहिए—कर्म ही मूल है। इससे विश्वास अपने-आप ही होगा—ज्ञान-भक्ति, प्रेम अपने-आप ही अभिव्यक्त होंगे। प्रत्यक्ष विषय में विश्वास न हो, यह सम्भव नहीं। भोजन करने पर उदरपूर्ति के लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए।" उसके अनन्तर आगे और भी कहा

था—"हमलोगों को अनेक कठिन तपस्याएँ करनी पड़ी हैं, सुदीर्घकाल तक नाना प्रकार के नियन्त्रणों में नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े हैं। तुमलोगों के लिए ये सव कृच्छ्रसाधन आवश्यक नहीं होंगे; क्योंकि सारभूत वस्तु तुमलोगों के लिए मैंने रखी है—वही तुमलोगों को आधार के अनुरूप मैं देता हूँ। कर्म का विधान भी खूव सरल है। नैतिक जीवन को विशुद्ध रखकर विधि-विधान के अनुसार कर्म करने पर कोई कमी नहीं रहती, रह नहीं सकती।" तव समय अधिक नहीं था; क्योंकि मेरे वाद ही फिर एक व्यक्ति की दीक्षा की व्यवस्था थी। समय कम था—मैंने सोचा, जो-जो जिज्ञास्य है उसकी जिज्ञासा पीछे करूँगा। कर्म के अन्त में दक्षिणा देकर और प्रणाम कर चला आया।

एक वात इस प्रसंग में कह रखता हूँ। दीक्षा के समय श्रीश्रीगुरुदेव का जो चेहरा मैंने देखा था उसे कभी न भूल सकूँगा। वह विश्वगुरु की मूर्त्ति थी—पूर्ण प्रज्ञा और महाकरुणा का एकत्र सम्मिश्रण था, असीम ऐश्वर्य और अक्षय वात्सल्यरस का अभूतपूर्व मिलन था। मेरी दीक्षा के समय भी वड़े गुरुदेव श्रीश्रीभृगुराम स्वामी का श्रीश्रीगुरुदेव की काया में दीक्षा देते समय आवेश हुआ था। दोनों सत्ताएँ एक सत्ता में परिणात हुई थीं। अवश्य कुछ दिनों के वाद यह प्रथा उठ गई थी—तव आवेश की आवश्यकता फिर नहीं रही।

आश्रम से मकान में लौट आकर मैंने कुमारी-भोजन की व्यवस्था की। तभी से देह में एक नवीन भाव का संचार और स्पर्श का मैं अनुभव करने लगा। विशुद्ध वैन्दव देह किसे कहते हैं, यह मैं उस समय अवश्य जानता न था—यह जो सद्गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा के प्रभाव से मायिक देह के साथ अस्पर्शयोग से युक्त होकर अभिन्न की तरह कार्य करता रहता है, उसका रहस्य तव मैं जानता न था। न जानने पर भी उसके जरा-जरा आभास का मैं अनुभव करने लगा। मैंने सन्ध्या-पूजा के लिए एक अलग कमरे की व्यवस्था की। उस कमरे में पूजनीया मातृदेवी के सिवा साधारणतः और किसी को भी जाने का आदेश न था। यहाँ तक कि मेरी पत्नी को भी नहीं; क्योंकि तव उनकी दीक्षा हुई नहीं थी। मैं स्वयं भी जागतिक भाव लेकर उस कमरे में जाता न था। इस कारण कमरे में एक अद्भुत तेजोमय शक्ति का अधिष्ठान हुआ था, जिसके प्रभाव से अनेकानेक अद्भुत अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन निरन्तर हो रहे थे।

मेरी दीक्षा के थोड़े दिनों के वाद ही वावा काशी से चले गये। जितने दिन यहाँ रहे थे, मैं प्रतिदिन उनके निकट जाता था और विविध आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करता था। यह दीक्षा-व्यापार अत्यन्त रहस्यमय है। गुरुदेव साधारणतः उस रहस्य को खोलते न थे। उनके साथ वाद को इसके सम्वन्ध में मैंने वहुत आलोचना की है। शास्त्रों का गूढ़ अभिप्राय भी समझने की यथाशक्ति चेष्टा की है एवं थोड़ी-वहुत स्वानुभूति भी गुरु-कृपा से मुझे प्राप्त हुई है। अन्तर्जीवन-यात्रा के इस प्रथम पर्व में उनसे मुझे जो-जो उपदेश मिले थे, उनका सारांश यह है—

१. साधन-जीवन में कर्म ही प्रधान है। पुस्तक का ज्ञान शुष्क ज्ञान-मात्र है।

उन्मादिनी भक्ति भी यथार्थ भक्ति नहीं है। वास्तविक ज्ञान और वास्तविक भक्ति महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं—उनका विकास कर्म से अपने-आप ही होता रहता है।

२. केवल कृपा के ऊपर निर्भर रहना सुविवेक का कार्य नहीं है। कृपा अत्यन्त पवित्र वस्तु है। वह निरन्तर ही उस महाशक्ति से टपक रही है। उसके सिवा जीव की ऊर्ध्वगति का दूसरा कोई उपाय नहीं है, किन्तु कर्म के विना उसको धारण नहीं किया जा सकता। इसलिए कर्म ही प्रधान है। कर्म से असाध्य-साधन होता है। कर्म माने क्रियाशक्ति, यह स्मरण रखना चाहिए।

३. उपासना उच्च आदर्श का अनुसरण है। देव-देवी सभी इस महा आदर्श के वाह्य प्रकाशमात्र हैं। सभी देवता मूल में एक और अभिन्न हैं। देवताओं में कभी भी छोटा-बड़ा भेद नहीं करना चाहिए। पर अभ्यास के लिए अपने इष्टभाव में दृढ़ रहना चाहिए।

४. कर्म किये जाओ—उसके बाद जो होनेवाला है, वह अपने-आप ही होता रहेगा।

५. नित्यक्रिया के समय साधारणतः जो सब दर्शन आदि होते हैं, संस्कार के अनुसार वे विभिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उन दर्शनों की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहिए। संस्कार का खेल अपने-आप ही जो होता है, होता रहे। इन सबकी उपेक्षा करनी चाहिए एवं अपने लक्ष्य की ओर यथाशक्ति सर्वदा दृष्टि रखनी चाहिए।

६. साधक और योगी एक नहीं हैं। अनेक लोग साधकों को योगी समझते हैं, यह भूल है। दीक्षा के समय कौन साधक है और कौन योगी है—इसकी गुरु को परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा हाथी का बोझ बकरे को देने पर वह उसे सहन नहीं कर सकता एवं बकरे का बोझ हाथी को देने पर वह उससे प्रभावित नहीं होता।

७. वाहर से देव-दर्शन का मूल्य नगण्य है। स्वयं देवत्व-लाभ किये विना देव-दर्शन को वाहरी देव-दर्शन कहते हैं। जो जो नहीं होता, वह उसको जान नहीं सकता। इसलिए यदि देवता को जानना हो तो स्वयं देवता होना चाहिए।

८. किन्तु जीव जीव ही रहता है, दिव्यभाव होने पर भी उसकी वह स्वरूप-सत्ता जाती नहीं। इसीलिए वह योगी हो सकता है। अन्यथा साधक के स्तर से उठना उसके लिए कठिन है। योगी अपनी सत्ता को खोता नहीं, पर एक ओर अखण्ड सत्ता के साथ और दूसरी ओर अनन्त खण्ड सत्ताओं के साथ अभिन्न होकर प्रकट हो सकता है।

९. "शनैः पर्वतलङ्घनम्" धीरे-धीरे जो होता है वही ठीक है। शीघ्रता में विशिष्ट भाव का विकास भी बहुधा अच्छा नहीं होता। रूपान्तर-लाभ मनुष्य के जीवन का चरम आदर्श है, वही यथार्थ मुक्ति है। तव जन्म-मरण हट जाते हैं, अपनी पूर्ण सत्ता जाग जाती है और अद्वैतभाव का स्फुरण होता है। किन्तु योगी इस चरम अद्वैत में भी 'अहम्-त्वम्' (मैं-तुम) भाव को रख दे सकते हैं। इसीलिए योगी के सिवा ज्ञान के बाद भक्ति का आस्वादन दूसरा कोई कर नहीं सकता।

१०. तुम्हें किसी विषय में चिन्ता करनी नहीं चाहिए। मैं सदा ही तुम्हारे निकट हूँ और रहूँगा। ठीक तरह कर्म करने पर यह समझ सकोगे और किसी विषय में तुम्हें अभाव-बोध होगा नहीं।

मेरी दीक्षा के कुछ दिन बाद ही, जहाँ तक स्मरण होता है, २५वीं जनवरी के आसपास, बाबा काशी से वर्दवान चले गये। वहाँ से कलकत्ता होते हुए कुछ समय के लिए बालेश्वर गये। वहाँ से उनके दो कार्ड मुझे मिले। यह फरवरी महीने की बात है। वहाँ से लौटकर वे वर्दवान आये (अप्रैल में) और वर्दवान से १७ सौर-वैशाख को पुरी जाने के लिए कलकत्ता गये। पुरी में नया आश्रम बना था। तबतक भी आश्रम का सर्वाङ्ग संस्कार हुआ नहीं था। फिर भी वह रहने लायक हो गया था, इसलिए पुरी के गुरुभाइयों के विशेष अनुरोध से बाबा को वहाँ जाना पड़ा। कलकत्ता से वे पुरी गये १३२५ बँगला सं० (१९७५ वि०) के ज्येष्ठ मास में—सम्भवतः १८ सौर-ज्येष्ठ के कुछ पूर्व। इस बार उनका पुरी में अधिक दिन रहना नहीं हुआ। लगभग १ महीना पुरी-आश्रम में रहकर वे लौट आये एवं थोड़े समय के लिए शान्तिपुर पधारे। तदुपरान्त कलकत्ता होकर सौर २७ आषाढ के पूर्व ही वर्दवान लौट आये।

उस समय तक कलकत्ता में रहने योग्य आश्रम स्थापित नहीं हुआ था। हम लोगों के गुरुभाई कलकत्ता कॉरपोरेशन के कलक्टर बाबा के परम भक्त स्व० योगेशचन्द्र वसु महाशय ने अपने भवानीपुर-स्थित नं० ८ कुण्डुरोड के भवन में एक ओर का भाग बाबा के रहने योग्य बना दिया था। उसमें बाबा के आह्निक और निवास का एक कमरा और बाबा की उपस्थिति में सत्सङ्ग के योग्य एक विशाल हाल-कमरा था। मार्बल द्वारा दोनों स्थानों का फर्श बनाया गया था एवं हाल में बाबा का एक विशाल तैलचित्र और उसी के निकट बाबा के उपवेशन के लिए शय्यासन रखा गया था। बाबा के आह्निक के अथवा शयन के कमरे में साधारण लोगों का प्रवेशाधिकार नहीं था। किन्तु हाल-कमरे में जाति-पाँति के भेदभाव के बिना उनके दर्शनों के लिए सभी उपस्थित हो सकते थे। जबतक रूपनारायणनन्दन लेन में बाबा के आश्रम की स्थापना नहीं हुई तबतक बाबा कलकत्ता आने पर साधारणतः इसी स्थान में निवास करते थे। योगेश दादा परम प्रीति के साथ केवल बाबा की ही सेवा करते थे सो बात नहीं थी, वे समागत गुरुभ्राता अन्य भक्तवर्ग का भी यथोचित आदर-सत्कार द्वारा आप्यायन करते थे। योगेश दादा के मकान का वह भाग दूसरे भाग से एक प्रकार पृथक् ही था एवं आश्रम न होने पर भी आश्रम के तुल्य उसकी पवित्रता सुरक्षित रहती थी।

दीक्षा तो हो गई। किन्तु अधिक दिन श्रीगुरुचरणों के सत्संग का आनन्द लेने के पहले ही उनके काशी से चले जाने के कारण मैं मन में अत्यन्त अभाव का अनुभव करने लगा। उनके पुनः काशी आने के समय तक सत्संग और साधुदर्शन कर अवकाश का समय काटने लगा। इस समय के सत्सङ्ग में मेरे पूर्वपरिचित दो महापुरुषों का नाम उल्लेख-योग्य है। उनमें से एक सज्जन का नाम भार्गव शिवराम किंकर योगत्रयानन्द था। इनके वृत्तान्त का मैं पहले ही इङ्गित के रूप में उल्लेख कर

चुका हूँ। ये परा और अपरा विद्याओं में तथा प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा में समान रूप से शिक्षित थे। इनका पूर्व नाम शशिभूषण सान्याल था। ये गृहस्थ होकर भी अन्तःसंन्यास-सम्पन्न थे। मैंने मनुष्यत्व के एक अक्षुण्ण आदर्श की इन्हीं के जीवन में पहले उपलब्धि की थी। इनके साथ मेरा प्रथम परिचय लगभग ८ वर्ष पूर्व हुआ था। तभी से मैं घनिष्ठ रूप से इनसे बराबर मिलता-जुलता रहता था एवं इनके जीवन का प्रभाव मेरे व्यक्तिगत जीवन पर पड़ने लगा था। पूज्यपाद स्व० रामदयाल मजुमदार प्रभृति महात्माओं ने भी इनके सम्पर्क में आकर आध्यात्मिक जीवन में यथेष्ट उपकार प्राप्त किया था। मजुमदार महाशय के साथ मेरा सन् १९०६ ई० से ही परिचय था एवं उनकी प्रवर्तित 'उत्सव' पत्रिका पहले से ही मेरे अध्यात्मजीवन की प्रधान सहायक वन चुकी थी। वे भी जिनपर गुरु के रूप में श्रद्धा करते हैं वे कितने उच्च स्तर के महापुरुष हैं, मैंने स्वयं उन्हें न समझ सकने पर भी, यह धारणा की थी। भार्गव शिवरामकिङ्कर के 'आर्यशास्त्र-प्रदीप', 'मानवतत्त्व' प्रभृति ग्रन्थों से मैं पहले से ही परिचित[1] था। किन्तु उनके पवित्र जीवन की तुलना में उनका असाधारण पाण्डित्य भी फीका प्रतीत होता था। उनका मैं लौकिक और अलौकिक दोनों विषयों में ऋणी था एवं उनको अपने धर्मजीवन का एक प्रकार से उपदेष्टा गुरु ही मानता था।

दूसरे सज्जन का नाम था स्व० सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय। वे पूजनीय स्व० विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय के शिष्य थे एवं कलकत्ता डन-सोसाइटी के प्रतिष्ठाता थे। वे चार वर्ष पहले गुरु के आदेश से डन-सोसाइटी और डन-मैगजीन के कार्य से अवसर ग्रहण कर निवास करने काशी आये थे। वे ४७ नं० टेढ़ीनीम में निवास करते थे। काशी में आने के कुछ दिन बाद से ही उनके साथ मेरा घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित हुआ।

तब प्रयाग का कुम्भ समाप्त हो चुका था। वहुत साधु-सन्त प्रयाग से ही विश्वनाथ-दर्शनों के लिए काशी आये थे एवं महाशिवरात्रि तक काशी में रहे थे। कोई-कोई साधु शिवरात्रि के बाद भी वहुत काल तक काशी में रहे थे। इनमें से अधिकांश दशाश्वमेध और प्रयागघाट में ही रहते थे। कोई-कोई गङ्गा के उस पार रेती में कुटी वनाकर रहते थे। भाग्य रहने पर इन सब साधुओं में कभी-कभी अति उत्कृष्ट महापुरुषों के दर्शन प्राप्त होते थे। प्रायः सभी भक्तमण्डली द्वारा परिवृत रहते थे। श्रीगुरुदेव के चले जाने के वाद जनवरी से मई मास के मध्य तक मुझे विशेष रूप से निम्नलिखित कई एक महात्माओं का सत्संग प्राप्त हुआ था—

१—सदानन्द ब्रह्मचारी
२—आनन्द या कालिकानन्द अवधूत
३—मायानन्द चैतन्य
४—वसन्त साधु

---

१. 'साधु-दर्शन ओ सत्प्रसङ्ग' नाम के मेरे द्वारा वंगभाषा में रचित ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में पृ० ४९ से ८८ तक इनका संक्षिप्त विवरण प्रकाशित है। पुस्तक (प्रकाशक—प्राची पब्लिकेशन्स: ४३ मोतीलाल नेहरू रोड, कलकत्ता २९)

५—ब्रह्मानन्द स्वामी

६—स्वा० नवीनानन्द

७—योगिराज देवानन्द स्वामी

ठाकुर तरणीकान्त सरस्वती के साथ भी इसी समय मेरा प्रथम परिचय हुआ। वे फरवरी १९ तारीख को मेरे साथ भेंट करने के लिए मेरे कर्मस्थान 'सरस्वती-भवन' में आये थे एवं उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि एक दिन मैं उनके निवास-स्थान में जाऊँ और उनके साथ भेंट करूँ। उन्होंने ४ नं० साक्षी विनायक में, आनन्द-आश्रम में श्रीलक्ष्मीनारायण-शिला की स्थापना की थी। ठाकुर तरणीकान्त ने कई अलौकिक शक्तियों के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की थी। वे पातालेश्वर में रहते थे। उसके लगभग छह दिनों के वाद एक दिन जाकर मैंने उनसे भेंट की। उनके शक्ति-प्रदर्शन एवं इस सम्वन्ध में श्रीगुरुदेव के अलौकिक खेल का आगे यथासमय मैं वर्णन करूँगा। धुनिया पहाड़ के महात्मा के दर्शनों की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आकांक्षा रहने पर भी उनके दर्शन नहीं हो सके। श्रीरामठाकुर महाशय का पता भी एक वन्धु से मुझे लग गया था। तव वे मानसरोवर के निकट किसी स्थान पर रहते थे। किन्तु उस समय उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। कुछ दिनों के वाद प्राप्त हुआ।

सदानन्द ब्रह्मचारी तव हरिश्चन्द्रघाट के निकट रहते थे, वाद में विश्वनाथ-गली में पूर्व की ओर की पंक्ति में ढुण्ढिराज गणेश के प्रायः निकट ही एक दुतल्ले मकान में रहने लगे। इन्होंने अपने साधन-जीवन के अधिकांश समय तक तिव्वत में वास किया था एवं योगी नाम से प्रसिद्ध थे। मैंने सुना था कि भार्गव शिवरामकिङ्कर भी इनपर श्रद्धा करते थे।

आनन्द अवधूत काली के उपासक थे। अनेक लोग इन्हें सिद्ध पुरुष मानते थे। ये जलदर्पण, नखदर्पण आदि कई छोटी-छोटी सिद्धियों के अधिकारी थे। किन्हीं-किन्हीं का ऐसा विश्वास था कि इन्होंने जगदम्वा के दर्शन प्राप्त किये हैं। इनके साथ अधिक घनिष्ठता का अवसर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। मैंने सुना था कि इनका पूर्व-निवासस्थान पावना जिले के मथुरा ग्राम में था।

मायानन्दजी महाराष्ट्र देश के अच्छे साधु थे। नर्मदा-तट पर ओङ्कारेश्वर के निकट निवास करते थे। मुझे ये ज्ञानी और भक्त प्रतीत हुए थे। इनके द्वारा रचित किसी-किसी ग्रन्थ का अध्ययन करने का वाद में मुझे सुयोग प्राप्त हुआ था। उनमें मराठी-ग्रन्थ ज्ञानेश्वर के गीताभाष्य का हिन्दी-अनुवाद प्रधान है। अवश्य, मैं जिस समय की वात कह रहा हूँ उस समय वह प्रकाशित नहीं हुआ था। वे गीतोक्त पुरुषोत्तम-योग और विश्वरूप-दर्शन के सम्वन्ध में वीच-वीच में व्याख्यान देते थे एवं जिज्ञासुओं को उक्त दर्शन की प्रक्रिया का भी उपदेश देते थे। उन्हें काशी अहल्यावाई-घाट-निवासी दण्डीस्वामी परलोकगत विशुद्धानन्द सरस्वतीपाद से यह योगरहस्य का ज्ञान उपदेश-रूप में प्राप्त हुआ था। पूछने के वाद मुझसे उन्होंने उसे प्रकट किया था। वे दशाश्वमेध घाट पर पुटिया के मन्दिर के नीचे दक्षिण की ओर सीढ़ियों के पत्थरों पर

दिन-रात रहते थे। भीषण घाम में पत्थरों के उत्तप्त होने पर भी वे अपना स्थान छोड़ते न थे।

वसन्त साधु का पूरा नाम वसन्तकुमार भट्टाचार्य था। उनकी साधु लोगों की-सी कुछ भी वेषभूषा न थी। वे सफेद कपड़े पहनते एवं ब्रह्मचारी अवस्था में रहते थे। अवस्था भी अधिक नहीं थी, मैं समझता हूँ, पैंतीस-चालीस वर्ष से अधिक अवस्था के होंगे नहीं। किन्तु वे असाधारण ज्ञानी थे। उनसे मैं प्रायः नित्य ही मिलता था एवं उनके अनुभूत ज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा करता था। वे योग, चक्र, मन्त्र आदि के सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत अनुभव कहते थे। उन्होंने एक गुह्य तत्त्व का थोड़ा-सा आभास मुझे दिया था, जिस विषय में पहले मैंने कभी सुना नहीं था। उन्होंने कहा था कि योगी को सहस्रार से यदि हृदय में आना हो तो गुह्यिनी नाड़ी की सहायता लेनी चाहिए। इस नाड़ी के साथ सृष्टि का सम्बन्ध है। एक घण्टा पिङ्गला में, एक घण्टा इड़ा में और एक घण्टा सुषुम्णा में श्वास की स्थिति होनी चाहिए। पिङ्गला की क्रिया के समय योगी की चिन्ता का केन्द्र रहता है उदर, किन्तु इड़ा की क्रिया के समय चिन्ता का केन्द्र होता है मस्तिष्क एवं सुषुम्णा में क्रिया के समय चिन्ता का केन्द्र होता है हृदय। हृदय कर्म और ज्ञान का सन्धि-स्थान है। सुषुम्णा ज्ञान-नाड़ी है, सहस्रार श्मशान या शिवस्थान है। तैंतीस करोड़ देवताओं का प्रकाश सहस्रार में होता है। वहाँ शान्ति नहीं है। शान्ति एकमात्र हृदय में है। गुह्यिनी नाड़ी का स्पर्श किये विना जगन्माता के साथ वार्त्तालाप होना सम्भव नहीं है। बंगाल देश के गौड़ीय सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्त्तित कीर्तनतत्त्व में एक वैज्ञानिक रहस्य निहित है। मृदंग की आवाज पिंगला में कार्य करती है, करताल की ध्वनि क्रिया करती है, मस्तिष्क में, दोनों को एक साथ बजाने पर वे परस्पर को निरुद्ध करते हैं और हृदय में साम्य भाव का उद्बोधन करते हैं।

हृदय की यह महत्त्व की बात बहुत समय बाद स्वर्गीय गणपति शास्त्री काव्यकण्ठ के विवरण से स्पष्ट हुई। उनके द्वारा विरचित 'उमासहस्रम्' नामक स्तोत्र-ग्रन्थ में इसका उल्लेख है एवं उनके शिष्य विद्वद्वर कपाली शास्त्री की व्याख्या से वह साधारण लोगों के समझने योग्य हुआ है। संवित् का मूल स्थान हृदय अथवा दहर-कमल है। वहाँ से वह आज्ञाचक्र अथवा भ्रूमध्य होकर सहस्रार में जाती है और सहस्रार से देह में संचारित होकर बाह्य विषयों में संचारित होती है। संवित् को को सहस्रार से उतारकर आज्ञा के मार्ग से पुनः हृदय में स्थापित करना ही योगी का कर्त्तव्य है। महर्षि रमण का भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही इंगित है।

ब्रह्मानन्द योगी का पूर्व नाम था मतिलाल गांगुली। ये पहले मेरठ में नौकरी करते थे। एक महापुरुष की कृपा से कुछ-कुछ सत्य की उपलब्धि कर एकान्त में वास करते थे। बाह्य दृष्टि से ये गृहस्थ थे एवं देवनाथपुरा में रहते थे। इनका पुत्र कुछ दिनों के बाद मेरे साथ परिचित हुआ और विद्याचर्चा में मेरा साथी बना। तब वह सम्भवतः हिन्दू कॉलेज में बी० ए०; अथवा एम्० ए० कक्षा में पढ़ता था। ब्रह्मानन्दजी देखने में साधुवेषधारी नहीं थे, यह ठीक है; किन्तु बहुत साधु-संन्यासी

उनका अनुगमन करते थे। उनके प्रधान शिष्य थे आँखकटा स्वामी नाम से प्रसिद्ध एक संन्यासी। वे प्राचीन रसायन-विद्या में निष्णात थे एवं पारद आदि के भस्म द्वारा बहुत लोगों की दुःसाध्य व्याधियों को शान्त कर देते थे। पहले से ही मेरे ऊपर वे बहुत स्नेह करते थे। अधिक क्या कहूँ, एक दिन. उन्होंने अपने निवासस्थान में मुझे बुलाकर उन्हें प्राप्त रहस्यविद्या के सम्वन्ध में भी कुछ-कुछ उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था, "तुम्हें सद्गुरु के निकट उपदेश प्राप्त हुआ है, यह उसी का फल है।"

जव मैंने पहले दीक्षा पाई थी तब मैं पिशाचमोचन में एक वगीचे के मकान में रहता था। सन् १९१८ ई० की फरवरी के आखिर तक लगभग दो वर्ष चार महीने मैं उस मकान में रहा। बाद में वहाँ असुविधा होने के कारण १ली मार्च से विक्टोरिया पार्क के उत्तर फाटक के निकट ही 'परिमल-वास' नामक दुमंजिले मकान में निवास करना मैंने आरम्भ किया। इस मकान में लगभग चार वर्ष पाँच महीने रहा।

बावा के काशी से प्रस्थान करने के कुछ अधिक दो मास वाद ही मेरे व्यक्तिगत लौकिक जीवन के प्रधान अवलम्बन, मेरे शिक्षागुरु, संरक्षक और परम हितकारी डॉ० वेनिस् का कुछ दिन गलगण्ड रोग भोगने के उपरान्त १४ अप्रैल को नैनीताल में देहावसान हो गया। उनके अभाव में मैं एक प्रकार पितृविहीन और असहाय अवस्था में परिणत हो गया था। इस दुःसमय में एकमात्र श्रीगुरु का स्नेह-सम्वन्ध ही मेरी सान्त्वना का मूल आधार रहा।

वावा के पुरी और शान्तिपुर से लौटकर वर्दवान में आने की बात मैं पहले ही कह चुका हूँ। वे वर्दवान से आषाढ़ ३१ सौर (१३२५ वं० सं०) को काशीधाम आते हुए मार्ग में धनवाद स्टेशन में गुरुभाई स्व० व्रजेन्द्रनाथ वसु के मकान में ठहरे। वहाँ से श्रावण २ सौर को रवाना होकर श्रावण ३ सौर को काशी आ पहुँचे। हम सभी लोग उनका स्वागत करने के लिए स्टेशन में गये थे। राधिका वापुली दादा ने आश्रम में यथाविधि वावा के और उनके संगियों के भोग की व्यवस्था कर रखी थी।

बावा काशी में रहे लगभग चार मास अर्थात् श्रावण ३ सौर से कार्त्तिक मास के अन्त तक। इसी वर्ष वर्षा के वाद से शीत काल तक अर्थात् आश्विन से पौष मास तक संक्रामक एन्फ्लुएन्जा रोग का भयानक प्रादुर्भाव हुआ था। केवल काशी में ही हुआ था सो बात नहीं है। भारतवर्ष में सर्वत्र ही, यहाँ तक कि पृथिवी के सभी देशों में इस महामारी का भयङ्कर प्रकोप हुआ था। यह तब War Fever अर्थात् युद्ध-ज्वर के नाम से सर्वत्र वर्णित होता था। क्योंकि सन् १९१४ ई० से चल रहे जर्मनी के भीषण महायुद्धवश अन्तरिक्ष-मण्डल के विषाक्त होने के कारण इस रोग का आविर्भाव हुआ था, यही अनेक लोगों का विश्वास था। तब काशी में अहोरात्र व्यापक रूप से मृत्यु की ताण्डव-लीला चलती दिखाई देती थी। दिन-रात इतने अधिक लोग काल के गाल में समाते थे कि काशी के प्रसिद्ध दो श्मशानों में शवदाह

के लिए स्थान मिलता नहीं था। कई एक नवीन श्मशान बनाये गये थे। गंगा के उस पार भी शवदाह होता था। श्मशानों में भी कभी-कभी एकाधिक शव एक ही चिता में जलाये जाते थे। यह सब होने पर भी बहुत-से मुर्दे बाध्य होकर गंगा में फेंक दिये जाते, फलतः गंगाजल में जगह-जगह सड़े मनुष्य-शरीर दिखाई देते थे। प्रायः प्रत्येक घर में शवदाह की विकट दुर्गन्ध वायु-वेग से बहकर आती थी। हनुमानघाट के आश्रम में भी सन्निकटवर्त्ती हरिश्चन्द्रघाट की श्मशानभूमि के शवदाह की दुर्गन्ध का जब-तब अनुभव होता था।

श्रीगुरुदेव के इन चार महीनों के काशीनिवास-काल में जिन लोगों ने उनसे दीक्षा प्राप्त की थी, उनमें पूर्ववर्णित भूपण दादा प्रधान थे।

ठाकुर तरणीकान्त के वृत्तान्त का मैं पहिले ही उल्लेख कर चुका हूँ। ये अपने को विशेष शक्ति-सम्पन्न मानते थे एवं बहुत लोगों के निकट अपनी उपार्जित शक्ति का प्रदर्शन भी करते थे। इस सम्बन्ध में उनको एक विशेष अभिमान था। उनके साथ जभी विचार-चर्चा छिड़ती, मैं देखता कि वे सूर्य-विज्ञान पर विश्वास करते न थे। वे कहते थे कि मैं अपनी आँखों से देखे बिना विज्ञान के सम्बन्ध में विश्वास नहां कर सकता। श्रीगुरुदेव से अनुमति लेकर एक दिन मैं उनको सूर्य-विज्ञान की प्रक्रिया दिखाने के लिए हनुमानघाट के आश्रम में ले गया। यह सन् १९१८ ई० की तारीख १३ नम्बर की बात है। उन्होंने जो-जो देखना चाहा था, बाबा ने विज्ञान के बल से उनको वही दिखाया था। इसके कारण सरस्वती (तरणीकान्त) महाशय इच्छा न रहने पर भी विज्ञान को सत्य मान लेने के लिए बाध्य हुए थे।

इस प्रसंग में ठाकुर तरणीकान्त के सम्बन्ध में और एक विशिष्ट घटना लिखने को मुझे इच्छा है। यह घटना यद्यपि कुछ दिनों के बाद घटी थी तथापि इसे प्रासंगिक समझकर इसी स्थान में वर्णित करना उचित प्रतीत होता है। एक दिन मैं किसी विशेष काम से विश्वनाथ की गली से होकर चौक की ओर जा रहा था। यह तीन या चार बजे की बात है। ठाकुर महाशय आनन्द-आश्रम के दरवाजे के सामने बैठे थे एवं मुझे देखकर आश्रम के भीतर आने के लिए उन्होंने आमन्त्रित किया। बहुत दिनों से ही उनकी इच्छा थी कि अपनी उपार्जित कई एक शक्तियों के खेल मुझे दिखावें। मैं आमन्त्रित होकर उनके साथ आश्रम के दोतल्ले में एक खुले स्थान पर जाकर बैठा। आश्रम में तब उनके और मेरे सिवा और कोई आदमी नहीं था। उन्होंने कहा, "गोपी बाबू, अनेक दिनों से ही आपको में कईएक शक्तियों के खेल दिखलाना चाहता हूँ। आज दिखाऊँ, यह सोचकर मैं आपको बुला लाया हूँ। आप सामने के कमरे में जाकर फर्श पर बैठें। चारों ओर के दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द कर अपने नोटबुक से एक सादा कागज लेकर उसके चार टुकड़े कर प्रत्येक टुकड़े में अपनी इच्छा के अनुसार कोई प्रश्न अथवा कोई नाम लिखें। अपनी पेन्सिल से ही लिखें। लिखने के बाद कागज के इन चार टुकड़ों की गोली बनाकर मुट्ठी में उन चार गोलियों को बन्द कर मेरे पास लौट आवें।" उनके निर्देशानुसार मैंने सामने के कमरे में जाकर वैसा ही किया एवं गोलियों को मुट्ठी में रखकर उनके निकट लौट आया।

उन्होंने कहा, "इन गोलियों को मुट्ठी में रखकर ही उलट-पुलट कर डालें।"। मैंने वैसा ही किया। उन्होंने कहा, "इन चार गोलियों में किसमें आपने क्या लिखा है; आप स्वयं वता सकते हैं क्या ?" मैंने कहा, "नहीं।" उन्होंने उसके वाद मुझसे जिस किसी एक गोली को अपने हाथ से उठाने को कहा एवं उसमें जो लिखा था वह वतला दिया। उसके अनन्तर गोली खोलकर देखा गया तो उन्होंने ठीक ही कहा था। प्रत्येक स्थल में शब्दों का वर्ण-विन्यास तक उन्होंने वतला दिया था। उस समय रवीन्द्रनाथ जापान गये थे। मैंने एक में लिखा था, "रविवाबू इस समय कहाँ हैं ?" उन्होंने वह ठीक-ठीक वतला दिया था एवं मुझसे कहा था रवि लिखने में व के वाद ह्रस्व इकार क्यों दिया है ? रवीन्द्र लिखने में तो व के वाद दीर्घ ईकार होता है। तब मैंने कहा था कि रवीन्द्र शब्द में वकार के वाद दीर्घ ईकार होने पर भी रवि शब्द में वकार के वाद ह्रस्व इकार ही हुआ करता है। यह वात कहने का उद्देश्य यह है कि उन्होंने अलौकिक उपाय से केवल मानस-ध्वनि सुन पाई हो सो वात नहीं थी। प्रश्न-वाक्यों के वर्णविन्यासों को भी स्पष्ट रूप से उन्होंने देखा था। अर्थात् यह केवल Thought reading नहीं था Clairvoyance भी था। उन्होंने चार कागज के टुकड़ों में क्या-क्या लिखा है, यह ठीक-ठीक वतला दिया था। तनिक भी भूल नहीं हुई थी। इस प्रदर्शन-व्यापार में उन्होंने मेरा अथवा मेरे हाथ में रखे किसी कागज का भी स्पर्श नहीं किया एवं स्वयं आसन से उठे भी नहीं। इसके वाद बाहर से एक आदमी जिज्ञासु के रूप में उनके निकट आया। तव उन्होंने उस आदमी का अवलम्बन कर Thought transference की एक प्रक्रिया मुझे दिखलाई। अर्थात् अपना एक विचार उस आदमी में संचारित कर वह उस आदमी के अपने विचार के रूप में किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है उसकी प्रक्रिया दिखलाई। इसके वाद सरस्वती महाशय को धन्यवाद देकर मैं उनके आश्रम से चला आया।

यह प्रक्रिया देखने के वाद मैंने सरस्वती महाशय में कुछ शक्ति है, ऐसा सोचना आरम्भ किया था एवं एक दिन प्रसंगतः इस घटना की वात श्री श्रीगुरुदेव के निकट कही भी थी। यह सन् १९१८ ई० की वात नहीं है, कुछ वाद की वात है, यह पहले ही मैं कह चुका हूँ। जिस दिन वावा के निकट इस प्रसंग में बातचीत हुई उस दिन उनके किसी जगह आमन्त्रित होकर जाने की वात थी। वे जाने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु मेरी यह वात सुनकर उन्होंने तत्क्षण बाहर जाने का आयोजन स्थगित कर मुझसे पूछा, "तुमने जो देखा है, उससे तुम्हें क्या प्रतीत हुआ ?"

मैं—मुझे प्रतीत हुआ कि भद्रपुरुष में कुछ-कुछ शक्ति का विकास हुआ है : ऐसा यदि न हुआ होता तो उन्होंने इस प्रकार का व्यापार दिखाया कैसे ? यह एक विशिष्ट शक्ति का खेल है, इसमें सन्देह क्या हो सकता है ? हाँ, शक्ति अल्प हो सकती है। अल्प होने पर भी शक्ति शक्ति ही है।

वावा—यह सब कुछ नहीं है। यह वास्तव में शक्ति का खेल ही नहीं है। यह एक प्रकार की चालाकी है। तुम्हारे नेत्र नहीं हैं, इसलिए तुम चालाकी पकड़ नहीं पाते।

बावा का यह उत्तर सुनकर सचमुच मैं सन्तुष्ट नहीं हो सका। क्योंकि मैं अपनी बुद्धि के अनुसार दिखाने में उनकी कोई चालाकी ताड़ नहीं पाया था। इसलिए बावा के उस व्यापार को चालाकी कहने पर भी मेरी बुद्धि सत्यानुसन्धानेच्छु होकर चालाकी मान न सकी। मैंने प्रतिवाद कर बावा से कहा, "बावा, आपने जो कहा है वह निश्चय ही सत्य है, किन्तु मैं अपनी बुद्धि में इसकी धारणा नहीं कर सक पा रहा हूँ। मैंने जो प्रत्यक्ष देखा है उसका मैं कैसे अपलाप करूँ ?"

मेरा चित्त अब अत्यन्त संशयाकुल था। एक ओर गुरुवाक्य एवं दूसरी ओर तथाकथित प्रत्यक्ष अनुभव। मैं दोनों का समन्वय नहीं कर पा रहा था। मेरी यह व्याकुलता देखकर बावा ने कहा, "तुम्हारा चित्त अत्यन्त पीड़ा का अनुभव कर रहा है। संशय-निवृत्ति न होने तक यह स्वाभाविक है।" यह कहकर उन्होंने मुझसे कहा, "जाओ, तुम नीचे की मंजिल में चले जाओ, पूजा के कमरे से[1] धूपदानी और एक दियासलाई साथ ले जाओ। बीच की मंजिल में अथवा नीचे की मंजिल में किसी एक कमरे में जाकर अपने नोटबुक से एक सादा (कोरा) कागज फाड़कर उसमें अपने इच्छानुसार चाहे कोई प्रश्न लिखना। उसके बाद जिसपर प्रश्न लिखा हो, उस कागज को मोड़-माड़कर इस धूपदानी में रखकर दियासलाई से उसमें अग्नि लगा देना। उसके सम्पूर्ण भस्म हो जाने पर उस भस्म को दोनों हाथों से मलकर उड़ा देना। इतना हो जाने पर निश्चिन्त हो धूपदानी और दियासलाई साथ लेकर ऊपर चले आना। बावा का आदेश पाकर मैंने तदनुसार सब कुछ किया एवं अपना लिखित प्रश्न जिस कागज पर था उसे जलाकर, भस्म उड़ाकर तीसरी मंजिल में बावा के पूजा के कमरे में बावा के निकट लौट आया। बावा तब चौकी पर बैठे थे। पीछे एक तकिया था। मेरे जाकर उन्हें प्रणाम करते ही उन्होंने पूछा, "लिखा था ना। कागज जला दिया है ना ?"

मैं—हाँ बावा, जलाकर मैंने वह भस्म उड़ा भी दिया है।

बावा—ऐसी स्थिति में तुम्हारा लिखा वह कागज अब नहीं है ?

मैं—नहीं बावा ! अब यहाँ वह कहाँ प्राप्त हो सकेगा ?

यह कहने के साथ-ही-साथ अपने टेक दिये तकिये के नीचे से एक कागज मुझे देकर कहा, "यह लो देखो, अपना कागज और प्रश्न का उत्तर भी उसमें है।" कागज देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। क्योंकि यह कागज वही नोटबुक का कागज था एवं उसमें मेरे हाथ का लिखा प्रश्न भी रहा। केवल इतना ही नहीं, उसके नीचे के हिस्से में आलता से लाल-लाल अक्षरों में मेरे प्रश्न का उत्तर भी लिखा रहा। वह लिखा

---

१. बावा जब हनुमानघाट के आश्रम में रहते थे तब तीसरी मंजिल के कमरे में वे पूजा करते थे और उसी कमरे में रात्रि में शयन करते थे। इसीलिए वह उनका पूजा-गृह और शयन-गृह दोनों ही था। तीसरी मंजिल में ही कुछ दूर एक छोटे कमरे में उनकी रसोई होती थी, बीच में प्रशस्त छत थी। दूसरी मंजिल में उनका बैठकखाना (बैठने का कमरा) था, जहाँ दर्शनार्थी, शिष्य, भक्त आगन्तुक, सन्त, साधु सभी इकट्ठे होते थे। दूसरी मंजिल के अन्यान्य कमरों में एवं नीचे की मंजिल में शिष्यवर्ग और भृत्य आदि रहते थे।

वावा के हाथ का नहीं था एवं आश्रमस्थ किसी आदमी के हाथ का भी नहीं था। लड़की के हाथ का लिखा मालूम पड़ता था। आश्चर्य का एक कारण यह था कि जिस कागज को मैंने अपने हाथ से नष्ट कर दिया था, ठीक वही कागज मेरे अपने हाथ के लिखे ठीक उन्हीं प्रश्नों को लेकर दूसरी बार किस तरह आया ? दूसरी एक वात—प्रश्न के उत्तर ही किसने लिखे ? स्पष्ट रूप में लिखा उत्तर पाया गया, पर किसने लिखा इसका पता पाने का कोई उपाय नहीं। तव मैंने विस्मयविमुग्ध चित्त से वावा से कहा, "यह तो अत्यन्त आश्चर्य है, कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। सरस्वती महाशय के निकट जो मैंने देखा था, यह उससे भी अद्भुत है। यह तो और भी उच्चतर शक्ति का परिचायक है।" वावा ने हँसकर कहा, "वेटा, यह भी धोखा है, तुम चाहे कितने ही आश्चर्यान्वित क्यों न होओ, किन्तु मूल में यह धोखे के सिवा और कुछ नहीं है। यथार्थ योग के मार्ग में यह विघ्न है। तुमलोगों के नेत्र अभी खुले नहीं, इसलिए तुमलोग वास्तविक सत्य का दर्शन नहीं पा रहे हो। असत्य को सत्य मान रहे हो। सत्य का साक्षात्कार-लाभ करना ही योगी का कार्य है। योग के विना ज्ञान कहाँ ? यह किस तरह हुआ एवं इसे किस प्रकार देख रहे हो, इसका रहस्य मैं तुम्हें समझा दूँगा। जान रखो, यह भी मायाजाल है। समस्त विश्व में यह मायाजाल व्याप्त है। इसका भेदन करना ही चक्षु का उन्मीलन है। जिसका चक्षु उन्मीलित हुआ है उसको कोई धोखा नहीं दे सकता, यहाँ तक की विश्वस्रष्टा महामायावी की माया से भी वह मुग्ध नहीं होता; क्योंकि वह सव कुछ देख पाता है। कर्म के पथ पर चलो, क्रमशः सव जान सकोगे।" इसके वाद इन्होंने इस रहस्य की प्रक्रिया मुझे समझा दी। यहाँ मैंने उसे उद्घाटित नहीं किया।[1]

वावा की संक्षिप्त उपदेशवाणी से महाभारत के शान्तिपर्व में उक्त नारद के

---

१. इस प्रसंग में Prof. Bert Reese के वृत्तान्त का स्मरण हो आया। उनमें इस प्रकार की असाधारण क्षमता थी। श्री Hereward Carrington ने सन् १९१२ ई० के मई महीने की ३री तारीख को उनके द्वारा प्रदर्शित कई अलौकिक व्यापारों का वर्णन किया था। उन्होंने कई प्रश्न अलग-अलग कागजों में लिखे थे और दो आदमियों के नाम लिखे थे। बाद में उन सबको मोड़कर परस्पर मिलाकर एक-एक करके एक-एक दराज में अपने हाथ से रख दिया था। Reese ने इनमें से किसी का भी स्पर्श नहीं किया। इसके बाद उन्हें एक कागज दिया गया। उसे उन्होंने जला डाला। तदनन्तर दर्शकों के इच्छानुसार एक-एक दराज का प्रश्न और उसका उत्तर उन्होंने कहना शुरू किया। बाद में ज्ञात हुआ कि सव ठीक हुआ। Carrington का यह वर्णन फ्रांस से फ्रेंच भाषा में प्रकाशित Annals of Psychic Science नाम की पत्रिका में सन् १९१३ ई० के नवम्बर मास में प्रकाशित हुआ था। उसी पत्रिका में Dr. J. Maxwell और Dr. Schrenck Notzing ने स्वलिखित प्रबन्ध में अपने समक्ष पेरिस में प्रदर्शित घटना का वृत्तान्त भी लिखा है। बहुत जगह इस प्रकार की घटनाएं छपती रहती हैं। अनेकों स्थानों में निम्नस्तर की विदेह आत्मिक सत्ताओं द्वारा ये सब संघटित हुआ करती हैं। ये सब आश्चर्य होने पर भी इनका मूल्य अधिक नहीं है।

वावा ने जो लेख दिखाया, विशेषज्ञ लोग उसे Psychograph कहते हैं। वस्तुतः उसका भी आध्यात्मिक मूल्य अधिक नहीं है।

श्वेतद्वीप-गमन और नारायण के श्रीविग्रह-दर्शन की कथा का मुझे स्मरण हो आया। श्वेतद्वीप योगी भक्तों के लिए भी अति दुर्गम स्थान है। मैंने नारायण की परा प्रकृति अथवा परम स्वरूप का दर्शन किया है, ऐसा सोचकर नारद आत्मतृप्ति तथा उल्लास का अनुभव कर रहे थे। उसी समय आकाशवाणी हुई, "नारद, मेरे सत्य स्वरूप के दर्शन तुमने कर लिये हैं, ऐसा विचारकर तुम गर्व का अनुभव कर रहे हो। किन्तु निश्चय जानो, तुमने जो देखा है वह मेरे द्वारा रची गई केवल माया है—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।"

योगाचार्य वार्षगण्य ने कहा था—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥"

बाबा की उपदेशवाणी से मुझे ज्ञात हुआ कि सत्यनिष्ठ योगी के लिए इन सब दर्शनों से मुग्ध होना उचित नहीं। दृश्य-दर्शन के अन्तराल में जो सत्य निहित है उसी को धरने, हृदयंगम करने, की चेष्टा करना उचित है। दृष्टि का पर्दा खुल जाने पर ही वह सम्भव है।

बाबा के साथ मेरा परिचय लगभग एक वर्ष पूर्व हुआ था। इस एक वर्ष के मध्य लगभग साढ़े पाँच मास वे काशी में नहीं रहे। इसलिए शेष साढ़े छह मास-मात्र उनका संगलाभ हुआ; यह कहा जा सकता है। हनुमानघाट-आश्रम में रहते समय बाबा की जीवनधारा मुझे बहुत अच्छी लगी थी। तब अत्यन्त घनिष्ठ रूप से उनके साथ हिलने-मिलने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ था, जिसके कारण उनका अतुलनीय ऐश्वर्य रहते भी ऐश्वर्य-निमित्तक व्यवधान का मैं कभी भी अनुभव नहीं कर सका। उनका प्रेम कितना गहरा है, इसका आभास पाकर ही तब मैं मुग्ध हो पड़ा था। वे कितने बड़े हैं, इसका मैं बहुधा ध्यान नहीं रख पाता था। वे अक्सर कहते थे, "माँ का प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। अन्य सब प्रेमों में स्वार्थ रहता है, और तो और, पत्नी के प्रेम में भी स्वार्थ है। माँ के प्रेम में सन्तान की कल्याण-कामना के सिवा कोई स्वार्थ नहीं है।" इसलिए बहुधा मातृगतप्राण बाबा में माँ का ही मूर्त्त रूप मैं देख पाता था। उनको सुख-दुःख का साथी समझता था। उनके निकट मुख खोलकर कुछ भी कहना नहीं पड़ता था। कातर हृदय का नीरव क्रन्दन वे सुन पाते थे एवं सुनते थे। केवल यही नहीं, साथ ही-साथ प्रतिवेदन भी देते थे। किन्तु यह जानने नहीं देते थे कि वे ओट में रहकर सब कुछ देखते हैं एवं प्रयोजन के अनुसार प्रतिवेदन भी देते हैं।

उस समय हमलोग अपराह्ण में प्रायः प्रतिदिन ही घूमने जाते थे—नाव से भी जाते थे, पैदल टहलते हुए भी जाते थे, जब जैसी सुविधा होती। नाव से यदि जाते तो कभी उस पार से रामनगर की ओर, कभी प्रवाह के प्रतिकूल उस पार से असी-संगम लाँघकर नगवा की ओर एवं कभी-कभी प्रवाह के अनुकूल मणिकर्णिका

तथा पञ्चगंगा होते हुए आदिकेशव की ओर अर्थात् वरुणा-संगम की ओर जाते थे। साथ में हमलोग आठ-दस जन रहते थे। नाव में भी ज्ञान, विज्ञान और योग का प्रसंग चलता था। कभी विख्यात गायक भक्त योगेन्द्र राय यदि उपस्थित रहते तो हारमोनियम के साथ भजन-संगीत होता था। पैदल टहलते हुए चाहे नाव से अस्सी की ओर जाने पर हमलोग पूजनीय हरिहर बाबा के साथ भेंट करते थे। उनके लिए कुछ भाँग घोंटकर एक पवित्र पात्र में ले जाते थे और उनके दर्शन करते थे। हरिहर बाबा तब तुलसी-घाट में रहते थे। वे उसे प्रेम से ग्रहण करते थे और पान कर तृप्त होते थे।

मेरे दीक्षा-जीवन के इस प्रथम वर्ष में ही दुर्गापूजा के समय (१३२५ बं० सं०) परम श्रद्धास्पद मेरे बाल्यकाल के शिक्षागुरु-स्थानीय परम सुहृत् श्रीयुत अक्षयकुमार दत्त गुप्त को काशी में प्रथम बार बाबा के दर्शन प्राप्त हुए थे।

कईएक छिन्न पत्र

प्रस्तावना

यहाँ 'कईएक छिन्न पत्र' नाम से जो कतिपय पत्रांश प्रकाशित किये जा रहे हैं वे मेरे निकट लिखे गये एक साधक गुरुभाई के कईएक पत्रों के अंश हैं। ये लगभग १९४५-४६ ई० में मुझको लिखे गये थे। मैंने यथासमय इनका उत्तर भी दिया था। पत्र-लेखक श्रीश्रीगुरुदेव के एक कर्मठ शिष्य थे। वे अपने अनुभव में आये हुए बहुत-से विषयों का बीच-बीच में पत्र द्वारा मेरे निकट वर्णन लिखते थे। इनमें एक विशिष्ट प्रसंग की आलोचना है, इसलिए ये पत्र आंशिक रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं। अन्यान्य पत्रों को इस विषय में अप्रासंगिक समझकर उनसे कोई अंश उद्धृत नहीं किया गया। लेखक का नाम अप्रकाशित रहा एवं अप्रकाशित ही रहेगा। इस पत्र में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में मेरा अपना वक्तव्य पत्रांशों के उपसंहार के रूप में अन्त में दिया गया है।

[१]

प्रथम पत्र

दादा, सचमुच क्या मैं कहीं गया था ? इस जगत् को छोड़कर इसी प्रकार का कोई स्थान वास्तव में है क्या ? यह मेरी कल्पना तो नहीं है ? बार-बार जितनी परीक्षा कर भलीभाँति देखता हूँ, प्रतीत होता है कि सचमुच मैं ठीक उसी एक सुन्दर स्थान में, अतिपरिचित अथच नूतन स्थान में, स्निग्ध चाँदनी में मार्ग पर चल रहा था। खूब तेज प्रकाश था, पर वह सूर्य-किरण अथवा धूप की तरह तीव्र और प्रखर नहीं था। वह चाँदनी से अधिक स्निग्ध एवं उज्ज्वल प्रकाश था। लौकिक चाँदनी में पढ़ा नहीं जा सकता और दूर तक साफ-साफ देखा भी नहीं जाता। वहाँ बहुत दूर तक अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखा जाता था। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु भी दिखाई देती थी।

कितनी बार सोचता हूँ कि लिखूँ, किन्तु इतना संकोच और लज्जा मन में आती है कि लिख नहीं सकता हूँ—इतना सन्दिग्ध मन है! सन्देह होता है कि शायद भूल न हो जाय, शायद यह कल्पना न हो। पर वह इतना स्पष्ट सत्य है कि जब देखता हूँ अथवा अनुभव करता हूँ तो उसकी अपेक्षा यह जगत् अत्यन्त तुच्छ, अत्यन्त म्लान और क्षण-भङ्गुर प्रतीत होता है। यह जगत् आज है, तो कल नहीं, परन्तु वह मानों चिरकाल से सदा शाश्वत रूप से ही है और रहेगा। दादा, इस जगत् में इस अनुभव को सब लोग पहेली समझेंगे, किन्तु आप पहेली न समझेंगे। मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि मेरा यह अनुभव स्वप्न तो नहीं है ? सिर्फ मायावी की कल्पना अथवा जादूगर के जादू के तुल्य तो नहीं है ? मैं अब और भी स्पष्ट रूप

से कह रखता हूँ कि आप स्पष्ट रूप से समझाने की कृपा कीजिएगा। मैं भावराज्य में भटकना नहीं चाहता। हम बाबा के शिष्य हैं; प्रत्यक्षवादी हैं। केवल कल्पना के ऊपर जीवन की बाजी लगाकर खेल में प्रवृत्त होने पर बाबा के बड़े-बड़े दो नेत्र उज्ज्वल हो उठते थे और डाँटते थे—"खबरदार, मिथ्या का आश्रय मत लेना। जो प्रत्यक्ष है उसी पर विश्वास करना।" यही बाबा की वाणी है।

महानिशा के आसन पर कुछ क्षण बैठने के पहले कान में हुए एक गुन-गुन शब्द ने मुझे उठा दिया। तदनन्तर आसन पर बैठने के बाद एक प्रकाशमय राज्य में जा पहुँचा; मानों एक सुन्दर मार्ग एक विराट् शुभ्र अट्टालिका की ओर गया हो। वहाँ मानों कोई ले जाने के लिए प्रेरणा करता हो, मानों किसी की पुकार पड़ रही हो। सामने से हाथ से इशारा कर 'आओ, आओ' कहकर कोई मानों पुकार रहा हो, पर कोई पुकारता भी नहीं है; बोलता भी नहीं, सब मौन हैं, आँख के साथ आँख मिलने पर ही मानों सब बातें हो जाती हैं। अधिक वाक्य-व्यय की आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसी साफ चमचमाती चाँदनी है कि उसमें छाया नहीं पड़ती। मैंने पहले सोचा कि इतनी दूर पैदल कैसे जाऊँगा ? सोच रहा हूँ कि इतनी तेज धूप में कैसे चलूँगा ? यह सब सोच रहा हूँ, किन्तु चल रहा हूँ या बैठा हूँ यह भी समझ नहीं पा रहा हूँ। किन्तु उस विराट् अट्टालिका के निकट जा पहुँचा। दूर से वह शुभ्र स्फटिक-निर्मित अट्टालिका अथवा मन्दिर जितना विशाल प्रतीत होता था, निकट जाने पर उतना ही विशाल दिखाई दिया—मानों निकट-दूर नाम की कोई वस्तु वहाँ नहीं है। पहले-पहले कुछ दिन दरवाजे के निकट जाकर लौट आया। तब मैंने मन-ही-मन सोचा कि क्या सचमुच ही मैं अपना आसन छोड़कर चला आया हूँ ? यह सोचकर अपने हाथ से मैंने आसन को टोया, छूआ, मालूम हुआ कि मैं आसन पर ही बैठा हूँ। इसमें एक प्रमाण मिला कि अज्ञान होकर गया नहीं, सम्पूर्ण चैतन्य है, चैतन्य खोया नहीं और यह अवस्था समाधि भी नहीं है। झटपट उठ बैठा। सोचा कि मन्दिर में प्रवेश करने पर मैं नहीं जानता कि मैं लौट सकूँगा या नहीं। उसके दूसरे दिन फिर वहाँ जाने के लिए कौतूहल हुआ। इतना प्रबल कौतूहल कि बिना गये रहा नहीं जाता था। किन्तु मेरा दुष्ट मन, सन्दिग्ध मन, केवल यही सोचता था कि यह सब जो देख रहा हूँ एक कल्पनामात्र तो नहां है ? आसन पर बैठकर मैंने सोचा कि आज फिर क्या न जा सकूँगा ? जाते-जाते घुटने पकड़कर देखा—यह पता लगाने के लिए मैं आसन के ऊपर हूँ या नहीं ? शून्य में तो नहीं हूँ ? आसन की बात भूल गया हूँ, एकाएक कब उसी प्रकाशमय जगत् में जा पहुँचा, इसका स्मरण भी नहीं है। उस दिन फिर परीक्षा करने की इच्छा हुई। देखा, एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष मेरे ही तुल्य पथिक हैं। उनके निकट जाकर देखता हूँ कि वे निश्वास नहीं ले रहे हैं। श्वास-प्रश्वास नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतिकौतूहलयुक्त होकर देखते ही उन्होंने मानों मेरी ओर देखकर ही मुझसे कहा—यहाँ आते ही किसी का भी श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। मैंने तत्क्षण श्वास-प्रश्वास लेने के लिए प्रयत्न किया, मुझे मालूम पड़ा कि सचमुच मेरा भी श्वास-प्रश्वास कुछ क्षण तक बन्द रहा। सोचते ही, श्वास चलने लगा। बिना प्रयास श्वास बन्द होने

का क्या आनन्द है, इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया। उस दिन की तरह फिर मन्दिर में प्रवेश करना नहीं हुआ। क्योंकि अपनी ओर लक्ष्य करते ही लौट आना पड़ता है। सन्देह होने पर फिर वहाँ रहा नहीं जाता। × × ×

ये सब बातें किसी से भी अब न कहें। पीछे कोई सुनेगा मुझे यह भय है। आपसे कहूँगा यह सोचकर मैंने कई बार पत्र लिखा, किन्तु उसे भेजा नहीं। पर मन में जब प्रश्न उठता है तब आपको छोड़कर और किससे जिज्ञासा करूँ ?

× × × ×

[२]

मन्दिर में प्रवेश की बात

द्वितीय पत्र

पहले मैंने सोचा था कि आपके निकट मैं पूर्व पत्र में १०-४-४५ से अपने अनुभव के विषय में लिखना आरम्भ करूँगा; क्योंकि उसी रात्रि से मैं विशेष प्रकार की ध्वनि विशेष रूप से सुनने लगा था। उसके पश्चात् पाँच-छह दिनों के बाद वह शब्द मानों आलोक में परिणत होने लगा। यह आलोक जितना ही स्पष्ट होने लगा, उतनी ही उसकी स्निग्धता और उज्ज्वलता बढ़ने लगी। उसी के साथ धीरे-धीरे शब्द की ध्वनि भी क्षीण होने लगी अर्थात् आलोक के साथ वह शब्द मिलने लगा। मेरा प्रश्न है कि शब्द के साथ आलोक का क्या सम्बन्ध है ? इस अनुभूति के समय मैं कहाँ रहता हूँ ?

इस पत्र को लिखने में आज इतना विलम्ब क्यों हुआ, जानते हैं ? मैंने, मालूम होता है, खूब अपराध किया है, आप यदि निकट होते, तो प्रतीत होता है, इतनी भूल न करता।

मेरी इच्छा हुई कि इसी प्रकाश में बैठकर आपको पत्र लिखूँ। मैंने सोचा— इतने स्पष्ट प्रकाश में यदि पत्र न लिख सका तो इसका मूल्य ही क्या ? मेरे निकट वह आलोक इतना स्पष्ट और साफ था कि उसी आलोक में बैठकर मन्दिर के वर्णन के साथ विस्तृत पत्र लिखने की आकांक्षा हुई। इसलिए पहले से ही दावात, कागज और कलम लेकर आसन पर बैठा। सामने दृश्यपट पर प्रकाश फूट उठा— शब्द धीरे-धीरे मिल गया अर्थात् शब्द मानों बिलकुल ही रहा नहीं। क्यों ? वहाँ शब्द न रहना ही अधिक भला लगता है। इस समय मैं एक प्रश्न समाधान के लिए कर रखता हूँ—शब्द, प्रकाश और दृश्य—इन तीनों का मिलन होने पर क्या होता है, यह जानने की इच्छा होती है। सिर नीचे कर ज्यों ही कलम उठाकर लिखने लगा, उसी समय धीरे-धीरे प्रकाश अदृश्य हो गया। यह करना उचित था क्या ? मालूम होता है मैंने बड़ी भूल की।

मार्च महीने की १४वीं और १५वीं तारीख से मैं प्रतिदिन सफेद सीढ़ी के ऊपर जा बैठता—मन्दिर की सीढ़ी के स्टेप लगभग सात-आठ होंगे। मन्दिर के चारों ओर बड़े-बड़े खम्भे हैं और खम्भों के बीच-बीच में कमल के फूलों की पंखुड़ियाँ लगी हैं एवं प्रत्येक पंखुड़ी मानों दीपक के तुल्य झक्झक् कर रही है। इसी प्रकार खम्भों

को चौगिर्द आरती के प्रदीपों के तुल्य सजाई हुई हैं। मन्दिर के दरवाजे पर बैठकर मुझे कुछ दिखाई नहीं दिया, मालूम हुआ मानों एक सफेद पर्दे से ढका है। मार्च की १८वीं तारीख को पर्दा बीच में खुल गया। उस स्थान से एक अत्यन्त सुन्दरी षोडशी तरुणी मूर्त्ति अति कोमल, करुण और स्नेहार्द्र वचन से मुझसे बोलीं, "भीतर आओ।" मैंने कल के पुतले की तरह भीतर जाकर देखा कि सिर के ऊपर अत्यन्त सुन्दर चँदवा है, उसके चारों ओर फूलों की झालर लगी है। वह देखने में इस तरह है—....................बीच में एक बहुत बड़ा लाल कमल है। फर्श स्फटिक का बना है—झक्झक् कर रहा है। मैं आदेश पाकर वहाँ जाकर बैठ गया। मैं अत्यन्त थका था, इसलिए फर्श पर लेट गया। सिर के सिरहाने वे (देवी) आकर बैठीं और मेरा सिर अपनी गोद में रखकर उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया। मैंने पूछा—"और सब कोई कहाँ हैं ?" उत्तर—"सभी के साथ भेंट होगी।" फिर मैंने प्रश्न किया— "बाबा कब आयेंगे ?" उत्तर—"बाबा यहाँ नहीं आयेंगे।" मैं अत्यन्त घबराकर उठ बैठा, मैंने प्रश्न किया, "तो क्या उनका दर्शन यहाँ कभी नहीं होगा ?" उत्तर— "नहीं, कभी नहीं। वे यहाँ आयेंगे नहीं। उनका दर्शन यदि पाना हो तो बहुत दूर जाना होगा, इतने उतावले और व्याकुल होने पर काम कैसे चलेगा ? स्थिर होओ, शान्त होओ, क्रमशः सब होगा। उनका यदि दर्शन करना हो तो इतने चञ्चल होने से कुछ नहीं होगा। यहाँ स्थिरतापूर्वक कुछ दिन रहने के बाद वह स्थान बहुत सुगम हो जायगा। तब अति दूर पथ—अति निकट हो जायगा। किन्तु इस समय उनके दर्शन यहाँ मिलेंगे नहीं। लेकिन उनके दर्शनों का मार्ग यही है—इस पथ पर क्रमशः स्थिर हो सकने पर उस अखण्ड मण्डलाकार राज्य में जा पहुँचोगे।" यह कहकर उन्होंने एक बहुत बड़ा मण्डलाकार आलोक का प्रकाश दिखाकर कहा, "उसका भेद कर और भी दूर जाकर बाबा का राज्य पाओगे। वह बहुत दिनों की बात है— इस समय स्थिर होओ और शान्त होओ।" यह कहकर वह मुझे शान्त करने की चेष्टा करने लगीं। वे जितना ही चेष्टा करने लगीं, मैं उतना ही उतावला और व्याकुल हो पड़ा। मैंने देवी से कहा, "जब यहाँ बाबा के दर्शन मिलेंगे ही नहीं तो यहाँ रहकर क्या करूँगा ? मैं यह चला।" कहते ही मानों उसी क्षण लौटकर फिर पथ पर आया। मैंने देखा कि उस आलोक के पथ के दोनों किनारों में और भी कितने ही लोग छोटी-छोटी वेदियों के ऊपर बैठकर ध्यानस्थ हैं। हर एक वेदी देखने में एक-एक कमल के फूल की तरह मालूम होती थी। उन्हें देखकर मुझे ऐसा लगा, मानों ये सभी बाबा के दर्शनों की प्रतीक्षा में बैठे हैं। मैं यदि खूब अधिक समय तक वहाँ रहता तो बहुत अच्छा होता, अन्त में मुझे थोड़ा पश्चात्ताप होने लगा। क्रिया पाने के बाद से ऐसी भूलें मैंने अक्सर की हैं—क्रिया करते-करते जभी आनन्द का समय आया है, संख्या समाप्त हुई और मैं उठ पड़ा। और अधिक बैठना उचित था।

१९।२०वीं तारीख को मैं फिर गया। सीढ़ी के ऊपर जाकर बैठने ही वाला था कि इसी समय एक दिव्य पुरुष ने अत्यन्त स्नेहपूर्ण कण्ठ से कहा, "भीतर जाओ, मन्दिर में जाकर माँ के निकट स्थिर होकर बैठो, सब मंगल होगा, उतावले मत

होओ।" मैं अपनी स्वाभाविक रूक्षता से बोला, "बाबा के दर्शन जब यहाँ होंगे ही नहीं तब मुझे ऐसे मन्दिर की आवश्यकता नहीं। बाबा के दर्शनों के लिए मैं इधर-उधर कितनी ओर गया, सभी अनन्त काल तक प्रतीक्षा करने को कहते हैं, मुझमें इतना धैर्य नहीं है। बाबा ने मुझसे कहा था, 'तीव्र इच्छा होते ही दर्शन पाओगे।' यहाँ आपलोग सभी बद्ध होकर पड़े हैं, यह नहीं जानते कि कितने काल तक पड़ा रहना पड़ेगा। यहाँ माँ के फन्दे में कबतक रहूँगा?" इत्यादि बहुत-सी बातें अभ्यासानुसार मैंने कह डालीं। साथ-ही-साथ स्थिर होकर रहने की इच्छा होने लगी। तर्क मानों कहीं विलुप्त होने लगे। आ हा! उस प्रकार की गोद में सिर रखकर लेटे रहने के तुल्य सुख का मुझे कहीं भी अनुभव नहीं हुआ। किन्तु क्या करूँ, भूल करने का संस्कार जो पड़ा है। मानों रहने नहीं देता—सोचा इस आनन्द में डूब जाने पर फिर लौट न सकूँगा। मैं तो इसी शरीर से एक बार बाबा के दर्शन चाहता हूँ, अन्यथा जीवन की बाजी लगाकर शेष जीवन में आहार त्यागकर गंगा के किनारे जाकर पड़ा रहूँगा। या तो बाबा के दर्शन हों अन्यथा इस शरीर का पतन हो, यही मेरा संकल्प रहेगा। जीवन में अनेक बार भागा हूँ, इस बार फिर लौटूँगा नहीं, यही बार अन्तिम है। बाबा के देहत्याग के बाद से मेरे मन का संकल्प रहा है कि मैं स्वर्ग नहीं चाहता, दिव्यज्योति नहीं चाहता, मैं चाहता हूँ एक बार बाबा के दर्शन। वह कब होगा, जानता नहीं।

उन देवकन्या के पहनावे के वस्त्र लाल थे, वे एक परिवेश से आवृत थीं अर्थात् उनके चारों ओर मण्डलाकार एक Halo या प्रभामण्डल था। उसके मध्य में मुख अत्यन्त कोमल और अत्यन्त परिचित था, मानों नूतन रूप से अपरिचित को चिन्हा देने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु, वहाँ जाकर भी मेरा हठीलापन गया नहीं। मैंने बहुत दिनों से मन-ही-मन यह निश्चय कर रखा है कि यदि कभी कोई देवता या महापुरुष आयेंगे तो उनसे यह कहूँगा कि वे कृपाकर मुझे साथ लेकर बाबा के निकट चलें; क्योंकि मैं ज्योति-दर्शन के आवेश में डूबा रहना नहीं चाहता। वहाँ जो सब देवता या भक्तगण ध्यान लगाकर बैठे हैं, मैं उन सभी से एक वाक्य में यह बात कहना चाहता हूँ कि यहाँ सब आबद्ध न रहकर हम और आगे चलें। जब हम सब बाबा के दर्शन ही चाहते हैं तब यहाँ बैठे रहने का फल क्या? सभी से कहूँगा, ऐसा मैं सोचता हूँ, किन्तु कहा नहीं जाता। अन्यान्य विषय फिर लिखूँगा।

तृतीय पत्र

केवल यही आपका पत्र पाकर एक बहुत बड़े सन्देह की निवृत्ति हुई। दृश्य के वर्णन के समय बार-बार मैं सोच रहा था मानों यह उसी हरिद्वार के महापुरुष का षड्यन्त्र है। उन्होंने कहा था, "एक दिन इस प्रकार के एक राज्य में जाकर सभी उपस्थित होंगे, जहाँ फिर अपरिचित या भेदाभेद के रूप में कुछ भी न रहेगा। वहाँ के मेरा और अन्यान्य बहुत लोगों का (उनका नाम-निर्देश किया था) साक्षात्कार

पा सकेंगे।" मैं दृश्य देखकर सोचता था कि यह शायद उस महापुरुष का मायाजाल तो नहीं है। वे इस प्रकार का एक आश्रम बनाकर हम सबको आबद्ध कर स्वयं सम्भवतः महाप्रस्थान करें, ऐसा तो नहीं है; क्योंकि उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता था कि वे ऐसे एक आश्रम या दिव्य जगत् का आविष्कार करेंगे या स्थापना करेंगे। मेरे मन में इस तरह का द्वन्द्व चल रहा था, किन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि यह बाबा की ही कृपा है।

मन्दिर पहाड़ के निकटस्थ नदी के किनारे है, ऐसा प्रतीत हुआ। नदी में जल का प्रवाह था, किन्तु कलकल शब्द नहीं था—जैसा पर्वत की नदी के प्रवाह का शब्द होता है वैसा नहीं था। बहुत-से वृक्ष थे, उनके नीचे छोटी-छोटी वेदियाँ गोल-गोल कमल-फूल के तुल्य स्थापित थीं। बहुत-सी खाली थीं एवं बहुतों पर साधकजन बैठे थे। मैं जब गया तब पहले दिन वे सभी आह्निक समाप्त कर चुके हों। दूसरे दिन मानों अत्यन्त ही व्याकुल हों, जल्दी-जल्दी आसन पर जा बैठें या ध्यानस्थ होवें अथवा अपने घर लौट जायँ, ऐसा भाव था।

चतुर्थ पत्र

मन्दिर के चारों ओर पक्षी थे, किन्तु पक्षियों के चहचहाने का शब्द नहीं था। मनुष्यों के शब्दहीन बोलचाल या भाषा थी। ताकने से ही मानों बातें हो जाती थीं। मानों आँख से आँख मिलने से ही बातें हो जाती थीं। मालूम होता था कि मानों कानों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वृक्षों के पत्ते वायु से हिलते थे, किन्तु 'पत्-पत्' शब्द नहीं होता था। पहले न जाने कैसा विचित्र गम्भीर झिल्ली-रव सुनाई दिया। बाद में सब कहीं विलुप्त होकर मानों वह स्थान एक निस्तब्ध भाव से पूर्ण हो गया। ऐसा लगा मानो यह एक शब्दहीन जगत् है। इस प्रकार का वर्णन उन्हीं हरिद्वार के महापुरुष के निकट मैंने सुना था। पर मेरी इच्छा है कि महापुरुष द्वारा वर्णित स्थान या अवस्था में नहीं जाऊँगा; क्योंकि उससे चित्त में निष्ठा का अभाव अथवा व्यभिचार का भाव आ सकता है, ऐसी आशंका होती है। × × ×

पंचम पत्र

मेरे पास पञ्चाङ्ग नहीं है, ठीक मालूम नहीं कब एकादशी है। मुझे देखते ही साधु ने कहा, "ओ भइया, चलो जल्दी चलो। आज एकादशी है, माँ आगे-आगे गई हैं, गङ्गा पार हो रही हैं। इसी समय हम पीछे-पीछे जायँ तो बहुत आराम से गङ्गा पार हो जायेंगे।" यह कहकर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा। हम दोनों गङ्गा के ऊपर से चलकर पार हुए। पैरों के नीचे जल जमी बर्फ के समान कड़ा प्रतीत हुआ। पार जाकर हमने देखा छोटे-छोटे पहाड़ों के बीच-बीच में छोटी-छोटी गुफाएँ हैं। उनमें एक-एक साधु रहकर तपस्या करेंगे, ऐसी व्यवस्था है। यहाँ कुछ समय बाबा के समस्त शिष्यों को आकर रहना पड़ेगा। उसके अनन्तर फिर अग्रसर होकर जाना होगा। मुझे खूब स्मरण है, मैंने कहा—"गुफा में दरवाजा नहीं है, ऐसे खुले स्थान में आह्निक कार्य कैसे होगा?" तब साधु ने कहा—"वह सब व्यवस्था होगी, चिन्ता न करें। यहाँ खूब आनन्द किया जायगा।" मैं लौट आया। [यह ३-८-४५ की घटना है]

षष्ठ पत्र

एक प्रश्न किये विना मैं रह नहीं सकता। ज्योति का अनुसरण करते-करते अन्त में वह दृश्य में परिणत होती है। शब्द मानों दृश्य में ही मिल जाता है। किन्तु जब हम केवल शब्द को लक्ष्य कर अग्रसर होते हैं तव कोई दृश्य नहीं रहता और शब्द भी नहीं रहता, रहता है केवल शून्यमय जगत्। इस अवस्था में आनन्द खूब अधिक प्रतीत होता है। दृश्य में मानों अरुचि हो आती है। यहाँ कोई दृश्य नहीं, पर खूब अधिक स्फूर्त्ति और प्रशान्त भाव है। मेरा प्रश्न यह है—ज्योति का लक्ष्य कर चलना अच्छा है या शब्द को लक्ष्य कर चलना अच्छा है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि और भी अधिक समय तक अनवच्छिन्न रूप से स्रोत के खिचाव में रहने पर दोनों ही एक हो जाते हैं। किन्तु इसमें समय अधिक देना पड़ता है।

सप्तम पत्र

इससे पूर्व एकादशी को एक पत्र मैंने दिया है, उसमें एक भूल या रहस्य है उसे मैं समझ न सका। आज की एकादशी को मैं विशेष रूप से सावधान हो रात्रि डेढ़ बजे के समय आसन पर बैठा। जिस साधु ने मुझसे कहा था कि माँ बावा के निकट अपने साथ ले जायेंगी, आज वे स्वयं ही मेरे लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। वे मुझे देखते ही बोले, "ओ भइया, गत बार की एकादशी को मैं आ नहीं सका। गंगातट में महायात्रा का समय अति निकट है। जो सब साधु आज हजार-हजार वर्षों से साधना में रत हैं, वे भी गंगा के अभिमुख या तट के निकटस्थ नहीं हो सके। कई लाख साधुओं में से केवल कुछ ही लोगों को माँ अपने साथ ले जायेंगी। गंगा नदी पार कर और भी बहुत ऊपर बाबा का स्थान है। उसे यदि कैलास कहूँ तो वह भी कहना ठीक न होगा। वह स्थान कैलास से भी बहुत ऊँचा और बहुत बड़ा है।" मैंने पूछा—"गत बार हमलोग जिस नदी के पार हुए थे, क्या वह गंगा नदी नहीं थी?" उत्तर—"कितनी सौ नदियाँ तुमलोग पाओगे, उनमें कोई भी गंगा नदी नहीं है। यहाँ बहुत-से साधुओं का यह भ्रम है कि वे समझते हैं ये छोटी-छोटी नदियाँ ही गंगा हैं। शाखा-प्रशाखाएँ कितनी ही देखोगे, उनमें कोई भी गंगा नहीं है। सब छायाचित्र अथवा स्वप्नवत् हैं। ये आज हैं तो कल नहीं। यहाँ का कोई भी दृश्य स्थायी नहीं है, यहाँ आत्मस्थ होकर बैठने पर सब प्रत्यक्ष कर सकोगे। समस्त जगत् स्वप्नवत् है, ठीक जल के बुद-बुद के तुल्य। इस प्रकार दृश्य कुछ दिन देखते-देखते यह बात अधिक हृदयंगम की जा सकती है कि इस काल्पनिक जगत् को छोड़कर एक महासत्ता है, जिसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मगर यहाँ बैठकर ठीक यहाँवालों की तरह होकर डूबा रहना पड़ेगा। जब मन प्राण अधिक डूब जायेंगे, तन्मय हो जायेंगे, तब और अधिक अग्रसर होने का अवसर आयगा। उसी अवसर पर माँ अपने साथ ले जायेंगी। माँ के विना एक कदम भी अग्रसर हो सके, मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ है? कितने लोग लाखों युग तपस्या करके भी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सके। युग-युगान्तर से विराट् पर्वत के पत्थर के तुल्य करोड़ों साधु अचल और अटल भाव से इस नदी के

तट पर योगासन से बैठे हुए हैं, ये सभी माँ की क्षणिक कृपा के प्रार्थी हैं। हमलोगों का कितना बड़ा सौभाग्य है कि उस कठोर तपस्या से हमने त्राण पाया है। हम बाबा की कृपा से और माँ की अनुकम्पा से कठोर तपस्या का दुर्गम पथ इतना सुगम हो सकता है, यह देखकर स्तम्भित हुए हैं। यहाँ कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है, केवल चुप्पी मारकर कृतार्थ हो गद्‌गद चित्त से आँसू बरसाओ, कितने ही जन्मों के कितने असत् कर्मों को कहाँ कौन क्षण-भर में ध्वंस कर हमलोगों को अपनी छाती से लगाकर ले जा रही हैं। विश्वास करो या न करो, कर्म करो या न करो, अनुकम्पा से हम कोई भी वंचित नहीं होंगे। इतना बड़ा आश्वासन और कहाँ पाओगे ? युग-युगान्तर से जो सब योगी तपस्या कर रहे हैं, उनकी अवस्था का जब मैं विचार करता हूँ तब मालूम होता है, ये असीम शक्ति-सम्पन्न होकर भी उस माँ की इतनी-सी कृपा के भिखारी होकर यहाँ इधर-उधर पड़कर लोट-पोट ले रहे हैं। किन्तु प्रश्न उठता है—तब क्या यह सब-की-सब तपस्या व्यर्थ है ? उत्तर—नहीं, ये सब योगी अपने आत्मकर्म द्वारा अपने दुष्कर्मों का कठोर तपस्या के बल से ध्वंस कर जीवों का पथ साफ कर रहे हैं। विचार कर देखो, किनके कर्मों से हमलोगों के कुकर्म और दुष्कर्म का ध्वंस हुआ है एवं हमलोग माँ की गोद में पहुँच गये हैं। इन सब साधुओं की तपस्या के बल से ही यह सम्भव हुआ है। इनमें से कोई भी हमलोगों को साथ लिये बिना अग्रसर होना नहीं चाहते। माँ मानों सारथि हैं, ये साधु मानों अश्व हैं और हमलोग मानों रथ पर सवार होकर आनन्द लेते हुए दृश्य देख रहे हैं।"

इसी तरह की बहुत बातें हुईं तब रात्रि के तीन बजे होंगे, मैं आराम करने चला गया। अधिक समय तक मैं आसन पर बैठ नहीं सका। थोड़े समय में ही मैंने अनेक बातें सुनीं। पास में पञ्चाङ्ग न रहने से एकादशी कब है, मैं जानता न था। गत बार जब साधु ने कहा, "आज एकादशी है, चलो गंगा पार हो, माँ आगे-आगे गई हैं। दूसरे दिन पञ्चाङ्ग देखकर मुझे ज्ञात हुआ कि ठीक उसी दिन सचमुच एकादशी थी। साधु की बात सत्य होने से दृश्य के प्रति मेरी कुछ श्रद्धा बढ़ गई। किन्तु वह गंगा नदी नहीं, यह रहस्य बाद में खुला था।

[३]

मेरा वक्तव्य

ऊपर लिखित पत्रों में पत्र-लेखक की जिस अनुभूति की आलोचना हुई है, वह कर्मठ योगी की परिचित साधारण अनुभूति है। अवश्य, गुरु-कृपा के बिना सबमें इस अनुभूति का उदय नहीं होता। इस अनुभूति के सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रश्न को छोड़कर साधारण रूप से कई विषयों की आलोचना करने की मेरी इच्छा है।

शब्द, ज्योति तथा रूप—योग-पथ में इन तीनों के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द पहले गुरुदत्त मन्त्र के रूप में अथवा अन्य किसी प्रकार से अपने में सञ्चारित होता है। यह वस्तुतः शब्दमातृका कुण्डलिनी-शक्ति का ही एक उच्छ्‌वास है। गुरु द्वारा सञ्चारित जाग्रत शक्ति के प्रभाव से हो, चाहे अन्तर में उद्बुद्ध आत्म-

शक्ति के प्रभाव से ही हो, शब्द नाद के रूप से साधक की देह का आश्रय लेकर सुषुम्णा-मार्ग में निरन्तर ध्वनित होता रहता है। यह शब्द वस्तुतः जाग्रत् चैतन्य का ही नामान्तर है। वास्तव में शब्द और ज्योति अभिन्न वस्तु हैं। वाचक अध्वा में जो शब्द रूप से प्रकट होता है, वाच्य अध्वा में वही ज्योति रूप से प्रकट होता है। शब्द मायाबद्ध जीव के निकट विच्छिन्न वर्णों के समष्टिरूप पद, वाक्य आदि के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ये सब विच्छिन्न वर्ण भौतिक आकाश के गुणस्वरूप हैं। ये परस्पर मिलकर जिन पदों और वाक्यों की रचना करते हैं, वे हमारी चिन्तामय मनोभूमि की पुष्टि करते हैं। अशुद्ध विकल्पज्ञान इन मायिक शब्दों से ही उत्पन्न होता है। विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान यदि पाना हो तो इस चिन्तामय शब्द-राज्य का अतिक्रम कर ऊपर उठना आवश्यक है। इसलिए वर्णात्मक शब्द को पद, वाक्य आदि के रूप में परिणत न कर विपरीत क्रम से ध्वनि-रूप में परिणत करना आवश्यक है। इससे वर्णात्मक शब्द सुषुम्णावाही नाद के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं। तब वैखरी वाणी स्वभावतः ही मध्यमा वाणी के रूप में परिणत होती है। पुनः-पुनः मन्त्रजप करने से अथवा निरवच्छिन्न नाम-कीर्त्तन के प्रभाव से सहज में इस अवस्था में पहुँचा जा सकता है। नेत्र बन्द करने पर भीतर जो अन्धकार दिखाई पड़ता है, उसी को अज्ञान का अन्धकार जानना चाहिए। नाद का क्रमशः विकास होने के कारण यह अन्धकार क्रमशः हट जाता है। तब नेत्र मूँदने पर भी भीतर स्वच्छ प्रकाश निर्मल शुभ्र आकाश के तुल्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह नाद की तीव्र शक्ति से होता है। इस अवस्था में भीतर का प्रकाश भीतर ही अवरुद्ध रहता है। बाहर में उसका समागम होने से अन्तर्दृष्टि के सामने एक विराट् ज्योतिर्मय आकाश फूट उठता है। परन्तु बहिर्दृष्टि के सामने उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। बाह्य जगत् में प्रकाश और अन्धकार पहले की तरह आते-जाते रहते हैं, किन्तु अन्तर्जगत् में अनन्त प्रकाश खुल जाता है। नाद की क्रमिक अभिव्यक्ति से किसी-किसी की अस्थायी रूप से वह ज्योति बाहर फूट उठती है। वस्तुतः तब बाह्य जगत् की सत्ता उससे आच्छन्न हो जाती है। उस समय चारों ओर अर्थात् बाह्य दृष्टि के क्षेत्र में सर्वत्र विशाल ज्योति प्रसारित होती है। यह ज्योति वास्तव में उस नाद के ही स्फुरण से दृष्टिगोचर होती है।

नाद से जैसे ज्योति की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही ज्योति से रूप की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में नाद से ज्योति होती नहीं, किन्तु विन्दुरूपा महामाया अथवा कुण्डलिनी क्षुब्ध होकर एक ओर नादरूप में और दूसरी ओर ज्योति के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। ज्योति की घनीभूत परिपक्व अवस्था में रूप निखर उठता है, किन्तु यह एक देश में ही होता है। विशाल समुद्र के छोटे-से एक भाग में जैसे बर्फ का पहाड़ बन जाता है एवं वह पहाड़ समुद्र के वक्षःस्थल में एक भाग में भासित होता है वैसे ही विशाल ज्योतिपुञ्ज के कुछ अंश में ही रूप आविर्भूत होकर उस ज्योति से वेष्टित होकर प्रतिभासमान होता है। परन्तु द्रष्टा जब उस रूप के साथ व्यवहारमूलक सम्बन्ध में उतरता है तब रूप स्वाभाविक प्रतीत होता है एवं व्यापक ज्योति दिखाई नहीं देती। रूपवान् द्रष्टा और रूपवान् दृश्य के एक ही स्तर

के होने पर ज्योति का दर्शन नहीं रहता। अन्यथा रूप निम्नभूमि के द्रष्टा के निकट ज्योतिवेष्टित रूप में भासता रहता।

रूप शब्द से केवल मूर्त्ति नहीं समझनी चाहिए। सभी साकार दृश्य वस्तुएँ रूप के अन्तर्गत हैं। अर्थात् अनन्त वैचित्र्यमय साकार विश्व रूप शब्द का वाच्य अर्थ है। ज्योति और रूप यद्यपि अभिन्न हैं, फिर भी ज्योति का अवलम्बन करके उसी का घनीभूत अंश रूप के आकार से अर्थात् साकार दृश्य के आकार से उस ज्योति में ही प्रकाशित होता है। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, दानव, नद, नदी, पहाड़, कुञ्ज आदि अनन्त आकारों में ज्योति ही दृश्य का रूप धारण कर प्रकाशित होती है। देश और काल वास्तव में ज्योति से भिन्न नहीं हैं, इसलिए उस समय वे भी अपने-अपने वैशिष्ट्य का रक्षण करते हुए ज्योति में ही अपने को प्रकाशित करते हैं। इसलिए हजारों वर्ष पूर्व का अर्थात् सुदूर अतीत का प्रकाश भी वर्त्तमान के रूप में उस ज्योति में ही हो जाता है। वैसे ही बहुत दूर का दृश्य भी सन्निहित रूप में प्रकाशमान होता है। देश का व्यवधान एक प्रकार से नहीं रहता; क्योंकि व्यवधान के कारण दृश्य का जिस संकुचित भाव से दर्शन स्थूल जगत् में होता है उस ज्योति में दर्शन के समय वह संकुचित भाव बिलकुल ही नहीं रहता। इसलिए दूरत्व एक हिसाब से नहीं रहता—यह कहना असंगत नहीं है। दूसरे पक्ष में योगी के कर्म में अपूर्णता रहने पर इस अव्यवधान में भी एक दुर्भेद्य व्यवधान रह जाता है। इसीलिए दृश्य वस्तु सुस्पष्ट रूप से अति सन्निहित प्रतीत होने पर भी एवं स्पर्श-योग्य प्रतीत होने पर भी द्रष्टा उसका स्पर्श नहीं कर सकता। दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब जैसे सामने दिखाई देने पर भी छुआ नहीं जा सकता, उसी प्रकार वह दृश्य भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने पर भी स्पर्श का गोचर नहीं होता। जबतक कर्म पूर्ण न हों तबतक दर्शन और स्पर्श एक साथ नहीं हो सकते। अपूर्ण कर्म जबतक पूर्ण न हों तबतक इसी तरह चलता है।

शुष्क ज्ञान और दिव्य ज्ञान के विषय में यहाँ अधिक आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शुष्क ज्ञान के प्रभाव से निष्क्रिय स्थिति होती है, किन्तु ज्ञान के साथ क्रिया का योग रहने पर वह शुष्क ज्ञान फिर शुष्क ज्ञान नहीं रहता, वह दिव्य ज्ञान में परिणत हो जाता है। शुष्क ज्ञान से वैचित्र्य-दर्शन नहीं होता, किन्तु अखण्ड ज्योति में स्थिति होती है। उस ज्योति के अन्दर निहित अनन्त वैचित्र्य, जो प्रस्फुटित नहीं होता, ज्ञान के साथ कर्म के सम्बन्ध का अभाव ही उसका एकमात्र कारण है, इसलिए वह ज्ञान ज्ञानशक्ति नहीं है। ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति का अटूट सम्बन्ध है। इसलिए ज्ञान के अनन्त दूर तक फैली ज्योति के रूप में प्रकाशमान होने पर भी क्रिया के तारतम्य के अनुसार उसकी प्राप्ति होती है। अर्थात् देश और काल का व्यवधान क्रिया की पूर्णता के साथ-ही-साथ निवृत्त हो जाता है। तब ज्ञान और क्रिया की साम्यमूलक अभिन्नता होने से प्राप्ति भी पूर्णरूप से होती है।

"माँ और गुरु के स्वरूपतः अभिन्न होने पर भी माँ को प्राप्त होकर उनका आश्रय लिये बिना गुरु को प्राप्त नहीं हुआ जा सकता। कृपा और कृपाशून्य पुरुषार्थ,

दोनों मार्गों में पार्थक्य होने पर भी इस अंश में सादृश्य है। पर कृपापथ पर माँ पथ-प्रदर्शिका के रूप में आगे चलती हैं एवं कृपाशून्य पथ पर माँ सन्तान के पीछे-पीछे चलती हैं। वे पीछे रहकर सन्तान की रक्षा करते-करते गुरु के निकट पहुँचने तक सन्तान का अनुगमन करती हैं। दोनों ही पथों में अन्त में माँ और सन्तान अभिन्न होकर गुरु में आत्मसमर्पण करते हैं। तब गुरु की महाकृपा का संचार होने पर आत्मज्ञान का उदय होता है, जिसके कारण गुरु फिर गुरु नहीं रहते। एकमात्र आत्मा ही तब परम स्वरूप में अखण्ड सत्ता लेकर विराजमान होते हैं। यह सन्तान का अर्थात् योगी का निज स्वरूप है, यह माँ का निज स्वरूप है एवं यह गुरु का भी निज स्वरूप है—इसी का नाम स्वयंरूप है।

पत्र-लेखक ने मातृभूमि से गुरु-स्थान में जाने की बात का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से जो दर्शन प्राप्त किया है, उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना नहीं है; क्योंकि वह सत्य है। यह अत्यन्त सत्य है कि गुरु के लिए तीव्र व्याकुलता जागने पर जिस किसी भी स्थिति में गुरु के दर्शन हो सकते हैं। पर अपने में योग्यता अर्जित न होने पर गुरु के स्वरूप में स्थिति पाना अत्यन्त कठिन है। माँ के राज्य में आनन्दमय स्वरूप में दीर्घ काल तक यदि रहा जा सके तो माँ की कृपा से अन्तर की पुष्टि और बलाधान-सम्पन्न होने पर मातृभूमि से गुरु-भूमि में माँ ही पहुँचा देती हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि आनन्द में आत्म-विस्मृत हो जाने पर उस आनन्दभूमि में ही सुदीर्घ काल तक आबद्ध होकर रहने की आशङ्का रहती है। स्मरण रखना चाहिए कि यह भी एक प्रकार का मोह है। इसको यदि न हटाया जा सके तो चिरचैतन्यमय गुरुभूमि में जागरण नहीं होता।

पत्र-लेखक ने जिज्ञासा की है—शब्द के अनुसरण और ज्योति के अनुसरण—इन दोनों के फलों में तारतम्य है या नहीं? इसका एक प्रकार से समाधान उन्होंने स्वयं ही किया है। ज्योति का अनुसरण करते-करते रूपमय दृश्य जगत् प्रस्फुटित हो उठता है। उसके मूल में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में इच्छाशक्ति का खेल रहता है; क्योंकि इच्छा-रहित होकर परम ज्योति में प्रवेश करने पर वहाँ से फिर व्युत्थान नहीं होता। इसलिए रूपमय दृश्य जगत् के प्रस्फुटित होने की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु इच्छाशक्ति के प्रभाव से ज्योति में स्थिति नहीं होती, अर्थात् स्थिति में भी गति की प्रवृत्ति होती रहती है। इस गति के कारण एक स्तर के बाद दूसरा स्तर भास उठता है एवं उन सबका अतिक्रम कर महान् अनुग्रह के कारण पूर्ण स्वरूप में आरूढ़ होना सम्भव होता है। इच्छा ही लीला का मूल है, इसलिए इच्छा यदि बीज के रूप में रहे तो ज्योति में से रूप अपने-आप प्रस्फुटित हो उठता है। दूसरे पक्ष में शब्द का अनुसरण करने पर एवं ज्योति की ओर लक्ष्य न देने पर वह शब्द क्रमशः पुष्ट होकर ही हो, चाहे क्षीण होकर ही हो; शब्दातीत परम व्योम में लीन हो जाता है। यह आनन्द का परिपूर्ण स्वरूप है। जिस आनन्द में लीलारस न रहने पर भी महाशान्ति के स्निग्ध और सुशीतल प्रभाव की अनुभूति होती है। पर यह सत्य है कि पूर्ण विकास होने से अन्त में

दोनों धाराएँ एक साथ मिल जाती हैं। इस विषय में अधिक आलोचना यहाँ अप्रासङ्गिक है।

पत्र-लेखक ने जिस 'हरिद्वार के साधु की' बात कही है, वे एक अलौकिक महापुरुष थे। लछमनझूला से भी कुछ ऊपर महानिशा के समय गङ्गाजी के मध्य में लेखक को उनके दर्शन प्राप्त हुए थे। उनके साथ पत्र-लेखक की बहुत विषयों में आलोचना हुई थी। वह एक अपूर्व घटना है। किन्तु यहाँ उसकी चर्चा करना प्रासङ्गिक न होगा।

सूर्यविज्ञान-रहस्य

[१]

सूर्यविज्ञान[1] के सम्बन्ध में विशेष आलोचना करने के पूर्व 'सूर्यविज्ञान' शब्द का अर्थ क्या है एवं इस विज्ञान के क्रम-विकास का इतिहास क्या है, इस सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। जिनका श्रीगुरुदेव श्रीश्रीविशुद्धानन्द परमहंसजी से साक्षात् सम्बन्ध नहीं हुआ अथवा जिन्होंने परम्परा से उनके विषय में कुछ सुना नहीं, वे 'सूर्यविज्ञान' शब्द का तात्पर्य समझ न सकेंगे; क्योंकि आधुनिक जगत् में इस विज्ञान का प्रथम परिचय प्रदान उन्होंने किया। सन् १९१७ ई० के दिसम्बर मास में मैंने श्रीपरमहंसदेव के पहले-पहल दर्शन प्राप्त किये।[2] वे असाधारण योगी तथा अलौकिक योगैश्वर्य-सम्पन्न महापुरुष हैं, यह मैंने लोगों के मुँह से सुना था। दीर्घकाल तक तिब्बत में रहकर सिद्ध गुरु की शिक्षा के प्रभाव से उन्होंने योग की ऐसी सब प्रक्रियाएँ और विभूतियाँ प्राप्त की थीं, जो साधारणतः भारतवर्ष में लुप्त हो गई हैं। किन्तु योग-प्रक्रिया के सिवा ज्ञान की अन्य एक प्रक्रिया भी उन्होंने आयत्त की थी। यह है विज्ञान की प्रक्रिया। योग और विज्ञान दोनों ही अलौकिक हैं, इसमें सन्देह नहीं है एवं सृष्टि आदि सब प्रकार के ऐश्वरिक कार्य दोनों ही प्रणालियों से सम्पन्न हो सकते हैं। इसलिए बाह्य दृष्टि से दोनों में पार्थक्य का आविष्कार करना सहज नहीं है। जो लोग विज्ञान का तत्त्व नहीं जानते, वे विज्ञान के सभी कार्यों को योगशक्ति के कार्य समझेंगे, किन्तु वास्तव में दोनों प्रणालियों में मौलिक भेद है। उच्च अधिकार-सम्पन्न हुए बिना यह भेद समझा नहीं जा सकता।

विज्ञान शब्द से यहाँ हम सूर्यविज्ञान को लक्ष्य करते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि सूर्यविज्ञान का महत्त्व सबसे अधिक है, तथापि यही एकमात्र विज्ञान नहीं है। क्योंकि चन्द्र-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, वायु-विज्ञान, शब्द-विज्ञान, क्षण-विज्ञान आदि की चर्चा उनके श्रीमुख से हमने प्रायः सुनी है। प्रत्येक विज्ञान का तत्त्व दृष्टान्त द्वारा उन्होंने सृष्टि के प्रसङ्ग में अनेक बार हमलोगों को दिखलाया है। किन्तु सूर्यविज्ञान की चर्चा ही वे अधिकांश समय करते थे एवं साधारणतः इस विज्ञान का खेल ही सबको दिखलाते थे। सूर्यविज्ञान के द्वारा जो कुछ किया जाता है, अन्य विज्ञानों के द्वारा भी वह हो सकता है, यह हमने देखा है। किन्तु विभिन्न विज्ञानों की सृष्टियों में जो परस्पर भेद है, उसको वे मुक्तकण्ठ से कहते थे। किन्तु उसके साधारण लोगों के हृदयंगम होने का उपाय नहीं था।

---

१. द्रष्टव्य—इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की पृ० सं० ४१६—४२८

२. द्रष्टव्य—श्रीगुरुदेव के चरणों के प्रथम दर्शन पृ० सं० १३९—१४६

उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक सृष्टि की कोई वस्तु और सूर्यविज्ञान की सृष्टि की वस्तु आपात दृष्टि से एक-सी दिखलाई देने पर भी वास्तव में विलक्षण हैं। उसी प्रकार एक ही वस्तु यदि सूर्यविज्ञान से उद्भूत हो एवं अन्य विज्ञान की प्रक्रिया से उद्भूत हो तो दोनों में परस्पर वैशिष्ट्य रहेगा ही। जैसे कपूर एक जागतिक वस्तु है। यह कपूर ही सूर्यविज्ञान के नियमानुसार साक्षात् सूर्यरश्मि से उत्पन्न हो सकता है तथा चन्द्ररश्मि से अथवा वायुविज्ञान के नियमानुसार भी रचित हो सकता है। जागतिक दृष्टि से अथवा बाहरी विज्ञान की दृष्टि से अर्थात् रासायनिक विश्लेषण से इनमें कोई अन्तर पाया नहीं जायगा; किन्तु सूक्ष्म दर्शन से इनके अन्दर निहित पार्थक्य देखा जा सकेगा। बाह्य अथवा प्राकृतिक सृष्टि की वस्तु मलिन होती है, किन्तु विज्ञान की सृष्टि की वस्तु निर्मल होती है, यह वह कहते थे और प्रत्यक्ष समझा देते थे। योगबल से भी वस्तुसृष्टि हो सकती है। केवल वस्तु ही नहीं, सजीव प्राणी भी आविर्भूत हो सकते हैं। विज्ञान की विभिन्न सृष्टियों से तथा प्राकृतिक सृष्टि से योग की सृष्टि में भी वैशिष्ट्य है।

मैं विभिन्न विज्ञान-सृष्टियों की चर्चा यहाँ नहीं करूँगा। इस प्रबन्ध में सूर्य-विज्ञान-तत्त्व ही आलोच्य है। विज्ञान और योग की प्रणालियों में सृष्टिक्रिया में भेद है। सूर्यविज्ञान सूर्यरश्मि-ज्ञान के ऊपर निर्भर है। इस रश्मि को वर्ण अथवा प्रचलित भाषा में रंग कहा जाता है। इसके विभिन्न प्रकार के संयोग और वियोगों से विभिन्न प्रकार के पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है। रश्मि वस्तुओं की सत्ता की अभिव्यञ्जक है, इसलिए सूर्यरश्मि के साथ परिचय स्थापित कर विभिन्न रश्मियों का परस्पर संगठन ही सूर्यविज्ञान का रहस्य है। इसके द्वारा सृष्टि भी हो सकती है, संहार भी हो सकता है एवं तिरोभाव भी हो सकता है और यदि प्रयोजन हो तो स्थिति अथवा रक्षा भी हो सकती है। सृष्टि और संहार की युगपत् क्रिया से रूपान्तर भी हो सकता है। विज्ञान की सृष्टि के मूल में प्राकृतिक उपादानों पर क्रियाशक्तिमूलक नियन्त्रण रहता है, यह जानना चाहिए। किन्तु योगबल से जो सृष्टि होती है वह इस प्रकार की नहीं है। योगसृष्टि इच्छाशक्ति से होती है। इस सृष्टि में पृथक् उपादान की आवश्यकता नहीं रहती, उपादान वस्तुतः स्रष्टा की अपनी आत्मा को ही जानना चाहिए। अर्थात् इच्छाशक्तिमूलक सृष्टि में निमित्त और उपादान दोनों अभिन्न रहते हैं—आत्मा अर्थात् योगी स्वयं अपने स्वरूप से ही बाहरी किसी उपादान की अपेक्षा न रखकर इच्छाशक्ति के प्रभाव से अन्दर स्थित अभिलषित पदार्थ को बाहर करते हैं। यह जो आत्मा के अन्तर में स्थित अर्थ को इच्छा द्वारा बाहर प्रकाशित करना है, इसी का नाम योगसृष्टि है। तान्त्रिक परिभाषा में यही बिन्दु की विसर्गलीला है। अद्वैतभूमि में स्थित योगी इच्छाशक्ति के द्वारा सृष्टि किया करते हैं। शक्तिसूत्र में कहा है—"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" इसलिए उत्पलाचार्य ने कहा है—

"चिदात्मा हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥"

श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है कि समग्र विश्व आत्मा के निज स्वरूप के अन्तर्गत है। दर्पण में प्रतिविम्व-रूप से दिखाई दे रही नगरी जैसे दर्पण के ही अन्तर्गत है, दर्पण से पृथक् नहीं है वैसे ही प्रकाशमय आत्मा में प्रतिभासमान दृश्य आत्मा के ही अन्तर्गत है, आत्मा से पृथक् नहीं है। ज्ञानी इसी रूप से विश्व को देखा करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में आत्मा से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जो अज्ञानी है, उसने प्रकाशमय आत्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं किया। वह जागतिक पदार्थों को आत्मा से अभिन्न रूप से नहीं समझ सकता अथवा अपनी आत्मा के अन्तर्गत रूप से धारणा नहीं कर सकता। इसका एकमात्र कारण माया का प्रभाव है। मायाशक्ति देश और काल का उद्भावन कर आत्मनिहित विश्व को देश और काल के द्वारा परिच्छिन्न एवं पृथक् रूप में मित प्रमाता अथवा जीव के निकट प्रदर्शित करती है। ईश्वर मायाशक्ति के अधिष्ठाता हैं—ऐश्वर्यसम्पन्न योगी भी आंशिक रूप में वही हैं। इसलिए योगी अघटितघटनापटीयसी मायाशक्ति का आश्रय लेकर किसी भी पदार्थ को बाहर प्रदर्शित कर सकते हैं, इसी का नाम योगी की इच्छाशक्ति का काम है। इच्छाशक्ति अथवा स्वातन्त्र्य-शक्ति ही मायाशक्ति का स्वरूप है। यह जो बाहरी प्रकाशन है, यह अज्ञानान्ध जगत् की दृष्टि में वस्तु की उत्पत्ति अथवा आविर्भाव के रूप में प्रतीत होने पर भी वास्तव में आत्मा के साथ अभिन्न रूप से स्थित वस्तु का, अर्थात् आत्मा की ही शक्ति का; बाहरी प्रकाशन-मात्र है। स्मरण रखना होगा कि यह बाहरी भाव वस्तुतः ज्ञानी और योगी की स्वरूप-दृष्टि में नहीं है, अज्ञानी अथवा संसारी की परिच्छिन्न दृष्टि में भी नहीं है, यह दोनों के सम्बन्धमूलक दृष्टिकोण से ही कहा जाता है।

विज्ञान की सृष्टि में इच्छाशक्तिरूप मौलिक इच्छा की कोई क्रिया नहीं रहती। साधारण इच्छा अवश्य ही रहती है; क्योंकि वह यदि न रहे तो क्रियाशक्ति कार्य नहीं कर सकती। विज्ञानसृष्टि के दो प्रकार हैं—एक है योगी और ज्ञानी का विज्ञान एवं दूसरा है अयोगी और अज्ञानी का विज्ञान। योगी और ज्ञानी जगत् के मूल उपादानों को अपने स्वरूप से पृथक् नहीं देखते, किन्तु वे इच्छा करने पर कल्पित रूप से पृथक् भी देख सकते हैं। किन्तु जो पूर्ण योगी और ज्ञानी नहीं हैं, पर जिन्होंने अपने स्वरूप से पृथक् रूप में प्रकृति का अथवा उपादान का साक्षात्कार-लाभ किया है, वे इस भेद-दृष्टि का अवलम्बन कर यदि सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया का अवलम्बन करते हैं। अर्थात् वे प्रकृति को अपनी आत्मा से अभिन्न रूप में देखने पर सृष्टिकाल में इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं एवं पक्षान्तर में वे प्रकृति को अपने से पृथक् देखने पर वैज्ञानिक प्रक्रिया का अवलम्बन करते हैं।

विज्ञान की क्रिया में ज्ञान है और क्रिया भी है। ज्ञान यदि न रहे तो क्रिया नहीं हो सकती। ज्ञान शब्द से यहाँ उपादान का अपरोक्ष ज्ञान समझना चाहिए। क्योंकि जिस उपादान से कार्य का निर्माण होगा, वह उपादान यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न हो तो उसपर क्रियाशक्ति का प्रयोग किस प्रकार होगा? अवश्य यह स्मरण

रखना चाहिए कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान अभेद-रूप नहीं है; क्योंकि वह यदि अभेदात्मक होता तो पृथक् रूप से क्रिया का प्रयोजन न होता, एकमात्र इच्छा के द्वारा ही क्रिया का प्रयोजन सिद्ध हो जाता। भेदज्ञान के अपने-आप निवृत्त हुए विना अथवा प्रयत्नपूर्वक उसे हटाये विना इच्छाशक्ति का प्रयोग हो नहीं सकता। इस जगह विज्ञान के अन्तर्गत ज्ञान और क्रिया दोनों ही अंशों का अनुशीलन आवश्यक जानना चाहिए।

विज्ञान का जो ऊपर का प्रकार है वह अत्यन्त गम्भीर है। वहाँ इच्छाशक्ति भी प्रवेश का मार्ग नहीं पाती। क्योंकि इच्छाशक्ति का आविर्भाव ईश्वर-अवस्था में होता है, किन्तु परम विज्ञान का व्यापार महाशक्ति के अन्तःपुर का खेल है। इच्छाशक्ति; यहाँ तक कि ईश्वर, समग्र विश्व की सृष्टि के मूल कारण है, किन्तु ईश्वर अथवा इच्छाशक्ति के स्फुरण में जो अत्यन्त गुह्य शक्ति कार्य कर रही हैं, वह परम विज्ञान के आश्रय-स्वरूप महाशक्ति के ही अन्तर्गत है।

[२]

अब हम परम विज्ञान की चर्चा का त्याग कर साधारण विज्ञान के क्षेत्र में अवतरण करेंगे। अवश्य विज्ञान शब्द से यहाँ सूर्य-विज्ञान ही मन-ही-मन समझ लेना चाहिए। ज़ागतिक सृष्टि तथा संहार के कार्य शक्ति के संकोच और विकास से होते हैं। प्रकारान्तर से इस प्रक्रिया को योग-वियोग की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। इस तत्त्व को पूर्णरूप से हृदयङ्गम करने के पूर्व पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों का विचार आवश्यक है। एक दृष्टिकोण से स्पष्ट देखा जाता है कि अवयवों के विधिपूर्वक सन्निवेश से ही अवयवी उत्पन्न होता है। सब अवयवों को भलीभाँति पहिचान सकने एवं उनकी संयोजन-प्रणाली को स्वायत्त कर सकने पर अवयवों के मिलन के द्वारा इच्छानुरूप अवयवी अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे वर्णों द्वारा पदरचना होती है वैसे ही अवयवों द्वारा अवयवी की रचना होती है। इस रचना-प्रणाली में केवल अवयव-समूह का ही गौरव है, सो बात नहीं है, किन्तु अवयवों का परस्पर सम्बन्ध अथवा आनुपूर्वी की भी आवश्यकता होती है। शिक्षार्थी के लिए अवयव का परिचय जैसा आवश्यक है वैसा ही आनुपूर्वी का ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रणाली में स्वभाव की सृष्टि निम्न स्तर से दिखाई देती है। इस प्रणाली की विशिष्टता यह है कि अन्तिम अवयव का आविर्भाव और योजना न होने तक समग्र रूप में अवयवी को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मध्य में, यहाँ तक कि अन्त में भी एक अवयव की कमी होने पर अथवा एक अधिक होने पर पूर्वनिर्दिष्ट कार्य उद्भूत नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति शीघ्र अथवा विलम्ब से होने का सुसङ्गत कारण रह सकता है। किन्तु यथोचित रूप से अवयव के सन्निवेश के विना अवयवी की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

अवश्य यहाँ पर मैं अवयवी मानकर एवं अवयव से उसकी पृथक्ता स्वीकार कर यह प्रकार कह रहा हूँ। किन्तु जिस दृष्टिकोण के अनुसार अवयव से पृथक् अवयवी का स्वीकार नहीं किया जाता उस दृष्टिकोण में भी मूलतः आविर्भाव का नियम एक ही प्रकार का है। संघात अथवा समष्टि युतसिद्ध और अयुतसिद्ध दोनों प्रकार की ही हो सकती है। इसलिए अवयवी का स्वीकार न करने पर भी अथवा गुणक्रिया से द्रव्य का पृथक् स्वीकार न करने पर भी पूर्वोक्त नियम में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। अथवा द्रव्यस्थल में अयुतसिद्ध अवयव-सम्पन्न संघात मानकर आलोचना करना सम्भव है।

यह हुई एक ओर की बात। किन्तु जागतिक पदार्थों को निरवयव मानने की भी एक दिशा है। उस ओर से देखने पर अवयव-संस्थान को छोड़कर भी तथाकथित अवयवी अर्थात् वस्तुविशेष की सत्ता प्राप्त की जा सकती है। सूर्यविज्ञान के विचार के प्रसङ्ग में इस दिशा का भी स्मरण रखना चाहिए। कार्यबिन्दु और कारणविन्दु के रहस्य की आलोचना के सिलसिले में वस्तुमात्र के ही पूर्वोक्त प्रकार के सावयव और निरवयव दो भेद स्वीकार किये विना काम नहीं चल सकता। अर्थात् अखण्ड और खण्ड दोनों ओर से ही सृष्टिक्रम का विश्लेषण आवश्यक है। इसका प्रयोजन भी है। जिस स्थल में समग्र वस्तु ज्ञानगोचर है और उसकी अभिव्यंजक कारण-सामग्री ज्ञान की अगोचर है उस स्थल में भी वैज्ञानिक सृष्टि की क्रिया के निरुद्ध रहने का कारण नहीं है। जिसको Formula कहा जाता है, उसका ज्ञान न रहने पर भी उसका आविष्कार कठिन नहीं है। कारण-विन्दु को मूल उपादान-सत्ता में डालने पर उसके प्रभाव से उपादान में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसका सम्यक् प्रकार से विश्लेषण कर सकने पर ही आपेक्षिक-रूप से सृष्टि का Formula आविष्कृत हो पड़ता है। कारण-विन्दु क्षुब्ध होकर कार्य-विन्दु के रूप में अभिव्यक्त होता है। क्षोभ का विश्लेषण कर सकने पर अवयवों की समष्टि और उनके परस्पर सम्पर्क का सहज में ही प्रत्यक्ष किया जाता है। अर्वाचीन शिक्षार्थी कारण-विन्दु का प्रत्यक्ष न कर, योनितत्त्व का प्रत्यक्ष न कर एवं बिन्दु के प्रक्षेप का सामर्थ्य स्वायत्त न कर केवल-मात्र क्षोभजन्य अवयवों और उनकी परस्पर सापेक्षता का प्रत्यक्ष कर सकने पर ही सृष्टि का Formula आविष्कृत हो पड़ेगा, यह निश्चित है। इसी स्थान से विज्ञान-सृष्टि की नियमावली का संकलन होता है। तदनन्तर केवल इस नियम का अनुसरण कर अवयवों का प्रत्यक्ष दर्शनकारी तथा आपेक्षिक क्रियाशक्ति का अधिकारी विज्ञान-सृष्टि में प्रवृत्त हो सकता है।

[३]

योगिगण और वैज्ञानिक कहते हैं कि जगत् की सभी वस्तुएँ सर्वात्मक हैं, अर्थात् जगत् की जिस किसी वस्तु में अन्य जिस किसी वस्तु की सत्ता आंशिक रूप में रहती ही है। सृष्टि में निरपेक्ष कोई वस्तु रह नहीं सकती। हमलोग किसी विशेष वस्तु को उसके विशेष रूप अथवा नाम के द्वारा अथवा गुण और क्रिया के द्वारा पहचानते हैं। इसलिए अन्य वस्तु के उपादान उसमें नहीं हैं, यह सोचना उचित नहीं है।

यदि प्रकृति को मूल उपादान के रूप में माना जाय तो कहना पड़ेगा कि वही उसका मूल उपादान है। उसी से परिणाम का क्रम पकड़कर उस वस्तु का आविर्भाव हुआ है। किन्तु प्रकृति एक और अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु मूलतः प्रकृति-रूप उपादान का कार्यविशेष है। इसलिए किसी भी वस्तु में जगत् की सकल वस्तुओं के उपादानों के रहने के कारण प्रयोजन के अनुसार उसे जिस किसी वस्तु के रूप में परिणत करना सम्भव है। जिसको हम गुलाव कहते हैं, वह वाहरी रूप से सचमुच गुलाव है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु उसके उपादान में विश्व-सृष्टि का मूल उपादान विद्यमान रहता है। इसलिए आवश्यकता होने पर उसमें से कमल के उपादान का आकर्षण कर एक कमल-पुष्प का निर्माण किया जा सकता है। उसी प्रकार आवश्यकता होने पर उससे जवा अथवा चम्पक भी वाहर प्रकट किया जा सकता है। केवल पुष्प ही क्यों, अन्य जिस किसी वस्तु के रूप में उस गुलाव के फूल को परिवर्त्तित किया जा सकता है। यह इसलिए सम्भव है कि गुलाव में उन सब वस्तुओं के उपादान रहते हैं। गुलाव के फूल की सृष्टि में गुलाव का उपादान ही विशेष रूप से कार्य करता है, अन्यान्य उपादान अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। किन्तु यदि गुलाव के फूल को कमल का फूल वनाना हो तो गुलाव में ही जो कमल का उपादान है, उसे क्रियाशील वनाना होगा। उसे क्रियाशील वनाने की प्रक्रिया की आगे आलोचना की जायगी। कमल के उपादान के क्रियाशील होने पर वह क्षुब्ध उपादान वाह्य सृष्टि से स्वजातीय उपादान का आकर्षण कर क्रमशः पुष्ट होता रहता है एवं पुष्टि के परिणाम-स्वरूप कमल के रूप में आविर्भूत होता है। किन्तु जिस अनुपात से कमल का उपादान प्रवल होकर अर्थात् पुष्ट होकर अभिव्यक्त होता जायगा, ठीक उसी अनुपात से गुलाव का उपादान क्षीण होकर अव्यक्त हो जायगा, किन्तु अव्यक्त होने पर भी शून्य नहीं होगा। क्योंकि मूल प्रकृति में अव्यक्त रूप से सभी उपादान विद्यमान रहते हैं। वाहरी दृष्टि से दिखाई देगा कि गुलाव कमल में परिणत हुआ। तव गुलाव के नाम, रूप, गुण और क्रिया कुछ भी रहेंगे नहीं, पक्षान्तर में कमल के नाम, रूप, गुण और क्रिया व्यक्त हो उठेंगे। किन्तु वास्तव में गुलाव कमल में परिणत हुआ नहीं। क्योंकि गुलाव सूक्ष्म रूप में रह गया एवं कमल स्थूल रूप में फूट उठा। पहले कमल सूक्ष्म रूप में था एवं गुलाव था स्थूल रूप में, अव उसका व्यतिक्रम हुआ।

इस प्रकार विचारपूर्वक देख सकने पर समझ में आ जायगा कि प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में अव्यक्त और स्थूल रूप से मूल प्रकृति रहती है। आपूरण के तारतम्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। योगी इस सत्य का आश्रय करके ही अभ्यासयोग में प्रवृत्त होता है; क्योंकि मानव की निज सत्ता में भी सूक्ष्मरूप से पूर्ण भगवत्सत्ता अथवा दिव्यसत्ता विद्यमान रहती है। उसको अभिव्यक्त कर प्रकाश में लाना ही अभ्यासयोग का उद्देश्य है। अच्छी, वुरी सव सत्ताएँ सभी में रहती हैं, जो जिसे अभिव्यक्त कर सके उसके निकट वही अभिव्यक्त होती है।

योगसूत्रकार पतंजलि ने कहा है—"जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" अर्थात् प्रकृति अथवा उपादान का आपूरण होने पर एक जाति की वस्तु अन्य जाति की वस्तु में परिणत हो सकती है। प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक होने पर भी उस परिणाम के विभिन्न प्रकार-भेदों के सम्बन्ध में निमित्त कारण की आवश्यकता है। क्योंकि प्रकृति से सब कुछ आविर्भूत हो सकता है सही, किन्तु कार्यतः वह होता नहीं, उसका कारण निमित्त का अभाव है। प्रकृति का प्रवाह जिस ओर खुलता है उसी प्रकार का कार्य होता है—जीव की कर्मशक्ति, योगी की इच्छाशक्ति अथवा भगवान् की कृपाशक्ति—ये सब निमित्त के अन्तर्गत हैं। ये निमित्त प्रकृति के प्रयोजक नहीं होते, अर्थात् ये प्रकृति को किसी निर्दिष्ट दिशा में प्रेरित नहीं करते, किन्तु ये प्रकृति के आवरण को विनष्ट करते हैं। आवरण-भङ्ग हो जाने पर उसी ओर प्रकृति का परिणाम होता है। जिस ओर का आवरण निवृत्त नहीं होता उस ओर का परिणाम संगठित नहीं होता। आवरण को हटाने का लौकिक उपाय जीव की कर्मशक्ति है। धर्म और अधर्म के भेद से कर्म दो प्रकार का है। जहाँ धर्म प्रतिवन्धक अथवा आवरण के रूप में विद्यमान रहता है वहाँ प्रकृति का अशुभ परिणाम कार्योन्मुख नहीं हो सकता। किन्तु इस आवरण के हट जाने पर प्रकृति से दुःख-सृष्टि का उदय अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार यदि प्रकृति में अधर्मरूप आवरण विद्यमान रहे तो वही प्रकृति के सुखरूप में परिणत होने के मार्ग में वाधा उपस्थित करता है। धर्म-चिन्तन द्वारा अधर्म नामक आवरण को यदि हटाया जा सके तो प्रकृति से दिव्य सुख का आविर्भाव न हो, यह सम्भव नहीं।

अतएव प्रकृति में सब कुछ रहने पर भी सदा सब वाहर प्रकट नहीं होता। निमित्त प्रकृति के आवरण का विनाशक है, किन्तु वह प्रकृति को अपने कार्य की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं है। जल स्वभावतः ही नीचे की ओर बहता है, किन्तु यदि कोई प्रतिबन्धक रहे तो उसकी अधोगति रुकी रहती है। किन्तु किसी विशेष प्रक्रिया के द्वारा यदि उस प्रतिवन्धक को हटाया जा सके तो उसकी स्वाभाविक अधोगति अपने-आप ही होने लगती है। प्रकृति के विश्वपरिणाम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

इस प्राकृतिक सृष्टि का रहस्य यदि हृदयंगम न किया जा सके तो सूर्यविज्ञान का तत्त्व समझना कठिन होगा। जिस वर्णमाला द्वारा पद, वाक्य आदि के क्रम से मानव-भाषा वनी है, उस वर्णमाला के मूल में भी यही रहस्य विद्यमान है। क्योंकि प्रत्येक वर्ण ही स्वरूपतः सर्ववर्णात्मक है। वाहरी दृष्टि से स्थूल रूप में सब वर्ण अलग-अलग हैं, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु वर्णों का जो मूल उपादान है वह प्रत्येक वर्ण में रहता है एवं उससे सभी वर्णों की अभिव्यक्ति की सम्भावना है। इसीलिए योगी-जन कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण में ही सर्वाभिधान का सामर्थ्य रहता है। हमलोग जो एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण का संगठन करते हैं वह स्थूल रूप में कार्य की अभिव्यक्ति के लिए है, किन्तु योगी अन्तर्मुखी दृष्टि द्वारा जब किसी वर्ण की ओर लक्ष्य करते हैं तब उन्हें वहाँ सब वर्णों की जो मूल प्रकृति है, वह दिखाई देती है।

प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक है। जो लोग काल के प्रभाव से गुण का परिणाम मानते हैं, वे काल को ही प्रकृति के परिणाम का निमित्त मानते हैं। कोई-कोई ईश्वर की इच्छा को भी निमित्त कहते हैं। हम यहाँ स्वभाववाद का अवलम्बन करके ही आलोचना करेंगे। परिणाम प्रकृति का स्वभाव होने पर भी यदि कोई निमित्त न रहे तो यह सदृश परिणाम के रूप में ही प्रकाशित होता है। किन्तु प्रकृति में विसदृश परिणाम की क्रिया हुए विना उससे कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, किसी धर्म का आविर्भाव नहीं हो सकता। प्रकृति का परिणाम दो प्रकार का है—एक तत्त्वान्तर परिणाम और दूसरा धर्मादि-परिणाम। तत्त्वान्तर परिणाम का अन्त होता है, उसके वाद ही प्रकृति धर्मी के रूप में अपने को प्रकट करती है। तब इस धर्मीरूप प्रकृति से धर्मरूप परिणाम प्रकट होता है। यही सृष्टि का प्रारम्भ है। यह देश और काल के द्वारा आवद्ध नहीं है—वस्तुतः यह काल के अन्तर्गत भी नहीं है। धर्मरूप परिणाम जिस भूमि में होता है, उस भूमि में यह निरन्तर और नियत होता है, इसमें सन्देह नहीं है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो विश्व के सभी धर्म इस भूमि में विद्यमान रहते हैं, लेकिन किसी निर्दिष्ट धर्म के रूप में वे इन्द्रियगोचर नहीं होते। इसी भूमि से परिणाम का स्रोत काल के राज्य में प्रवेश करता है। तव वह धर्म देहावच्छिन्न प्रमाता के इन्द्रिय-गोचर होता है—हमलोगों को 'वर्त्तमान काल' कहने से जिसकी प्रतीति होती है, उसमें तव वह धर्म प्रवेश करता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि वर्त्तमान काल में प्रवेश करने के पहले यह धर्म था या नहीं; एवं यदि रहा तो कहाँ था ? इसका समाधान यह है—वह अनागत काल में था। जिसको हमने धर्म की भूमि कहा है, उसका कुछ अंश इस अनागत काल की भूमि से अभिन्न है; क्योंकि अनागत काल में स्थित वह अव्यक्त धर्म ही वर्त्तमान काल में प्रवेश कर द्रष्टा के दृष्टिगोचर होता है। दृष्टिगोचर होने के पूर्व भी वह धर्म विद्यमान था, इसमें सन्देह नहीं है; क्योंकि धर्मरूप परिणाम पहले से ही सिद्ध है—उसी से वर्त्तमान काल में धर्म-विशेष का अवतरण होता है। अवश्य सकल धर्मों का अवतरण नहीं होता; क्योंकि कारण-सामग्री के प्रभाव से अव्यक्त धर्म अभिव्यक्त होता है। लौकिक भाषा में यही उसकी उत्पत्ति है। अतएव उत्पन्न होने के पूर्व भी वह धर्म अव्यक्त अनागत काल के गर्भ में निहित था। इस अव्यक्त कालगर्भ को आविर्भूत धर्मभूमि का ही एक लघु अंश जानना चाहिए। उस मूल भूमि से धाराभेद से विभिन्न अण्डों में धर्म प्रकट हो रहा है। धर्म अर्थात् कार्यवस्तु आविर्भूत होने के क्षण से तिरोभूत होने के क्षण तक निरन्तर परिणामयुक्त अवस्था में रहकर फिर अव्यक्त हो जाती है। अनागत भूमि और अतीत भूमि दोनों ही अव्यक्त हैं, किन्तु दोनों में भेद है; क्योंकि सृष्टि की धारा अनागत से वर्त्तमान की ओर, वर्त्तमान से अतीत की ओर वह रही है। इसलिए अतीत के अनागत के तुल्य अव्यक्त होने पर भी उस स्थान से वर्त्तमान की ओर धारा चलती नहीं, अनागत से ही चलती है। इसलिए अतीत से कार्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

इस तत्त्व को विशेषरूप से ध्यान में रखना आवश्यक है। क्योंकि योग-वल से अथवा विज्ञान के द्वारा अतीत अथवा विनष्ट वस्तु का भी पुनरुत्थान हो सकता है।

इस स्थल में वह पुनरुत्थान पूर्वोक्त कार्यवस्तु का क्षणभेदयुक्त प्रतिरूपकमात्र है। यह किस प्रकार से सम्भव हो सकता है, विज्ञान की दृष्टि से उसकी आलोचना करना संगत प्रतीत होता है।

कार्यवस्तु जितने क्षण उदित अथवा व्यक्त अवस्था में रहती है उतने क्षण तक निरन्तर ही उसका परिणाम होता रहता है। वस्तुतः प्रत्येक क्षण में ही यह परिणाम होता रहता है। क्षणिक परिणाम साधारण लोगों की दृष्टि में न आने पर भी अनुमान के द्वारा स्पष्ट रूप से उसका निश्चय होता है। यह परिणाम वर्त्तमान धर्म का ही होता है। वस्तुतः अनागत धर्म का भी परिणाम स्वीकार करना ही पड़ता है। क्योंकि उस परिणाम के ऊपर ही अनागत काल से वर्त्तमान काल में वस्तु की गति हो सकती है। अव्यक्त अवस्था में परिणाम अतीन्द्रिय होने पर भी उसके अस्तित्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर यह स्मरण रखना होगा कि अनागत से वर्त्तमान में आने में कारण-व्यापार की आवश्यकता होती है। कारण-व्यापार के विना अनागत सद्वस्तु वर्त्तमान काल में प्रतिभासित नहीं हो सकती। किन्तु जब वर्त्तमान प्रतिभास हट जाता है तब वह वस्तु अतीतरूपी अव्यक्त गर्भ में पुनः प्रवेश करती है। अतीत अतीत होकर भी सत् है, अलीक नहीं है, वह सभी को स्वीकार्य है। किन्तु अनागत सत्ता तथा अतीत सत्ता वर्त्तमान सत्ता से पृथक् हैं, तथापि यह सत्य है कि अतीत वर्त्तमान सत्ता में प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर फिर अतीत नहीं रहता, अनागत भी अनागत नहीं रहता। चक्राकार से मण्डल-रचना होने पर एक अखण्ड मण्डल के रूप में ही वह प्रकाशित होता है। अतीत और अनागत में पार्थक्य न रहने पर भी गुरूपदेश से एक कृत्रिम पार्थक्य की सृष्टि कर लेनी पड़ती है। धर्मों में यहाँ तक कि मूल धर्मस्वरूप में भी यह पार्थक्य अभिव्यक्त हो उठता है। विवेकज्ञान के प्रभाव से सब धर्मों से निस्तार प्राप्त किया जाता है, किन्तु फिर भी धर्मों का अपने स्वरूप का वैशिष्ट्य रह जाता है।

'क' एक कार्यवस्तु है, वह अनागत अवस्था में जिस प्रकार अव्यक्त थी, अतीत अवस्था में भी वैसी ही अव्यक्त है। किन्तु ये दो अव्यक्त भाव ठीक एक प्रकार के नहीं हैं; क्योंकि कारण-व्यापार के द्वारा अनागत अव्यक्त 'क' कार्यरूप में अभिव्यक्त किया जाता है, किन्तु लौकिक कारण-व्यापार अतीत 'क' को दूसरी बार वर्त्तमान में नहीं ला सकता। यह सहज में जाना जा सकता है; क्योंकि सृष्टि की धारा अनागत से ही वर्त्तमान की ओर अभिमुख है। अतीत से वर्त्तमान की ओर अभिमुख नहीं है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि योगी नष्ट वस्तु का पुनरुद्धार करने में समर्थ हैं। यदि यह सत्य है तो जो अतीत है उसे वे वर्त्तमान कैसे करते हैं, यह प्रश्न रह जाता है। इस प्रश्न के समाधान-प्रसंग में यही वक्तव्य है कि अनागत 'क' चिह्नहीन है, किन्तु जब वह वर्त्तमान होता है तभी वर्त्तमान कारण से चिह्नित होता है। समग्र वर्त्तमान लक्षणों में जो क्षणिक परिणाम की परम्परा चलती है, उसके द्वारा वह कार्य-वस्तु उपलक्षित होकर अतीत के गर्भ में प्रवेश करती है और फिर अव्यक्त भाव धारण करती है। इस स्थल में योगी अथवा विज्ञानवेत्ता के अतीत

सत्ता का प्रत्यक्ष कर उसकी अभिव्यञ्जक सामग्री को क्रियाशक्ति के द्वारा आयत्त करने पर अथवा उस ज्ञानगोचर सत्ता का अवलम्बन कर इच्छाशक्ति का प्रयोग करने पर वह लुप्त सत्ता फिर उद्‌बुद्ध न हो, ऐसा नहीं हो सकता। इस जगह विचारणीय विषय यह है कि अनागत अव्यक्त से जो 'क' अभिव्यक्त हुआ था एवं आपाततः अतीत अव्यक्त से जो 'क' अभिव्यक्त हुआ—इन दोनों 'क' की सत्ता ठीक एक है या नहीं। योगी के सिवा दूसरा कोई इस रहस्य का भेद नहीं पा सकता। वस्तुतः एक प्रकार से यदि देखा जाय तो ये दोनों सत्ताएँ वस्तुतः एक ही सत्ता हैं, पर ठीक एक सत्ता भी नहीं हैं; क्योंकि पहली सत्ता स्वभाव की अनुलोम धारा से आई है, किन्तु दूसरी सत्ता योगी की संकल्पशक्ति के प्रभाव से स्वभाव की विलोम धारा का अवलम्बन कर आविर्भूत हुई है। स्थूल दृष्टि से दोनों में कोई पार्थक्य नहीं, यह सत्य है। क्योंकि गुण, क्रिया, अवयवगठन; प्रभाव और वीर्य दोनों में ही ठीक एक ही तरह के हैं, किन्तु फिर भी दोनों सत्ताएँ वस्तुतः पृथक् हैं। योगज दृष्टि के द्वारा यह पार्थक्य देखा जा सकता है। वास्तव में इस पार्थक्य का कारण है। वह कारण क्षणसम्बन्ध के सिवा और कुछ नहीं है। पहले के 'क' में जिस क्षण-सम्बन्ध का साक्षात्कार किया जाता है, द्वितीय 'क' का क्षण-सम्बन्ध उससे पृथक् है। जो क्षण का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं, उनके लिए यह क्षण का भेद बुद्धि के परे है। इसीलिए किसी एक वस्तु के नष्ट हो जाने पर योगबल से ठीक उसी वस्तु को दूसरी बार अभिव्यक्त किया जाता है, यह सत्य होने पर भी इन दो वस्तुओं में अति सूक्ष्म भेद रहता ही है। इस भेद का मूल क्षण का वैशिष्ट्य ही है[1]।

---

१. यह विषय-प्रवेशमात्र है। इसपर विस्तृत आलोचना कालान्तर में करने का विचार है।

द्वैत तान्त्रिक साधना में कैवल्य का स्थान

[१]

जो व्यक्ति भारतीय दर्शनशास्त्र के गाढ़ अनुशीलन में प्रवृत्त हैं वे मनुष्यों के आध्यात्मिक अनुसन्धान के परम लक्ष्य अर्थात् कैवल्य के विषय में कई दार्शनिक सम्प्रदायों के आपाततः विरुद्ध से प्रतीत होनेवाले दृष्टिकोणों को देखकर आश्चर्य में पड़े विना रह नहीं सकते। वैष्णव, शैव और शाक्तगण ही नहीं, आगमिक संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित सभी दार्शनिक प्रस्थान सांख्य अथवा तदनुरूप दार्शनिक सम्प्रदायों के अभिमत कैवल्य के विषय में विशेष उच्च धारणा नहीं रखते। मैं इस निवन्ध में जहाँ तक संक्षेप हो सकेगा, द्वैत तान्त्रिक साधकों की दृष्टि में कैवल्य का स्थान क्या है, यह निरूपण करने का प्रयत्न करूँगा।

कैवल्य शब्द मुख्यतः सांख्यमार्ग की परिभाषा है। केवल अथवा अकेला होने का भाव ही कैवल्य का तात्पर्य है। अर्थात् कैवल्य किसी प्रकार की मलिनता या अशुद्धि के सम्वन्ध से पूर्णतया मुक्ति का नामान्तर है। पुरुष अथवा आत्मा स्वरूपतः शुद्ध ही है। अविवेकवश प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह अशुद्ध प्रतीत होता है। प्रकृति जड़ है। उससे सम्बन्ध, जो अविवेकात्मक है, अनादि माना जाता है। सांख्य की साधन-प्रक्रिया का एकमात्र उद्देश्य है सत्त्व या प्रकृति से पुरुष के विवेकात्मक ज्ञान का उद्भव। इसी से पुरुष परम शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, जिसका नामान्तर है कैवल्य। जिस स्थिति में पुरुष अपने स्वभावसिद्ध चिद्भाव से अविभक्त साम्यरूपा प्रकृति के स्वप्रकाश द्रष्टा के रूप में अलग रहता है, वही कैवल्य है। इस स्थिति में प्रकृति के गुणों का परिणाम रहने पर भी परस्पर संघर्ष नहीं रहता।

[२]

आत्मा की स्वरूप-प्राप्ति के विषय में इस प्रकार का सिद्धान्त वैष्णव दार्शनिकों का अभिमत नहीं है। परन्तु उनके विषय में कुछ कहने के पूर्व अन्यान्य आस्तिक दार्शनिकों का इस विषय में क्या अभिप्राय है, यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। न्याय-वैशेषिक दृष्टि से निश्रेयस् अथवा अपवर्ग में आत्मा के विशेष गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद माना गया है। यह प्रायः सांख्ययोग-दृष्टि के ही अनुरूप है। ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःखादि आत्मा के विशेष गुण आत्मा में समवेत रहते हैं और आत्मा के मानस-जीवन के ये अच्छेद्य अंश माने गये हैं। अन्यान्य गुणों के सदृश ज्ञान भी जन्य पदार्थ है। इसलिए इसका आत्मा में नियत सहभावी गुण के रूप से अवस्थान नहीं हो सकता; क्योंकि मन की अपनी क्रिया से जब आत्मा से संयोग होता है तभी ज्ञानादि विशेष गुणों का उद्भव होता है। यह मन की क्रिया अन्ततोगत्वा आत्मसमवेत

अदृष्ट का कार्य मानी जाती है। मोचक ज्ञान अज्ञान का नाश करता है और अदृष्ट का मूलोच्छेद करता है। परामुक्ति देहपात के अनन्तर होती है, यह आत्मा की वह अवस्था है, जिसमें ज्ञानादि विशेष गुण बिलकुल नहीं रहते। मुक्ति में इन ज्ञानादि आत्मगुणों के अभाव के विषय में न्याय-वैशेषिक-दृष्टि तथा सांख्य-दृष्टि में विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि सांख्य में भी पुरुष में गुणरूप से ज्ञान नहीं रहता। पुरुष चित्-स्वरूप है; यह बात सत्य है, किन्तु जबतक प्रकृति के कार्य बुद्धि से युक्त न हों तब तक वह चेतन नहीं है। वेदान्त की स्थिति भी प्रायः इसी प्रकार की है। भेद केवल इतना ही है कि वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है और सांख्य के अनुसार वह बहु है। यह सत्य है कि वेदान्त-दृष्टि में आत्मा स्वप्रकाश है, परन्तु ज्ञान अथवा इच्छा गुणरूप से आत्मधर्म नहीं है। गुणों का सम्बन्ध आभास रूप से आत्मा में प्रतीत होता है, इसका कारण है आत्मा का प्रतीयमान माया-सम्बन्ध। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न दार्शनिक मतों में मोक्ष की स्वरूप-कल्पना प्रायः एक ही प्रकार की है और यह सांख्यसम्मत कैवल्य के अनुरूप है।

[३]

वैष्णव दार्शनिकों ने विभिन्न हेतुओं से कैवल्य को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में अङ्गीकार करने का विरोध किया। पाञ्चरात्र-संहिताओं की इस विषय में क्या सम्मति है, यह सर्वांश में स्पष्टरूप से विदित नहीं है; परन्तु पाञ्चरात्र या अन्य किसी प्रकार के वैष्णव-साहित्य के ईश्वरवाद से सम्पृक्त होने तथा उनके साधनों में भक्ति का प्राधान्य रहने के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि वैष्णव दार्शनिक भी कैवल्य पर अधिक श्रद्धा का भाव प्रदर्शित नहीं करते। रामानुजानुगामी विशिष्टाद्वैत वैष्णव-साहित्य में इस विषय में स्पष्ट इंगित देखने में आता है। वे कहते हैं कि आत्मा को ज्ञानयोग से कैवल्य का अनुभव होता है। उस समय आत्मा प्रकृति या जड़ से वियुक्त रहता है। वैष्णवों में कैवल्य-अवस्था में आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध में दो मत प्रधान हैं—टेङ्गलई और बडगलई। टेङ्गलई-सम्प्रदाय में माना जाता है कि कैवल्य मुक्ति को प्राप्त आत्मा परम पद के एक कोने में अनन्त काल तक पड़े रहते हैं। वे अर्चिरादिमार्ग से वहाँ (परम पद में) पहुँच जाते हैं। वहाँ अनन्त और अव्यक्त परम शान्ति का अनुभव करते हैं; परन्तु भगवान् को प्राप्त कर उनके साथ नित्यलीला में सम्मिलित होना उनकी आशा के अतीत है। पति से परित्यक्ता पत्नी की स्थिति के तुल्य केवलियों की स्थिति समझनी चाहिए। पक्षान्तर में बडगलइयों का मत है कि कैवल्यप्राप्त आत्मा परम पद के प्रान्त में नहीं रहते, किन्तु प्रकृति के राज्य के भीतर ही किसी एक स्थान में रहते हैं।[1] इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों से कैवल्य पर मुक्ति अथवा यथार्थ

---

१. कैवल्यं नाम ज्ञानयोगात् प्रकृतिवियुक्तस्वात्मानुभवरूपोऽनुभवः। अर्चिरादिमार्गेण परमपदगत एव क्वचित् कोणे परित्यक्तपत्नीन्यायेन भगवदनुभवव्यतिरिक्तस्वात्मानुभवः। केचिदर्चिरादिमार्गेण गतस्य पुनरावृत्त्यश्रवणात् प्रकृतिमण्डल एव क्वचित् देशे स्वात्मानुभव इत्याहुः। (द्रष्टव्य : श्रीनिवासकृत यतीन्द्रमतदीपिका, ९५, पूना-संस्करण, १९३४ ई०)

मोक्ष से भिन्न पदार्थ है। मोक्ष में अनवच्छिन्न आनन्दात्मक ब्रह्मानुभव का; भागवती शक्तियों की अभिव्यक्तियों का तथा देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार विविध प्रकार की भगवत्सेवा और भगवदिच्छा के अनुवर्त्तन का अनुभव रहता है। इस अवस्था का लाभ भक्तियोग तथा प्रपत्ति से होता है, ज्ञानयोग से नहीं होता।

[४]

वैष्णव साधकों के सदृश पाशुपत भी कैवल्य को परम पुरुषार्थ नहीं मानते; क्योंकि उनका मत यह है कि कैवल्य दुःखान्तरूप अवश्य है, परन्तु वह अभावात्मक और अनात्मक है। वह वास्तव में मोक्ष नहीं है। सात्मक मोक्ष ही परामुक्ति है, कैवल्य उससे निकृष्ट है। सात्मक मोक्ष में महैश्वर्य का विकास होता है। वह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति है। द्वैतवादी होने के कारण पाशुपतगण स्वभावतः मानते हैं कि परामुक्ति में मुक्त आत्मा परमेश्वर-सत्ता में लीन नहीं होते। वे कहते हैं कि ये सब मुक्त पुरुष परमेश्वर में अभिन्न इस दृष्टि से कहे जाते हैं कि परमेश्वर के गुण तथा शक्तियाँ इनमें प्रकट होती हैं। प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में जो शिवत्व है उसकी अभिव्यक्ति ही पाशुपत-साधना का लक्ष्य है। यद्यपि कैवल्य प्रकृति के सम्बन्ध से मुक्त अप्राकृत अवस्था है और विवेकज्ञान से उत्पन्न होता है तथापि इससे पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती और शिवत्व की व्यञ्जना भी नहीं होती। कैवल्य में पशुत्व रुद्ध रहता है और अभिनव सृष्टि होने पर पुनः प्रकट हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है—

सांख्ययोगेन ये मुक्ताः सांख्ययोगेश्वराश्च ये।
ब्रह्माद्यास्तिर्यगन्तास्ते सर्वेऽपि पशवः स्मृताः॥

ये लोग परामुक्ति को ही सिद्धि अथवा ऐश्वर्य कहते हैं। इस अवस्था में ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति अपरिच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त होती हैं। यह कैवल्यावस्था से भिन्न है। पाशुपतगण कहते हैं कि चेतन सत्ता-मात्र ही (ईश्वर और सिद्धवर्ग को छोड़कर) पशु हैं। इन दो अवस्थाओं का उदय क्रम से होता है; क्योंकि संसारावस्था में कलायुक्त आत्मा देहबद्ध रहते हैं और प्रलयावस्था में अथवा कैवल्य

डॉ० श्रेडर ने केवलों की स्थिति के विषय में इस प्रकार कहा है—There exists a second class of Muktas, namely the so-called kevalas or 'exclusive ones', who are actually isolated because they have reached liberation, not by devotion to God, but by constant meditation upon the real nature of their own soul. They are said to be living, like the wife who has lost her husband, in some corner, outside both the highest Heaven and the cosmic Egg." (Introduction to the Pancharatra. p. 59).

द्रष्टव्य—P. N. Srinivasachari M. A.: "The Philosophy of Visistadvaita (Adyar, 1943), pp. 347—349.

में कलाहीन रहते हैं। ये सब कलाएँ पाशरूप हैं और आत्माओं को बन्धन में डालती हैं। पाशबद्ध आत्मा कोई क्रिया करने अथवा ज्ञान प्राप्त करने में विषयाधीन हैं। अर्थात् विषयों के बिना वे न कोई क्रिया कर सकते हैं और न ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस परतन्त्रता से प्रतीत होता है कि इनमें ऐश्वर्य नहीं है। परन्तु ऐश्वर्य ही आत्मा का मुख्य लक्षण है, जो कि कला के सम्बन्ध से तिरोहित हो जाता है। अतएव पाशुपतों की दृष्टि से आत्मा के स्वभावसिद्ध ईश्वरत्व का तिरोभाव ही बन्ध है। कला या पाशवर्ग अञ्जनात्मक होने के कारण पशुओं का दो वर्गों में विभाग किया जाता है—साञ्जन और निरञ्जन। जो आत्मा देहेन्द्रियादि-सम्पन्न है वह साञ्जन पशु है और विदेह तथा विकरण आत्मा निरञ्जन पशु है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि विदेह-अवस्था स्वतः ही मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है। पाशुपतसूत्रों में स्पष्ट कहा गया है (द्रष्टव्य सूत्र ३३) कि रुद्रसायुज्य ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, कैवल्य नहीं। भाष्यकार कौण्डिन्य ने कहा है कि इसी का नाम योगावस्था है।

सांख्य-कैवल्य में यही प्रधान दोष माना जाता है कि उस अवस्था में चेतना नहीं रहती और आत्मा केवल दूसरे को नहीं जानता; सो बात नहीं है; वह अपने को भी नहीं जान सकता (सांख्ययोगमुक्ताः कैवल्यं गताः स्वात्मपरात्मज्ञानरहिताः संमूर्च्छितवत् स्थिताः।—द्रष्टव्य कौण्डिन्य-भाष्यसूत्र ५।४०)। परामुक्ति के विषय में दुःखान्त शब्द से केवल मात्र दुःखनिवृत्ति नहीं समझनी चाहिए, परन्तु भावरूप स्थिति की उपलब्धि भी समझनी चाहिए। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर की प्रसन्नता या कृपा अत्यन्त आवश्यक है ("दुःखानामत्यन्तं परमापोहो गुणावाप्तिश्च"—कौण्डिन्य-भाष्य ५।४०)।

[५]

पूर्वोक्त आलोचन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि वैष्णव तथा पाशुपतों की संस्कृति का मूल प्रामाण्य प्राचीन आगमों के आधार पर है। ये दोनों सम्प्रदाय प्रचलित या प्रसिद्ध कैवल्य के आदर्श को उपादेय नहीं मानते, इनमें भी विशेषतः जो साधक दिव्य जीवन की ओर अनुरक्त हैं और भगवान् से योग-लाभ करने के अभिलाषी हैं वे नितरां नहीं मानते। अब हम सिद्धान्तानुगामी शैवों के मत का आलोचन करेंगे।

पाशुपतों के तुल्य शैवों का भी यही मत है कि कैवल्य मनुष्य के परम मोक्ष के रूप में गृहीत होने योग्य नहीं है; क्योंकि इसमें मनुष्य के अध्यात्म-जीवन का पूर्ण विकास नहीं होता। इस मत में प्रत्येक आत्मा शिवमय है; अर्थात् स्वरूपतः शिव से अभिन्न है। परन्तु अनादिकाल से मल के द्वारा अपनी प्रकृति के आच्छन्न रहने के कारण इसका शिवत्व तिरोहित हो गया है और आत्मा मलिन आवरण से युक्त हुआ है। आत्मा चाहे निर्दिष्ट काल के लिए मल से आच्छन्न हो अथवा अनादिकाल से मल से मुक्त हो, स्वरूपतः एक और अभिन्न ही है अर्थात् शुद्ध निष्कलङ्क और दिव्यज्योति-सम्पन्न, शिवमय है। इसमें अनन्त शक्तियों का नित्य समाहार ही इसका शिवत्व है। ये सब शक्तियाँ सामान्यतः ज्ञान और क्रिया के वर्गों में गिनी जाती हैं।

तिरोभाव के समय ये सब शक्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथा अपना-अपना कार्य करने में असमर्थ रहती हैं। इस प्रकार निरुद्ध शक्तिवाला आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता प्राप्त नहीं कर सकता एवं अपने को संसारी समझता है। यही पशुभाव है। इस अवस्था में आत्मा बाह्य शक्तियों के अधीन रहता है। इस प्रकार की स्थिति ही पशुत्व है। जिस आत्मा में कभी मल का सम्बन्ध नहीं हुआ, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा, वही परमशिव हैं। अनादिकाल से इनका महत्त्व और ऐश्वर्य देदीप्यमान है।

पृथक्-पृथक् आत्मा स्वभावतः परमशिव से अभिन्न होने पर भी और इस अभेद-बोध से मोक्षावस्था में युक्त रहने पर भी पृथक् सत्ता ही हैं। यह वैलक्षण्य अनन्तकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा[1]। मल का तिरोधान होने पर आत्मा की दिव्य स्थिति की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु शिवत्व प्राप्त होने पर भी कोई आत्मा परमशिव में लीन नहीं होते। शिवत्व का तात्पर्य है आत्मा का अपने खोये हुए स्वतःसिद्ध दिव्यभाव को पुनः प्राप्त होना।

कैवल्य-अवस्था में भी आत्मा में मल रहने के कारण उसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता। मल से पशुत्व समझा जाता है। यह दिव्यभाव के विकास का विरोधी है। इससे स्पष्ट है कि जबतक मल की निवृत्ति न हो तबतक आत्मा के शिवत्व-लाभ का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस विषय को और भी सूक्ष्म-रूप से समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मल क्या है और वह आत्मा पर किस प्रकार आक्रमण करता है एवं उससे मुक्ति पाने का उपाय क्या है? यह कहा जाता है कि अनादिकाल से आत्मा के साथ एक आवरणात्मक द्रव्य का सम्बन्ध है। वह द्रव्य भगवान् की तिरोधानशक्ति के द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करता है। द्वैत शैवदृष्टि में इसी द्रव्य को मल कहते हैं। इसकी निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती, चाहे वह ज्ञान कितनी ही उच्च कोटि का क्यों न हो। यह केवल-मात्र क्रिया से निवृत्त हो सकता है। परन्तु क्रिया भी किसी पाशबद्ध जीवात्मा की नहीं, साक्षात् परमेश्वर की क्रिया होनी चाहिए। व्यवहारभूमि में जिसे अज्ञान कहा जाता है, सिद्धान्ती की दृष्टि से वह दो प्रकार का है—एक अविवेकरूप और दूसरा विकल्परूप। रज्जु में जो सर्पभ्रम होता है यह अविवेकरूप अज्ञान का उदाहरण है। यह अविवेकरूप अज्ञान विवेकज्ञान से निवृत्त होता है। यह अज्ञान उसी व्यक्ति में उत्पन्न हो सकता है, जिसमें सादृश्य का बोध रहे। दूसरे प्रकार के (अर्थात् विकल्परूप) अज्ञान का एक उदाहरण है द्विचन्द्र-बोध—आकाश में वस्तुतः एक ही चन्द्रमा है, परन्तु व्यक्ति-विशेष को चक्षु-विकार के कारण दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। दूसरा उदाहरण है—पीत-शङ्खदर्शन। शङ्ख वस्तुतः शुक्ल है, पीत नहीं; परन्तु दर्शक के चक्षु में पाण्डुरोग रहने के कारण उसे वह पीला दिखाई देता है। यह अज्ञान अविवेकात्मक नहीं है, यह दर्शनेन्द्रिय में विद्यमान किसी विकारजनक सत्ता के कारण उत्पन्न होता है। ये दोनों ही प्रकार के अज्ञान 'अज्ञान' के

---

१. परम अनादिसिद्ध इत्यर्थः। मुक्तात्मनां तु तत्प्रसादलब्धशिवत्वयोगितया ततो वैषम्यम्। तत्त्वप्रकाशे—मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः। सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः।

नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम अज्ञान अविवेकात्मक होने के कारण विवेकज्ञान से निवृत्त होता है। परन्तु द्वितीय प्रकार का अज्ञान उससे निवृत्त नहीं हो सकता। इसकी निवृत्ति के लिए जिस सत्ता के कारण चक्षु में यह विकार उद्भूत हुआ है उसे हटाना चाहिए। वह क्रिया से ही हट सकता है ज्ञान से नहीं।

सिद्धान्ती का मत यह है कि पशुत्वसाधक अज्ञान विकल्पात्मक है और आत्मा में मल नाम के द्रव्य-विशेष के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। उसकी निवृत्ति मल-निवृत्ति के विना नहीं हो सकती। इस मल नामक द्रव्यविशेष के सम्बन्ध से ही संसारी आत्मा पशुरूप में परिणत हुआ है। नहीं तो यह आत्मा स्वरूपत: दिव्य और शिवरूप ही है, जिसमें अनन्त ज्ञान-क्रियाएँ रहती हैं। इस मल की निवृत्ति जब क्रिया से होती है तभी आत्मा को अपने दिव्य भाव का अनुभव होता है और वह अपने दिव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। किन्तु किसी मनुष्य की क्रिया से मल की निवृत्ति नहीं हो सकती। यह परमेश्वर की ही क्रिया से निवृत्त हो सकता है। उस क्रिया का नाम दीक्षा है।

इस वस्तु को मल इसीलिए कहा जाता है कि यह आत्मा की शिवज्योति और तेज अर्थात् दिव्य ज्ञान और क्रिया को आवृत करता है। यह तण्डुल के आवरण तुष के तुल्य है। यह जिस आत्मा में रहता है उसमें भगवदिच्छा से माया के रूप में स्थूलता को प्राप्त होता है अर्थात् माया मल के प्रभाव से सृष्टि की ओर उन्मुख होकर कलाओं को उत्पन्न करती है।

रसायनवेत्ता अभिज्ञ पुरुष को ज्ञात है कि जैसे ताम्बे की कालिमा स्वभावसिद्ध होने पर भी रसशक्ति के प्रभाव से तिरोहित हो जाती है वैसे ही सिद्धान्तियों के मतानुसार आत्मनिहित मल, जो कि आत्मा का स्वभावरूप है, दीक्षाकालीन परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति के प्रभाव से निवृत्त हो जाता है। माया आगन्तुक बन्धन है, जो कि बाहर से कार्य करती है। इसके विनाश की प्रक्रिया मलनाश की प्रक्रिया से भिन्न है। इसका अभिप्राय यह है कि मल, आत्मा के स्वभाव के साथ ग्रथित होने के कारण, शिव की अनुग्रहशक्ति से ही विनष्ट हो सकता है। परन्तु माया स्वरूप में बहिरंगरूप से आवरण डालती है, इसीलिए वह आगन्तुक है अर्थात् स्वभावसिद्ध नहीं है। सिद्धान्तियों के मतानुसार इसकी निवृत्ति मल की निवृत्ति की भाँति कष्टसाध्य नहीं है।

यह मल वस्तुत: एक है, परन्तु इसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। एक-एक शक्ति एक एक आत्मा में क्रिया करती है एवं जब यह परिपक्व हो जाती है तब इसका तिरोधान हो जाता है। मल अनादि है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है, इसका प्रवाह अनादि है। यह अभेद्य है। मल की शक्तियाँ परमेश्वर की रोधक्रिया के प्रभाव से कार्य करती हैं या कार्य से निवृत्त होती हैं। परन्तु भगवान् नित्य मंगलमय हैं, अत: उनकी रोधशक्ति उनकी सर्वानुग्रहशक्ति से भिन्न नहीं है एवं इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि पाशबन्धन भी अन्ततोगत्वा मङ्गल का ही हेतु है।

भागवत में ईश्वर-रूप

[१]

प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान और धर्म-सम्प्रदाय ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार जीव और ईश्वर का निरूपण करने की चेष्टा की है। श्रीमद्भागवत में भी भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इस प्रकार की आलोचना दिखलाई देती है। इस आलोचना का अवलम्बन कर आचार्यों ने एक विराट् साहित्य की सृष्टि की है। हम उस सम्बन्ध में कोई मतामत प्रकट न कर केवल मूल ग्रन्थ के अभिप्राय और तात्पर्य की ओर लक्ष्य रखते हुए यथासम्भव संक्षेप में दो-चार बातें कहने की चेष्टा करेंगे। श्रीमद्भागवत में उपदिष्ट तत्त्व की यथार्थरूप से व्याख्या करने की योग्यता रखनेवाले पुरुष विरले ही हैं। क्योंकि प्रसिद्धि है—

ब्रह्मानुभवसम्पन्नाः शास्त्रज्ञाश्चानसूयवः।
तात्पर्यरससारज्ञास्त एवात्राधिकारिणः॥

अर्थात् जो ब्रह्मानुभूतिसम्पन्न, शास्त्रों के मर्मवेत्ता, असूया-रहित तथा तात्पर्यज्ञ हैं, वे ही भागवत के गूढ़ार्थ को प्रकाशित करने के अधिकारी हैं। वर्त्तमान निबन्ध उस प्रकार की चेष्टा नहीं है, यह कहना बेकार है। यह केवल महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए अपनी व्यक्तिगत जिज्ञासा की निवृत्ति का तनिक उद्यममात्र है।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्[१]।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ (भा० २।९।३२)

अर्थात् सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही था—दूसरी कोई वस्तु न थी। तब मैं था केवलमात्र, कोई क्रिया नहीं थी। तब सत् अथवा कार्यात्मक स्थूलभाव नहीं था, असत् या कारणात्मक सूक्ष्मभाव नहीं था, यहाँ तक कि दोनों का कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुखरूप से मुझमें लीन था। सृष्टि के बाद भी मैं ही हूँ—अर्थात् यह प्रपञ्चसम्भार अथवा विश्व भी मैं हूँ। यह वस्तुतः मुझसे भिन्न नहीं है। फिर, प्रलयकाल में सबके लीन हो जाने पर एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा। इसलिए मैं अनादि, अनन्त, अद्वितीय और परिपूर्ण स्वरूप हूँ।

इससे ज्ञात होता है—निर्गुण, सगुण, जीव और जगत् सभी ब्रह्मरूप हैं।[२]

---

१. ऋग्वेदसंहिता (८।७।१७) में इस अवस्था का—"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।" एवं अन्यत्र 'तस्माद्धान्यन्न च परः किञ्चनास' कहकर वर्णन किया गया है।

२. आचार्य वामन ने इसीलिए श्रुतिकल्पलता के उपोद्घात में कहा है—"निर्गुणं सगुणं जीवसंज्ञितं जगदात्मकम्।...एतच्चतुर्विधं ब्रह्म श्रीमद्भागवते स्फुटम्॥" वे स्वरूपतः निर्गुण, मायायोग से सगुण, अविद्या के कारण प्रतिबिम्बरूप से जीव तथा विवर्त्तरूप से जगत् हैं।

[२]

मैं और भी स्पष्टरूप से विभिन्न दृष्टिकोणों से इस विषय को समझने की चेष्टा करूँगा। चैतन्य ही ब्रह्म अथवा भगवान् का स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु यह जबतक सत्त्वगुणरूप उपाधि द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता तबतक यह अव्यक्त और निराकार रूप में विद्यमान रहता है। इसी का साधारणतः निर्गुण ब्रह्म के रूप में वर्णन किया जाता है और जब यह सत्त्वावच्छिन्न होता है तब यह साकार अथवा सगुणरूप में अपने को प्रकट करता है। वास्तव में निराकार और साकार एक ही अखंण्ड वस्तु हैं। चिद्वस्तु स्वरूपतः अव्यक्त है; वह प्रकृति के सत्त्वगुण के सम्बन्ध से व्यक्त होती है। व्यक्त होकर भी वह एक ही रहती है। रजोगुण के संयोग के कारण वह एक सत्ता विचित्र नाना रूपों में आभासित होती है। उसी प्रकार तमोगुण के सम्बन्धवश नानात्व का तिरोधान होता है। यह जो अव्यक्त सत्ता की व्यक्तता है, इसको स्थिति कहते हैं—यह विशुद्ध सत्त्वगुण का व्यापार है। इसमें जो बहुत रूप फूट उठते हैं, उसी को सृष्टि कहते हैं। यह अन्तर्लीन प्रकृति का प्राकट्य ही सृष्टि का नामान्तर है। कालान्तर में वह बहुरूप उपसंहृत होता है। इसी को संहार कहते हैं। पहले स्थिति, उसके बाद सृष्टि और संहार। निर्मल सत्त्व के ऊपर रज और तम आकर्षण और विकर्षण के रूप से, उन्मेष-निमेष के रूप से अथवा संकोच-प्रसार के रूप से पारी-पारी से क्रीड़ा करते रहते हैं।

हमने जो भगवान् के सत्त्वावच्छिन्न साकार स्वरूप की बात कही है, वह सत्त्व-गुण के तारतम्यवश मूलतः एक होकर भी विभिन्न रूपों से प्रतीत होता है। सत्त्व विशुद्ध और मिश्र भेद से दो प्रकार का है। मिश्रसत्त्व एक गुण के मिश्रण अथवा दो गुणों के मिश्रणवश दो प्रकार का है। एक गुण के मिश्रणवश मिश्रसत्त्व रजोमिश्र और तमोमिश्र भेद से दो प्रकार का है। अतएव भगवान् का साकार रूप कुल चार प्रकार का पाया जाता है। जैसे—

प्रथम—शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य। इसको विष्णु कहते हैं। द्वितीय—रजो-मिश्रसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य। इसका दूसरा नाम ब्रह्मा है।

तृतीय—तमोमिश्रसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य। इसकी शास्त्रीय संज्ञा रुद्र है।

चतुर्थ—बराबर रज और तम दोनों से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य। यही पुरुष है।

जगत् की स्थिति, सृष्टि और संहार-रूप व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र—ये तीन निमित्त हैं एवं सर्वत्र पुरुष ही उपादान रहता है। किन्तु ये चार, ब्रह्म के ही साकार रूप हैं यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए भागवतमतानुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान-रूप उभय कारण है। फिर कार्यात्मक जगत् भी ब्रह्म ही है। अतएव ब्रह्म स्वयं ही कार्य, स्वयं ही उपादान और स्वयं निमित्त है। निराकार दृष्टि से यदि देखा जाय तो वे कार्य भी नहीं हैं, कारण भी नहीं हैं, वे जो हैं वही हैं एवं सदा ही वही रहते हैं। सृष्टि आदि इन्द्रजाल की नाईं आविर्भूत होकर

अज्ञानदृष्टि से उनमें केवल आरोपित होते हैं। शुद्धज्ञानदृष्टि से यह आरोप भी आकाशकुसुम के तुल्य अलीक है।

उनका निराकार रूप ही परम रूप है। यह गुणातीत, काल के द्वारा अपरिच्छिन्न, निर्विकार, शान्त, अद्वय है—यही विष्णु का परम पद है।

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥

(भागवत २।२।१७, १८)

अर्थात् जहाँ देवतागणों के नियामक काल का कोई प्रभुत्व नहीं है—अतएव देवताओं के जागतिक प्राणियों के नियन्त्रणकारी होने पर भी वहाँ उनका प्रभाव रह ही नहीं सकता, यह कहना अनावश्यक है; जहाँ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नहीं हैं; जहाँ अहंकारतत्त्व (विकार), महत्तत्त्व तथा प्रकृतितत्त्व का अस्तित्व नहीं है; जिस परमपूज्य भगवत्स्वरूप का योगी लोग "यह नहीं, यह नहीं" इस प्रकार विचार के द्वारा तद्भिन्न पदार्थों का परिहार करने की इच्छा कर विषयासक्तिवर्जनपूर्वक अनन्यप्रेमपूर्ण हृदय से पद-पद पर आलिंगन करते रहते हैं—वही विष्णु का परमपद कहा गया है। इसी परम रूप के वर्णन-प्रसङ्ग में ही देवकी ने स्तुति-प्रसंग से कहा था—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(भागवत १०।३।२४)

अर्थात् प्रभो, वेद में आपका जो रूप अव्यक्त और सबके आदिभूतरूप से वर्णित है, जो व्यापक ज्योतिस्वरूप है, जो गुणहीन और विकारहीन है, जो निर्विशेष और निष्क्रिय सत्तामात्र है, वही बुद्धि आदि के प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं।

इस निर्गुण परमेश्वर के आदि अवतार ही पुरुष हैं—

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य।

(भागवत २।६।४२)

परमेश्वर के जो अंश प्रधान गुणभागी हैं अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिजन्य कार्य का वीक्षण, नियमन और प्रवर्त्तन आदि करते हैं, जो स्वरूपतः एक रहकर भी नाना प्रकारों से अपने विग्रहांश का विभाग कर निखिल प्राणियों का विस्तार करते हैं, जो माया-सम्बन्ध-रहित होकर भी माया से सम्बद्ध जैसे प्रतीत होते हैं, जो सर्वदा चित्-शक्तियुक्त हैं, वे ही पुरुष कहलाते हैं। इन पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। ये संकल्पमात्र से सब कार्य सम्पन्न करते हैं, इसलिए प्रकृति

और प्राकृत जगत् में प्रविष्ट होने पर भी अचिन्त्यशक्ति होने के कारण उनसे उनका स्पर्श नहीं होता, वे सदा शुद्ध ही रहते हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

> भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
> स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥
>
> (भागवत ११।४।३)

अर्थात् आदिदेव नारायण प्रकृति में अधिष्ठित होकर पाँच महाभूतों की सृष्टि करते हैं और उनसे ब्रह्माण्ड नामक विराट्पुरी या देह की रचना करते हैं। तदनन्तर उसमें स्वांश से अथवा जीवकला द्वारा प्रविष्ट होकर 'पुरुष' नाम प्राप्त करते हैं। यह दृश्यमान त्रिभुवनसन्निवेश उनका शरीर है, समष्टि और व्यष्टि जीवों की दोनों (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) उनकी दिग्, वात आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हैं, जीव का ज्ञान उनके स्वरूपभूत सत्त्व से जन्य है एवं जीव के बल (देहशक्ति), तेज (इन्द्रियशक्ति) और क्रिया उनके प्राण से उत्पन्न हैं। सत्त्वादि गुणों के द्वारा वे ही विश्व की स्थिति आदि के आदिकर्त्ता हैं—विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र नामक तीन गुणावतार प्रयोज्यकर्त्ता मात्र हैं[1]।

भागवत में (८।२०।२१—३३) वामन के रूप के वर्णन के प्रसंग में पुरुष के रूप का वर्णन है। यह त्रिगुणात्मक रूप है, ऐसा वहाँ उल्लिखित है। उसमें भू, आकाश, द्युलोक, पाताल, मेघ, तिर्यग्योनि, मनुष्य, देवता, ऋषि आदि स्थावर, जंगम सभी पदार्थ दिखाई दिये थे। ऋत्विक् आचार्य और सदस्यवर्ग के साथ दैत्यराज वलि को महाविभूति-सम्पन्न श्रीहरि की गुणात्मक देह में त्रिगुणमय विश्व दिखाई पड़ा था। उसमें उन्हें पञ्चभूत, दस इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ, चार अन्तःकरण और जीव की सत्ता प्रत्यक्ष दिखाई दी थी—

> काये वलिस्तस्य महाविभूतेः सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत्।
> ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम्॥
>
> (भागवत ८।२०।२२)

अर्जुन ने जैसे श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त दिव्य चक्षु की सहायता से उनके विश्वरूप का दर्शन किया था, वलि को भी उसी प्रकार भगवत्कृपा से दिव्य चक्षु प्राप्त हुआ था, यह कहना बेकार है।

भगवान् का परम रूप देखने के पूर्व यह विश्वरूप-दर्शन अधिकांश साधकों को होता है। बुद्धदेव को भी सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होने के पहले इस प्रकार के विराट् रूप के दर्शन प्राप्त हुए थे, इस बात का अश्वघोष ने उनके चरित्र-ग्रन्थ (बुद्धचरित) में उल्लेख किया है—

---

१. आदिकर्त्ता शब्द की यह व्याख्या श्रीधरसम्मत है। हेमाद्रि कैवल्यदीपिका में कहते हैं कि आदिकर्ता = प्रथम कारण या उपादान अर्थात् पुरुष हैं। परवर्ती कारण = निमित्त अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र हैं।

ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले।

पुरुषावतार के अनन्तर गुणावतार का विषय आलोचना-योग्य है। पूर्ववर्णित आद्यपुरुष सर्वप्रथम जगत् की सृष्टि के लिए रजोगुण के अंश से ब्रह्मा हुए, स्थिति के लिए सत्त्वगुण के अंश से धर्म और ब्राह्मणगणों के रक्षक यज्ञपति विष्णु हुए एवं संहार के लिए तमोगुण के अंश से रुद्र हुए। तीन गुणों का आश्रयण कर इस प्रकार एक पुरुष ही तत्-तत् नाम धारण करते हुए जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय की व्यवस्था करते रहते हैं। इनमें से ब्रह्मा का वाहन हंस है, विष्णु का वाहन गरुड़ (सुपर्ण) है एवं रुद्र का वाहन वृषभ है। इनके कमण्डलु, चक्र, त्रिशूल आदि अपने बिशिष्ट चिह्न हैं (भागवत ८।१।२४)।

शुद्धसत्त्वात्मक विष्णुरूप का विशेष वर्णन भागवत में दूसरे स्थल में है (१०।८९।५४–५६)। उनका श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ द्वारका के मृत ब्राह्मणकुमार को लाने के लिए जाकर गर्भोदक में दर्शन किया था। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर पश्चिम की ओर प्रस्थान किया एवं सप्तद्वीप, सप्तसागर और लोकालोक पर्वत को लाँघकर घनघोर अन्धकार में प्रवेश किया। उस निविड़ अन्धकार में दिव्य अश्वों की भी गति का रोध हो गया था। तब कृष्ण के आदेश से हजार सूर्यों की तरह अत्यन्त उज्ज्वल उनका सुदर्शन-चक्र किरणें बिखेरकर अन्धकार-राशि को छिन्न-भिन्न करते हुए तीव्र वेग से आगे-आगे चलने लगा एवं उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर रथ अग्रसर होता गया। इस तरह उन्होंने उस विपुल अन्धकार को भेदकर उसके परले पार स्थित महाज्योति के दर्शन किये।[1] अर्जुन ने उस ज्योति की झलक सहन न कर सकने के कारण आँखें मूँद लीं। उसके पश्चात् घोर वायु के वेग से विक्षुब्ध विशाल जलराशि दिखाई दी[2]।

इस तट-रहित उत्ताल तरंगों से व्याप्त समुद्र में एक अत्यन्त दीप्तिमान् विशाल भवन दृष्टिगोचर हुआ। यही महाकालपुर है (श्रीधर-मत से)। वह भवन हजार देदीप्यमान मणिरचित स्तम्भों से सुशोभित था। वहाँ हजार मस्तकवाले भगवान्

१. इसकी भागवतज्योति के नाम से श्रीधरस्वामी ने व्याख्या की है।
२. यह जो 'गर्भोदक' कहा गया है, इसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है। गर्भोदक के अवस्थान आदि के सम्बन्ध में विशेष विवरण आगम-साहित्य में मिलता है। सप्त द्वीपों में अन्तिम द्वीप 'पुष्कर' है। यह स्वादु जलराशि से परिवेष्टित है। इस स्वादु जल-समुद्र के बाहर सुवर्ण-भूमि है। यह देवताओं का क्रीड़ास्थल है। इसके अनन्तर वलयाकार लोकालोक पर्वत है। लोकालोक के भीतर की ओर सूर्य प्रकाशित होता है, बाहर की ओर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता। सूर्य मेरु और लोकालोक के मध्य में है। सूर्यलोक के बाहर घोर अन्धकार रहता है। उसे देखना नहीं बनता। उसके बाद जीवहीन गर्भोद नामक समुद्रराज है। सात समुद्र तथा सप्तद्वीपमय पृथिवी इसके गर्भ में स्थित है। गर्भोदक के बाहर ही ब्रह्माण्ड-रूपी कटाह है। यही प्रचलित मत है। सिद्धयोगीश्वरतन्त्र के मतानुसार लोकालोक के निकट और गर्भोद समुद्र के तीर पर कौषेयमण्डल अवस्थित है। हजारों सिद्ध पक्षियों के मण्डल से वेष्टित होकर पक्षिराज गरुड़ उस स्थान में निवास करते हैं।

शेषनाग विराजमान थे, जिनके प्रत्येक मस्तक पर उज्ज्वल मणिमय फण शोभित थे एवं शरीर अत्यन्त भयानक और अद्भुत था भगवान् महाविष्णु इस शेषनागरूप शय्या पर सोये हुए थे। उनकी घने मेघ की तरह नीली शरीरकान्ति, पीले वस्त्र, प्रसन्न मुखमुद्रा, सुन्दर और विशाल नेत्र, मणिरचित किरीट और कुण्डल, बिखरी, देदीप्यमान केशराशि, श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभ और वनमाला भूषण तथा लम्बायमान आठ भुजाएँ शोभित हो रही थीं। उनके चारों ओर सुनन्द, नन्द आदि पार्षदगण और मूर्तिमान् चक्र आदि आयुध विराजमान थे। मूर्तिमती श्री, कीर्ति और अजा तथा सब ऋद्धियाँ उनकी सेवा कर रही थीं।

उनका जो यह रूप वर्णित हुआ, यही उनका एकमात्र रूप नहीं है। वे इच्छा-रूप होने के कारण भक्त के इच्छानुसार आकार धारण करते हैं। जब जो भक्त उनके जिस रूप का दर्शन करने की इच्छा करते हैं, वे उनके निकट उसी रूप से प्रकट होते हैं। भागवत में कहा है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे त्वदनुग्रहाय॥

अर्थात् हे विष्णो ! तुम पुरुषों के भक्तियोग से शोधित हृदयकमल में अभिव्यक्त होकर अवस्थित होते हो। तुम्हारा पथ अथवा स्वरूप स्थिति का परिचय एकमात्र वेद से ही अवगत होता है। अतएव भक्तवृन्द तुम्हारे जिस-जिस रूप का अपने मन में चिन्तन करते हैं, तुम उनके अनुग्रह के लिए उस-उस रूप से आविर्भूत होते हो।

भागवत में दूसरे स्थल (३।२४।३१) पर लिखा है कि भगवान् 'अरूपी' हैं, वास्तव में उनका कोई रूप नहीं है अर्थात् उनका स्वतःसिद्ध रूप नहीं है। परन्तु अपने भक्तों में जिसे जो रूप अच्छा लगता है, वही उनका रूप जानना चाहिए।

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥

यहाँ तक हमने पुरुषावतार और गुणावतारों की आलोचना की है। मुमुक्षु पुरुष समाधि-अवस्था में उनके दर्शन पाते रहते हैं। किन्तु जिन साधकों का चित्त अभी व्युत्थानावस्था का उल्लंघन कर समाहित नहीं हुआ, उनके लिए और एक प्रकार के अवतार के ध्यान और चिन्तन की व्यवस्था है। इनके दिव्य जन्म और अलौकिक नाना प्रकार के कर्मों की श्रद्धा के साथ भावना करने पर साधक के विघ्न-नाश और इष्टप्राप्ति में सहायता होती है। ये सब अवतार—कल्पावतार, मन्वन्तरा-वतार, युगावतार और स्वल्पावतार के भेद चार प्रकार के हैं। वाराह आदि कल्पावतारों का वर्णन द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में दिखलाई देता है। चौदह मन्वन्तरों से सम्बद्ध चौदह मन्वन्तरावतारों का विवरण अष्टम स्कन्ध के प्रथम,

पंचम, द्वादश और त्रयोदश अध्यायों में उपलब्ध होता है। शुक्ल आदि वर्णों के भेद से युगावतार चार हैं। उनके अतिरिक्त सृष्टि-व्यापार में ब्रह्मा, प्रजापतिगण, ऋषिगण और तप, स्थिति-व्यापार में धर्म, यज्ञ, मनु, अमर और अवनीश या राजा एवं संहारकार्य में अधर्म, हर और मन्युवश (सर्प)—ये सब मायाविभूतिगण भी अवतारों में परिगणित होते हैं।

गुणातीत और निराकार स्वरूप ही भगवान् का परम रूप है, यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु इस रूप की धारणा अत्यन्त कठिन है। प्रथम भूमि में त्रैगुण्य-विषयक धारणा करनी चाहिए। यही उनका पुरुषरूप में चिन्तन है। इससे चित्त के कुछ स्थिर होने पर द्वितीय भूमि में द्वैगुण्यधारणा करनी चाहिए। यह ब्रह्मा और रुद्रदेव के रूप का चिन्तन है। इनका एक साथ ध्यान असम्भव नहीं है। यद्यपि ध्यानकाल में दो मूर्त्तियाँ रहती हैं तथापि दोनों की अभिन्न भावना करनी चाहिए। इस द्विविध धारणा के द्वारा रजोगुण और तमोगुण के अभिभूत होने पर मुमुक्षु पुरुष को सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करने के लिए तृतीय भूमि में शुद्धसत्त्वमय विष्णु की धारणा करनी चाहिए। इसके अनन्तर चतुर्थ भूमि में निर्गुण धारणा का अधिकार प्राप्त होता है। मनुष्य की बुद्धि स्थूल एवं सूक्ष्म क्रम का आश्रय करके अर्थ का स्पर्श करती है। इसलिए त्रिगुणात्मक भगवत्स्वरूप में मन को समाहित कर स्थिर कर लेना चाहिए। तदनन्तर द्विगुणात्मक रूप में, उसके पश्चात् शुद्ध सत्त्वमय रूप में एवं अन्त में निर्गुण सूक्ष्म ब्रह्म में प्रविष्ट होकर नित्य निरतिशय रूप का ध्यान करते हुए कृतार्थ होना चाहिए।

वैष्णव-साधना और साहित्य

प्रस्तावना

[१]

भारतवर्ष में चार वैष्णव-सम्प्रदाय चार पृथक्-पृथक् धाराओं में वैष्णव-धर्म का प्रचार करते आ रहे हैं। इन चारों सम्प्रदायों ने एक प्रकार से पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का ही अनुसरण किया है। इन चारों सम्प्रदायों के मूल प्रवर्त्तक भगवान् विष्ण हैं, इसलिए ये सभी वैष्णव-सम्प्रदाय कहे जाते हैं। किन्तु ये सभी सम्प्रदाय यद्यपि वैष्णव हैं तथापि तत्-तत् सम्प्रदाय के आदिप्रवर्त्तक कोई-न-कोई विष्णुभक्त ही रहे, उनके द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण वे तत्-तत् नाम से विख्यात हुए। विष्णु-भक्त श्री या महालक्ष्मी द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से, विष्णु-भक्त रुद्र द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय रुद्र-सम्प्रदाय के नाम से, विष्णु-भक्त ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय के नाम से और विष्णु के भक्त चतुःसन (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन) अथवा परमहंसों द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

श्री-सम्प्रदाय का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है। श्रीरामानुजाचार्य इस मत के प्रधान प्रचारक थे। द्वितीय सम्प्रदाय सनकादि परमहंसों द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण हंस-सम्प्रदाय के नाम से परिचित है। इसका दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत है और प्रधान प्रचारक थे निम्बार्काचार्य। तृतीय सम्प्रदाय, जो ब्रह्मा द्वारा प्रवर्त्तित हुआ था, द्वैतमतावलम्वी ब्रह्म-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रीमन्मध्वाचार्य इस मत के प्रधान प्रचारक थे। चतुर्थ अथवा रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रुद्रदेव थे। इस सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। इसके प्रधान प्रचारक थे विष्णुस्वामी एवं परवर्त्ती युग में श्रीवल्लभाचार्य ने इस मत का प्रचार किया था। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि महाप्रभु चैतन्यदेव के नामानुसार स्वतन्त्र वैष्णव-सम्प्रदाय प्रसिद्ध नहीं हुआ। किसी-किसी के मत में चैतन्यदेव के गौडीय-सम्प्रदाय की माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गणना होती है। गुरु-परम्परा की आलोचना करने से यह प्रतीत होता है। परन्तु इस विषय में पण्डितों का मतभेद है। चैतन्यदेव के संन्यास-गुरु केशवभारती माध्व-सम्प्रदाय के संन्यासी थे। उनके दीक्षागुरु ईश्वरपुरी तथा संन्यासगुरु केशवभारती—दोनों ही श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। परन्तु मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त और चैतन्यदेव के सिद्धान्तों में ऐक्य नहीं है एवं दोनों की उपासना-प्रणाली तथा आदर्शों में भी बहुत अंशों में भेद लक्षित होता है।

गौड़ीय मत के मूल का अन्वेषण करने से प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्रशास्त्र, शाक्ततन्त्र और महायानादि बौद्ध साधना-प्रणालियों से गौड़ीय उपासकवर्ग ने अपने सिद्धान्त के पोषण के लिए बहुत-कुछ ग्रहण किया है। ये सभी आगम के अन्तर्गत हैं, अतएव गौड़ीय सम्प्रदाय के मूल में जो आगम का प्राधान्य लक्षित होता है, उसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। आगम के साथ वेद का सम्बन्ध है—इस विषय में नाना मत प्रचलित हैं, जिनकी इस ग्रन्थ में आलोचना करना अनावश्यक है। एक समय था जब आगम के प्रामाण्य तथा वैदिकत्व के विषय में देश में तीव्र आन्दोलन उठा था। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गौड़ीय आचार्यों ने अन्यान्य सम्प्रदायों के आचार्यों के तुल्य अपने मत का वैदिकमत के रूप में प्रचार किया था और उपनिषद् तथा पुराणादि के प्रमाणों से अपने सिद्धान्त के प्रामाण्य के समर्थन का प्रयत्न किया था। यह कहना अनावश्यक है कि स्मार्त्त लोगों ने कहीं-कहीं वैष्णवमत की, पाशुपतादि शैवमतों के तुल्य अवैदिक मानकर, उपेक्षा की है।

गौड़ीय सम्प्रदाय पाञ्चरात्र-मत के अन्तर्गत है, यह बात स्पष्टतया समझ में आती है। पाञ्चरात्र शब्द से भागवत-सम्प्रदाय भी समझना चाहिए। अवश्य प्राचीन काल में भागवत तथा पाञ्चरात्र मतों में कुछ-कुछ वैलक्षण्य था, परन्तु काल-क्रम से दोनों सम्प्रदाय परस्पर मिलकर समान तन्त्र बन गये हैं।[1] भागवत-सम्प्रदाय विशेषतः श्रीमद्भागवत के ऊपर प्रतिष्ठित था।[2] श्रीमज्जीवगोस्वामी ने उक्त ग्रन्थ की टीका में तथा स्वरचित षट्सन्दर्भ-टीका में भागवत-मत की समालोचना की है। उन्होंने भी पाञ्चरात्र-मत के साथ भागवत का समन्वय किया है।

पाञ्चरात्र अथवा भागवतधर्म भक्तिप्रधान हैं। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं है। यद्यपि कुछ लोग वैदिक उपासना को भक्ति के स्थान में ग्रहण कर लेते हैं, किसी अंश में यह ठीक भी है, तथापि भक्ति शब्द का जो वाच्यार्थ है,

---

१. महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के नारायणीय खण्ड (अध्याय ३५०) में पाञ्चरात्र-मत का उल्लेख है। इसके वक्ता नारायण और श्रोता नारद हैं। पाशुपत, सांख्य, योग आदि के तुल्य यह अवैदिक सिद्धान्त है, ऐसी अनेकों की धारणा है। हर्षचरित में पाञ्चरात्र और भागवत-सम्प्रदाय का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र के २।२।४२ और ४३, ये दो सूत्र शंकर-मत से भागवत-मत के विरुद्ध हैं। संशोधित आकार से यह अधिकरण रामानुज-मतानुसार पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का समर्थक है। रामानुज का विश्वास था कि बादरायण पाञ्चरात्र-सिद्धान्त के विरोधी नहीं थे एवं पाञ्चरात्र-मत अवैदिक नहीं है। यामुनाचार्य ने भी उनके पहले 'आगमप्रामाण्य' की रचना कर पाञ्चरात्र-सिद्धान्त के वैदिकत्व की स्थापना करने की चेष्टा की थी। महाभारत के नारायणीय मत से पाञ्चरात्र सात्वत-गणों का धर्म है, इसीलिए यह भी कभी-कभी सात्वत-धर्म के नाम से वर्णित होता है।

२ श्रीमद्भागवत का काल-निरूपण करना बहुत कठिन है। पर वह नवीन ग्रन्थ नहीं अथवा वोपदेव-विरचित भी नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहना ही यथेष्ट होगा कि काशी-संस्कृत कॉलेज के (अब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के) सरस्वती-भवन में वोपदेव के जन्म से भी बहुत पहले की हस्तलिखित श्रीमद्भागवत की एक पोथी विद्यमान है। लिपि के विचार से यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी का निकटवर्त्ती प्रतीत होता है। सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी पण्डित श्रीयुत सिलभन लेवी ने भी इस पोथी को देखकर उक्त कालानुमान का समर्थन किया था।

वह वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्ड या उपासनाकाण्ड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। यद्यपि एकायन-मार्ग आदि का निदर्शन वैदिक साहित्य में भी है तथापि इसके बहुल प्रचार का प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में दिखाई नहीं देता। विभिन्न दृष्टिकोणों से भक्ति का लक्षण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है, परन्तु अन्त में यही मानना पड़ता है कि भक्ति चित्त का भावमय प्रकाश-विशेष है। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनशास्त्रों में जैसे भाव का आलोचन अंशीरूप से उपेक्षित किया गया है[1], वैसे ही वैदिक साधन-पद्धति में भी भक्ति का स्पष्ट स्थान नहीं दिखाई देता। शाण्डिल्य और नारद भक्ति-सूत्रों के रचयिता हैं। दोनों के ही साथ पाञ्चरात्र-मत का घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। कहा जाता है कि शाण्डिल्य ऋषि ने चार वेदों में परम श्रेयस् न पाकर पाञ्चरात्र का आश्रय ग्रहण कर परम तृप्ति प्राप्त की थी। शाण्डिल्य-संहिता नामक पाञ्चरात्र-संहिता का उल्लेख बहुत प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान तथा नारदपाञ्चरात्रादि की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि नारद भी पाञ्चरात्र-मतावलम्वी थे। छान्दोग्योपनिषद् के नारद-सनत्कुमार-संवाद से भी नारद के मन्त्रविद्या-विरोध का अनुमान किया जा सकता है। कर्मवादी लोग जैसे कर्म से निश्रेयस् की प्राप्ति मानते हैं वैसे ही ज्ञानवादी ज्ञान से निश्रेयस् की प्राप्ति मानते हैं। न्यायवैशेषिकादि दर्शनशास्त्र ज्ञान-प्राधान्य के प्रख्यापक हैं। यद्यपि ज्ञान और उससे प्राप्य अपवर्ग का लक्षण प्रत्येक दर्शन में विभिन्न रूप से निरुक्त हुआ है तथापि सभी दर्शनशास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि आत्मज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती है। भक्तिशास्त्र विशेष करके भक्ति के ही माहात्म्य का प्रख्यापक है। शाण्डिल्य तथा नारद द्वारा विरचित सूत्र-ग्रन्थों में भी स्वभावतः भक्ति का ही प्राधान्य निरूपित है। किसी-किसी स्थान में भक्ति को मुक्ति का साक्षात् कारण माना गया है और कहीं-कहीं भक्ति को भक्ति का ही कारण माना गाया है अर्थात् अपराभक्ति पराभक्ति की साधक है, ऐसा माना गया है। इस मत में मुक्ति दोनों ही भक्तियों की अन्तरालवर्त्ती व्यापाररूप में मानी गई है। भक्तिशास्त्र अत्यन्त विस्तीर्ण है और विभिन्न प्रकार के मतों से भरा हुआ है। इन सब विषयों की आलोचना अन्यत्र की गई है।

वैष्णवधर्म का पूर्व-इतिहास इस निवन्ध का आलोच्य विषय नहीं है तथापि प्रसंगतः चारों वैष्णव-सम्प्रदायों के साहित्य तथा साधन से सम्बद्ध तत्-तत् विषयों पर संक्षेपतः प्रकाश डालने का क्रमशः प्रयत्न किया जायगा। गौड़ीय वैष्णवादि साधना तथा सिद्धान्तों की आलोचना करने का यहाँ अवसर नहीं है, उनपर स्वतन्त्र रूप से

---

१. ज्ञान, इच्छा आदि आत्मविशेष गुण हैं अथवा चित्तधर्मों की गणना करने के समय भाव (emotion) का उल्लेख नहीं किया जाता है। इच्छा को ठीक भाव कहा नहीं जा सकता। सुख-दुःख भी भावपदवाच्य नहीं है। अलङ्कारशास्त्र में भाव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार है। किन्तु यह शास्त्र आगममूलक है। इसलिए वैदिक साधना में भाव का स्थान कहाँ है, यह ज्ञात नहीं होता। सम्भवतः वासनात्मक होने से वैराग्यमूलक ज्ञानकाण्ड में इसका स्थान है नहीं। कर्मकाण्ड में भी इसका स्थान नहीं है। दो काण्ड ज्ञान और क्रिया-प्रधान हैं। संकर्षण नामक उपासना-काण्ड में ही इसका स्थान कहाँ है?

पृथक् विचार करने की इच्छा है। पाञ्चरात्रशास्त्र का मूल ग्रन्थ संहिता अथवा तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध आगम-साहित्य है। साधारणतया ग्रन्थों में १०८ पाञ्चरात्र-संहिताओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु डॉ० श्रेडर ने दिखलाया है कि यह संख्या-निर्देश ठीक नहीं है। उन्होंने कपिञ्जल, पाद्म, विष्णु और हयशीर्ष-संहिताओं से तथा अग्निपुराण से जो नामावली संकलित कर प्रकाशित की है उसमें २१० नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी संहिताओं के नामों का उल्लेख उन्होंने किया है। यह कहना अनावश्यक है कि इतना करने पर भी निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि नामावली पूर्ण हो गई। क्योंकि इस नामावली से अतिरिक्त और भी बहुत-से नाम प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं एवं कभी-कभी एक नाम की विभिन्न संहिताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। यह बात डॉ० श्रेडर की दृष्टि में भी जँच गई। इस प्रकार विस्तीर्ण साहित्य में सर्वत्र एक ही भाव अक्षुण्णरूप से परिदृष्ट होगा, यह आशा नहीं की जा सकती। काश्मीर-आगम में जैसे अद्वैतवाद तथा द्वैत-वाद दोनों का सन्निवेश दीख पड़ता है, प्रायः वैसी ही स्थिति पाञ्चरात्र-आगम में भी दीख पड़ती है। परन्तु वह अद्वैतवाद श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रचारित निर्विशेष अद्वैतवाद से विलक्षण है। स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा कौल आदि दर्शनों में अद्वैत अथवा अद्वय शब्द से शिव-शक्ति का सामरस्य समझा जाता है। शिव-शक्ति का वैषम्य ही षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक द्वैत है और दोनों का साम्य ही अद्वैत है। पाञ्चरात्र-आगम में भी प्रायः यही भाव है। जब पराशक्ति अर्थात् लक्ष्मी परमेश्वर में विलीन रहती है, वह प्रलय-अवस्था है। इस अवस्था में लक्ष्मी निष्क्रिय रहती है। इस अवस्था का अद्वय अवस्था के रूप में वर्णन किया जा सकता है। शाङ्करमत में शक्ति की वास्तविक सत्ता नहीं है—पारमार्थिक दृष्टि से शक्ति तुच्छ है, विचार-दृष्टि से अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या है और व्यवहार-दृष्टि से सत्य है। इस मत में पारमार्थिक सत्ता एकमात्र ब्रह्म की ही है। अतएव शङ्कर-प्रतिपादित अद्वैतवाद में शक्ति का स्थान नहीं है। शक्ति की पारमार्थिक सत्ता का स्वीकार न करने से जीव तथा जगत् दोनों ही मिथ्यारूप से उपेक्षित हुए हैं। कर्म, उपासना, भक्ति प्रभृति की वास्तविकता निरस्त हुई है। सम्बन्ध और सम्बन्धात्मक ज्ञान मायिक होने के कारण अनादृत हुए हैं। यह कहना अनावश्यक है कि भक्तिमार्ग में शक्ति का स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति के विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप का स्वीकार न करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका परस्पर सम्बन्ध सभी अज्ञानकल्पित होने के कारण हेय हो पड़ते हैं। भक्ति, करुणा, कर्म आदि का स्रोत सूख जाता है। शैव, वैष्णव अथवा शाक्त आगमों में जो अद्वैतवाद है, वह भक्तिसाधना तथा रससाधना का विरोधी नहीं है; क्योंकि वह शक्ति-त्यागमूलक नहीं है। वास्तव में शक्ति-ग्रहणमूलक है। महायान बौद्ध-सम्प्रदाय में भी इसीलिए प्रज्ञापारमिता की सत्ता मानकर बोधिसत्त्ववाद की स्थापना की गई है। पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद शक्ति तथा शक्तिमान् का समन्वयमूलक है। दोनों में समवाय अथवा अविनाभाव-सम्बन्ध मानकर प्राचीन वैष्णव आचार्यों ने शक्ति की निष्क्रिय अथवा अव्यक्त अवस्था में भी सत्ता मानी है, ऐसा देखने में आता है।

भगवान् के संकल्प से उनमें विलीन शक्तियों का, जैसे मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत् की छटाएँ छिटकती हैं वैसे ही, उन्मेष होता है। अव्यक्त दशा में शक्ति और शक्तिमान् में भेद रहने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इसका एक प्रकार से निर्वात या स्पन्दन-रहित निर्वाण-अवस्था के रूप में वर्णन किया जाता है। जिस संकल्प के प्रभाव से प्रसुप्त महाशक्ति प्रबुद्ध होती है, वह भगवान् का अनिर्वचनीय स्वातन्त्र्य है। यह उनका स्वभाव है। इस प्रबोधन-काल में लेशमात्र ही शक्ति का उन्मेष होता है। शेष समग्रशक्ति अव्यक्त अवस्था में ही रह जाती है। अभिव्यक्त शक्ति क्रिया और भूति के भेद से दो प्रकार की है। क्रियाशक्ति अहिर्बुध्न्यसंहिता में सौदर्शिनी कला के नाम से वर्णित है। यह निष्कल तथा प्राणात्मक है। भूतिशक्ति सकल तथा नाना प्रकार के भेदों से युक्त है। क्रियाशक्ति की अपेक्षा भूतिशक्ति अत्यन्त निम्न श्रेणी की है। भूतिशक्ति के परिवर्त्तनादि सभी व्यापार क्रिया-सापेक्ष हैं। यह क्रियाशक्ति ही सृष्टिकाल में प्रकृति में परिणाम-सामर्थ्य, काल में कलन-सामर्थ्य और आत्मा में भोग-सामर्थ्य का संचार करती है एवं संहारकाल में उन सब सामर्थ्यों को समेट लेती है।

शक्ति का विकास और संकोच पर्याय-क्रम से निरन्तर होता रहता है। इसी लिए सृष्टि के बाद प्रलय और तदुपरान्त पुनः सृष्टि स्वभाव के नियम से होते रहते हैं। सृष्टि शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध भेद से तीन प्रकार की है। काश्मीर-आगम में तथा त्रिपुरा-साहित्य में भी इसी प्रकार त्रिविध सृष्टियाँ मानी गई हैं। शुद्ध सृष्टि का नामान्तर गुणोन्मेष-दशा है। इस समय भगवान् के अप्राकृत षड्गुणों का आविर्भाव होता है। इन अप्राकृत षड्गुणों के सद्भाव से भगवान् प्राकृतिक गुणों से वर्जित रहने पर भी, अर्थात् तथाकथित निर्गुणावस्था में भी, नित्य सगुण रहते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य तथा तेज की समष्टि उनमें सदा विद्यमान रहती है, इसीलिए वैष्णवागम में अनेक स्थलों पर उन्हें षाड्गुण्यविग्रह कहा जाता है। ज्ञान भगवान् का स्वरूप और धर्म है, अन्यान्य गुण केवल धर्म ही हैं, स्वरूप नहीं हैं। इच्छाशक्ति ही ऐश्वर्य है। अबाधित इच्छा का नाम है इच्छाशक्ति। भगवदिच्छा का प्रतिबन्ध हो नहीं सकता, इसीलिए वे ईश्वरपदवाच्य हैं। जगत् के प्रकृतिभाव या उपादान को शक्ति कहते हैं। भगवत्सृष्टि में बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं रहती। भगवान् जगत् के निमित्त तथा उपादान एक ही साथ दोनों कारण हैं। श्रम के अभाव को बल कहते हैं। वीर्य है विकारहीनता। साधारणतया यह देखने में आता है कि दुग्ध दधि के रूप में परिणत होकर विकार-भाव को प्राप्त होता है। प्रकृति विकृत हुए बिना परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु भगवत्सामर्थ्य अचिन्त्य है। वे जगत्प्रसव करने पर भी निर्विकार ही रहते हैं। तेज सहकारिनिरपेक्षता का नाम है। इन छह गुणों में ज्ञानादि तीन गुण विश्रामभूमि तथा बलादि तीन श्रमभूमि माने जाते हैं। इन गुणों का समुदाय ही भगवान् और लक्ष्मी की मूर्त्ति है। परमव्योम अथवा वैकुण्ठ में निवास करनेवाले मुक्त आत्मा निरन्तर इस रूप का दर्शन किया करते हैं।

षाड्गुण्ययुक्त अथच शक्ति से पृथग्भूत भगवान् का जो रूप है उसका नाम वासुदेव है। वासुदेव से संकर्षणादि तीन व्यूहों का क्रमशः आविर्भाव होता है। एक

प्रदीप से जैसे दूसरा प्रदीप प्रज्वलित होता है, ठीक वैसे ही एक व्यूह से दूसरे व्यूह की अभिव्यक्ति होती है। इन व्यूहों में ज्ञान और बल संकर्षण में, ऐश्वर्य और वीर्य प्रद्युम्न में तथा शक्ति और तेज अनिरुद्ध में प्रधान रूप से प्रकाशित होते हैं। अन्यान्य गुण गौणरूप से रहते हैं। संकर्षण से अनिरुद्ध-पर्यन्त व्यूहों का आविर्भाव-काल शुद्ध सृष्टिकाल कहा जा सकता है। शुद्ध सृष्टि का प्रलयकाल भी उसी परिमाण में समझना चाहिए।[1]

संकर्षण से ही समग्र विश्व प्रकट होता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि संकर्षण की देह में समग्र विश्व तिलकालकवत् बीजभूत होकर एक क्षुद्र अंश में विद्यमान रहता है। संकर्षण अनन्त भुवनसमूह के आधार बलदेव के स्वरूप हैं। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्ययोग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते हैं। समष्टि-पुरुष, मूल प्रकृति और सूक्ष्म काल का प्रकाश इस व्यूह से ही होता है। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत्, स्थूल काल और मिश्र सृष्टि का उद्भव होता है। अनिरुद्ध अपनी शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों तथा तदन्तर्गत विषयों का नियन्त्रण करते हैं। व्यूह आदि के कार्य आदि के विषय में भी मतभेद है।

भगवान् के परम रूप की बात पहले कही जा चुकी है। उनकी शक्ति लक्ष्मी या श्री के नाम से प्रसिद्ध है। अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि किसी-किसी पाञ्चरात्र-ग्रन्थ में पराशक्ति का यही रूप माना गया है। किसी-किसी ग्रन्थ में श्री और भू दो शक्तियों का विवरण मिलता है। पद्मतन्त्र, परमेश्वरसंहिता प्रभृति ग्रन्थों का यही मत है। विहगेन्द्रसंहिता प्रभृति संहिताओं के अनुसार शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं, जिनके नाम हैं—श्री, भू और लीला अथवा नीला। सीतोपनिषत् में यही विभाग माना गया है। शक्तित्रयवादियों का कथन है कि श्री कल्याणवाचक और इच्छा-शक्तिस्वरूप है, भू प्रभावद्योतक और क्रियाशक्ति-स्वरूप है एवं लीला चन्द्र-सूर्यअग्निमयी साक्षात् शक्तिस्वरूप है।

परमव्योम में नित्य और मुक्त—इन दो प्रकार के जीवों का आवास है। नित्य जीव सदा मुक्त हैं, इनका संसार से स्पर्श कभी नहीं हुआ। वैदिक साहित्य में

---

१. व्यूहशक्ति की सृष्टि-प्रणाली सनत्कुमारसंहिता में इस प्रकार वर्णित है—

वासुदेव
|
श्वेतवर्णा शान्ति देवी (भगवान् के मन से उत्पन्न)
=संकर्षण (दोनों को एकत्र शिवतत्त्व कहते हैं)
|
रक्तवर्णा श्री (संकर्षण के वाम पार्श्व से उत्पन्न)
=प्रद्युम्न (या ब्रह्मा)

पीता सरस्वती
=अनिरुद्ध (दोनों एकत्र पुरुषोत्तम)
|
कृष्णवर्णा रति (ये त्रिविध मायाकोश हैं)

यह सृष्टि बहिरङ्ग है, इसलिए ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध शिवादि से ये शिव, ब्रह्मा और विष्णु पृथक् तत्त्व हैं।

बहुत स्थलों पर 'सूरि' शब्द से इन्हीं का निर्देश किया गया है। ये सर्वज्ञ और भगवान् के सेवक हैं। इनके सेवाधिकार का वैशिष्ट्य भगवान् की नित्य इच्छा के अनुसार अनादि काल से व्यवस्थित है। इनमें चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र आदि वैकुण्ठ के द्वाररक्षक हैं; कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन आदि नगरपाल हैं; अनन्त अथवा शेष भगवान् की शय्या हैं; गरुड़ उनका वाहन है एवं विष्वक्सेन उनकी मन्त्रणा के सहायक हैं। भगवान् के पार्षद नित्य जीवश्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये जगत् में अपनी इच्छा के अनुसार अवतीर्ण हो सकते हैं। मुक्त जीव ज्ञानानन्दमय हैं। वे कोटिरश्मिविभूषित त्रसरेणु के तुल्य परम व्योम में विराजमान रहते हैं। वे भगवान् के पार्षद अथवा अधिकारिमण्डल से पृथक् हैं। मुक्त पुरुषों की प्राकृत देह तो होती नहीं, परन्तु अप्राकृत देह ग्रहण कर वे अपनी इच्छा के अनुसार जगत् में विचरण कर सकते हैं। परन्तु जगत् के किसी व्यापार में हस्तक्षेप करने का उन्हें अधिकार नहीं है। उनका एकमात्र कर्त्तव्य है भगवत्सेवा।

वैकुण्ठ धाम, जो प्रकृति के ऊर्ध्वदेश में अवस्थित है, विशुद्ध सत्त्वमय तथा शक्ति-समन्वित परम पुरुष की क्रीड़ाभूमि है, यह बात निम्नोक्त पाञ्चरात्र-वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होती है।

लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं षाड्गुण्यसंयुतम्।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्॥
नित्यमुक्तैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः।
सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभैः॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षखण्डैश्च मण्डितम्।
अप्राकृतं सुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम्॥
प्रकृष्टसत्त्वराशिं त्वां कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा।
क्रीडन्तं रमया सार्धं लीलाभूमिषु केशव॥

रामानुजाचार्य ने अपने गद्यत्रय के अन्तर्गत वैकुण्ठगद्य नामक निबन्ध में वैकुण्ठ का अपूर्व मनोहर वर्णन किया है।

हमने अत्यन्त संक्षेप में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के व्यूह तथा शुद्ध सृष्टि-प्रणाली के विषय में दो-एक बातें कही हैं। अब चारों सम्प्रदायों के विषय में भी संक्षेप में कुछ कहना चाहते हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय में शक्तिमान् और शक्ति को विष्णु तथा लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया गया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय राधाकृष्ण का उपासक है। विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय भी ऐसा ही है। श्रीचैतन्यदेव यद्यपि माध्व गुरु के शिष्य थे, तथापि उन्होंने राधाकृष्ण के प्राधान्य का ही कीर्त्तन द्वारा प्रचार किया है। यद्यपि पाञ्चरात्र में साधारणतया विष्णु तथा लक्ष्मी की उपासना ही वर्णित है तथापि राधाकृष्ण का प्राधान्य तथा वृन्दावन-लीला का महत्त्व बिलकुल नहीं है, सो बात भी नहीं है। नारद-पाञ्चरात्र में राधा की चर्चा मिलती है। उक्त ग्रन्थ का ज्ञानामृतसार नामक अंश बहुत काल पूर्व प्रकाशित हुआ था। यद्यपि डॉ० भण्डारकर तथा उन्हीं का अनुसरण करते हुए डॉ० श्रेडर ने पाञ्चरात्र की प्राचीनता के विषय में सन्देह प्रकट किया है तथापि उक्त ग्रन्थ अत्यन्त अर्वाचीन है—ऐसा प्रतीत नहीं होता। चैतन्यदेव दक्षिण-भारत से जो 'ब्रह्मसंहिता' ग्रन्थ अपने साथ लाये थे, वह प्राचीन तथा

प्रामाणिक ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं है। उसमें भी वृन्दावनतत्त्व ही प्रधान रूप से अङ्गीकृत हुआ दिखाई देता है। कहीं-कहीं प्राचीन संग्रहों में सनत्कुमार-संहिता नामक पुस्तक का पता चलता है। यह पाञ्चरात्र-संहिता होने पर भी राधाकृष्ण-तत्त्व का प्रतिपादक है। अतएव पाञ्चरात्र-संहिता में राधाकृष्ण का स्थान नहीं, यह कहना कदापि सम्भव नहीं है। मैं समझता हूँ कि प्राचीन काल में भागवत-सम्प्रदाय ने राधाकृष्ण तथा वृन्दावन की महिमा का विशेष रूप से प्रचार किया था। जब उक्त सम्प्रदाय पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में मिल गया तभी से इस सांकर्य का आविर्भाव हुआ होगा। तत्त्व अथवा रसास्वादन की दिशा छोड़ देने पर भी यह प्रतीत होता है कि देवकीनन्दन कृष्ण वासुदेव तथा यशोदानन्द कृष्ण गोपाल की आख्यायिकाओं में साम्प्रदायिक अथवा ऐतिहासिक कुछ रहस्य निहित है।

श्री-सम्प्रदाय

(रामानुज-मत—विशिष्टाद्वैत)

श्री-सम्प्रदाय की दृष्टि में चित्, अचित् और ईश्वर—ये ही मूल तत्त्व हैं। इनमें ईश्वर विशेष्य या अङ्गी हैं। ईश्वर सदा ही चित् और अचित् से विशिष्ट हैं। सृष्टि-काल में चित् और अचित् स्थूल रहते हैं एवं प्रलयावस्था में सूक्ष्म रहते हैं। चित् तत्त्व आत्मा है—यह देहादि से विलक्षण, स्वप्रकाश, आनन्दरूप अर्थात् स्वभावतः अनुकूल, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव अर्थात् सर्वदा एकरूप और निर्विकार है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञान का आधार अथवा ज्ञाता, ईश्वर का नियम्य, धार्य और अङ्गभूत है। आत्मा अणुरूप होने पर भी उसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है, इसलिए भोग में बाधा नहीं आती। ज्ञान की व्याप्ति से ही एक आत्मा एक ही समय बहुत देह ग्रहण कर सकता है। क्रिया तथा भोग ज्ञान के ही प्रकार-भेद हैं, इसीलिए आत्मा के ज्ञातृत्व के साथ उसका कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। सांसारिक प्रवृत्ति में आत्मा का कर्त्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, किन्तु गुणसंसर्गकृत है। जीव का कर्त्तृत्व ईश्वराधीन है। ईश्वर की अनुमति के विना जीव को ज्ञान से क्रियारूप अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। जीव की आदि स्वातन्त्र्यशक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, अतएव उसकी स्वाधीनता भी भगवत्प्रदत्त है। इसीलिए भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए यथार्थ स्वातन्त्र्य अथवा परम पुरुषार्थ है, यह मानना पड़ेगा। विशिष्टाद्वैतवादियों की मुक्ति का स्वरूप-लक्षण इसी से स्पष्टतया समझ में आयगा। भगवान् जीव के आदि प्रयत्न के अनुसार उसे कर्म-विशेष में प्रवृत्त करते हैं। इसीलिए भगवान् का प्रेरकत्व अनुमोदकत्व के सिवा और कुछ नहीं है। परन्तु किसी-किसी स्थल में वह निरपेक्ष रूप से भी जीव को प्रेरित करते हैं। आत्मा को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह स्वयं प्रकाशमान है।

बद्ध, मुक्त तथा नित्य भेद से तीन प्रकार के आत्माओं का विवरण मिलता है। प्रत्येक श्रेणी के आत्मा संख्या में अनन्त हैं। प्रकृति के साथ संसर्ग के कारण आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है। अचित्सम्बन्ध निवृत्त होने पर

अविद्या प्रभृतियों की भी निवृत्ति हो जाती है। अविद्या अज्ञान है, उसके बहुत प्रकार के प्रभेद हैं। पाप, पुण्य आदि क्रिया ही कर्म है। पूर्वकृत कर्म में पुनः अभिनिवेश का कारण जो संस्कार है, उसे वासना कहते हैं। रुचि आदर का नामान्तर है। आत्मा के स्वरूप के तुल्य ज्ञान भी नित्य द्रव्यात्मक, अजड़ तथा आनन्दरूप है। आत्मा के संकोच-विकास नहीं होते, परन्तु ज्ञान के संकोच-विकास होते हैं। प्रकृति के सम्वन्ध से ज्ञान का संकोच होता है। अतएव मुक्तावस्था में सब आत्माओं का ज्ञान पूर्णरूप से विकसित तथा व्यापक रहता है। बद्धावस्था में संकोच के कारण ज्ञान परिच्छिन्न रहता है। आत्मा अपना प्रकाशक है, परन्तु ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, केवल मात्र पर-प्रकाशक है अर्थात् आत्मा अपने निकट स्वयंप्रकाशमान है, परन्तु ज्ञान उस प्रकार का नहीं है। ज्ञान नित्य है, वह इन्द्रिय-द्वार से प्रसृत होकर विषय ग्रहण कर निवृत्त हो जाता है। निद्रा में ज्ञान का प्रसार नहीं रहता। क्रिया और गुण का आश्रय तथा अजड़ होने के कारण ज्ञान द्रव्यात्मक है। प्रकाश-अवस्था के अनुकूल रहने के कारण ज्ञान स्वभावतः ही आनन्दरूप है। देहात्मक भ्रम ही प्रतिकूल ज्ञान अथवा दुःख का हेतु है। जगत् के सभी पदार्थ ईश्वरात्मक हैं, इसलिए वे स्वभावतः अनुकूल हैं। प्रतिकूल भाव औपाधिकमात्र है।

अचित् अथवा जड़ तत्त्व विकार को प्राप्त होता है। शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और काल—इन तीन प्रकार के जड़ पदार्थों का रामानुजीयगण स्वीकार करते हैं। शुद्धसत्त्व में रज और तमोगुण का संसर्ग नहीं रहता, इसीलिए वह नित्य, निर्मल तथा ज्ञान और आनन्द का जनक है। केवल मात्र भगवदिच्छा के अनुसार ही यह शुद्धसत्त्व परिणाम को प्राप्त होकर कर्मनिरपेक्ष-रूप से नित्य धाम के सभी पदार्थों का आकार धारण कर लेता है। समग्र वैकुण्ठ धाम, विमान गोपुर आदि, नित्य मुक्त जीव की और भगवान् की देह आदि सभी पदार्थ इस विशुद्ध उपादान से बने हैं। यह अनन्त तेजोमय अद्भुत पदार्थ है। ईश्वर तथा नित्य मुक्त गण भी अन्वेषण करने पर भी इसका अन्त नहीं पाते। इसके स्वरूप का निर्देश करना अत्यन्त कठिन है। किसी के मत में यह जड़ है और किसी के मत में अजड़ है। जो लोग इसे अजड़ मानते हैं, वे कहते हैं कि नित्य मुक्त जीव अथवा ईश्वर के ज्ञान के विना यह अपने-आप ही प्रकाशित होता है। परन्तु संसारी जीव के निकट यह प्रकाशित नहीं होता। शुद्धसत्त्व अहंरूपेण प्रकाशित नहीं होता, परन्तु शरीरादिरूप में परिणत होता है एवं विना विषय-सम्वन्ध के प्रकाशित होता है। शब्दादि इसके धर्म हैं। मिश्रसत्त्व रज और तम से मिश्रित बद्ध जीव के ज्ञान तथा आनन्द का आच्छादक, नित्य और ईश्वर के जगत्-सृष्टि आदि व्यापारों का परिकर है। मिश्रसत्त्व ही विपरीत ज्ञान का हेतु है। इसी से प्रदेशभेद और कालभेद से सदृश तथा विसदृश सब प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृति, अविद्या, माया प्रभृति इसी के नामान्तर हैं। यह ज्ञानविरोधी और विचित्र सृष्टि का साधक है। यह वृद्धि को प्राप्त होकर क्रमशः २४ तत्त्वों में परिणत होता है। सत्त्वशून्य और त्रिगुण-रहित अचिद् वस्तु का नाम काल है। यह प्रकृति तथा प्राकृत वस्तुओं के परिणाम का साधक है। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत

सभी प्रकार वे प्रलय काल के अधीन हैं। कला, काष्ठादि रूप से परिणत काल ईश्वर का लीला-परिकर और देहस्वरूप है। लीला-विभूति में ईश्वर कालाधीन होकर कार्य करते हैं, किन्तु नित्यविभूति में काल का अस्तित्व रहने पर भी स्वातन्त्र्य नहीं है। कोई-कोई उस अवस्था में काल की सत्ता का अङ्गीकार नहीं करते। कोई-कोई उसका षडिन्द्रियों द्वारा वेद्यरूप से वर्णन करते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के भोग्य, भोग-स्थान और भोगोपकरण इन्द्रियाँ शुद्ध और मिश्र सत्त्व से उत्पन्न होती हैं। विशुद्ध सत्त्व चारों ओर तथा ऊर्ध्व प्रदेश में अनन्त हैं एवं मलिन सत्त्व चारों ओर और निम्न प्रदेश में अनन्त हैं।

ईश्वरतत्त्व ही मूल तत्त्व है। आत्मा और जड़ के ईश्वराश्रित होने के कारण ईश्वर ही आश्रयस्वरूप हैं। वे जैसे अचित् के आत्मा हैं वैसे ही आत्माओं के भी आत्मा हैं। चित् और अचित् उनकी देह हैं। ईश्वर से अलग होकर चित् और अचित् की अवस्थिति सम्भव नहीं है। ईश्वर अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूप, ज्ञान, सत्त्व आदि अनन्त कल्याण-गुणों से मण्डित, जगत् के सृष्टि आदि के विधाता, भक्तों के आश्रय-दाता, कर्मफल-प्रदाता एवं विकार आदि सब प्रकार के दोषों से रहित परम तत्त्व हैं। लक्ष्मी, भू तथा लीला उनकी शक्तियाँ हैं। उनकी देह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण, नित्य, एकरूप तथा शुद्धसत्त्वमय है। यह उनके स्वरूप तथा गुणों के अनुरूप है, अर्थात् असीम तेज से विशिष्ट, सुकुमार, अलौकिक सौन्दर्यमय, सुगन्धि, नित्ययौवन-सम्पन्न और योगियों द्वारा ध्येय है। बद्ध जीवों की देहों के तुल्य उनकी देह स्वरूप का अच्छादन नहीं करती, वरन् प्रकाश ही करती है। माणिक्यमय पात्र जैसे अन्दर-स्थित सुवर्ण को प्रकाशित करता है, भगवद्विग्रह भी वैसे ही भगवत्स्वरूप को प्रकटित करता है। भगवान् का रूप विश्व-विमोहन है। उसका दर्शन करते ही सब प्रकार के भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और त्रिताप मिट जाते हैं। वह नित्य मुक्तों के आस्वादन-योग्य है। धर्म-संस्थापनादि कार्य-साधन के लिए जगत् में जब किसी अवतार का उदय होता है तब भगवद्देह से ही उसका आविर्भाव होता है। उसका स्वरूप पाँच प्रकार का है: १. परस्वरूप, इसी का नाम वासुदेव है। इसका रूप नित्योदित है—इसमें आविर्भाव और तिरोभाव नहीं हैं, काल की कलना नहीं है एवं परिणाम नहीं है। इसमें परम आनन्द सर्वदा विराजमान रहता है। यह परम रूप ही भगवान् का षाड्गुण्यविग्रह है। वैकुण्ठ में नित्यमुक्तगण इसी का अनुभव करते हैं। २. व्यूह या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। यह भगवान् का शान्तोदित रूप है। इसका उदय होता है और अस्त भी होता है। सृष्टि आदि व्यापारों की निष्पत्ति, जीवों की रक्षा, उपासकों पर अनुग्रह-सम्पादन के लिए व्यूहों की अभिव्यक्ति होती है। ३. विभव, इनका नामान्तर प्रादुर्भाव है। ये मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार के हैं। मुख्य विभव भगवान् के अंश और अप्राकृत देह-विशिष्ट हैं। एक दीप से दूसरे दीप की तरह विभवों की उत्पत्ति होती है। मुख्य विभव मुमुक्षुओं के उपास्य हैं। साहंकार जीवों में अधिष्ठित रहने के कारण गौण विभवों की उपासना नहीं होती। ४. अन्तर्यामी; ये अन्तर में प्रविष्ट होकर प्रकृति का नियन्त्रण करते हैं। भगवान् का यह रूप सभी अवस्थाओं में सब प्रकार के जीवों का

साथी है और शभदेह युक्त है। जीवों के ध्यान के लिए, जीवों की रक्षा करने के लिए परमात्मा मित्र बनकर जीवों के हृदय-कमल में अवस्थान करते हैं। यही उनका अन्तर्यामी रूप है। ५. अर्चावतार, ये गृह अथवा मन्दिर में स्थित उपास्य मूर्त्तिरूप हैं। संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता हैं, प्रद्युम्न मनःसृष्टि के अधिष्ठाता हैं एवं अनिरुद्ध कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि के अधिष्ठाता हैं। संकर्षण जगत्संहारक और शास्त्रप्रवर्त्तक हैं, प्रद्युम्न प्रकृति से जीव का विवेचन करनेवाले तथा शुद्ध-सृष्टि का विधान करनेवाले हैं एवं अनिरुद्ध काल तथा मिश्र-सृष्टि के सम्पादक हैं। चारों वर्णों की मिथुन-सृष्टि प्रद्युम्न से ही होती है।

पाञ्चरात्ररहस्य नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भगवान् उपासक के भाव और प्रकृति के अनुसार पाँच प्रकार की मूर्त्तियाँ ग्रहण करते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी—इन पाँच प्रकार के रूपों में पूर्व-पूर्व रूपों की उपासना से मल की निवृत्ति होने पर उत्तर-उत्तर मूर्त्ति की उपासना में अधिकार होता है। जीव के क्रमशः इस प्रकार उपासना कर क्षीणपाप होने पर भगवान् प्रसन्न होकर जब उसकी कर्मसंघातरूपिणी अविद्या का नाश करते हैं तब जीव के स्वाभाविक सर्वज्ञत्वादि कल्याण-गुणों का अनावृत रूप से प्रकाश होता है। ये सब गुण ऐश्वरिक गुणों से भिन्न नहीं हैं। सर्वज्ञत्वादि गुण मुक्त जीव और ईश्वर दोनों में एक-से हैं। किन्तु सर्वकर्त्तृत्व एकमात्र ईश्वर में ही रहता है, इसीलिए यह ईश्वर का असाधारण धर्म जीव में कदापि नहीं रह सकता। ईश्वर के अङ्गभूत मुक्त जीव ईश्वर के साथ परमानन्द का उपभोग करते हैं। इस अंश में दोनों में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं रहता।

पहले जो उपासना की बात कही गई है, उसी का नामान्तर निदिध्यासन अथवा योग है। विशिष्टाद्वैतवादी-गण इसी को ज्ञान और भक्ति भी कहते हैं। भक्ति ज्ञानविशेष है, ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिधारा को ध्यान कहा जाता है। यही ध्रुवा स्मृति है एवं मुक्ति का साक्षात् साधन है। भावना के प्रकर्ष से स्मृति ही दर्शनरूप में परिणत होकर अपरोक्षत्व-लाभ करती है। बन्धन पारमार्थिक होने के कारण ब्रह्म के साथ आत्मा के अभेदज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता। कर्म के कारण देह में प्रवेश होता है। देह में प्रविष्ट होने पर सुख-दुःख का अनुभव अनिवार्य हो जाता है। यह सुख-दुःख की प्रतीति ही बन्धन है, इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। उपासना जब भक्ति का रूप धारण करती है तब परमात्मा प्रीत और प्रसन्न नहीं होते हैं। उनकी प्रसन्नता से ही बन्धन कट जाता है। बन्धन-निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है। अभेदज्ञान मिथ्या है, अतः उससे बन्धन की वृद्धि ही होती है। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है और ईश्वर प्रेरक हैं, यह स्वरूपगत भेद अवश्य ही मानना पड़ेगा। श्रुति, स्मृति प्रभृति शास्त्र इसका समर्थन करते हैं। अभेदज्ञान से यह पारमार्थिक भेद उपेक्षित होता है, इसलिए वह मिथ्याज्ञान है।

ध्रुवानुस्मृतिरूप ध्यान अथवा उपासना का ही रामानुजीयगण भक्ति-रूप से वर्णन करते हैं। ज्ञान इसी का नामान्तर है, यह पहले कहा गया है। जबतक इस प्रकार की भक्ति का उदय न हो तबतक ब्रह्म-प्राप्ति और संसार-बन्धन से छुटकारा पाने की आशा सुदूर पराहत है। भक्ति के विविध प्रकार के साधन या उपायों की

बीत शास्त्रकार कह गये हैं। उनमें विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—ये प्रधानरूप से परिगणित हैं। आहार-शुद्धि का[1] पारिभाषिक नाम है विवेक। काम्य विषयों में अनासक्ति का नाम है विमोक। पुनः-पुनः किसी कार्य के सम्पादन के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं। शक्ति के अनुसार पञ्चमहायज्ञों का जो अनुष्ठान है उसे क्रिया कहते हैं। सत्य, दया, सरलता आदि गुणों का नाम कल्याण है। चित्त की ऐकान्तिक प्रसन्नता का नाम अनवसाद है एवं अतिसन्तोष के अभाव का नाम अनुद्धर्ष है। इससे प्रतीत होता है कि रामानुज के मतानुसार वर्ण और आश्रमोचित कर्मों के अनुष्ठान से ही चित्त विशुद्ध होता है और इसके फलस्वरूप भक्ति या ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ये सब कर्म चित्तशुद्धि के सहायक होने से ज्ञान के अनुकूल हैं। किन्तु पुण्य और पाप ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी कर्म हैं; क्योंकि ये रजोगुण और तमोगुण को बढ़ाकर सत्त्वगुण की न्यूनता के सम्पादक हैं, इसलिए ये सर्वथा हेय हैं।

वर्णाश्रम-विहित कर्मों से[2] ज्ञानोदय के प्रतिकूल सब प्राक्तन कर्म या पुण्य-पाप[3] नष्ट हो जाते हैं। तब अबाधित रूप से ज्ञान का विकास हो सकता है। उन कर्मों के निरन्तर अभ्यास से उनमें एक प्रकार का अतिशय या वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। मृत्युकाल-पर्यन्त उनकी अनुवृत्ति होने पर ज्ञानोदय और देहान्त होने पर ब्रह्म-प्राप्ति अवश्यम्भावी है।

भगवान् बोधायन, टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने जो भगवत्प्राप्ति का क्रम दिखलाया है, श्रीमान् यामुन, रामानुज आदि ने सिर्फ उसी का अनुसरण किया है। आलोचना की सुविधा के लिए हम उसी का पुनः निर्देश करते हैं—

(१) शास्त्रों से परोक्षभाव से कर्मतत्त्व जानकर प्रतिदिन अर्थात् निरन्तर वर्णाश्रम-विहित कर्म या स्वकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए एवं अपने को भगवदनुगृहीत समझकर भक्तियोग का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का ही उल्लेख मिलता है। उनमें भक्ति ही उपाय है। ज्ञान तथा कर्म अर्थात ज्ञानपूर्वक कर्म का अनुष्ठान चित्तशुद्धि का द्वारमात्र है।[4]

---

१. जाति, आश्रय और निमित्त—इन तीन कारणों से खाद्य पदार्थ दूषित हो सकते हैं। जाति-दोष का उदाहरण है—कलञ्ज (विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षियों का मांस), आश्रय-दोष का उदाहरण है—पापी का अन्न तथा निमित्त-दोष का उदाहरण है—केश आदि से मिश्रित अन्न। इन सब दोषों से रहित भोग्य वस्तु का ग्रहण ही शुद्धाहार है। शुद्धाहार सत्त्व-शोधन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सत्त्वशुद्धि हुए बिना चित्तशुद्धि की सम्भावना कहां ?

२. रामानुज-मत में यही उपनिषद्-उक्त अविद्या है।

३. पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य भी पाप में ही गणना करने योग्य है; क्योंकि पुण्य-पाप—दोनों ही ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक तथा अनिष्टफलदायक हैं।

४. श्रीयामुनाचार्य कहते हैं—"उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिक भक्तियोगलभ्यः।" उभय शब्द से ज्ञानयोग और कर्मयोग जानने चाहिए। वेदान्तदेशिक ने अपने 'निक्षेपरक्षा' नामक प्रपत्तिविषयक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ में मोक्षप्राप्ति के उपाय-वर्णन के प्रसङ्ग में कहा है—"कर्मज्ञानानुगृहीतो वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्यो दर्शनसमानाकृतिनिरतिशयप्रीतिरूपतया

(२) भक्तियोग के अभ्यस्त हो जाने पर क्रमशः पराभक्ति का उदय होता है। पराभक्ति वस्तुतः ज्ञान की ही परिपक्व अवस्था है। इस समय चित्त में आत्यन्तिक प्रीति का आविर्भाव होता है तथा अन्य किसी वस्तु में प्रयोजन-बोध नहीं रहता एवं अन्यान्य सभी विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है। यह अवस्था ज्ञान की ही एक अवस्था है। क्योंकि भक्ति प्रीति-विशेष है और प्रीति या सुख भी एक प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न ज्ञान का ही नामान्तर है। ध्यान अथवा उपासना के गाढ़ होने पर स्मृतिरूप ज्ञान जब प्रीतिमय अथवा अनुकूल और अत्यन्त स्पष्ट प्रत्यक्ष आकार धारण करता है तब उसका नाम पड़ता है पराभक्ति[१]।

(३) यह पराभक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है (द्रष्टव्य—वेदार्थ-संग्रह, पृ० २४८—२५५)। पराभक्ति के बाद परज्ञान अथवा साक्षात्कार का उदय होता है[१]।

(४) ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद उस पराशक्ति से ही परमभक्ति का आविर्भाव होता है। यह परमभक्ति ही वास्तव में भगवत्प्राप्ति है[१]।

लोकाचार्य ने पुरुषार्थ के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान—इन पाँच प्रकार के योगों का उल्लेख किया है। कर्मयोग के दो अंश हैं—प्रथम अंश अर्थात् यज्ञ, दानादि कर्मों के अनुष्ठान से देह-शुद्धि होती है, देह-शुद्धि होने पर इन्द्रिय-प्रणाली के द्वारा जो ज्ञानधारा बाहर निकलकर विषयों का ग्रहण करती है, उसका निरोध हो जाता है तथा उसकी गति अन्तर्मुख हो जाती है। तब कर्मयोग के दूसरे अंश का प्रारम्भ होता है। यमादि अष्टाङ्ग योग का साधन ही कर्मयोग का द्वितीय अंश है। कर्मयोग ऐश्वर्य-प्रधान साधन है, उससे अर्थ तथा काम की प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग से कैवल्य-मुक्ति तक की प्राप्ति की जा सकती है। कर्मयोग के अनुष्ठान से जिस ज्ञान का विकास होता है उसका देह के भीतर अथवा देह के बाहर किसी स्थान-विशेष अर्थात् भगवान् के श्रीविग्रह में प्रयोग कर अनुभव करना चाहिए। उसके अनन्तर उस अनुभव का स्थिति-काल अनुभवयोग के अभ्यास से बढ़ाना

भक्तिशब्दाभिलप्योऽसकृदावृत्त आप्रयाणानुवृत्तो निरन्तरस्मृतिसन्तान एव निःश्रेयस-निश्रेणिका।"

१. श्रीरामानुजाचार्य ने बहुत ग्रन्थों में बहुत स्थलों पर भक्ति का लक्षण किया है। साधारणतः "निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेषः"—यह लक्षण वेदार्थसंग्रह में है। अन्यान्य लक्षण भी मिलते हैं। उनके तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति—विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के ग्रन्थों के बहुत स्थलों में ये तीन पारिभाषिक नाम उपलब्ध होते हैं। इनके परस्पर भेद का ज्ञान न रहने पर अनेक समय गड़बड़ी होने की सम्भावना रहती है। वेंकटनाथ ने शरणागतिगद्य की टीका में (पृ० १४-१५) कहा है कि उत्तरोत्तर साक्षात्कार की इच्छा ही परभक्तिरूप ज्ञानावस्था है। यह विषयस्वभावजन्य है। यह इष्टसाधनताबोध से उत्पन्न नहीं होती। उत्तरोत्तरसाक्षात्कार ही परज्ञान है। साक्षात्कार हो जाने पर उसके निरन्तर अनुभव अथवा आस्वादन करने के लिए जो इच्छा उत्पन्न होती है, वही 'परमभक्ति' है। सुदर्शनसूरि ने वेदार्थसंग्रह की तात्पर्यदीपिका में भी (पृ० १४७) बहुत-कुछ ऐसा ही कहा है।

चाहिए। उसके प्रभाव से निरन्तर अखण्ड अनुभव की प्राप्ति होती है। इसीका नाम ज्ञानयोग है। यह भक्तियोग का सहकारी है। आरब्ध कर्म का अवसान होने तक पुनः-पुनः अभ्यासयोग के द्वारा अनुभव का उत्कर्ष-साधन करते हुए तेल की धारा के तुल्य अविच्छिन्न स्मृति-प्रवाह की अपरोक्षता का सम्पादन करना चाहिए। इसी का नाम है भक्तियोग। इस प्रकार के ज्ञानयुक्त भक्तियोग में जिसका सामर्थ्य नहीं है, उसके लिए प्रपत्तियोग शीघ्र फलप्रद होता है। प्रपत्ति अथवा भगवान् की शरण गहना श्रेष्ठ भागवत-धर्म माना जाता है। यही यथार्थ संन्यास है[1]। अन्यान्य योगों में सभी का अधिकार नहीं है और सामर्थ्य भी नहीं है। सभी मार्गों में चलने के लिए पुरुषार्थ या आत्मचेष्टा की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रपत्तियोग में पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए वर्ण, आश्रम आदि का विचार किये विना सभी लोगों का इसमें अधिकार है। "प्रभो, मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ, अत्यन्त दुर्बल हूँ, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है, मैंने आपके चरणों में आत्म-समर्पण किया। आप मेरा भार ग्रहण कीजिए"—जब जीव सरल हृदय से व्याकुल होकर एक बार भी इस प्रकार भगवच्चरणों में शरणापन्न होता है तभी भगवान् उस जीव को ग्रहण कर अपना लेते हैं। उसके अनन्तर उस जीव का सब प्रकार का भार भगवान् के हाथ में ही रहता है। भगवान् आश्रितवत्सल हैं, शरणागतपालक हैं एवं प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतन्त्र रूप से ही मोक्ष-साधन है, यह बात रामानुज-सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न शास्त्रों के आधार पर सिद्ध की है। ब्रह्मपुराण में कहा है—"ध्यानयोग से रहित होकर भी केवल प्रपत्ति के प्रभाव से मृत्यु-भय का अतिक्रम कर विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है।" अहिर्बुध्न्यसंहिता में लिखा है—"सांख्य अथवा योग, यहाँ तक कि भक्ति से भी जिस अनावर्त्तनीय परम धाम की प्राप्ति नहीं हो सकती वह एकमात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।" आर्त्त और दृप्त के भेद से प्रपत्ति दो प्रकार की है। जो भगवान् की अहैतुक कृपा प्राप्त कर सद्गुरु का आश्रय और उपदेश ग्रहणपूर्वक सत्-शास्त्र के अभ्यास और श्रवणादि द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं और परमानन्द-रूप भगवदनुभव के विरोधी स्थूलदेह-सम्बन्ध को असहनीय समझकर एकमात्र भगवदनुभव के अनुकूल रूप और देहादि की इच्छा से निरन्तर भगवान् के अनुसन्धान में तत्पर रहते हैं, उन्हें आर्त्त प्रपन्न कहते हैं और जो पुनः-पुनः जन्म-मरण, सुख-दुःख, गर्भवास और स्वर्ग-नरकादि से विरक्त होकर उन सबकी निवृत्ति और भगवत्प्राप्ति के लिए सद्गुरु के उपदेश से वर्णाश्रम-विहित धर्म का अनुष्ठान तथा कायिक, वाचिक और मानसिक भगवत्कैंकर्य का अवलम्बन करते हैं एवं भगवान् के साथ अपना अङ्गाङ्गी, पिता-पुत्र, भर्त्ता-भार्या, नियन्ता-नियम्य, शरीरी-शरीर, धारक-धार्य, रक्ष्य-रक्षक, भोक्ता-भोग्य प्रभृति नित्य सम्बन्धों का अनुसन्धान कर उनका (भगवान् का) सर्वज्ञत्व और अपनी अकिञ्चनता का अनुभव करते हैं और अपना सारा भार उन्हीं पर अर्पित कर निश्चिन्त हो उनके आश्रित रहते हैं, उन्हें दृप्त प्रपन्न कहते हैं।

---

१. "निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि॥"
इस स्थल पर प्रपत्ति और संन्यास का तुल्यार्थवाचक के रूप में उल्लेख किया गया है।

लोकाचार्य के निर्देश के अनुसार पुरुषार्थ-लाभ के लिए पञ्चम उपाय है आचार्याभिमान। यह प्रपत्ति से भी सुलभ है। प्रपत्ति भी किसी-किसी के लिए सम्भवपर नहीं होती; क्योंकि भगवान् पर दृढ़ विश्वास तथा तद्भाव पर अभिनिवेश न होने से प्रपत्ति नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्षरूप से भगवत्ता का अनुभव न किया जा सके तो उनका आश्रय कैसे लिया जा सकेगा? आचार्य अथवा गुरु ही भगवान् के प्रेरित प्रतिनिधि हैं। माता जैसे रुग्ण स्तन्यपायी शिशु का रोग दूर करने के लिए स्वयं ही रोगनाशक ओपधि का सेवन कर शिशु का रोग निवृत्त करती है, भगवान् भी वैसे ही दुर्बल, असहाय और अपने सामर्थ्य से ऊपर उठने में असमर्थ जीव का उद्धार करने के लिए किसी सेवक को गुरु के रूप से प्रेरित करते हैं। गुरु एक ओर जैसे शिष्य का भार स्वयं वहन कर शिष्य का उद्धार करते हैं वैसे ही दूसरी ओर, भगवान् की दृष्टि के सामने उसे स्थापित करते हैं। शिष्य के उद्धार के लिए गुरु को वहुत क्लेश सहने पड़ते हैं तथा वहुत त्याग करना पड़ता है। जीवों का उद्धार करना ही उनके शरीर-धारण का एकमात्र उद्देश्य है। गुरु का आश्रय लेकर उनका आदेश पालन करने का ही नाम आचार्याभिमान है। यह स्वतन्त्र रूप से भी पुरुषार्थ-लाभ का उपाय है तथा दूसरे उपायों के सहकारी रूप से भी पुरुषार्थ-लाभ में इसकी उपयोगिता है।

सांख्याचार्य जिस अवस्था को कैवल्य कहते हैं, विशिष्टाद्वैतवादियों के मत में भी वह स्वीकृत हुई है। लोकाचार्य ने अपने अर्थपञ्चक नामक ग्रन्थ में आत्मानुभव नाम से जिस मुक्ति का वर्णन किया है, वह वस्तुतः कैवल्य से अतिरिक्त दूसरी कुछ नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि उस अवस्था में प्रकृति अथवा प्राकृत भावों के साथ सम्वन्ध नहीं रहता, यद्यपि वह दुःखहीन, जन्म-मरणचक्र से अतीत, विषय-सम्बन्ध-रहित आत्मा का विशुद्ध भावमात्र है तथापि वह परम पुरुषार्थ नहीं है। भगवदनुभव ही यथार्थ मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। कैवल्य में भगवत्स्फूर्ति के अभाव से आनन्द का विकास नहीं होता—वस्तुतः वह अवस्था आत्मा के लिए प्रार्थनीय नहीं है। स्थूल देह ही भोगायतन है। उसीका आश्रय कर सव प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का उदय होता है और सुख-दुःख का भोग होता है, यही विपरीत ज्ञान है और संसार-भ्रमण का मूल कारण है। स्थूल देह के साथ सम्वन्ध होने से ही भगवत्स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भक्तों का कहना है कि यद्यपि कैवल्य में स्थूल देह नहीं रहती[1],

---

१. यही विदेह-कैवल्य है। वृहद्ब्रह्मसंहिताकार कहते हैं (२-१३) कि कैवल्य में देह नहीं रहती। सांख्याचार्य भी ऐसा ही कहते हैं। पर भक्ति-शास्त्र में जो कैवल्य का वर्णन मिलता है उसमें स्थूल देह न रहने पर भी सूक्ष्म देह और वासनादि रहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। सांख्य में उक्त कैवल्य आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है—तब लिङ्गदेह और उससे सम्बद्ध वासनादि कुछ भी नहीं रहते। इस प्रसंग में सांख्य और रामानुजीय मत में प्रकृति का स्वरूप-लक्षण विचारणीय है। सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति रामानुज-मत में कार्य है। इसकी कारणावस्था ही यथार्थ प्रकृति या अचित्तत्त्व है। यही प्रलयावस्था है—तब प्रकृति नामरूपहीन, अव्याकृत, तमोभूत, ब्रह्मदेहस्वरूप और ब्रह्मभावापन्न रहती है।

फिर भी पुनर्वार उसके ग्रहण करने की सम्भावना नष्ट नहीं होती। सांख्याचार्यों का कथन कुछ भी हो, भक्त कैवल्य चाहते नहीं। जिस वस्तु को भगवद्भक्त चाहते हैं वह भगवदनुभूति अथवा मोक्ष है। जीव और भगवान् दोनों ही नित्य पदार्थ हैं, इसलिए दोनों का जो सम्बन्ध है वह भी नित्य ही है। इस नित्य सम्बन्ध का आविष्कार ही साधना द्वारा किया जाता है। जीव नित्य ही अणु है और भगवान् हैं विभु। जीव है अङ्ग अथवा आश्रित एवं भगवान् हैं अङ्गी और आश्रय, इसलिए जीव नित्य ही भगवदाश्रित है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह आश्रितभाव ही दास्य अथवा कैङ्कर्य है, इसका पूर्ण विकास ही मोक्ष है। इस अवस्था में प्रकृति-सबम्न्ध नहीं रहता, इसीलिए ज्ञान का संकोच भी नहीं रहता। मुक्तों के ज्ञान, आनन्द आदि गुण अपरिच्छिन्न हैं। भगवान् के साथ इस विषय में मुक्त पुरुषों का किसी प्रकार का भेद नहीं है। रामानुजाचार्य ने स्पष्ट कहा है—"निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्" (ब्र० सू० भाष्य ४।४।१७) तथा "अकर्म-प्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तृप्यति" (वही, ४।४।१८)[1]। परन्तु स्मरण रखना होगा कि जीव ब्रह्मज्ञ होने पर भी ब्रह्म नहीं होता। उसका जीवभाव सर्वदा ही अक्षुण्ण रहता है। अतएव भोगमात्र में ब्रह्मसाम्य रहने पर भी जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन आदि व्यापारों में जीव को कभी किसी प्रकार का अधिकार नहीं है (द्रष्टव्य ब्र० सू० ४।४।१७)[2]। जीव के ईश्वरत्व-लाभ करने पर भी परमेश्वर अथवा भगवान् की अधीनता उसके लिए अवश्य ही अव्याहत रहती है। यहाँ तक कि निर्मलता, सत्यसंकल्पत्व आदि जो ऐहिक गुण मुक्त जीव में स्वभावतः आविर्भूत होते हैं वे भी मूल में भगवदधीन हैं। प्रश्न हो सकता है कि सभी लोग स्वातन्त्र्य चाहते हैं, अधीनता किसी के लिए सुखदायक नहीं है। ऐसी अवस्था में भगवदधीनता जीव का परम पुरुषार्थ मानने में हेतु क्या है ? इसका समाधान करते हुए श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है[3]—ऐसा प्रश्न देहाभिमान से उदित होता है। जिनका देहातिरिक्त आत्मा है, यह बोध जाग गया, वे इस प्रकार का प्रश्न नहीं करेंगे। जिसका इस प्रकार का देहात्माभिमान है उसका पुरुषार्थ-बोध भी उसी के अनुरूप है। जिसमें व्याघ्र की पुरुषार्थ-प्रतीति होती है, उसमें उष्ट्र की उस प्रकार (पुरुषार्थ) की प्रतीति नहीं होती। जिस वस्तु को पाने पर राम को सुख होता है, उससे श्याम को सुख नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि देहभेद के कारण आत्माभिमान का वैचित्र्य है। वस्तुतः आत्मस्वरूप देह से पृथक् और चिन्मय है। आत्मा परमात्मा का अङ्ग अथवा विशेषण है तथा नित्य

---

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४।४।२१।

२. इस विषय में बड़गलई और टेङ्गलई शाखा में कुछ अवान्तर भेद दिखाई देता है। बड़गलई कहते हैं कि जीव में सृष्टि-सामर्थ्य नहीं है—यहाँ तक कि नित्य और मुक्त आत्मा भी ब्रह्माण्ड के सृष्टि आदि करने में असमर्थ हैं। टेङ्गलई इस प्रकार का शक्ति-संकोच स्वीकार नहीं करते। उनके मत में भगवान् के आदेश से उनकी शक्ति से अनुप्राणित होकर नित्य और मुक्त आत्मा भी सृष्टि आदि कर सकते हैं।

३. द्रष्टव्य : वेदार्थसंग्रह, पृ० सं० २५१-२५२।

ही उनके आश्रित है। जब आत्मा का यथार्थ स्वरूप में अभिमान होता है अर्थात् जब आत्मा को बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है तब पुरुषार्थ-बोध भी स्वभावतः उसका अनुसरण करता है। उस अवस्था में ज्ञानमयत्व और परमात्मा के अङ्गत्व के सिवा और किसी प्रकार से आत्मा का प्रकाश नहीं होता। इसलिए पुरुषार्थ-प्रतीति भी उस समय उसी के अनुरूप होती है। मुक्त पुरुष भगवत्पारतन्त्र्य को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, यही उसका कारण है। मुक्तात्मा को स्वातन्त्र्याभिमान नहीं होता; क्योंकि उस प्रकार का अभिमान देह-सम्बन्ध-मूलक है। वह कर्मजन्य विपरीत ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। परमात्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों अर्थात् विषयों की सुखात्मकता कर्मजन्य है। इसीलिए विषय-मात्र ही परिच्छिन्न एवं अस्थायी है। जबतक कर्म है तभीतक विषय सुखमय अथवा दुःखमय प्रतीत होते हैं; क्योंकि कर्म ही सुख-दुःख का असाधारण हेतु है, विषय स्वरूपतः सुखमय नहीं हैं। इसीलिए एक व्यक्ति को जिससे सुख होता है, दूसरे व्यक्ति को भी उससे सुख होगा—ऐसा कहा नहीं जा सकता। किन्तु कर्म की निवृत्ति हो जाने पर इस प्रकार की प्रतीति फिर नहीं होती। एकमात्र परब्रह्म अथवा परमात्मा ही स्वतः सुखमय अथवा नित्यानन्दस्वरूप है। विषयों का सुखमयत्व अथवा दुःखमयत्व कर्मसापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं है। कर्मक्षय होने पर जगत् ब्रह्म की ही विभूति है—ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए वह नित्यानन्दमयरूप से प्रकाशित होता है। जो पारतन्त्र्य दुःखरूप कहा जाता है, वह भगवत्पारतन्त्र्य नहीं है। भगवान् के सिवा अन्य किसी पदार्थ की अधीनता जीव की स्वभावसिद्ध नहीं है, इसलिए वह दुःखकारी है, उसको लक्ष्य में रखकर ही पारतन्त्र्य की निन्दा शास्त्रों में दिखाई देती है। भगवत्पारतन्त्र्य भगवदङ्गभूत आश्रित जीव के लिए स्वाभाविक अवस्था है—वह पूर्णानन्दमय मुक्तभाव है एवं साधनामात्र का चरम लक्ष्य है।

जीव जैसे नित्य है वैसे ही जीव की भगवान् के प्रति दास्यभावमूलक भक्ति भी नित्य है। जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह वस्तुतः भक्ति की ही अबाधित स्वाभाविक स्फूर्त्ति है। प्रकृति के सम्बन्ध से जीव में जितना कृत्रिम अभिमान का उदय होता है, ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के अनन्तर वह सब तिरोहित हो जाता है। उस समय उसका स्वाभाविक दास्याभिमान अभिव्यक्त होता है। वह नित्य ही वर्त्तमान रहकर जीव-हृदय में परमानन्द का विधान करता है। भक्तों की दृष्टि में मुक्ति में भी 'अहम्' अभिमान (शुद्ध) का विनाश नहीं होता। हाँ, यह बात सत्य है कि निर्वाह आदि मुक्तियों में अहंभाव नहीं रहता, किन्तु भक्तों की दृष्टि के अनुसार यह अवस्था उपेक्षा-योग्य है[1]।

बृहद्ब्रह्मसंहिता(२।१२)कार ने कहा है कि यह सेवकभाव (दासभाव)

---

१ इस प्रसंग में भक्तप्रवर हनुमान् की एक मधुर उक्ति का स्मरण होता है—

भवबन्धच्छिदे तस्मै प्रार्थयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥

जिस मुक्ति में जीव और भगवान् का परस्पर दास-प्रभु-सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है वह चाहे शुद्ध चिदेकरस ही क्यों न हो [illegible] भक्त उसे नहीं चाहते।

दो प्रकार का है। यह सत्य है कि भक्तमात्र ही भगवान् के सेवक बनकर रहना चाहते हैं; फिर भी सबकी सेवा करने की आकांक्षा एक प्रकार की नहीं होती। गन्ध, माला आदि का सम्पादन करना एक प्रकार की सेवा है, उसे कैङ्कर्य कहते हैं। इसके सिवा रूपसेवा नाम की और एक प्रकार की सेवा है। कोई-कोई भक्त स्वाभाविक रुचि के अनुसार सर्वदा रूपसेवक होकर भगवान् की सन्निधि में रहना चाहते हैं। श्रीभगवान् सब प्रकार के सौन्दर्यों के आधार, अनुपम लावण्यशाली, अनन्त प्रेम-पारावार, नित्य किशोर-वयस्क, ऐश्वर्य और माधुर्यादि अनन्त गुणगणों के एकमात्र आश्रय, सब रसों की खान, विज्ञानघन, सच्चिदानन्दविग्रह हैं और भक्त उन्हीं के श्रीचरणाश्रित, आत्मविस्मृत तथा प्रेम की प्रतिमूर्त्ति हैं। भक्त प्रेम के साथ प्रेममय के श्रीमुख की ओर देखते रहते हैं और श्रीअङ्ग की नित्य नूतन अपूर्व सुषमा को निहारते रहते हैं। उस कोटिसूर्यसमुज्ज्वल और कोटिचन्द्रसुशीतल अनिर्वचनीय मधुर वदनकमल का निरन्तर निरीक्षण करने पर भी उनको तृप्ति नहीं होती। जितना ही देखते हैं, उतना ही उन्हें प्रतीत होता है कि ठीक-ठीक दर्शन नहीं हो रहे हैं, अनन्त सौन्दर्य के नव-नव उन्मेष अनन्त प्रकारों से नेत्र के सामने प्रस्फुटित होते हैं। परन्तु उससे तृष्णा की वृद्धि ही होती है, उपशम नहीं होता। उस समय चक्षु के पलक गिरने में भी कष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि एक पलक के लिए भी रूप-दर्शन का विच्छेद उस समय दीर्घ युग तुल्य असहनीय प्रतीत होता है। इसी का नाम है रूपसेवा[१]। उज्ज्वलनीलमणि (काव्यमाला-संस्करण, पृ० सं० ३८१) में श्रीमद्रूप-गोस्वामीजी ने इसका रूढ़ भाव के अनुभाव के नाम से वर्णन किया है। महाभाव की आलोचना के प्रसङ्ग में इसकी आलोचना उचित होगी।

विशिष्टाद्वैतवादियों की दृष्टि से जीवों का महाप्रयाण निम्न निर्दिष्ट क्रम के अनुसार सम्पन्न होता है। पहले मुमूर्षु भक्त की आत्मा सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होकर मस्तक पर उत्थान करती है। उसके पश्चात् सिर के कपाल का भेद कर ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग में उत्क्रमण करती हुई केवल सूक्ष्म शरीर का अवलम्बन कर अर्चि-रादि-मार्ग में गमन करती है। उत्क्रमण-काल में किसी-किसी ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है। परन्तु उस समय कर्म न रहने पर भी देवयान-मार्ग में चलने के उपयोगी कर्मरचित सूक्ष्म शरीर ज्ञान के प्रभाव से विद्यमान रहता है। यद्यपि ज्ञान से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति नहीं होती, फिर भी ज्ञान के द्वारा ही वह प्रतिष्ठित रहता है। सूक्ष्म शरीर न रहने से एक ओर जैसे प्राकृतिक सुख-दुःख-साधन स्थूल शरीर का तथा सब प्रकार के कर्मों का निःशेष क्षय नहीं होता; दूसरी ओर, वैसे ही ज्ञाननिमित्तक ब्रह्मलोक-प्राप्ति के लिए देवयान-मार्ग में चलने का कोई उपाय नहीं रहता। ज्ञानियों में जो लोग आधिकारिक हैं वे स्थूल शरीर का अन्त होने पर देव-यान-गति को प्राप्त नहीं होते; क्योंकि उन लोगों का प्रारब्ध कर्म अभुक्त रहने के कारण उस कर्म का फलभोग करने के लिए उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भोग-समाप्ति होने पर जब कर्म क्षीण हो जाते हैं तब वे भी भवचक्र से छुटकारा पा

१. "पक्ष्मपातासहप्रेमवीक्षणं रूपसेवनम्।" (बृहद्ब्रह्मसंहिता २-२३)।

जाते हैं। अर्चिरादि मार्ग से गमन ही देवयान-गति कही जाती है। इस मार्ग में बहुतेरी विश्राम-भूमियाँ हैं, उनका अतिक्रम कर आगे बढ़ना पड़ता है। मार्ग में सूर्य-मण्डलभेद करने तथा प्रकृति पार करने पर विरजा-प्राप्ति होती है[1]। विरजा में अवगाहन करने पर सूक्ष्मदेह और उसमें संलग्न 'वासनारेणु' धुल जाते हैं। साथ-ही-साथ विशुद्ध सत्त्वावस्था प्राप्त हो जाती है। अवगाहन के वाद आत्मा रजोविहीन अथवा कुण्ठा-रहित होकर संकल्पमात्र से विरजा का अतिक्रम करते हुए भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं। वहाँ अमानव दिव्य पुरुष आत्मा का स्वागत करते हैं। उनके अनन्त जन्मों की सारी क्लान्ति, सब ताप और अवसाद उस दिव्य पुरुष के मधुर कर-स्पर्श से एक निमेष में मिट जाते हैं। मुक्त आत्मा को उस समय ज्योतिर्मय, पञ्चोपनिषदात्मक, अर्थात् त्रिगुणातीत शुद्धसत्त्वमय भागवती तनु प्राप्त होती है। यह अनन्त तेजोमय दिव्य तनु, मन्त्रवपु आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है। इस देह में जरा नहीं है, जन्म-मृत्यु नहीं है एवं किसी प्रकार का विकार नहीं है। यह भावमय और नित्य एकरूप है। यह देह आवरण नहीं करती, वल्कि ज्ञानानन्दादि आत्म-शक्तियों के विकास के सम्वन्ध में सहायक होती है। भगवान् के स्वरूप, गुण, विभूति आदि को प्रकट करती है। यह एकमात्र भगवत्सेवा के लिए ही उपयोगी है। इस प्रकार की लावण्यमय दिव्य देह प्राप्त कर आत्मा भगवान् के निकट पहुँचाये जाते हैं। उस समय आत्माओं को अपना दासभाव और भगवान् का प्रभुभाव—ये दोनों स्वाभाविक हैं—यह प्रतीत होता है एवं उनके (भगवान् के) एकनिष्ठ परिचारक के रूप में परिगृहीत होने के लिए वे प्रार्थनापूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन करते हैं। तव भगवान् स्वयं प्रेमपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर दृष्टिपात करते हैं एवं उनका देश, काल और अवस्था के अनुरूप सेवकभाव में वरण करते हैं। भक्त संजीवित होकर हाथ जोड़ विनयपूर्वक प्रभु के आदेश-पालन के लिए प्रतीक्षा करते हुए सदा उनके निकट स्थित रहते हैं। इसके कारण आत्मा भाव के आत्यन्तिक विकास से निरतिशय

---

१. वृहद्ब्रह्मसंहिता (३।२।४२—४४) में कहा है कि निविडान्धकारमय अविद्या या माया अथवा प्रकृति के ऊर्ध्वभाग में सीमाहीन विरजा नदी स्थित है। नदी के एक तट पर जड़ प्रकृति या त्रिगुणात्मक प्रधान है, जो भगवान् की एकपाद विभूति है, दूसरे तट पर चिन्मय परव्योम है, जिसका शास्त्रों में भगवान् की त्रिपादविभूति के रूप में वर्णन किया गया है। विरजा विश्व की आवरणभूत है। यह वेदान्त स्वेद-जनित जल से प्रसावित है, ऐसा अनेक स्थलों पर विवरण मिलता है। श्रीकृष्णयामलतन्त्र में भी विरजा का वर्णन है। उसका भी सारांश ऐसा ही है। वहाँ लिखा है कि ब्रह्माण्ड के ऊपर महाविष्णुलोक है, उसके ऊर्ध्व में देवीलोक है, देवीलोक के बाद शिवलोक है। 'देवी' शब्द से यहाँ दुर्गा अथवा त्रिपुरसुन्दरी को जानना चाहिए। शिव-लोक सदाशिव का धाम है। सदाशिव योगपीठ या महायोनि-संयुक्त ज्योतिर्लिङ्गस्वरूप हैं। इन्हीं की प्रकृत मूर्त्ति अर्धनारीश्वर हैं। श्रीकृष्ण-यामल के मत में यह शिवलिङ्ग ही श्रीकृष्ण का लिङ्गात्मक तेज है एवं देवी स्वयं राधिका हैं, जो माया-सम्बन्ध से योनिरूप में प्रकाशमान हैं। इस लोक तक ही गुणों की सीमा है। इसके बाद ज्योतिर्मयी अपार, अनन्तगुणसमन्वित विरजा नदी है। इस नदी में अवगाहन करने पर प्रकृति और पुरुष का स्वभाव बदल जाता है—स्त्री पुरुष हो जाती है और पुरुष स्त्री। इससे ऊपर जाने पर निरञ्जन निराधार भगवत्तत्त्व में मग्न हुआ जाता है।

प्रीति प्राप्त कर अन्य विषयों के अनुष्ठान, दर्शन, यहाँ तक कि स्मरण करने में भी असमर्थ होकर फिर सेवकभाव की ही प्रार्थना करते हुए पहले की तरह निर्निमेष नेत्रों से अविच्छिन्न दृष्टि द्वारा भगवान् के मधुर रूप का ही दर्शन करते रहते हैं। तदनन्तर भगवान् उनकी ओर निहारकर सहास्य श्रीमुख से उनका आह्वान करते हैं एवं समस्त क्लेशनाशक परमानन्दप्रद अपने दोनों श्रीचरणकमल उनके मस्तक पर स्थापित करते हैं, तब भक्त अमृतसागर में पूर्णरूप से निमग्न होकर सदातन सुख में अवस्थान करते[1] हैं।

हमने प्रसंगत: विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के किसी एक मत का वर्णन किया है। अधिक विस्तार के साथ आलोचना करने का यह स्थान नहीं है। किंवदन्ती है कि यह मत अति प्राचीन है। सर्वप्रथम पराशर ने विष्णुपुराण में इसका प्रतिपादन किया है। तदुपरान्त व्यासदेव ने शारीरकसूत्र तथा महाभारत में इसका वर्णन किया है।[2] बोधायन ने अपने वृत्तिग्रन्थ में इसी का विस्तार किया है। टङ्क (सुदर्शनभट्ट और वेदान्तदेशिक के मत में इनका नामान्तर ब्रह्मनन्दी है), द्रमिड़ आदि आचार्यों ने द्रमिड़-भाष्य[3] आदि में इसके सारांश का संकलन किया। कलियुग में पराङ्कुश मुनि ने अपने द्रविडोपनिषद् में बीस से अधिक गाथाओं में इसका संग्रह तथा प्रवर्तन किया। तदनन्तर नाथमुनि ने न्यायतत्त्व, योगरहस्य आदि ग्रन्थों में इसका निरूपण किया। यामुनमुनि ने आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय आदि ग्रन्थों में इसका विवरण किया और रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य आदि में इसकी स्थापना की। अतएव रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतमत के प्रतिष्ठाता मात्र हैं, आदिप्रवर्तक नहीं हैं। भर्तृहरि, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र आदि के वेदान्तसूत्र-भाष्य भी कुछ अंशों में विशिष्टाद्वैत-मत के समर्थक थे, ऐसा प्रतीत होता है। गुहदेव, कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आचार्यों के नाम भी इस प्रसङ्ग में उपलब्ध होते हैं।

प्राचीन काल में दक्षिण देश में एक प्रकार के भक्तिसिद्ध महापुरुष प्रादुर्भूत हुए थे। उनको तमिलभाषा में 'आलवार' कहते थे। इस प्रकार के बारह आलवार सन्तों का पता और परिचय वैष्णव-साहित्य के इतिहास में पाया जाता है। उनमें से, अति प्राचीन काल में, जो चार व्यक्ति जीवित थे, उनके नाम थे—सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और भक्तिसार[4]। मध्ययुग में पाँच सिद्धों का संवाद मिलता है—जैसे, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और गोदा (विष्णुचित्त की कन्या)। नूतन

---

१. द्रष्टव्य—श्रीवैकुण्ठगद्य (श्रीरामानुजकृत), अर्थपञ्चक (लोकाचार्यकृत) तथा बृहद्ब्रह्मसंहिता।

२. शारीरकसूत्र और महाभारत एक व्यक्ति की कृति (रचना) है, ऐसा नहीं माना जा सकता। पराशर-पुत्र व्यास ही ब्रह्मसूत्रकार बादरायण हैं, इसका भी निःसन्देह प्रमाण नहीं है। अवश्य पाराशर्यकृत भिक्षुसूत्र की बात का पाणिनि ने उल्लेख किया है, यह सत्य है। हमने ऊपर केवल किंवदन्ती का उल्लेख किया है। ऐतिहासिक विचार यहाँ पर अनावश्यक है।

३. द्रमिड़ाचार्य ने ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् का भाष्य किया था। उनका उपनिषद्-भाष्य अति विस्तीर्ण था। श्रीवत्साङ्क मिश्र ने इस भाष्य पर टीका की थी।

४. ये नाम तमिल नामों के संस्कृतानुवाद-मात्र हैं।

युग में भक्ताङ्घ्रिरेणु, योगिवाह और परकाल—इन तीन जनों का उल्लेख हमें मिलता है। इन बारह भक्तों में शठकोप ने ही सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की थी। ये शूद्रजातीय थे। इनके पिता का नाम कारि[1] था, इसलिए बहुत-से ग्रन्थों में ये कारिसूनु के नाम से अभिहित देखे जाते हैं। पराङ्कुश, वकुलाभरण, शठारि या शठद्वेषी आदि नामों से भी उनकी ख्याति थी। ऐसा प्रवाद है कि जन्म से लेकर इन्होंने कभी भी भोजन अथवा रोदन नहीं किया। अल्प वय में ही पिता-माता ने इन्हें एक शून्य मन्दिर में छोड़ दिया था। वहाँ मन्दिर के निकट एक इमली के पेड़ के नीचे ये सोलह वर्ष तक अखण्ड योगमुद्रा में बैठे रहे, उसके बाद क्रमशः ईश्वरीय कृपा प्राप्त कर सिद्धि को प्राप्त हुए।

मधुरकवि नाम के तृनेवली जिले के निवासी एक व्यक्ति, जो सामवेदीय ब्राह्मण और पण्डित थे, तीर्थयात्रा के बहाने अयोध्या गये। कहा जाता है कि एक दिन सायंकाल वहाँ से अपने देश की ओर निरीक्षण करते ही एक विराट् ज्योतिस्तम्भ उनकी दृष्टि के सम्मुख पड़ा। उसका अनुसरण कर आते-आते उन्हें पूर्वोक्त इमली के वृक्ष के नीचे समासीन शठकोप के दर्शन हुए और यथासमय उन्होंने उनका शिष्यत्व-ग्रहण किया। उन्होंने शठकोप के सब तत्त्वोपदेश लिपिबद्ध करके रखे—इन उपदेशों का नाम 'तिरुवायमौलि' अथवा मुखनिःसृतवाणी है। ये सब दक्षिणदेश में द्रविडवेद या तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।[2]

---

१. काशी संस्कृत कालेज (अब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) की लाइब्रेरी में रामानुज-सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा नाम की एक हस्तलिखित छोटी पुस्तक हमारे दृष्टिगोचर हुई थी। उसमें श्रीनिवास-रचित दिव्यसूरिचरित्र नामक ग्रन्थ के आधार पर शठकोप के जन्म और पूर्वजों का वृत्तान्त संक्षेप में अंकित था। उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ सर्ग में लिखा है कि 'पूर्व सागर के पश्चिम-तट पर पाण्ड्यवंशीय राजा के राज्य में कुरुकापा नाम की एक नगरी थी। उस नगरी में पल्ली नामक एक शूद्र निवास करता था। शठारि उसी के वंशधर थे। पल्ली का पुत्र धर्मधर, उसका पुत्र चक्रपाणि, तत्पुत्र रत्नदास, रत्नदास का पुत्र पाटल-लोचन, तत्पुत्र पार्कारि, पार्कारि का पुत्र कारि। शठकोप इस कारि के ही औरस पुत्र थे।' वेदान्तरामानुजकृत दिव्यसूरिप्रभावदीपिका में भी शठकोप के सम्बन्ध में कुछ-कुछ विवरण मिलता है।

२. शठकोप या पराङ्कुश-प्रोक्त चार हजार संख्यावाले चार प्रबन्ध द्रविड़वेद के नाम से विख्यात हैं। इनके सम्बन्ध में परकाल नामक सिद्ध ने जो छह प्रबन्ध लिखे थे, वे ही द्रविड़वेद के षडङ्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्यान्य सूरियों द्वारा विरचित चतुर्दश प्रबन्ध इनके उपाङ्गभूत हैं। मार्कण्डेयपुराण में इस द्रविड़वेद के सम्बन्ध ही निम्नलिखित उक्ति मिलती है—

"संस्कृतश्रुतयो यद्वद् द्रविडश्रुतयस्तथा।
नित्यास्तद्वत् प्रणीयन्ते मुनिभिश्च कलौ युगे॥"

इन चार प्रबन्धों को वेद कहने का तात्पर्य यह है कि ये अपौरुषेय रचनाएँ हैं; शठकोप इनके रचयिता नहीं थे। आर्षज्ञान और दिव्यज्ञान ये दोनों प्रकार के ज्ञान अलौकिक हैं। किन्तु आर्षज्ञान में वक्ता के दोष, भ्रम, प्रमाद आदि के रहने की सम्भावना है. दिव्य-ज्ञान सर्वथा दोषमुक्त है। इसका कारण यह है कि आर्षज्ञान योग से अभिव्यक्त होता है; दृष्टान्त पराशर हैं। दिव्यज्ञान-लाभ के लिए योग आदि व्यक्तिगत किसी प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती। यह अहेतुक भगवत्प्रसाद से आविर्भूत होता है; दृष्टान्त शठकोप है।

कुलशेखर नामक सिद्ध भक्त त्रिवाङ्कुर के राजा थे। उनके द्वारा रचित 'मुकुन्द-माला' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। योगिवाह पारिया या चाण्डाल जाति के थे[1]। वैष्णवपद-संग्रह में इनके कई पद मिलते हैं। परकाल चोलराज्य के एक कर्मचारी थे। इन्होंने बहुत ग्रन्थों की रचना की थी। शठकोप के उपदेशों की व्याख्या भी इन्होंने रची थी। प्रवाद है कि एक विवाह के बरातियों पर डाका डालते समय इन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हुई थी।

इन बारह आलवारों के अनन्तर जिन्होंने वैष्णव-धर्म के प्रचार का भार ग्रहण किया, वे आचार्य के नाम से प्रख्यात हुए। आचार्यगण पण्डित थे एवं वे नाना प्रकार से विचार कर भक्तिमूलक भागवत-धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर गये हैं। नाथमुनि ही आचार्य-परम्परा में गौरव तथा प्राचीनता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम गणनीय हैं। इनके जीवन की कथा अति अद्भुत है। प्रसिद्धि है कि ये ५०० वर्ष जीवित रहे थे। इनका निवास ग्राम वीरनारायणपुर था। ये तीर्थयात्री पर्यटक वैष्णवों के मुख से शठकोप के दस पदों का गाना सुनकर एकबारगी विमोहित हुए थे। तब शठकोप के प्रायः सभी ग्रन्थ एक प्रकार से विलुप्त हो गये थे। नाथमुनि ने तभी से उन सब लुप्त ग्रन्थों का उद्धार करने के लिए कमर कसी, किन्तु कुम्भकोण, शठकोप के जन्मस्थान आदि बहुत स्थानों में निरन्तर अन्वेषण करके भी उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। किन्तु इस सिलसिले में शठकोप के विषय के अवलम्बन से मधुरकवि द्वारा रचित केवल ११ पद उन्हें प्राप्त हुए। नाथमुनि एक विशिष्ट पाण्डित्यसम्पन्न महापुरुष थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उनके न्यायतत्त्व और योगरहस्य की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। वेदान्तदेशिक के न्यायसिद्धाञ्जन में न्यायतत्त्व का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि नाथमुनि को मधुरकवि के शिष्य पराङ्कुशपूर्ण से ज्ञात हुआ था कि एकान्तभाव से शठकोप का ध्यान कर नियम-पूर्वक एकासन से उनके प्रबन्धों का बारह हजार बार चिन्तन करने पर शठकोप प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। यह बात सुनकर नियमानुसार उपासना करने पर सचमुच उन्हें प्रत्यक्ष मूर्त्ति में शठकोप के दर्शन प्राप्त हुए। तब उनके प्रति कृपा-परवश होकर शठकोप ने उन्हें दिव्यचक्षु प्रदान किया, चित्, अचित् और ईश्वरतत्त्व का रहस्य समझा दिया, सब दर्शनों का तात्पर्य बतलाकर अष्टाङ्गयोग के गुह्यरहस्य की शिक्षा दी एवं स्वप्नयोग से उनके भावी गुरु की मूर्त्ति भी दिखला दी। नाथमुनि से ही एक हिसाब से विशिष्टाद्वैतदर्शन-प्रणाली का सूत्रपात माना जा सकता है। नाथमुनि के पुत्र ईश्वरमुनि पिता के तुल्य ख्याति-अर्जन नहीं कर सके, यह बात सत्य है; किन्तु

दिव्यज्ञान का माहात्म्य योगज ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

१. किंवदन्ती है कि ये भक्त अन्त्यज होने के कारण रङ्गनाथ-मन्दिर में जा नहीं सकते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल कावेरी में स्नान कर वहीं रङ्गनाथ का भजन करते थे। रङ्गनाथ ने उनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर उन्हें कन्धे पर बैठाकर मन्दिर में लाने के लिए भार्गव नामक एक ब्राह्मण को आदेश दिया। (द्रष्टव्य—**Contributions of Southern India to Indian Culture by S. K. Aiyangar, pp. 267-268**).

उनके पुत्र यामुनमुनि ने महापण्डित के रूप में सम्मान प्राप्त किया था। यामुन विवाहित और गृहस्थ थे। नाथमुनि के प्रधान शिष्य पुण्डरीकाक्ष के छात्र राममिश्र के प्रोत्साहन और प्रेरणा से ईश्वरमुनि ने अपने पुत्र को उपनयन के तुरन्त बाद ही वेदशिक्षा प्रदान की थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य, गीतार्थसंग्रह, महापुरुष-निर्णय, काश्मीरागम-प्रामाण्य, स्तोत्ररत्न आदि विविध ग्रन्थों की रचना की थी। रामानुजाचार्य ने बहुत स्थानों में यामुनाचार्य के पदचिह्नों का अनुसरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना की है—यामुनाचार्य का विद्यावैभव और प्रतिभा का यही उत्कृष्ट प्रमाण है। यामुनाचार्य के बाद स्वनामख्यात रामानुजाचार्य का (१०१७ से ११३७ ई०) नाम ही उल्लेख योग्य है। रामानुज यामुन की पौत्री के पुत्र थे। यामुनमुनि ने रामानुज को तीन कार्य करने का आदेश दिया था। यह आदेश अलौकिक रूप से रामानुज को बतलाया गया था। वैष्णव-मतानुसार ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना प्रथम आदेश, सहस्रनाम का भाष्य तथा शठकोप की सहस्रगीतिका के भाष्य की रचना द्वितीय और तृतीय आदेश थे। ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रामानुज ने स्वयं रचना की एवं श्रीभाष्य के नाम से उसे प्रकाशित किया। उन्होंने अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशरभट्ट के द्वारा सहस्रनामभाष्य की रचना कराई। यह ग्रन्थ भगवद्गुणदर्पण के नाम से प्रसिद्ध है। तृतीय भाष्य की रचना के लिए उन्होंने अपने मामा श्रीशैलपूर्ण के पुत्र कुरुकेश को नियोजित किया। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ छह हजार श्लोकात्मक है। श्रीभाष्य के सिवा रामानुज ने वेदान्तसार और वेदान्तदीप नामक ब्रह्मसूत्र-वृत्ति, गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, नित्याराधन-विधि एवं गद्यत्रय (शरणागतिगद्य, श्रीरङ्गगद्य एवं श्रीवैकुण्ठगद्य—तीन ग्रन्थों की समष्टि)—इन कई ग्रन्थों का निर्माण किया था। रामानुज के बाद उनके सम्प्रदाय में तत्त्वमुक्तावली के रचयिता गौड़ पूर्णानन्द कविचक्रवर्त्ती एवं पिल्लइ लोकाचार्य और वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक (या वेदान्ताचार्य) ने आविर्भूत होकर दार्शनिक साहित्य की विशेष पुष्टि की। लोकाचार्य वेंकटनाथ के समकालीन होने पर भी वय में ज्येष्ठ थे। उनका जन्मकाल क्रमशः १२१३ एवं १२६८ ई० है। लोकाचार्य टेङ्कलई और वेंकटनाथ बड़गलई शाखा के अन्तर्गत थे। लोकाचार्य १८ रहस्य-ग्रन्थों की रचना कर सुधी समाज में असीम यश एवं गौरव से विभूषित हुए थे। इस ग्रन्थावली में तत्त्वत्रय, अर्थपञ्चक, तत्त्वशेखर, श्रीवचनभूषण, प्रमेयशेखर आदि प्रमुख हैं।[1] इनमें भी श्रीवचनभूषण अत्यन्त उत्कृष्ट तत्त्वग्रन्थ है। इस प्रकार का दुर्लभ गुह्यतत्त्व-प्रतिपादक ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह होगा, यह कहना अनावश्यक है। किन्तु इसका आदर सभी सम्प्रदायों के वैष्णवों ने किया है।[2] तत्त्वांश में लोकाचार्य

१. इनके अन्यान्य ग्रन्थों के नाम यों हैं—अर्चिरादि, प्रपन्नपरित्राण, सारसंग्रह, संसारसाम्राज्य, नवरत्नमाला, नवविधसम्बन्ध, मुमुक्षुप्पडि, याद्दच्छिप्कपडि, तनिचरमम्, परन्दपडि, तनिद्वयम्, तनिप्रणवम् तथा श्रियःपतिप्पडि।

२. काशी संस्कृत कॉलेज के पुस्तकालय (सरस्वती-भवन) में इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि संगृहीत है। इसका देवनागरी-लिपि में एक संस्करण पुरी से बहुत पूर्व प्रकाशित हुआ था। कुछ वर्ष पहले कालिकाता के निकटस्थ खडदह-स्थित बलराम-धर्मसोपान नामक श्रीरामानुजीय संस्था से बँगलालिपि में सानुवाद एक और संस्करण प्रकाशित हुआ है।

वेंकटनाथ की अपेक्षा उन्नत पद पर आसीन थे, किन्तु दार्शनिक विचारकौशल तथा वाग्मिता में वेंकटनाथ भारतवर्ष के एक अत्युज्ज्वल नक्षत्रस्वरूप थे। यहाँ उनके जीवनचरित की आलोचना करने का अवसर नहीं है, पर वे एक असाधारण तीक्ष्ण-बुद्धिशक्ति-सम्पन्न पुरुष थे, इसमें सन्देह नहीं है[1]। वे प्रसिद्ध शाङ्करवैदान्तिक विद्यारण्यस्वामी तथा माध्वसम्प्रदाय के आचार्य अक्षोभ्यमुनि के समकालीन थे एवं दोनों के शास्त्रार्थ-विचार में मध्यस्थ हुए थे। तमिल तथा संस्कृत भाषा में विभिन्न विषयों की उनकी लिखी बहुत पुस्तकें[2] विद्यमान हैं। प्रत्येक ग्रन्थ उनकी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचायक है। उन्होंने शतदूषणी में शाङ्कर-मत में एक सौ दोष निकालकर अपनी बुद्धिमत्ता का निदर्शन किया है। श्रीभाष्य पर 'तत्त्वटीका' नामक बृहत् टीका का उन्होंने संकलन किया था। अब उसका कुछ ही अंश उपलब्ध होता है। उनकी पञ्चरात्ररक्षा, सिद्धान्त-रत्नावली, यामुनकृत स्तोत्ररत्न की टीका, स्वविरचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका-सहित तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायसिद्धाञ्जन, रामानुजकृत, गीताभाष्य की टीका तात्पर्यचन्द्रिका, प्रपत्तिविषयक निक्षेपरक्षा और न्यायदशक, रहस्यत्रयसार[3], परमतभङ्ग[3], अधिकरणसारावली, वेदान्त-कौस्तुभ, वादित्रय-खण्डन आदि अत्यन्त उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ हैं। संकल्पसूर्योदय प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर रचित होने पर भी रूपक के बहाने श्रीवैष्णवसिद्धान्त का प्रतिपादक है। उनकी सेश्वरमीमांसा जैमिनि के कर्ममीमांसासूत्र की सेश्वर पक्ष में व्याख्या है। यादवाभ्युदय, हंससन्देश, सुभाषितनीवी, पादुकासहस्र, दयाशतक, यतिराजसप्तति आदि सुन्दर काव्य हैं। उनके ग्रन्थों का परिशीलन करने से प्रतीत होता है कि वे जो 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र', 'कवितार्किकसिंह' आदि उपाधिभूषणों से विभूषित थे, वह अमूलक नहीं है। वेदान्तदेशिक के अनन्तर हम श्रीशैलेश के शिष्य वरवरमुनि अथवा रम्यजामातृमुनि या मनवल महामुनि के नाम का उल्लेख कर सकते हैं। ये सन् १३७० ई० में जन्म ग्रहण कर ७३ वर्ष तक जीवित रहे। इनके विरचित ग्रन्थों में श्रीवचनभूषण तथा तत्त्वत्रय की टीकाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। यदि ये श्रीवचनभूषण की टीका-रचना न करते तो सम्भव है बहुत समय पहले ही उक्त ग्रन्थ लुप्त हो गया होता। इन्होंने बीस श्लोकों में 'यतिराजविंशति' नाम से रामानुजाचार्य की एक प्रशस्ति की रचना की। इनके उपदेशरत्नमाला तथा अर्थिप्रबन्ध—ये दो ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखित हैं। रामानुजाचार्य के शिष्य वरदविष्णु के पौत्र वरदाचार्य महापण्डित थे। इनका तत्त्वसार[4] प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रामानुज के द्वितीय शिष्य

---

१. सन् १९४८ ई० में डा० सत्यव्रतसिंह-लिखित वेदान्तदेशिक नामक ग्रन्थ अँगरेजी में वाराणसी से प्रकाशित हुआ है।

२. उनकी रचित पुस्तकें एक सौ से अधिक होंगी। राममिश्रशास्त्री कहते थे कि उनकी कृतियाँ १२६ हैं। इस विषय में वेदान्तदेशिक अप्पय्यदीक्षित से तुलनायोग्य हैं।

३. ये दोनों पुस्तकें तमिल भाषा में लिखित हैं। परमतभङ्ग में विरुद्ध दार्शनिक मतों का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त की स्थापना की गई है। भरद्वाजवंशीय श्रीनिवासाचार्य ने रहस्यत्रयसार के अन्तर्गत तमिल गाथा की एक विशद संस्कृत-टीका लिखी थी। रहस्यत्रयसार ३२ अध्यायों का बृहद् ग्रन्थ है। रहस्यत्रय साराधिकारसंग्रह इसी का संक्षेप है। इसके ऊपर वेदान्तरामानुज के एक शिष्य ने एक व्याख्या लिखी थी।

४. इसका नामान्तर वेदान्ततत्त्वसार है। राममिश्रशास्त्री ने वेदार्थसंग्रह की भूमिका (पृ० ६) में तत्त्वसार सुदर्शनभट्ट कृत है, ऐसा उल्लेख किया है। अनेकों का विश्वास है कि यह ग्रन्थ

प्रणतार्त्तिहर के प्रपौत्र आत्रेय रामानुज वरदाचार्य के शिष्य थे। वेदान्तदेशिक इन आत्रेय रामानुज के छात्र थे। वरदाचार्य के गुरुदेव विष्णुचित्त (१२२५ ई०) कुरुकेश के शिष्य थे, ऐसा ज्ञात होता है। उनके द्वारा विरचित विष्णुपुराण की टीका प्राचीन विद्वत्समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई थी एवं इस समय भी इसका प्रचार है। वरदाचार्य के दूसरे शिष्य कुरेश के प्रपौत्र, वेदव्यास नामक सुदर्शनभट्ट ने श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका नाम की टीका तथा वेदार्थसंग्रह की व्याख्या का संकलन कर वैष्णव-समाज का बहुत बड़ा उपकार किया था। उनकी उपनिषदों पर टीका भी कुछ-कुछ उपलब्ध होती है। श्रीमद्भागवत की शुकपक्षीय नाम की जो टीका पण्डित-मण्डली में प्रचलित है, बहुतों का विश्वास है, उसके रचयिता ये सुदर्शनभट्ट ही हैं। अप्पय्य-दीक्षित ने (सन् १५५२ से १६२४ ई०) बहुत-से वैष्णव ग्रन्थों की, विशेषकर वेंकट-नाथ-विरचित ग्रन्थों की टीका-रचना की। अप्पय्यदीक्षित यद्यपि शैव थे, फिर भी वैष्णवदर्शन में उनका पाण्डित्य असाधारण था। चण्डमारुताचार्य-रचित शतदूषणी-टीका चण्डमारुत (१६०० ई०) तथा श्रीनिवासरचित यतीन्द्रमतदीपिका (१६५० ई०) को वर्त्तमान वैष्णवसमाज में ख्याति प्राप्त हुई। रङ्गरामानुज (सन् १८०० ई०) ने विशिष्टाद्वैतमत से उपनिषदों पर व्याख्या की थी—इस समय भी उसका पठनपाठन प्रचलित है।

दक्षिण-देश में श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में दो प्रधान भेद दृष्टिगोचर होते हैं। ये दो शाखाएँ टेङ्गलई (दक्षिणपथ) तथा बड़गलई (उत्तरपथ) नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी-किसी विषय में इनके बीच मतभेद दिखाई पड़ता है[1]। बड़गलई शाखा की अपेक्षा टेङ्गलई शाखा में कृपा अथवा प्रपत्ति का प्राधान्य अधिक है। बड़गलइयों के मत से भगवान् की कृपा-प्राप्ति में कर्मादि की सापेक्षता है। वे कहते हैं कि कर्म और ज्ञान भगवत्प्राप्ति के साक्षात् उपाय नहीं हैं। केवल भक्ति के अङ्गरूप में उनकी उपयोगिता है। भगवान् साक्षात् रूप से एकमात्र भक्तिलभ्य हैं। टेङ्गलई लोग कहते हैं कि भगवत्कृपा अहैतुकी है, वह कैसे होती है और कब होती है, यह कोई बतला नहीं सकता। इसका वस्तुतः कोई मूल नहीं है। इनके मत में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि जिस किसी भीउपाय से मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, किसी को प्रधान मानकर किसी को गौण मानने में कोई हेतु नहीं है। बड़गलइयों के मत में प्रपत्ति भगवत्प्राप्ति का एक उपाय है, किन्तु टेङ्गलइयों का यह विश्वास है कि यही एकमात्र उपाय है। प्रपत्ति के साथ और किसी उपाय की तुलना नहीं। इसलिए बड़गलई लोग

रामानुजकृत है। किन्तु Rev. Johnson ने अँगरेजी अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का एक संस्करण पण्डितपत्र में प्रकाशित किया था। उसकी भूमिका में उन्होंने दिखलाया है कि यह रामानुजकृत नहीं है। राजगोपाल चारियर ने अपने Vaishnavite Reformer of India में (पृ० ८०) तत्त्वसार का वरदाचार्य-रचित रूप से उल्लेख किया है।

१. गोविन्दाचार्य ने १८ (अठारह) विषयों में दोनों शाखाओं के मतभेद का वर्णन किया है। द्रष्टव्य—**The Astadas'a bhedas, Or the Eighteen Points of Doctrinal differences between the Tengalais and the Badagalais of the Vishishtadvaita Vaishnava School, South India,—G. A. Govindacharya (J. R. A. S., 1910, pp. 1103–1112)**

कहते हैं, यदि अन्य उपाय के अवलम्बन में सामर्थ्य अथवा अधिकार न रहे तो प्रपत्ति ग्रहण करना उचित है। किन्तु टेङ्गलई लोग मानते हैं कि जीवमात्र को ही पूर्णरूप से भगवान् के शरणापन्न होना ही पड़ेगा। इसमें सबलता और दुर्बलता का विचार नहीं है। उनका (भगवान् का) आश्रय ग्रहण किये विना अन्य कोई उपाय ही फलप्रद नहीं हो सकेगा। विशुद्ध प्रपत्ति ही श्रेष्ठ उपाय है—इसके साथ अन्य उपायों का मिश्रण युक्तियुक्त नहीं है। बड़गलइयों के मत में कैवल्य-मुक्ति स्थायी नहीं है, परन्तु टेङ्गलइयों के मतानुसार कैवल्य नित्यावस्था है[1]। इस अवस्था से जैसे जड़ जगत् में पतन की सम्भावना नहीं रहती है वैसे ही भगवद्धाम में जाने का भी कोई उपाय नहीं है। मोक्षावस्था में जो भगवदानन्द का विकास होता है उसके सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में कुछ-कुछ वैमत्य दिखलाई देता है। बड़गलई लोग मुक्त आत्मा की आनन्दोपलब्धि में वैचित्र्य को स्वीकार नहीं करते, किन्तु टेङ्गलईगण कहते हैं, यद्यपि भगवदानन्द में न्यूनाधिक्य नहीं है तथापि जीवमात्र का ही स्वभावगत वैचित्र्य के अनुरूप सेवाभेद अवश्यम्भावी है, इसलिए भगवदानन्द का आस्वादन सब जीवों के लिए एक-सा नहीं होता।

श्री अथवा शक्तितत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में मतभेद है। बड़गलई-गण कहते हैं कि नारायण के तुल्य श्री की भी मोक्षप्रदान में शक्ति है, परन्तु टेङ्गलई-गण इसे स्वीकार नहीं करते[2]। उन लोगों के मत से श्री केवल मध्यवर्त्तिनी होकर जीव को भगवान् का कृपापात्र बनने में सहायता पहुँचाती है। व्यापकता के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ-कुछ मतवैषम्य दीख पड़ता है। बड़गलई लोग श्री की स्वरूप-

---

१. कैवल्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणा ही इस मतभेद का हेतु है। बड़गलई लोग जिसे कैवल्य कहते हैं, वह एक प्रकार की प्रकृतिलीन अथवा प्राकृत भाव में लीन अवस्था है। उसमें अचित्सम्बन्ध तिरोहित नहीं होता। इसलिए उस अवस्था से व्युत्थान अवश्यम्भावी है। किन्तु टेङ्गलईगण कहते हैं—कैवल्य भगवद्धाम में स्थिति न होने पर भी प्रकृतिविमुक्त रूप से आत्मा की स्वरूपावस्थिति है, इसलिए वहाँ से जैसे ऊर्ध्व-गति रुद्ध होती है वैसे ही अधोगति या विच्युति भी रुद्ध हो जाती है।

२. वेदान्तरामानुजमुनि ने श्रीतत्त्वसिद्धाञ्जन नामक ग्रन्थ में इस विषय में आलोचना कर दरसाया है कि श्री एवं भगवान् परस्पर मिलित रूप में ही जगत् के कारण तथा मोक्षदायक और आश्रयणीय हैं: "श्रीश्रीशौ मिलितावेव जगद्धेतू विमुक्तिदौ। प्रपत्तव्यौ च।" फिर भी इस विषय में भाष्यकार का स्पष्ट मत-प्रकाश नहीं है, ऐसा विचार कर अनेक लोगों ने अनेक कल्पनाओं का आश्रय ग्रहण किया है। किसी का विश्वास है कि रामानुज ने श्री का ब्रह्मत्व स्वीकार किया है; पर कोई-कोई कहते हैं कि भाष्यकार श्री की जगत्कारणता तक भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु जितना स्वीकार किया है वह सृष्टि आदि व्यापार में अनु-मन्तृता अथवा प्रेरकता आदि हेतुओं से। किसी के मत में पुरुषकाररूप से ही श्री ज्ञान-विषयीभूत होती हैं। उनकी अणुत्व अथवा विभुत्व की समालोचना निरर्थक है। वेदान्तरामा-नुज वेंकटनाथ के अनुगामी थे। वेंकटाचार्य ने स्वरचित "लक्ष्म्युपायत्वदीप" नामक ग्रन्थ में भी यही सिद्धान्त स्थापित किया है। श्री का कारणत्व, व्यापकत्व, नियन्तृत्व आदि प्रदर्शित किया है एवं जो लोग श्री की पुरुषकारता-मात्र स्वीकार करते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए श्री का उपायत्व श्रुति, स्मृति और शास्त्र-सम्प्रदाय के अनुसार सिद्ध किया है। इसलिए उनके मत में भी "लक्ष्मीविशिष्टा भगवच्चरणारविन्दशरणागति" ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

व्याप्ति स्वीकार करते हैं, टेङ्गलई लोग केवल विग्रहव्याप्ति तथा गुणव्याप्ति मानते हैं। टेङ्गलइयों के मतानुसार जीव की केवलमात्र गुण-व्याप्ति है, श्री की गुणव्याप्ति और विग्रहव्याप्ति दोनों ही हैं, भगवान् की गुण और विग्रह-व्याप्ति के अलावा स्वरूपव्याप्ति भी है। भगवान् के वात्सल्य और दयालुता के सम्बन्ध में अवश्य भक्त-मात्र ही एकमत हैं, पर उस विषय में सबकी एक-सी धारणा नहीं है। बड़गलई लोग कहते हैं, वात्सल्यवश भगवान् जीव का दोष देखते नहीं, किन्तु टेंगलई लोग थोड़ा और भी आगे बढ़ते हैं। उन लोगों के मतानुसार भगवान् केवल जीव के दोष नहीं देखते, ऐसी बात नहीं है, किन्तु दोषों के 'भोक्ता' हैं। उत्तर-सम्प्रदाय कहते हैं परदुःख-निराकरण की इच्छा ही दया है, किन्तु दक्षिण-सम्प्रदाय थोड़ा और भी अग्रसर होकर उस लक्षण में परिवर्त्तन करते हुए कहते हैं, परदुःख में दुःखानुभव ही दया है। इसी प्रकार और भी अनेक विषयों में भेद है। यह शाखा-भेद कब हुआ, यह ज्ञात नहीं है, पर लोकाचार्य तथा वेदान्तदेशिक के समय से ही साम्प्रदायिक कलह ने तीव्र आकार धारण किया, यह ऐतिहासिक सत्य है।

हंस-सम्प्रदाय

(निम्बार्कमत—द्वैताद्वैत)

अब हम निम्बार्कमत की थोड़ी आलोचना करेंगे। निम्बार्काचार्य[1] भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैतवादी थे। भेदाभेदसिद्धान्त भारतीय दर्शन के इतिहास में नूतन तत्त्व नहीं है। निम्बार्क के पहले भास्कराचार्य इस मत के समर्थक थे। उनका भाष्य प्रकाशित हुआ है—उसमें भेदाभेदसिद्धान्त का ही समर्थन दिखलाई देता है। प्राचीन आचार्य आदि में भी किसी-न-किसी आकार में इस मत का प्रचार था—ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र में औडुलोमि नामक आचार्य का उल्लेख है, वे भी भेदाभेदवादी थे। परन्तु उनके मत से निम्बार्कमत में भेद है। औडुलोमि जीव और ब्रह्म में

१. निम्बार्क, निम्बादित्य, निम्बभास्कर, नियमानन्द आदि बहुत नामों का उल्लेख दार्शनिक साहित्य के इतिहास में दृष्टिगोचर होता है। उनमें से 'निम्बार्क' नाम ही अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि पहले इनका नाम भास्कर था। इसीलिए अनेक लोग प्राचीन भाष्यकार भेदाभेदवादी भास्कराचार्य से अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान करते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की कल्पना का कोई मूल नहीं है। भाष्यकर्त्ता भास्कर ईसवीय नवम शताब्दी में आविर्भूत हुए थे। वे रामानुज के पूर्ववर्त्ती थे; क्योंकि श्रीभाष्य आदि बहुत ग्रन्थों में उनका उल्लेख मिलता है। न्यायाचार्य उदयन ने स्वरचित न्यायकुसुमाञ्जलि में (द्वितीय स्तवक) भास्कर की नामोल्लेखपूर्वक समालोचना की है—"ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते।" उदयन का आविर्भावकाल ९०६ (तर्काम्बराङ्क) शकाब्द अथवा ९८४ ई० है। शंकर मतविमर्दक भास्कराचार्य शंकर के बाद और उदयन के पूर्व हुए थे। श्रीनिवास के लघुस्तवराज में 'नियमानन्द' नाम मिलता है, जसे—

"जय जयेङ्गितज्ञाता नियमानन्द आत्मवान्।
नियमेन वशे कुर्वन् भगवन्मार्गदर्शक:।"

नन्ददासकृत निम्बार्क-दशश्लोकी की टीका में निम्बार्क का नाम है—"भवतापप्रहर्त्तारं वाञ्छितार्थप्रवर्षिणम्। आश्रयं सुविहङ्गानां निम्बार्कं प्रभुमाश्रये॥" सुन्दरभट्ट ने सिद्धान्तसेतु में कहा है—"आद्याचार्यो भगवान् सम्प्रदायप्रवर्त्तको नियमानन्दाख्यो निम्बार्कापरनामा।" श्रीनिवासकृत वेदान्तकौस्तुभ में ये निम्बभास्कर के नाम से अभिहित हुए हैं।

वृद्धावस्था में भेद एवं मुक्तावस्था में अभेद अङ्गीकार करते हैं। निम्बार्क कहते हैं कि दोनों में भेदाभेद स्वाभाविक है। इसलिए वह वृद्धावस्था में जैसा है, मुक्तावस्था में भी वैसा ही वर्त्तमान रहता है।

कहा जाता है कि सनकादि महर्षियों को निगूढ़ ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए भगवान् हंसरूप में अवतीर्ण हुए थे। नारद हंसरूपी भगवान् के अनुचर हैं। निम्बार्क नारद के शिष्य और भगवान् के सुदर्शन-चक्र के अवतार थे। वे जयन्ती देवी के गर्भ से उत्पन्न अरुणि मुनि के औरस पुत्र थे। उनके शिष्य श्रीनिवास भगवान् के शङ्ख के अवतार थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्होंने निम्बार्क के वेदान्तपारिजातसौरभ नामक ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वेदान्तकौस्तुभ नाम से उत्कृष्ट टीका की रचना की थी। गुरुपरम्परा-क्रम में देवाचार्य श्रीनिवास से नीचे हैं। ये भगवान् के पद्म के अवतार एवं सिद्धान्त-जाह्नवी नामक ब्रह्मसूत्र-व्याख्या के रचयिता थे। सुन्दरभट्ट ने सिद्धान्तजाह्नवी पर सेतु नाम की एक उत्कृष्ट टीका रची थी। सुन्दरभट्ट के बाद प्रधान आचार्य का नाम काश्मीरी केशवभट्ट था। ये एक दिग्विजयी पण्डित थे एवं प्रस्थानत्रय के ऊपर ही बहुत-से पाण्डित्यपूर्ण निबन्धों की रचना कर इन्होंने विद्वत्समाज को चमत्कृत किया था। इनके गुरु का नाम मुकुन्द था। इनका प्रधान ग्रन्थ वेदान्त-कौस्तुभ की टीका 'कौस्तुभप्रभा' है। इसके अतिरिक्त 'तैत्तिरीयप्रकाशिका', 'तत्त्व-प्रकाशिका' आदि विविध ग्रन्थों में उनकी विद्वत्ता और असाधारण प्रतिभा का निदर्शन विद्यमान है। ब्रह्मचारी वनमाली मिश्र का 'वेदान्तसिद्धान्तसंग्रह' अथवा 'श्रुतिसिद्धान्त' सात अध्यायों का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

इस सम्प्रदाय का मूल प्रामाणिक ग्रन्थ निम्बार्क-विरचित 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक वेदान्तभाष्य है। 'शारीरकमीमांसावाक्यार्थ' नाम से भी बहुत जगह इस ग्रन्थ का उल्लेख दिखाई देता है। निम्बार्क की 'दशश्लोकी' में संक्षिप्तरूप से ज्ञेय पञ्चविध पदार्थों का निरूपण है। उपास्य का स्वरूप, उपासक का स्वरूप, कृपा का फल, भक्तिरस तथा प्राप्ति के विरोधियों का स्वरूप—यह अर्थपञ्चक अति सुन्दर-सहजरूप से दस श्लोकों में आलोचित है। 'सविशेषनिर्विशेषश्रीकृष्णस्तवराज' भी स्वयं निम्बार्कविरचित २५ श्लोकों का एक स्तोत्र है। 'श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी' नाम से इसकी एक टीका प्रकाशित हुई है।

निम्बार्क के मतानुसार चित्, अचित् और ब्रह्म भेद से तीन प्रकार के तत्त्व हैं। उनमें चित् तत्त्व ही जीवात्मा है—यह देहादि जड़ पदार्थ-समूह से पृथक् ज्ञानरूप होकर भी नित्य ज्ञान का आश्रय अर्थात् नित्य ज्ञाता, अणुपरिमाण, अहंप्रतीति का विषय एवं कर्त्तृत्व-सम्पन्न है। जीव प्रतिशरीर में विभिन्न तथा बन्धन और मुक्ति की योग्यता से सम्पन्न है। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम जीवमात्र के ही अन्तरात्मा हैं, जीवमात्र ही उनका व्याप्य (स्वांशरूप), उनका आधेय तथा सर्वदा स्थिति आदि सभी विषयों में स्वभावतः उनके अधीन है। ईश्वर प्रेरक हैं और जीव प्रेर्यमाण है। नित्य, बद्ध और मुक्त इस प्रकार तीन प्रकार के जीवों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। नित्य जीव सर्वदा ही संसार-दुःख से मुक्त, स्वभावतः भगवदनुभावित तथा भगवत्स्वरूप, गुण आदि के विषय में अनुभवानन्दसम्पन्न हैं। समाधिनिष्ठ योगियों को भी उस

प्रकार का अनुभवानन्द होता है, यह सत्य है, परन्तु वह नित्य जीवों के अनुभव के तुल्य सार्वकालिक नहीं होता और स्वाभाविक भी नहीं होता। प्रकृति के सम्बन्ध से ही दुःख आदि का उद्रेक होता है—देह आदि दुःख आदि के साधन हैं। इस सम्बन्ध का ही नाम बन्धन है, इसका कारण है अनादि कर्मरूपा अविद्या। जब जीव इस बन्धन को काटकर बाहर निकल जाता है तभी वह मुक्त जीव कहा जाता है। मुक्ति दो प्रकार की है, इसलिए मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं। यद्यपि वेदान्तकौस्तुभादि ग्रन्थों में कार्य-कारण-प्रकृतिनिवृत्तिपूर्वक भगवद्भावापत्ति ही मुक्ति कही गई है, तथापि परवर्ती किसी ग्रन्थ में प्रत्यगात्मा की स्वरूप-प्राप्ति भी मुक्ति मानी गई है। यह कहना अनावश्यक है कि यह हमारे पूर्वालोचित कैवल्य का ही नामान्तर है। इस अवस्था में अर्थात् विश्वात्मक भगवद्भाव की प्राप्ति जबतक न हो तबतक परमानन्द का विकास नहीं होता। जो लोग अनादि कर्मजन्य देवादि देह में और तत्सम्बद्ध वस्तु में आत्मरूप से अथवा आत्मीय रूप से अभिमान करते हैं, वे बद्ध जीव हैं। उनमें अवस्था का तारतम्य है, इसलिए कोई बुभुक्षु और कोई मुमुक्षु देखे जाते हैं। सद्गुरु का आश्रय लेकर उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने से भगवान् की अहेतुक कृपा का विकास होता है, जिसके प्रभाव से जीव परामुक्ति-लाभ करते हैं। तब जीव अर्चिरादि मार्ग में प्रवेश पाकर प्रकृति-मण्डल से ऊपर परमपद अथवा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।

अचित् तत्त्व तीन प्रकार का है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। त्रिगुण का आश्रयभूत द्रव्य प्राकृत है। यह कारणरूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य है। प्रधान, माया, अव्यक्त आदि कारणावस्था के ही नामान्तर हैं और महत्तत्त्व से ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् कार्यावस्था के अन्तर्गत है। अचित् की सत्ता भगवत्सापेक्ष है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रकृति नित्यकालाधीन और परिणामादि विकारशील है। यह कर्मों का क्षेत्र है और परार्थक है। सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से प्रकृति क्षेत्रज्ञ आत्मा के देहेन्द्रिय, मनोबुद्धि आदि के रूप में परिणत होकर जीव का बन्धन करती है तथा मोक्ष में बाधक होती है। अचित् तत्त्व का अप्राकृत अंश विशुद्ध सत्त्व है। वह अचेतन होने पर भी प्रकृति और काल से अत्यन्त भिन्न है और सूर्य के प्रकृतिमण्डल के बाहर विराजमान रहता है। नित्यविभूति, विष्णुपद, परमव्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि इसी के नामान्तर हैं। यह भगवान् के अनादि संकल्पवश उनके तथा उनके नित्य और मुक्त भक्तों के भोग्य; भोगोपकरण और स्थान के रूप में विविध रूप धारण करता है। यह कालातीत होने से परिणाम आदि विकारों से रहित है[1]। काल नित्य और विभु है एवं भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार का असाधारण कारण है। लौकिक ज्ञानमात्र में ही कालज्ञान अनुप्रविष्ट रहता

१. "कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः।" नित्य विभूतियाँ अपरिच्छिन्न हैं—फिर भी लीला के लिए भगवान् के संकल्प से वे प्राकृतदेशवर्ती होकर अवतारविभूति में परिणत होती हैं। तब वे परिच्छिन्नवत् प्रतीत होने पर भी वास्तव में अपरिच्छिन्न हैं। क्योंकि तब भी उनमें अचिन्त्य शक्ति का सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

है। यह सृष्टि आदि का सहकारी एवं प्राकृत वस्तुमात्र का नियामक है, किन्तु भगवान् के अधीन है।

निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म जगत्कर्तृत्व आदि गुणों का आश्रय है। श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव ही परब्रह्म हैं। ये दोषहीन, कल्याणगुणों के आकर, सत्य और ज्ञानस्वरूप, अनन्त और सच्चिदानन्दविग्रह हैं। इनकी शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। ये एक ओर जैसे गोपीकान्त हैं, दूसरी ओर वैसे ही रमानाथ हैं। गोपी प्रेम की अधिष्ठात्री है, रमा या लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है। इसलिए भगवान् जैसे ऐश्वर्य के आधार हैं, वैसे ही माधुर्य के भी आश्रय हैं। पुराणादि में जिनका सत्यभामा नाम से वर्णन किया गया है, वे ही रमा अथवा भूशक्ति हैं। भगवान् मुक्तगम्य, योगिध्येय और भक्तवत्सल हैं। वे ब्रह्मादि देवगणों से अर्चित, कर्म-फलप्रदाता और कृपालभ्य हैं एवं स्वतन्त्रसत्त्वयुक्त, यज्ञादि के भोक्ता और मुमुक्षुओं के एकमात्र जिज्ञास्य हैं। उनके स्वरूप के तुल्य उनकी देह भी अनन्त असंख्य कल्याणगुणों का आधार है। निरतिशय सौन्दर्य, मृदुलता, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि सद्‌गुण नित्य उनकी देह को विभूषित किये रहते हैं। उनकी देह में इन्द्रिय आदि के विभाग की कल्पना करना अनावश्यक है; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् और एकरस हैं। जो मुक्त पुरुष भगवत्साम्य प्राप्त करते हैं, उनका और नित्य गुणों का रूप भी उस प्रकार के गुणों से विभूषित है। इन सब देहों का संगठन भगवान् की अनादि और अनन्त इच्छा से सिद्ध है, इसलिए स्वाभाविक है। आत्मा जैसे नित्य है, यह देह भी वैसे ही नित्य है। पर बन्धन-अवस्था में जीव की नित्यदेह आवृत रहती है, किन्तु जब जीव भगवत्प्रसाद से साक्षात्कार प्राप्त कर प्रकृति के सम्बन्ध से छुटकारा पाता है तब वह अपनी नित्यसिद्धदेह से युक्त होता है। ये देह निर्विकार हैं, अतः जन्य नहीं हैं। उत्सव के समय जैसे भृत्यवर्ग को राजा से पूर्वसिद्ध वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं, वैसे ही प्रकृति सें बाहर निकलकर भगवद्‌राज्य में प्रवेश करते समय पूर्वसिद्ध, नित्य, निर्विकार भगवत्सेवा करणयोग्य देह भगवान् जीव को प्रदान करते हैं।

ब्रह्म चित् और अचित् से नित्य विलक्षण है और चित् और अचित् दोनों तत्त्व सदा ही ब्रह्मात्मक हैं। अणु तथा अल्पज्ञ जीव वृद्धावस्था में भी व्यापक, अच्युतस्वभाव, सर्वज्ञ ब्रह्मपदार्थ से भिन्न होकर भी ब्रह्मांश होने के कारण उससे अभिन्न है। वृक्ष से पत्ते, प्रदीप से प्रभा, गुणी से गुण तथा प्राण से इन्द्रियाँ जैसे पृथक् रूप से रहने अथवा कार्य करने में समर्थ नहीं हैं, एवं इसी कारण से वे वृक्ष आदि के अंश और वृक्षादि से अभिन्न हैं, वैसे ही मुक्ति में भी पृथक् स्थिति आदि के अभाववश अभेद होने पर भी जीव में भेद रहता है। श्रुति ने भी 'स्वेन रूपेण सम्पद्यते' कहकर इसी बात को दरसाया है। परस्पर भेद न रहने पर दोनों की स्वरूपहानि होना अनिवार्य हो जाता है। मुक्त अवस्था में प्रत्यगात्मा परमात्मा से अविभक्तरूप से अपना अनुभव करता रहता है। परमात्मा जीव का स्वांशी है, जीव उनका स्वांश है। इसीलिए जीव स्वभावतः ईश्वरात्मक है और

ईश्वर से अविभाज्य है। यद्यपि स्वरूपतः ब्रह्म और जीव में स्वाभाविक विभाग है, तथापि दोनों में पूर्वोक्त प्रकार का विभागसहिष्णु स्वाभाविक अविभाग भी वर्त्तमान है। दोनों के स्वरूप का अविभाग अस्वीकार करना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं, जिनसे स्पष्टतः ज्ञात हो सकता है कि अचेतन पदार्थ का भी ब्रह्म के साथ स्वरूपगत अविभाग है। अतएव विभागसहिष्णु अविभाग ही जीव और ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध है, यही श्रुति का अभिप्राय है।

ब्रह्म ही जगत् के उपादान और निमित्त हैं। वे कृतिमान् (=कर्त्ता) हैं, फिर वे ही कृति के विषय (=कर्म) हैं, इसीलिए वे अभिन्ननिमित्तोपादान हैं। वे स्वाभाविक सूक्ष्मावस्थापन्न शक्ति तथा तत्तद्गत सद्रूप कार्य को स्थूलरूप में प्रकाशित कर जैसे जगत् के उपादान कारण हैं वैसे ही जीव के साथ उसके स्वकृत पूर्व कर्मों के फल और उसके भोग-साधनों की योजना कर जगत् के निमित्त कारण भी हैं ही। जीव अनादि कर्मसंस्कार का वशीभूत है, उसका ज्ञान अत्यन्त संकुचित होने से वह भोग-स्मरण करने में समर्थ नहीं है, इसलिए कर्मफलभोग के उपयोगी ज्ञान को प्रकट कर फल और उसके भोग-साधनों के साथ जीव को योजित करना ही ब्रह्म का निमित्तत्व है[1]।

परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अच्युतविभव हैं। वे 'स्वात्मक और स्वाधिष्ठित' निजशक्ति को विक्षिप्त कर जगत् के आकार में अपनी आत्मा को परिणत करते हैं। उनकी स्वभावसिद्ध अनन्त शक्तियाँ हैं। इन सब शक्तियों के विक्षेप से ही सृष्टि आदि व्यापार सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार सब शक्तियों का विक्षेप ही परिणाम का स्वरूप है। केशव काश्मीरी कहते हैं कि परिणाम दो प्रकार का है। पहला है स्वरूप-परिणाम और दूसरा है शक्तिविक्षेपात्मक परिणाम। सांख्याचार्यगण ब्रह्मानधिष्ठित स्वतन्त्र प्रकृति का स्वरूप-परिणाम मानते हैं, इसलिए स्वरूप-परिणाम सांख्य-सिद्धान्त है। किन्तु उपनिषद्-मतावलम्बी वेदान्ती जिस प्रकार का परिणाम मानते हैं, उसमें स्वरूप की प्रच्युति न होकर भी कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। आकाश से शब्द की, ऊर्णनाभि (मकड़ी) से तन्तु (जाले) की, मन से कामादि की और समुद्र से लहरों की उत्पत्ति शक्तिविक्षेपरूप परिणाम का स्थूल दृष्टान्त है। आकाशादि की शक्ति स्वाभाविक होने पर भी परिमित है, किन्तु स्वभावसिद्ध ब्रह्मशक्ति अचिन्त्य, अनन्त और अमेय है। वे निर्विकार और अप्रच्युत रहकर भी जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य कर सकते हैं, यही उनका वैशिष्ट्य है। शास्त्र के बहुत स्थलों पर वर्णित है कि भगवान् ने प्रधान और पुरुष में प्रविष्ट होकर स्वेच्छापूर्वक उन्हें क्षुब्ध किया। इन सब स्थलों में क्षोभ शब्द से शक्ति का विक्षेप ही जानना चाहिए। यदि परिणाम का ऐसा स्वरूप

---

१. "परापरादिशब्दाभिधेयानां स्वस्वाभाविकीनां सूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गत-सद्रूपकार्याणां च स्थूलतया प्रकाशकत्वमुपादानत्वम्। स्वस्वानादिकर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसंकुचितभोगस्मरणार्हज्ञानप्रकाशनेन तत्तत्कर्मफलतत्तद्योग्यसाधनैः सह योजयितृत्वं निमित्तत्वम्।"—वेदान्तकौस्तुभ

न माना जाय तो ब्रह्म के सर्वज्ञत्व और शास्त्रों में निर्दिष्ट अन्यान्य स्वाभाविक धर्मों की संगति नहीं बैठ सकेगी। और, विवर्त्तवाद में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों ही असम्भव हो पड़ते हैं; क्योंकि कार्यमात्र ही यदि भ्रमकल्पित हो तो किसी के भी ज्ञान की सम्भावना न रहेगी। विशेषतः भ्रान्ति-विषयक ज्ञान भी भ्रमात्मक ही होगा। इसलिए श्रुतिवाक्य को भी भ्रान्त पुरुष की उक्ति के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। विवर्त्तवाद मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान का दृष्टान्त पाने का भी कोई उपाय नहीं। रज्जु के ज्ञान से सर्प का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। यदि कार्य-जगत् को ब्रह्म के विवर्त्तरूप से मिथ्या न मानकर सत्यरूप भी माना जाय तो भी अद्वैतवाद शिथिल हो पड़ेगा। इसलिए निम्बार्क के मतानुसार विवर्त्तवाद सर्वथा 'असंगत' है।

ब्रह्म-सम्प्रदाय

(माध्व-मत—द्वैत)

निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो-चार बातें ऊपर कही गई हैं। अब हम प्रसंगतः मध्व-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में संक्षेपतः कुछ आलोचना करेंगे। भारतीय दर्शन के इतिहास में मध्वाचार्य का स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत नीचे नहीं है। शङ्कराचार्य ने जैसे अपने अद्वैतवाद से सब प्रकार के द्वैतभाव को हटाने का प्रयत्न किया था वैसे ही मध्वाचार्य ने भी स्वप्रचारित द्वैतसिद्धान्त को सब प्रकार की अद्वैतगन्ध से मुक्त करने का प्रयास किया था[1]। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि दर्शन के इतिहास में मध्वस्वामी का एक उच्च स्थान है।

मध्वाचार्य का पितृप्रदत्त नाम वासुदेव था, परन्तु विद्वत्समाज में वे आनन्द-तीर्थ और पूर्णप्रज्ञ—इन दो नामों से परिचित थे। ४३०० कल्यब्द में अर्थात् ११९९ ई०[2] में मध्वगेह नामक ब्राह्मण से वेदवती अथवा वेदविद्या नामक जननी के

---

१. आचार्य शंकर ब्रह्म में स्वगत-भेद तक स्वीकार नहीं करते। उनके मत में भेदमात्र ही माया-कल्पित है, इसलिए मिथ्या है—पारमार्थिक नहीं है। मध्वसिद्धान्त इसी को स्वाभाविक प्रतिक्रिया-मात्र है। इसलिए इस मत में भेद नित्य और पारमार्थिक रूप से परिगणित हो, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। जब मध्वाचार्य ने जन्म-ग्रहण किया, तब उस अञ्चल में इक्कीस प्रकार के शास्त्रविरुद्ध मत प्रचलित थे। शाङ्कर मत उन्हीं में अन्यतम था। नारायण ने स्वरचित मध्वविजय में उस समय मायावाद की प्रबलता के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ लिखी हैं।

२. आचार्य के स्वरचित 'भारततात्पर्यनिर्णय' में उनका आविर्भाव-काल ऐसा ही मिलता है। श्रीकूर्म्म में जो शासन-लिपि प्राप्त हुई है उससे सम्पादक श्रीयुत कृष्णशास्त्री जी अनुमान करते हैं कि १२३८ ई० में आचार्य का जन्म हुआ था। अभी भी वह मत सर्ववादि-सम्मतरूप से गृहीत नहीं हुआ है। इस प्रसङ्ग में एक बात ध्यान देने योग्य प्रतीत हो रही है। प्रसिद्धि है कि एक समय विद्यारण्य स्वामी (पञ्चदशी आदि ग्रन्थों के रचयिता) एवं अक्षोभ्य मुनि का शास्त्रार्थ हुआ था। विद्यारण्य कट्टर अद्वैतवादी थे और अक्षोभ्य

गर्भ में दक्षिण-कनारा देशस्थित उदीपी जिले के अन्तर्गत विल्वग्राम में श्रीमान् मध्वाचार्य ने जन्म ग्रहण किया था। यह स्थान प्रसिद्ध शङ्करमठ शृङ्गेरी से लगभग ४० मील पश्चिम है। आचार्य बाल्यकाल से ही दैहिक व्यायाम में बड़े पटु थे। परन्तु दैहिक अथवा मानसिक उत्कर्ष उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। उन्होंने जिस लोकोत्तर अध्यात्मशक्ति को लेकर जन्म ग्रहण किया था, उसी का अनुशीलन और प्रचार करना उनके जीवन का व्रत रहा। इसीलिए वे अति अल्प वय में ही संन्यास ग्रहण करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठे थे। परन्तु माता-पिता के एकमात्र पुत्र होने के कारण (क्योंकि दीर्घकाल पहले ही उनके दो अग्रज भ्राता परलोक-गमन कर चुके थे) उनके सनिर्वन्ध अनुरोध से वे संन्यास-ग्रहण नहीं कर सके। उसके अनन्तर जब उनके कनिष्ठ भ्राता ने जन्म ग्रहण किया तब अधिक काल विलम्ब न कर उदीपी के अनन्तेश्वर मन्दिर में संन्यासी अच्युतप्रेक्ष के निकट वे संन्यास-दीक्षा में दीक्षित हुए। उसी समय से उनकी पूर्णप्रज्ञ के नाम से प्रसिद्धि हुई। यह घटना उनकी २५ वर्ष की अवस्था में हुई थी, यह विशेषज्ञों का अनुमान है। (द्रष्टव्य—कृष्णस्वामी अय्यर-विरचित 'Sri Madhva and Madhvaism, पृ० २१-२२)। इसके पश्चात् उन्होंने आचार्याभिषेक प्राप्त कर आनन्दतीर्थ नाम ग्रहण किया। उसके बाद ही वे दिग्विजय करने के लिए निकल पड़े। पहले विष्णुमङ्गल नामक नगर में उन्होंने कुछ योगविभूतियों का प्रदर्शन किया था—जैसे अमित भोजन करना, अत्यल्प खाद्य पदार्थों से बहुत लोगों को तृप्तिपूर्वक भोजन कराना इत्यादि। तदुपरान्त त्रिवेन्द्रम् में उस समय के शृङ्गेरी-मठाध्यक्ष के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। विद्याशङ्कर १२२८ ई० में शृङ्गेरी-मठाधीश के आसन पर आरूढ़ हुए थे। सम्भवतः इसके कुछ अनन्तर ही यह शास्त्रार्थ-विचार हुआ होगा। प्रसिद्धि है कि शास्त्रार्थ-विचार में मध्वाचार्य पराभूत और अपमानित हुए थे। इस पराजय की स्मृति चिरकाल तक आचार्य के मन में जागरूक रही। रामेश्वर में भी उनका शास्त्रार्थ हुआ था। आचार्य रामेश्वर से श्रीरङ्गम् होते हुए उदीपी लौटे। उनका उत्तर-भारत-भ्रमण इसके बाद की घटना

मध्व-सम्प्रदाय के आचार्य थे, इसलिए घोरतर द्वैतवादी थे। इस विचार में मध्यस्थ होने के लिए श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध दार्शनिकाचार्य वेदान्तदेशिक बुलाये गये थे। वेदान्तदेशिक के सभा में उपस्थित होने में सहमत न होने से उभय पक्ष ने अपना वक्तव्य उनके निकट लिखकर भिजवाया। वेदान्तदेशिक ने प्रत्युत्तर में अपना मत सूचित किया। अद्वैतवादी कहते हैं कि 'अक्षोभ्यं क्षोभयामास विद्यारण्यो महामुनिः।' इस श्लोक द्वारा वेदान्तदेशिक ने अद्वैत पक्ष की ही जयघोषणा की थी। किन्तु द्वैतवादी कहते हैं कि देशिक का उत्तर-वाक्य इस प्रकार का था—'असिना तत्वमसिना परजीवप्रभेदिना। विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत्॥' यह उक्ति द्वैतपक्ष की समर्थक है, यह कहना बेकार है। जो भी हो, इस किंवदन्ती के अनुसार अक्षोभ्यमुनि विद्यारण्य स्वामी और वेदान्तदेशिक के समकालीन थे, यह ज्ञात होता है। यदि अक्षोभ्यमुनि अक्षोभ्यतीर्थ से अभिन्न हों तो वे उडुपी ग्रामस्थित मूल मध्वमठ अथवा उत्तरादी मठ की गुरु-परम्परा-सूची में आदि आचार्य से क्रमसंख्या में पंचम थे।

है। उस समय देश वनाकीर्ण था, विभिन्न स्थानों में दस्यु तथा वन्य जन्तुओं के उपद्रव व्याप्त थे, इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से विघ्न थे। इन सब विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए तथा म्लेच्छ और विरुद्धमतावलम्बी राजाओं को प्रबोधित करते हुए आचार्य गङ्गाद्वार या हरिद्वार में उपस्थित हुए। वहाँ कुछ समय तक उपवास, मौनावलम्बन और ध्यान-अभ्यास करने के अनन्तर व्यासासन जाने के उद्देश्य से उत्तराखण्ड के किसी निभृत प्रदेश में अवस्थित हुए। वदरिकाश्रम अथवा उसके निकटवर्त्ती किसी रमणीय स्थान में कुछ दिन तपश्चर्या करने के वाद व्यासदेव उनके निकट प्रत्यक्षरूप में आविर्भूत हुए। उनके आदेश से वे हरिद्वार लौट आये और विष्णु भगवान् के माहात्म्यख्यापन तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य-रचना के कार्य में व्यापृत हुए।

मध्वाचार्य का आसन उनके अनन्तर शोभनभट्ट ने पद्मनाभतीर्थ नाम ग्रहण कर शोभित किया। उनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है—नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ, अक्षोभ्यतीर्थ, जयतीर्थ, विद्याधिराजतीर्थ, राजेन्द्रतीर्थ, विजयध्वजतीर्थ इत्यादि।

प्रसिद्धि है कि मध्वाचार्य वायु के अवतार थे। उन्होंने बहुत ग्रन्थों की रचना कर मायावाद-खण्डन, विष्णुप्राधान्य-प्रचार तथा द्वैतसिद्धान्त-स्थापना का प्रयत्न किया था। उनके ब्रह्मसूत्रभाष्य की चर्चा पहले की जा चुकी है। गद्यभाष्य के सिवा ब्रह्मसूत्र के ऊपर उनका एक अणुव्याख्यान और एक अणुभाष्य है। ये दोनों ग्रन्थ श्लोकनिबद्ध रचनाएँ हैं। ऋग्भाष्य, महाभारततात्पर्य-निर्णय, गीतातात्पर्य-निर्णय, गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, भागवततात्पर्य-निर्णय, तन्त्रसार, श्रीकृष्णामृत-महार्णव, कर्मनिर्णय, विष्णुतत्त्व-विनिर्णय, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावाद-खण्डन, प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वोद्योत आदि ग्रन्थों में उनकी अगाध विद्या और गम्भीर भगवद्भक्ति का निदर्शन प्रत्येक पंक्ति में देदीप्यमान है।

उनके एक शिष्य—त्रिविक्रम (गृहस्थ) ने ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक एक टीका की रचना की थी। दूसरे शिष्य पद्मनाभतीर्थ ने उनके अणुव्याख्यान पर 'सन्न्यायरत्नावली' नाम से एक व्याख्या रची थी। त्रिविक्रम के पुत्र नारायण ने मणिमञ्जरी और मध्वविजय—इन दो ग्रन्थों द्वारा शङ्कराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान् नामक दैत्य का अवतार और मध्वाचार्य को वायु का अवतार[1] सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों ग्रन्थ साम्प्रदायिक विद्वेषपूर्ण तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपेक्षणीय हैं। परन्तु प्रत्नतत्त्व की गवेषणा में किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अक्षोभ्यतीर्थ के शिष्य जयतीर्थ एक अद्वितीय पण्डित थे। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थावली द्वैतमतजिज्ञासु के लिए अमूल्य रत्नस्वरूप है। उनके न्यायसुधा,

---

१. वायु के त्रिविध रूपों की बात 'यस्य वायोदेवस्य वलित्था' इत्यादि श्रुति में उपलब्ध होती है। यथा—"यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने रूपाणि दिव्यान्यलं वटतद्दर्शतमित्थमेव (?) निहितं देवस्य भर्गो महत्। वायो रामवचोनयं प्रथमकं पार्थो द्वितीयं वपुर्मध्वो यत्तत् तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे।" इससे ज्ञात होता है कि वायु के प्रथम रूप हनूमान्, द्वितीय रूप भीम एवं तृतीय रूप मध्वाचार्य हैं।

वेदान्तभाष्य की टीका तत्त्वप्रकाशिका, ऋग्भाष्य की टीका वादावली, तत्त्वोद्योत-टीका, गीतातात्पर्यनिर्णय-व्याख्या, न्यायदीपिका आदि गम्भीर दार्शनिक विचारपूर्ण निबन्ध हैं।

ब्रह्मण्यतीर्थ के शिष्य व्यासतीर्थ ने मध्वप्रणीत छान्दोग्य, वृहदारण्यक, आथर्वण, माण्डूक्य, कठ, तलवकार और तैत्तिरीय उपनिषद्भाष्य की विवृति की रचना की थी। परन्तु उनकी सर्वप्रधान कीर्त्ति जयतीर्थकृत 'तत्त्वप्रकाशिका' के ऊपर 'तात्पर्य-चन्द्रिका' नामक टीका है। इस ग्रन्थ में उनके गम्भीर पाण्डित्य का परिचय मिलता है। त्रिविक्रम का तत्त्वप्रदीप, पद्मनाभ की सन्न्यायरत्नावली, जयतीर्थ की न्यायसुधा प्रभृति ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ अस्पष्टता थी उन सब स्थलों को उन्होंने यथासम्भव स्पष्ट और विशद रूप से समझाने की चेष्टा की है।

व्यासतीर्थ ने अपने विद्यागुरु लक्ष्मीनारायण का नामोल्लेख मङ्गलाचरण-श्लोकावली में ही किया है। इस चन्द्रिका के ऊपर सुधीन्द्र-शिष्य राघवेन्द्रयति-विरचित प्रकाश नामक एक टीका उपलब्ध होती है। उसमें चन्द्रिका के गूढार्थ को प्रकाशित कर मध्वसिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रकाश को छोड़कर राघव ने और भी बहुत-से ग्रन्थों का संकलन किया था, जिनमें न्यायसुधा-टीका-परिमल, वादावली-टीका, तत्त्वोद्योतटीका-विवृति तथा तत्त्व-प्रकाशिका-टीका भाव-दीप प्रधान हैं। उनकी रचित तत्त्वमञ्जरी ब्रह्मसूत्रीय मध्वभाष्य का सारसंग्रह है एवं मन्त्रार्थमञ्जरी मध्वाचार्य के ऋग्भाष्योक्त अर्थ का संक्षिप्त वर्णन-मात्र है। मध्वगुरु ने ऋग्वेद के १००१ सूक्तों में से ४० सूक्तों की अग्न्यादिपक्षीय, विष्णुपक्षीय तथा अध्यात्मपक्षीय व्याख्याएँ की थीं। राघवेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में उन व्याख्याओं के तात्पर्य का संकलन किया है। आचार्य के ईशावास्य और माण्डूक्य-उपनिषद्-भाष्यों के ऊपर भी उनका विवरण पाया जाता है।

रघुवर्यतीर्थ के शिष्य रघूत्तम द्वारा विरचित परब्रह्मप्रकाशिका आचार्य के बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य की टीका है। व्यासतीर्थ के शिष्य वेदेशभिक्षु ने जयतीर्थ-निर्मित तत्त्वोद्योत-टीका पर एक उत्कृष्ट व्याख्या की रचना की थी। इसके सिवा आचार्य के छान्दोग्य, ऐतरेय, काठक और तलवकार उपनिषद्-भाष्यों के ऊपर भी उनका विवरण मिलता है। उनमें प्रथम ग्रन्थ पदार्थकौमुदी के नाम से प्रसिद्ध है। भेदोज्जीवन, न्यायामृत, कर्कताण्डव आदि ग्रन्थों के रचयिता व्यासराज स्वामी ईसवीय सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। समग्र दार्शनिक साहित्य में द्वैतसिद्धान्त के परिपोषक उपपत्तिप्रधान विचारग्रन्थों में न्यायामृत का स्थान बहुत ही अधिक ऊँचा है। श्रीमत् शङ्कराचार्य द्वारा प्रवर्त्तित निर्विशेषाद्वैतवाद एवं मायावाद में जितने प्रकार के दोष उद्भावित हो सकते हैं, उनमें प्रत्येक का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कर व्यासराज ने द्वैतदर्शन को गौरवान्वित किया था। द्वैत तथा अद्वैत वेदान्त जिज्ञासुओं के लिए इस ग्रन्थ का अनुशीलन अत्यावश्यक है। एक समय इसकी इतनी अधिक प्रतिष्ठा हुई थी कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती को अद्वैतवाद की मर्यादा के संरक्षण के लिए इसके विरुद्ध लेखनी उठानी पड़ी थी। उनकी अद्वैतसिद्धि

इसी का परिणत फलस्वरूप है। व्यासरामाचार्य की न्यायामृततरङ्गिणी, न्यायामृत की टीका एवं एक तरह से अद्वैतसिद्धि का खण्डन है। विट्ठलाचार्य के पुत्र तथा तीर्थाचार्य के शिष्य श्रीनिवास ने भी न्यायामृत की एक टीका लिखी थी। उनके अन्यान्य ग्रन्थों में आचार्यकृत माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषद्भाष्य की विवृति तथा जयतीर्थ-रचित तत्त्वोद्योत टीका की और गीतातात्पर्यनिर्णय-टीका न्यायदीपिका की व्याख्या (किरणावली) प्रधान हैं। श्रीमद्भागवत के ऊपर विजयध्वजतीर्थ-विरचित पदरत्नावली नाम की जो टीका है, वही मध्वसिद्धान्तानुगत प्रधान व्याख्या है। विजयध्वज के गुरु राजेन्द्रतीर्थ का जीवितकाल १२५४ शकाब्द अथवा १३३२ ई० है। इसलिए विजयध्वज का समय ईसवीय चतुर्दश शती का मध्यभाग माना जा सकता है।[1]

मध्वाचार्य कट्टर द्वैतवादी थे। उनके मत में भेद स्वाभाविक और नित्य है। शाङ्करवेदान्तियों के उपाधि और माया-विषयक सिद्धान्त का उन्होंने बहुत स्थलों पर शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियों का प्रदर्शन करते हुए खण्डन करने का प्रयास किया है। उनके मत से यह स्वाभाविक भेद पाँच प्रकार का है। इस पञ्चविध भेद का शास्त्रीय परिभाषा में प्रपञ्च शब्द से निर्देश किया गया है। यह अनादि और सत्य है—भ्रान्तिकल्पित नहीं है। ईश्वर जीव और जड़ पदार्थों से भिन्न हैं, जीव जड़ पदार्थ और अन्य जीवों से भिन्न है एवं एक जड़ पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ से भिन्न है।[2] जबतक यह तात्त्विक भेदबोध उदित नहीं होता तबतक मुक्ति की आशा बहुत दूर की बात है। अभेदज्ञान से ही बन्धन हुआ है, अतएव इस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति हुए बिना बन्धन से छुटकारा पाने की सम्भावना नहीं है। भगवान् के सभी गुण जैसे सत्य हैं, वैसे ही जीवेश्वर आदि का भेद भी सत्य है जगत् सत्य है एवं पञ्चविध भेद-युक्त जगत् का प्रवाह भी सत्य है। नित्यवस्तुगत भेद नित्य और अनित्यवस्तुगत भेद अनित्य है।

मध्व-मत में पदार्थ दस प्रकार के हैं। जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। स्थूल दृष्टि से यह पदार्थ-विभाग कई अंशों में वैशेषिक और मीमांसकों के सम्मत पदार्थ-विभाग के अनुरूप प्रतीत होता है। किन्तु विशेष आलोचना करने पर ज्ञात होगा कि मध्व-सिद्धान्त इस विषय में अन्य दर्शनों के पदचिह्नों का अनुसरण नहीं करता। इसका समर्थन तथा तुल्य मत अन्य उपलब्ध नहीं होता। उद्दिष्ट पदार्थ-राशि में से द्रव्य बीस विभागों में विभक्त है; जैसे—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, त्रिगुण, महत्तत्त्व, अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुण; रूप, रस आदि तथा सौन्दर्य, धैर्य, शौर्य आदि के भेद से अनेक

---

१. जयतीर्थ की मृत्यु का संवत्सर १२६८ ई० है, ऐसा अनेक लोग अनुमान करते हैं। यदि यह सत्य हो तो राजेन्द्रतीर्थ के समय के साथ उसका कोई सामंजस्य नहीं रहता।

१. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा। जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः। सोऽयं सत्यो ह्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥
—तत्त्वनिर्णय

प्रकार के हैं। कर्मविहित, निषिद्ध और उदासीन भेद से तीन प्रकार के हैं। जो साक्षात् अथवा परम्परा से पुण्य या पाप का असाधारण कारण है, वही कर्म है। वैशेषिकों द्वारा उक्त उत्क्षेपण आदि कर्म भी परम्परा-क्रम से धर्म अथवा अधर्म उत्पन्न करते हैं—'निष्फल कर्म नहीं करना चाहिए।' ('न कुर्यात् निष्फलं कर्म') इस श्रुतिवाक्य से प्रतीत होता है कि निष्फल कर्म पापजनक है। विहित कर्म काम्य और अकाम्य भेद से दो प्रकार का है। जो फलेच्छापूर्वक किया जाता है वह काम्य है एवं ईश्वर-प्रसन्नता के लिए किया गया कर्म अकाम्य है। ब्रह्मादि सभी जीवों का काम्य कर्म है। पर ब्रह्मा, वायु, सरस्वती और भारती को भगवद्-ज्ञान और भक्ति के सिवा और कोई कामना नहीं है। ब्रह्मादि का भी काम्य कर्म है, इसमें प्रमाण यह है कि ब्रह्मा का सत्यलोकाधिपत्य तथा वायु की वायुलोक-प्राप्ति आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं। प्रारब्ध कर्म काम्य के अन्तर्गत है, वह निवृत्त कर्म नहीं है। निवृत्त कर्म की सार्थकता अपरोक्ष ज्ञान के उदय में है, लोकादि-ऐश्वर्य-लाभ में नहीं। पर ब्रह्मादि की कामना अन्य पुरुषों की कामना के तुल्य केवल अपने भोग के लिए नहीं है। सत्यलोकादि के आधिपत्य द्वारा जगत् की सृष्टि आदि का सम्पादन करते हुए भगवान् को प्रसन्न करना ही उनकी कामना का स्वरूप है। ब्रह्मादि देवपद की प्राप्ति कर्म-फल है, यह भागवत में भी प्रतिपादित है। भगवान् के आदेश से ही भीम ने काम्यास्त्र स्वीकार किया था। आधिकारिक देवताओं की स्वाधिकार-कामना का फल भगवत्प्रसन्नता ही है। एकमात्र भगवान् का काम्य कर्म नहीं है। पर कृष्ण (और रुक्मिणी) ने रुद्र की तपस्या की थी—ऐसा जो सुना जाता है, वह लीलावंश एवं दैत्यों के मोहन के लिए है। उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। ऋषभ और नारायणादि अवतारों में जो तपश्चर्या आदि का वर्णन मिलता है उसका भी एकमात्र उद्देश्य विपक्ष-मोहन और सज्जन-शिक्षा है। रुद्र आदि के कर्म निषिद्ध कर्म के अन्तर्गत हैं।[1] उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक है—यह बहुत प्रकार का है। यह चेतन और अचेतन—दोनों का धर्म है। नित्य और अनित्य-भेद से भी कर्म दो भागों में विभक्त किया गया है। नित्य कर्म ईश्वरादि चेतनों का स्वरूपभूत है। सृष्टि, संहार आदि कर्म जैसे ईश्वर के स्वरूपभूत हैं। गमनादि कर्म भी वैसे ही जीव के स्वरूपभूत हैं—उनसे अतिरिक्त नहीं हैं। इसीलिए इस प्रकार के कर्म नित्य हैं। पर जीव के स्वरूपभूत कर्म बन्धनावस्था में अभिव्यक्त नहीं होते, यह विशेष है। कर्म की नित्यता अनेकों दार्शनिक नहीं मानते। वे कहते हैं कि क्रिया नित्य नहीं हो सकती। ईश्वरीय क्रिया यदि नित्य मानी जाय तो सर्वदा सृष्टि, संहार आदि विरुद्ध क्रियाओं का एक साथ समावेश होने लगेगा। गमन के भी सर्वदा होने की नौबत आयगी। किन्तु वास्तव में ऐसा होना सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में माध्वगण कहते

---

१. इससे यह बात स्पष्टतः समझ में आ सकती है कि मध्व-सम्प्रदाय घोरतर शिवद्वेषी है, अन्ततः शिव की न्यूनता करनेवाला है। उनके ग्रन्थों में बहुत स्थलों पर इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

हैं, क्रियामात्र की दो अवस्थाएँ हैं—एक अव्यक्त या शक्ति-अवस्था और दूसरी, व्यक्ति अवस्था। सृष्टिकाल में जो क्रिया अभिव्यक्त होती है, कालान्तर में वह शक्तिरूप में अवस्थित रहती है। अर्थात् जब ईश्वर सृष्टि नहीं करते, तब भी उनमें सृष्टिविषयक क्रियाशक्ति विद्यमान रहती है। विशेषतः उपनिषदों में ज्ञान और क्रिया आत्मा के स्वभावसिद्ध रूप में वर्णित हुए हैं। मुक्त पुरुष की गमनादि क्रियाएँ भी[1] ईश्वर-क्रिया के तुल्य नित्य हैं। उन क्रियाओं की भी उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकते; क्योंकि प्रकृति-सम्बन्ध न होने के कारण उनका उपादान नहीं है। देहादि अनित्य वस्तुओं का आश्रयण कर जिस क्रिया की उत्पत्ति होती है, वह अनित्य क्रिया है। संसारी जीवों की चिन्तनादि क्रियाएँ भी अनित्य हैं—मुक्ति में वे नहीं रहतीं।

माध्वमत में नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार का सामान्य माना जाता है। जाति और उपाधि भी सामान्य के ही प्रकार-भेद हैं। इनके मत में सामान्य प्रत्येक व्यक्ति में अनुवृत्त नहीं रहता। जीवत्व, देवत्व आदि यावद्-वस्तुभावी अर्थात् जबतक वस्तु रहेगी तबतक रहनेवाले हैं और नित्य हैं। ब्राह्मणत्व आदि जाति को नित्य भी कहा जा सकता है और अनित्य भी कहा जा सकता है; क्योंकि औपाधिक ब्राह्मणत्व, जो कि शरीरसापेक्ष हैं, अनित्य है। उसकी उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। स्वाभाविक ब्राह्मणत्व आदि की मुक्तावस्था में भी अनुवृत्ति होती है। गीतातात्पर्य में आचार्य ने कहा है—"विप्रत्वाद्यास्तत्र पुण्याः स्वाभाव्या एव मुक्तिगाः।" मुक्ति होने पर भी मनुष्य का वर्ण और आश्रम का सम्बन्ध रहता है। मुक्ति में जीव को स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति होती है। जीव स्वभावतः पशु, पक्षी आदि विभिन्न जातियों के हैं। संसार-अवस्था में उनकी स्वाभाविक स्थिति में व्यक्तिक्रम होता रहता है, किन्तु संसार-निवृत्ति हो जाने पर जिस जीव का जो स्वरूप रहता है, उसी की उपलब्धि होती है। इसीलिए मुक्तों में भी स्थावर, जंगम, मनुष्य, विप्र आदि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते हैं। उपाधि भी उसी प्रकार नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार की है। सर्वज्ञत्वादि उपाधि नित्य है और प्रमेयत्वादि उपाधि अनित्य है।

भेद न रहने पर भी जो भेद-व्यवहार होता है उसके निर्वाहक पदार्थ का नाम विशेष है। यह सभी पदार्थों में रहता है, केवल द्रव्य में ही रहता हो, ऐसी बात नहीं है। इसकी संख्या अनन्त है। जो लोग विशेष नाम का पृथक् पदार्थ नहीं मानते, उनका मत भ्रान्त है। गुण और गुणी का सम्बन्ध अभेद, भेद अथवा भेदाभेद कुछ भी क्यों न माना जाय, सर्वत्र ही विशेष माने बिना संगति नहीं होती। यदि घटरूप गुणी से रूपात्मक गुण को अभिन्न माना जाय तो 'घट में रूप (गुण) है' इत्याकारक भेद-ज्ञान के नाश से रूप का अविनाश, घट और रूप—दोनों शब्दों की परस्पर आवश्यकता, 'लीन घट' इस प्रकार सहप्रयोग, घट और रूप—इन दो शब्दों की अपर्यायिता, घट का ज्ञान होने पर भी रूप-विषयक सन्देह—यह सब अनुभवसिद्ध

---

१. "स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादि उपनिषद् में उक्त क्रियाएँ ही मुक्त पुरुष की क्रियाएँ हैं।

व्यवहारवैचित्र्य भेद माने विना उत्पन्न नहीं होता। अतएव इस वैचित्र्य की उपपत्ति के लिए भेदप्रतिनिधि विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक है। ये सब अबाधित व्यवहार अथवा प्रत्यय भ्रमात्मक नहीं हैं। इसीलिए अभेदवादी को भी अगत्या भेद-व्यवहार के निर्वाह के लिए 'विशेष' मानना पड़ता है। उसी प्रकार गुण और गुणी में भेद अथवा भेदाभेद मानने पर भी विशेष मानना चाहिए।[1] परमात्मा में भी विशेष मानना आवश्यक है। श्रुति में भगवान् में आनन्दादि धर्मों की प्रसिद्धि है। फिर, श्रुति में ही स्थानान्तर में यह भी प्रतिपादित है कि आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म और ब्रह्मधर्म में भेद और भेदाभेद की निन्दा की गई है। अतएव श्रुति के अनुसार ब्रह्म और ब्रह्मधर्म में अत्यन्ताभेद मानना ही पड़ेगा। इस स्थिति में भेद-व्यवहार विशेष पदार्थ माने विना संगत नहीं होता। स्मरण रखना चाहिए कि 'विशेष' भेद नहीं है, भेद का प्रतिनिधि-मात्र है। एक वस्तु में एक ही विशेष रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस वस्तु में जितने विशेष मानने की आवश्यकता हो, उतने विशेष मानने चाहिए। परमेश्वर में अनन्त विशेष विद्यमान हैं[2]। एक विशेष में दूसरा विशेष मानने की आवश्यकता नहीं है। विशेष स्वनिर्वाहक है। विशेष नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य का विशेष नित्य है एवं अनित्य द्रव्य का अनित्य है।

विशेषण के सम्बन्धवश विशेष्य का जो आकार होता है वही विशिष्ट नामक पदार्थ[3] है। वह भी नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार का है। सर्वज्ञत्व आदि गुण-विशिष्ट परब्रह्म नित्य है एवं दण्डादि विशेषणविशिष्ट दण्डी आदि अनित्य हैं। अंश से

---

१. द्रष्टव्य—अणुव्याख्यान (जन्माधिकरण), मध्वसिद्धान्तसार (पृ० ७-८), वादावली (पृ० ९७) इत्यादि।

२. यह विशेष पदार्थ वैशेषिकों के 'अन्त्य विशेष' से भिन्न है, इसमें सन्देह नहीं है। वैशेषिक आचार्यों ने नित्य द्रव्य में 'विशेष' माना है, अन्य पदार्थों में नहीं। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रत्येक द्रव्य में एक ही विशेष माना है, एक से अधिक नहीं। वे कहते हैं, अनित्य द्रव्यों में गुण, क्रियादि के भेद से व्यावृत्तिबुद्धि रहती है। किन्तु आत्मा, काल, दिक्, मन, परमाणु, आकाश आदि नित्य द्रव्यों में भी योगियों की अलौकिक व्यावृत्ति-प्रतीति उत्पन्न होती है। व्यावर्तक धर्म की सत्ता न मानने पर व्यावृत्तिबुद्धि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए प्रत्येक नित्य द्रव्य में केवल तद्द्रव्यनिष्ठ एक व्यावर्तक धर्म अथवा विशेष माना जाता है। माध्व-गणों ने, अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में भी जो भेद-प्रतीति होती है, उसके निर्वाह के लिए, भेदप्रतिनिधि विशेष पदार्थ माना है। भेदप्रतीति जितने प्रकारों की होती है उतने विशेष मानने में आपत्ति नहीं।

३. इस पदार्थ की सत्ता के सम्बन्ध में अन्यान्य सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने आपत्ति की है। उनका कथन है कि विशेष्य, विशेषण और उनका सम्बन्ध इसके अतिरिक्त विशिष्ट नामक किसी पृथक् पदार्थ के अस्तित्व में प्रमाण नहीं है। पहली बात यह है—यदि 'विशिष्ट' कार्य है तो उसका उपादान कारण चाहिए। उदाहरण के लिए दण्डी नाम का पदार्थ ले लीजिए। उसका उपादान केवलमात्र दण्ड है अथवा केवलमात्र पुरुष है? यह विचारणीय है। केवल एक द्रव्य कार्य-द्रव्य का उपादान नहीं होता, इसलिए केवलमात्र दण्ड या पुरुष उपादान नहीं हो सकता। यदि दण्ड और पुरुष सम्मिलित रूप से कारण हैं, ऐसा

अतिरिक्त अंशी भी एक पृथक् पदार्थ है—यह अनुभवसिद्ध है। आकाश आदि नित्य अंशी हैं एवं घटादि अनित्य अंशी हैं। नित्यांशी का अंश कार्यारम्भक है, यह कहना ही अनावश्यक है। यदि आकाश को अंशी न माना जाय तो आकाश में पक्षी आदि के शरीर की सत्ता और उसके अभाव की उपपत्ति नहीं होगी। ये अंशी और अंश कार्य और कारण से पृथक् हैं, यह अवश्य मानना होगा।

शक्ति भी पृथक् पदार्थ है। यह चार प्रकार की है—जैसे, अचिन्त्यशक्ति, आधेयशक्ति, सहजशक्ति तथा पदशक्ति। अचिन्त्यशक्ति एकमात्र परमेश्वर में ही पूर्णरूप से विराजमान रहती है, अन्यत्र यह आपेक्षिकमात्र है। यह अघटितघटना-पटीयसी है। इस शक्ति से ही परमात्मा में युगपत् आसीनत्व तथा दूरगामित्व, अणुत्व तथा महत्त्व आदि सब विरुद्ध धर्मों का समावेश सम्भव होता है। इस अचिन्त्यशक्ति का ही नामान्तर ऐश्वर्य है।

कार्यमात्र की अनुकूल शक्ति ही सहजशक्ति है। इसका नामान्तर स्वभाव है। दण्डादि में घटादि कार्य की अनुकूल अतीन्द्रिय शक्ति माननी चाहिए। सहजशक्ति

कहा जाय तो आरब्ध कार्य में दण्डत्व और पुरुषत्व—इन दो जातियों के समावेश से जाति-सांकर्य-दोष हो जायगा। दण्डादि के पृथक् उपादानत्व में दो विशिष्ट पदार्थों का स्वीकार अनिवार्य हो पड़ता है। उस स्थल में दो मूर्त्त द्रव्यों की अल्प प्रदेश में अवस्थिति माननी पड़ती है—पर वह संगत नहीं है। और एक बात है। विशेषण द्वारा अथवा विशेष्य द्वारा आरब्ध द्रव्य चेतन भी नहीं हो सकता और अचेतन भी नहीं हो सकता। चेतन न होने का कारण यह है कि अचेतन चेतन का उपादान नहीं हो सकता। अचेतन न होने का कारण यह है कि यदि वह अचेतन हो तो 'मैं दण्डी हूँ' इस प्रकार के अनुभवसिद्ध ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा। इन सब आपत्तियों के प्रत्युत्तर में माध्व लोग कहते हैं कि स्वतन्त्र 'विशिष्ट' पदार्थ माने विना दूसरी गति नहीं है। दण्डी—इस विशिष्ट व्यवहार के मूल में विशिष्ट ज्ञान अवश्य ही मानना होगा। इस विशिष्ट ज्ञान का जो विषय है वही विशिष्ट पदार्थ है। दण्ड, पुरुष और उनके सम्बन्ध-ज्ञान से विशिष्ट व्यवहार का उपादान नहीं किया जा सकता। वह समूहावलम्बन-ज्ञान है। दण्डादि बहुत हैं, उनके द्वारा एकत्वोल्लेखी प्रत्यय नहीं हो सकता। 'पुरुष के एकत्व का भान होता है'—यदि यही कहा जाय तो प्रश्न उठेगा कि ज्ञान के विषय दण्ड आदि जैसे बहुत हैं वैसे ही पुरुष एक है। अतएव ज्ञान में बहुत्व का भान न होकर ऐक्य का भान होने का कारण क्या है? और यदि पुरुषनिष्ठ एकत्व ही प्रतीति का विषय हो तो 'एक पुरुष' ज्ञान का ऐसा ही आकार होना उचित है। दण्डी हो यदि न रहे तो वहाँ अन्य के एकत्व-भान की ही क्या सम्भावना है? प्रतियोगी के भेद से अत्यन्ताभाव का भेद स्वीकृत होता है। तदनुसार दण्डाभाव का प्रतियोगी पुरुष भी नहीं है, दण्ड भी नहीं है, किन्तु दोनों से भिन्न दण्डी नामक विशिष्ट पदार्थ है। विशिष्ट पदार्थ का उपपादन विशेष्यसन्निधाननिमित्तक विशेषण अथवा विशेषणसम्बन्धनिमित्तक विशेष्य है। विशेषण-विशेष्य एक होने पर भी वे आरम्भक होते हैं। एकमात्र दीर्घतन्तु से भी पटारम्भ हो सकता है। एकमात्र द्रव्य जैसे गुण का उपादान है वैसे ही वह द्रव्य का भी उपादान हो सकता है। असमवायी कारण सकल कार्यों का ही रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं की क्रिया का कोई असमवायी कारण नहीं होता और यदि वह नियम मानना ही हो तो विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध को ही उक्त प्रकार के कारण की श्रेणी के अन्तर्गत किया जा सकता है। (द्रष्टव्य—मध्वसिद्धान्तसार)

पदार्थमात्र में ही है। नित्य पदार्थों में जो शक्ति है वह नित्यशक्ति है एवं अनित्य पदार्थों में जो शक्ति है वह अनित्य है। आधेयशक्ति स्वाभाविक नहीं है, वह आहित होती है। प्रतिष्ठा आदि के द्वारा प्रतिमा आदि में अविद्यमान देवता की सन्निधि उत्पन्न होती है—यही आधेयशक्ति का उदाहरण है।[1] पद और पदार्थ के वाच्य-वाचक सम्वन्ध का नाम पदशक्ति है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। यह केवल स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य में रहती है। पदशक्ति मुख्य और परममुख्य भेद से दो प्रकार की है। सभी शब्दों की परममुख्य वृत्ति परमात्मा में है एवं अन्यत्र मुख्य वृत्ति है।

सादृश्य भी माध्व मत में पृथक् पदार्थ है। यह भी नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार का है। प्रागभाव, ध्वंस, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव भेद से अभाव चार प्रकार का है। अन्योन्याभाव पदार्थस्वरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है। जिस अभाव का प्रतियोगी अप्रामाणिक है वही अत्यन्ताभाव है।

पदार्थसमुद्देश में द्रव्य का स्थान प्रधान है। वैशेषिकों के द्रव्य नौ प्रकार के हैं, किन्तु मध्व-दर्शन में द्रव्य वीस प्रकार के हैं। दो विवादशील वस्तुओं में जो द्रवण से प्राप्य है वही द्रव्य है।[2] जिसका परिमाण होता है अथवा जिसके रूप में परिणाम होता है, उसे भी द्रव्य कहा जा सकता है। ऊपर जो वीस प्रकार के द्रव्यों के नाम बताये गये हैं उनमें प्रकृति शब्द से केवल प्रकृति गृहीत है; ब्रह्माण्ड, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिविम्ब केवल विकृति है; महद् आदि तत्त्वसमूह प्रकृति-विकृति हैं एवं परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश और वर्ण अभिव्यञ्जक-मात्र हैं। परमात्मा आदि प्रकृति भी नहीं और विकृति भी नहीं हैं। अभिव्यञ्जक द्रव्यों में परमात्मा अनन्त अवतारों के, लक्ष्मी भी उसी प्रकार सीता, रुक्मिणी आदि अवतार-श्रेणी की, सांश जीव अंश के और निरंश जीव पराधीन शरीरादि के व्यञ्जक हैं। उसी प्रकार अव्याकृताकाश और वर्ण में व्यञ्जकता है। आकाश पराधीन मूर्त्त सम्बन्धरूप-विशेष से युक्त होकर अभिव्यक्त होता है और वर्ण-वर्णान्तर की व्यञ्जना करता है।[3]

---

१. कामिनी के पदस्पर्श से अशोक वृक्ष में अकाल में पुष्प खिलते हैं। माघ महीने के भूकर्षण (हल जोतने) से पाकज रूप-परम्परा के क्रम से अगहनी अन्न की उत्पत्ति, ओषधि के लेप से कांस्यपात्र का दौड़ना, धूम आदि की वासना से मालती लता में कुसुमोदगम—ये सब आधेय शक्ति के दृष्टान्त हैं।

२. द्रव्यं तु द्रवणप्राप्यं द्वयोर्विवदमानयोः। पूर्वं वेगाभिसम्बन्धादाकाशस्तु प्रदेशतः। (भागवत) इसलिए अव्याकृत आकाश, प्रकृति, काल और वर्ण व्यापक होने पर भी प्रदेशतः गमनप्राप्य होने से द्रव्य कहे जाते हैं।

३. प्रलयकाल में सभी वर्ण विभिन्न प्रदीपों के आलोक की भाँति परस्पर सटे रहते हैं। सृष्टि के समय परमात्मा उच्चारण द्वारा तत्तद वर्ण को विभक्त करते हैं। ताराष्टाक्षर को विभक्त करते समय नारायण—अष्टाक्षर सम्बद्ध ताराष्टाक्षर को विभक्त करते हैं। उसके वाद ताराष्टाक्षर से नारायणाष्टाक्षर का उच्चारण के द्वारा उद्धार करते हैं। इसके वाद नारायणाष्टाक्षर से ताराष्टाक्षर का उद्धार करते हैं। एक प्रदीप से जैसे दूसरा प्रदीप प्रज्वलित किया जाता है, यह प्रक्रिया भी ठीक उसी तरह की है। वर्ण और देवता नित्य होने के कारण क्रमविशिष्ट नहीं हैं। परन्तु ब्रह्म बुद्धि से अभिव्यक्ति के क्रम की अपेक्षा से क्रमवत् वह जाता है।

परमात्मा अनन्त गुणपूर्ण हैं। उनका प्रत्येक गुण असीम और निरतिशय होने से पूर्ण है। वे किस प्रकार की वस्तु हैं, यह नहीं कहा जा सकता, भावना भी नहीं की जा सकती। लक्ष्मी आदि के ज्ञान आदि से परमात्मा के ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तगुण अधिक हैं। उनका प्रत्येक गुण अनन्त है। यही उनका सजातीय आनन्त्य है। फिर, ज्ञान, आनन्द, वल, शक्ति आदि अनन्त होने से उनमें विजातीय आनन्त्य भी है। उनमें श्रुत, अश्रुत, विरुद्ध—सभी गुण नित्य विराजमान रहते हैं।[१] लक्ष्मी का ज्ञान प्रचुर, अत्यन्त विशद तथा स्पष्ट है, किन्तु परमात्मा का ज्ञान महा-शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। वह अशेष विशेष का स्पष्ट दर्शनरूप नित्य एक प्रकार का, सूर्य के प्रकाश के तुल्य निरन्तर अखिल वस्तुओं का प्रकाशक, निर्लेप, दोषशून्य और सर्वदा विकारहीन है। लक्ष्मी के ज्ञान में विशेष का भान नहीं होता, ब्रह्मा के ज्ञान में स्पष्टता नहीं है, अन्यान्य मुक्त पुरुषों का ज्ञान समुद्र की तरङ्ग के सदृश है। वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञान के तुल्य पूर्णता और किसी के भी ज्ञान में नहीं है। ईश्वरीय आनन्द आदि भी इसी तरह अपरिमित जानने चाहिए। परमात्मा निरन्तर सृष्टि आदि आठ प्रकार के कार्य करते रहते हैं।[२] सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान या आवरण, बोधन, बन्ध और मोक्ष—इन आठ कार्यों में एकमात्र परमेश्वर के सिवा दूसरे किसी भी चेतन पुरुष का अधिकार नहीं है। प्रकृति आदि जड़ पदार्थ ब्रह्मा आदि जीव एवं स्वयं महालक्ष्मी से भी परमात्मा का वैलक्षण्य है, यह कहना अनावश्यक है। उनकी देह है, इसलिए उनका जगत् सृष्टि आदि में कर्त्तृत्व अनुपपन्न नहीं होता। पर उनकी देह बद्ध जीव की सुपरिचित जड़ देह के तुल्य अनित्य नहीं है। वह ज्ञाना-नन्दात्मक और अप्राकृत है—इसीलिए नित्य है। उनके मस्तक, मुख, बाहु, अंगुली आदि सभी अवयव चिदानन्दमय हैं।[३] वे स्वतन्त्र हैं, जीव परतन्त्र हैं। वे एकमात्र हैं; क्योंकि उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है, इसलिए कोई भी उनकी समानता प्राप्त नहीं कर सकता, अभेद तो बहुत दूर की बात है। जीव चेतन होने पर भी नित्य परतन्त्र ही रहता है, स्वातन्त्र्य अथवा पारमैश्वर्य-लाभ उसके लिए असम्भव है, उसके लिए आशा करना भी धृष्टतामात्र है। परमेश्वर अनन्तरूप हैं, किन्तु जीव निरंश होने के कारण एकरूप है। उनके प्रत्येक रूप सर्वगुणपूर्ण हैं, जीव के तुल्य उनके रूपों में कोई विशेष नहीं है। अवतार-रूप चिदानन्दमय और पूर्ण हैं। मूल रूप तथा आविर्भूत रूप—दोनों में ही गुणतः या स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। उनमें देश, काल

---

१. द्रष्टव्य—"गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्त्यश्रुता अपि।" इत्यादि परममुख्य वृत्ति से वे ही सब शब्दों के वाच्य हैं। इसीलिए सब प्रकार के पदों की प्रवृत्ति के निमित्त होने से उन्हें सकलगुणपूर्ण कहा गया है। अणुभाष्य में कहा है—"अवान्तरकारणं च प्रकृतिः शून्यमेव च। इत्याद्यन्यत्र नियतैरपि मुख्यतयोदितः॥ शब्दैरतोऽनन्तगुणो यच्छब्दा योगवृत्तय.।"

२. शैव और शाक्त आगमों में परमेश्वर का पञ्चकृत्यकारी के रूप में वर्णन किया गया है।

३. "तस्मादानन्दचिद्देहं चिदानन्दशिरोमुखम्। चिदानन्दभुजं ज्ञानसुखैकपदसाङ्गुलिम्॥ आकेशादानखाग्रेभ्यः पूर्णचित्सुखशक्तिकम्।" (बृहद्भाष्य) श्रीकृष्णावतार में जो प्राकृत देह त्यागकर वैकुण्ठगमन की कथा है, वह वस्तुतः श्रीकृष्णदेह नहीं है—असुरमोहन के लिए उस समय में कल्पित देह है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ने देह-त्याग नहीं किया था।

और गुणगत परिच्छेद न होने के कारण उनके प्रत्येक रूप में यह त्रिविध आनन्त्य विद्यमान है। उनके अवतार (मत्स्यादि), अवयव (कर, चरणादि), गुण (ज्ञानादि) एवं क्रिया (सृष्ट्यादि) का कोई भेद नहीं है। विद्या, अविद्या, त्रिगुण, देहोत्पत्ति, सुख-दुःख सभी उनके इच्छामूलक हैं, इसलिए वे नित्यमुक्त हैं। उनकी देह अप्राकृत हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। केवल यही नहीं, वे अन्याभिमानहीन प्राकृत शरीर में अवस्थिति ही नहीं करते। पर ब्रह्मादि जीवमात्र के ही प्राकृत शरीर में जो उनका अधिष्ठान है वह उन लोगों के नियामक अथवा अन्तर्यामी के रूप में है। उन सब प्राकृत देहों के अभिमानी ब्रह्मादि जीव हैं। इसलिए उनमें भगवान् का अधिष्ठान असंगत नहीं है। प्राकृत देह में स्थिति जीव की ही होती है, इसलिए शास्त्र में बहुत स्थलों पर भगवान् देहविहीन भी कहे गये हैं। माध्वगण कहते हैं, उन सब स्थानों में देहविहीन शब्द से 'प्राकृत देह-रहित' यही अर्थ लगाना उचित है। लक्ष्मी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए। इसीलिए सीता ने स्वसृष्ट आत्मप्रतिकृति में स्वयं प्रवेश नहीं किया—स्वांश को प्रवेश कराया था।

लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न हैं एवं एकमात्र परमात्मा के ही अधीन हैं। ब्रह्मादि लक्ष्मी के पुत्र हैं, उनसे नीचे हैं और प्रलय में उन्हीं में लीन होते हैं, इसलिए ब्रह्मादि जैसे परमात्मा के अधीन हैं वैसे ही लक्ष्मी के भी अधीन हैं—यह स्वीकार करना पड़ता है। परमात्मा के कृपाकटाक्ष के प्रभाव से बलवती होकर लक्ष्मी पलकलेश-मात्र में विश्व के सृष्टि आदि आठ कार्यों का सम्पादन करती रहती हैं। भगवत्प्रियत्व, भगवद्भक्ति और भगवद्ज्ञान के विषय में मुक्तों से भी लक्ष्मी करोड़ों गुना श्रेष्ठ हैं। माध्व लोग कहते हैं कि जगत् के प्रलयकाल में मनुष्य यम में लीन होते हैं, यम सुदर्शन में लीन होते हैं, सुदर्शन रुद्र में, रुद्र ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा दुर्गा में लय को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा का प्रलय हो जाने पर दुर्गा चक्ररूपिणी होकर विद्यमान रहती हैं। भगवान् के तुल्य लक्ष्मी भी नित्यमुक्त और गुणपूर्ण हैं। किन्तु नित्यमुक्त और आप्तकाम होने पर भी वे सदा ही भगवान् की उपासना करती हैं। वे स्वभावतः हरिभक्तिपरायण मुक्त भक्तों की आदर्शरूप हैं। भगवान् और लक्ष्मी अनादिनित्य और अनादिमुक्त हैं। सर्वगुणपूर्ण होने से लक्ष्मी भी सर्वशब्द की वाच्य हैं, पर मुख्यरूप से नहीं।

भगवत्प्रकृति जड़ और अजड़ भेद से दो प्रकार की है। उनमें जड़ प्रकृति अपरा है और अजड़ प्रकृति चित्स्वरूप तथा परा है। जड़ प्रकृति अव्यक्त के नाम से प्रसिद्ध है, इसके आठ प्रकार के भेद हैं। चित् प्रकृति अनादि, अनन्त, साक्षान्नारायणमहिषी है तथा ब्रह्मदेव की जननी भी है। परमात्मा आत्माराम होने पर भी लक्ष्मी के प्रति अनुग्रहपूर्वक उनमें स्त्रीरूप से प्रविष्ट होकर रूपान्तर से क्रीड़ा करते हैं[१]। श्री, भू;

---

१. आचार्यकृत ऐतरेय-भाष्य में कहा है—"प्रादुर्भावस्थितं रूपं यच्च भूमौ पुमात्मकम्। विष्णोस्तदपि देवीषु स्थितं स्त्रीरूपकात्मना ॥ एवमन्योन्यतो विष्णुरतः स्वस्मिन्न वान्यतः। रमया रममाणोऽपि तत्स्थेनैव स्त्रियात्मना ॥ रमते नान्यतः क्वापि रतिर्विष्णोः सुखात्मनः। रमया रमणं तस्मात् रमाया रतिपात्रता ॥ नेवास्या रतिदातृत्वं विष्णोर्न ह्यन्यतो रतिः।" आचार्य के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि आनन्दात्मक भगवान् लक्ष्मी के साथ क्रीडा के बहाने भी उनमें अवस्थित अपने स्वरूप के साथ ही विहार करते हैं।

दुर्गा, ह्री, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, भृणी, सत्या, रुक्मिणी आदि सभी लक्ष्मी के रूप हैं। लक्ष्मी की मूर्त्तियाँ वस्तुतः अनन्त हैं, किन्तु अनन्त होने पर भी उनमें दक्षिणा-मूर्त्ति ही श्रेष्ठ है। उससे सुखोदय होता है। यही उसमें वैशिष्ट्य है। अन्यान्य देवियाँ जिस प्रकार सर्ववेदाभिमानिनी हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी भी वेदाभिमानिनी हैं, किन्तु ये सब देवियों के ऊपर स्थित हैं। ये भगवान् के उरुस्थलस्था, यज्ञनामधारिणी तथा भगवान् के साथ नित्यरतिसुख में निमग्न दक्षिणामूर्त्ति हैं। भगवान् के सम्भोग से पहले इन्हीं में सुखोदय होता है, तदन्तर अन्यान्य देवियों में उस सुख का संचार होता है। भगवान् की तरह इनकी देह भी अप्राकृत, चिन्मय, नित्य तथा हानोपादान-रहित है, ये भी देशतः और कालतः व्यापक अथवा अनन्त हैं, पर इनमें गुणों की अनन्तता नहीं है।

जीव अज्ञान, दुःख, भय, मोह आदि दोषों से युक्त और संसारी है। यहाँ तक कि ब्रह्मा और वायु अथवा प्राण तक भी इनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। कहा जाता है कि अज्ञान ने चार वार, भय ने दो वार तथा शोक ने दो वार ब्रह्मा के ऊपर आक्रमण किया था।[1] पर रुद्र आदि में जैसे भय आदि स्थायी हैं, ब्रह्मा में वैसे स्थायी नहीं हैं केवल इतना अन्तर है।[2] एक वात और है। वह यह कि ब्रह्मा का जो मोह है वह मिथ्याज्ञान नहीं है, केवल नियत अपरोक्ष ज्ञान का अभावमात्र है।

जीवों की संख्या अनन्त है। तत्त्वनिर्णय में कहा गया है—अतीत और अनागत जितने क्षण हैं, अतीत और अनागत जितने परमाणु हैं, जीवराशि उनसे भी अनन्त गुनी है। प्रत्येक परमाणु में भी अनन्त प्राणी हैं। केवल व्यक्तिगत रूप से जीव-संख्या अनन्त हो सो वात नहीं है, 'गण'गत (सामूहिक) रूप से भी जीव-संख्या अनन्त है। ये गण तीन प्रकार के हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। मुक्त और अन्धतमस्-प्राप्त जीवों के सहित जीवों के पाँच प्रकार के गण गिने जाते हैं। मुक्तियोग्य जीव पाँच प्रकार के हैं—जैसे ब्रह्मा, वायु आदि देवता, नारद आदि ऋषि, विश्वामित्र आदि चिरपितृगण, रघु-अम्बरीष आदि चक्रवर्त्ती एवं उत्तम मनुष्य। उत्तम मनुष्यों में कोई एकगुणोपासक है और कोई चतुर्गुणोपासक है। केवल आत्मबोध से जो ईश्वरोपासना होती है वह एकगुणोपासना कही जाती है। अनेक लोग इस प्रकार की उपासना द्वारा देह रहते ही मुक्ति प्राप्त करते हैं—उनका उत्क्रमण नहीं होता। तृणजीव (स्तम्ब) आदि एकगुणोपासक-कोटि के अन्तर्गत हैं।

---

१. विष्णु की सूक्ष्मा प्रकृति, जो श्री, भू, दुर्गा आदि विभिन्न नामों से कही जाती हैं, वही ब्रह्मादि की भवदायिनी हैं। ये एकमात्र विष्णु की ही वशीभूता हैं। मृत्यु अथवा अव्यक्त इन्हीं का नामान्तर है। श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में लिखा है—"सर्वे विमोहितधियस्तव माययैव ब्रह्मादयस्तनुभृतो वहिरर्थभावाः।' इस स्थल में ब्रह्मादि भी भगवान् की माया से विमोहित हैं, यह स्पष्ट कहा गया है।

२. माध्व कहते हैं कि रुद्रादि अज्ञान में ही अवस्थित हैं, ब्रह्मा का अज्ञान क्षणिक है। जब भगवान् ने पञ्चभूतों से अविद्या का उद्धार कर ब्रह्मा पर फेंका था, एकमात्र तभी उनका अज्ञान से सम्बन्ध हुआ था। ब्रह्मा ने तत्काल ही उस अज्ञान को बाहर निकाल फेंका था।

ईश्वर की सत्, चित्, आनन्द तथा आत्मा के रूप में जो उपासना की जाती है, वही चतुर्गुणोपासना है। तृणजीवों के सिवा अन्य सभी चतुर्गुणोपासक हैं। मध्यम मनुष्य नित्यसंसारी हैं। ये निरन्तर पृथिवी, स्वर्ग और नरक में संचरण करते हुए सुख-दुःख का भोग कर रहे हैं। इनकी संख्या भी अनन्त है। देवता, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य—ये तमोयोग्य जीव हैं। जीवमात्र परस्पर भिन्न हैं एवं परमात्मा और लक्ष्मी से पृथक् हैं। संसारावस्था में यहाँ तक कि मुक्ति हो जाने पर भी जीवों में तारतम्य रहता है; क्योंकि वह स्वभावसिद्ध है। मोक्ष-योग्य जीवों में स्थावरों का स्थान सबसे नीचे है। उनके बाद ही पशु-पक्षी आदि जंगम जीव हैं। उनके बाद मनुष्यों का स्थान हैं। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। चक्रवर्त्ती का स्थान ब्राह्मण से भी ऊपर है। चक्रवर्त्ती का अनेक स्थलों पर अधम देव अथवा उत्तम मनुष्य के रूप में वर्णन किया गया है। चक्रवर्त्ती मुक्त मनुष्य है तथा ब्रह्मानन्द के बिन्दुमात्र का भोग करता है। चक्रवर्त्ती में ब्रह्मानन्द का जितना प्रकाश होता है उसे मापदण्ड मानकर अन्यान्य स्तरों के आनन्द की माप की जाती है। इसलिए चक्रवर्त्ती एकानन्दस्वरूप है। उसके बाद क्रमशः मनुष्य गन्धर्व, देवगन्धर्व, चिरपितृगण, आजानज देव, कर्मज देव आदि के स्थान हैं। देवगन्धर्वों पर देवगणों की साक्षात् आज्ञा चलती है। सिद्ध, चारण, किन्नर, किंपुरुष, विद्याधर, यक्ष, नाग, वेताल आदि देवगन्धर्वों के समकक्ष हैं। चिरपितृगणों में विश्वामित्र ब्रह्मपुत्र, वशिष्ठ आदि के समान हैं। आजानज देवता देवगणों के भृत्यों के तुल्य हैं। कार्तवीर्य, पृथु, दुष्यन्तपुत्र भरत, शशविन्दु, मान्धाता, ककुत्स्थ आदि कर्मज देवताओं की श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये सदा ही भगवदाविष्ट रहते हैं। पुराणादि में बलि, अद्‌भुत, शम्भु, विधृत, ऋतुधामा, बृहस्पति, शुचि—इन सात कर्म-देवताओं का उल्लेख पाया जाता है। सप्त पितर, ९ करोड़ देवता, पावक, प्रह्लाद, तापस, स्वायम्भुव और वैवस्वत मनु के अतिरिक्त ग्यारह मनु, च्यवन और उतथ्य ऋषि, प्रियव्रत और गय राजा, तुम्बुरु (गन्धर्वराज), धृतराष्ट्र, चित्ररथ, हाहा, हूहू आदि ८ गन्धर्व, उर्वशी, मेनका, घृताची, रम्भा आदि ९२ अप्सराएँ—ये सब जीव कर्मज देवताओं की समानभूमि में स्थित हैं। सनकादि भी इसी स्तर के अन्तर्गत हैं। जीवों में यह तारतम्य स्वाभाविक है, इसलिए मुक्ति में भी वह निवृत्त नहीं होता।[1] तार्किक मत में मुक्त आत्मा सभी समान हैं; क्योंकि इक्कीस प्रकार के दुखों का ध्वंस ही मुक्ति है। वह सभी की हुई है। लेकिन परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता होने के कारण सर्वोत्तम हैं। रामानुज-मत में भी ब्रह्मादि जीवों का तारतम्य केवल संसारावस्था में है, मुक्तावस्था में सब जीव परस्पर और

१. मुक्त जीवमात्र ही निर्दोष हैं। किन्तु मुक्तों के भी काम, संकल्प और आनन्द में तारतम्य है। यदि वह न होता तो मुक्तगण शुभ अनुष्ठान क्यों करते। द्रष्टव्य—

योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिणाम्।
प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि॥ (आचार्यकृत गीताभाष्य)

पर मुक्त पुरुषों की जो साम्यप्राप्ति की बात शास्त्रों में पाई जाती है उसका तात्पर्य यह है कि सभी मुक्त पुरुषों का दुखाभाव, परमानन्द और लिङ्गभेद समान रूप से ही होता है। किन्तु ज्ञान-भेद से इस परमानन्द के आस्वादन में तारतम्य रहता है।

परमात्मा के साथ अंशतः साम्यविशिष्ट हैं। श्री-सम्प्रदाय में भी तारतम्यवाद न हो, सो बात नहीं है, पर माध्व-सम्प्रदाय के तुल्य इतने व्यापक रूप से नहीं है।

वैशेषिक लोग जिसे दिक् कहते हैं, माध्वगणों का अव्याकृताकाश कई अंशों में वही है।[1] सृष्टि अथवा प्रलय के समय उसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। यह साक्षिगोचर है और 'प्रदेश' नाम से अभिहित होता है। इसकी उत्पत्ति नहीं होती और विनाश भी नहीं होता, इसीलिए यह नित्य है। यह एक, व्याप्त और स्वगत है। तामसाहङ्कार से जो आकाश उत्पन्न होता है वह भूताकाश है, अव्याकृत आकाश नहीं है। इसके पूर्व, दक्षिण आदि स्वाभाविक अवयव हैं। नैयायिक लोग सूर्योदयरूप उपाधि के द्वारा दिक् में जो पूर्वादि व्यवहार का उपपादन करते हैं, उसमें बहुत दोषों का प्रसङ्ग है। पूर्वादि दिशाओं के उपाधिनिमित्तक होने पर अन्धकार में विशिष्ट दिशा की प्रतीत न होती। विशिष्ट दिशा की प्रतीति के अभाव में अन्य मूर्त्ति से अवरुद्ध भाग का त्याग कर कोई दूसरे भाग में हाथ न फैलाता। विशिष्ट दिशा का भान जब अन्धकार में भी होता है तब अन्धकार में भी पूर्वादि की प्रतीति भी होती है। इसीलिए पूर्वत्वादि भी औपाधिक नहीं हैं। और एक बात है। वह यह कि जहाँ सूर्योदयादि उपाधि नहीं है वहाँ भी बहुत स्थलों पर पूर्वादि व्यवहार दिखाई देता है। वैकुण्ठ और अनन्तासन-स्थित परमात्मा के नगर दोनों स्थानों में पूर्वादि भाग में जयादि और प्राणादि द्वारपालों की स्थिति सुनाई देती है। पर वहाँ सूर्योदय नहीं है; क्योंकि श्रुति कहती है—"**सकृत दिवा ह्यस्य भवति।**" वैकुण्ठ धाम में स्थित मुक्त लोगों का नित्य ही दिन रहता है, उनके प्रकाश का आविर्भाव अथवा तिरोभाव नहीं होता। वहाँ अन्धकार रह ही नहीं सकता—भगवान् के तेज और लक्ष्मीस्वरूप माणिक्य आदि के तेज से भगवद्धाम नित्य प्रकाश से झकझकाता है। भगवान् का प्रकाश अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक है। शेषनाग के मस्तक पर स्थित मणियों में भी प्रकाशता है। उनके अतिरिक्त सूर्योदय के अभाव में भी भगवान् के श्रीविग्रह में पूर्वादि भाग में स्थित हाथों में शङ्ख आदि के धारण की कथा पाई जाती है। भगवान् का स्वरूप सूर्य, चन्द्र, तारे आदि की ज्योति से प्रकाशमान नहीं होता यह बात श्रुति में स्पष्ट ही कही गई है। चौदह भुवनों के उत्पन्न होने से पहले ही परमात्मा के नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा ने चारों ओर निहारकर चार मुख प्राप्त किये, यह भागवत में कहा गया है।[2] तब सूर्योदय कीं सम्भावना ही नहीं थी। अतएव वास्तविक सिद्धान्त यही है कि सूर्योदय देखने से कभी-कभी दिग्-भ्रम निवृत्त होता है। पिता पुत्र के तुल्य पूर्वादि भाग सापेक्ष हैं। इसीलिए एक व्यक्ति के लिए जो पूर्व है, वह सभी के लिए पूर्व हो, यह सम्भव नहीं है।

---

१. न्यायसुधा में लिखा है—"साक्षिसिद्धमेव गगनम्, तद्भागा एवं दिशो न द्रव्यान्तरम्।"[1]

२. तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि॥

अव्याकृत आकाश न मानने पर जगत् 'मूर्त्तनिविड' हो पड़ता। श्रुति में आकाश की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति—दोनों प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। एक वस्तु में उसका सम्भव नहीं। इसीलिए द्विविध आकाश को स्वीकार करना पड़ता है। अव्याकृताकाश प्रदेश अथवा अवकाश (Space) मात्र है यह पहले कहा जा चुका है। उसकी उत्पत्ति मानने पर उसके पहले प्रदेश का अभाव होने से मूर्त्त पदार्थों की निविडता हो पड़ती। भूताकाश की उत्पत्ति के पहले भी अव्याकृताकाश की सत्ता अवश्य माननी चाहिए। साक्षी ही उसका प्रमाण है। अव्याकृताकाश नीरूप, कूटस्थ, नित्य, साक्षिसिद्ध, विभु और निष्क्रिय है। किन्तु भूताकाश रूपयुक्त, पंचभूतों से आविष्ट देहाकार से विकारशील, तामसाहंकार का कार्य; परिच्छिन्न और गतिशील है।

इस अव्याकृताकाश के अभिमानी ब्रह्मा भी नहीं हैं, परमात्मा भी नहीं हैं, किन्तु लक्ष्मी हैं। ब्रह्मा इसलिए नहीं हैं कि प्रलय में ब्रह्मा नहीं रहते, पर आकाश रहता है। परमात्मा उसके अभिमानी इसलिए नहीं कि उनका किसी में अभिमान नहीं है। अभिमानी के विना अभिमन्यमान पदार्थ रह नहीं सकता।

साक्षात् अथवा परम्परा से जो विश्व का उपादान है, वही प्रकृति है। प्रकृति साक्षात् रूप से काल और सत्त्व आदि तीन गुणों की उपादान है एवं परम्परा से महत् आदि तत्त्वों की उपादान है। उपादान होने से यह द्रव्य है। प्रकृति तीन गुणों से अतिरिक्त; जड़रूप, परिणामिनी, नानारूप, महाप्रलय के वाद नूतन सृष्टि की उदादानभूत होने से नित्य है तथा क्षण, लव आदि काल की उपादान होने से व्यापक है। इसकी अभिमानिनी रमा (लक्ष्मी) हैं। जीवमात्र का ही जो लिङ्ग-शरीर है[1] उसकी समष्टि ही प्रकृति है, फिर प्रकृति लिङ्ग-शरीर से भिन्न भी है। लिङ्ग-शरीर से भिन्न प्रकृत्यंश से तीन गुणों की उत्पत्ति होती है। महाप्रलय में प्रकृति एकाकिनी रहती है। तव भगवान् सृष्टि करने के इच्छुक होकर प्रकृति से सत्त्वराशि, रजोराशि और तमोराशि को महदादि की सृष्टि के लिए तीन भागों में विभक्त करते हैं। तम से रज परिमाण में द्विगुण है एवं रज से सत्त्व भी परिमाण में द्विगुण है। तमोगुण का परिमाण महत्तत्त्व से दस गुना है। महत्तत्त्व के चारों ओर यह दसगुनी तमोराशि घेरा डालकर स्थित रहती है। इसका अनेक ग्रन्थों में तीन गुणों की साम्यावस्था के नाम से वर्णन किया गया है। किन्तु यह वस्तुतः त्रिगुण नहीं है। गरुड़ और रुद्र इस तम से व्याप्त देश में स्थित विष्णुस्वरूप का प्रत्यक्ष करते हैं।[2]

जव मूला प्रकृति से तीन गुणों की उत्पत्ति होती है तव पहले-पहल रज और तम से अमिश्र—विशुद्ध—सत्त्वगुण की उत्पत्ति होती है। किन्तु रजोगुण और तमोगुण क्रमशः

---

१. सभी जीवों की देह है अन्यथा परमात्मा के तुल्य उनके नित्यमुक्त होने पर सृष्टि की उपपत्ति नहीं होगी। सृष्टि आदि का प्रवाह नित्य है। इसीलिए स्थूल देह की प्राप्ति कराने- वाले सूक्ष्म शरीर का स्वीकार करना चाहिए। यही लिङ्गदेह अथवा प्रकृति है।

२. "गिरिशो गरुडश्चैव तमोमात्रगतं हरिम्। पश्यतः" (अणुव्याख्यान)

सत्त्वतम और सत्त्वरज से मिले हुए उत्पन्न होते हैं। मिश्रण का अनुपात यों है—रजोगुण में रज १, सत्त्व १०० और तम १/१००। तमोगुण में तम १, सत्त्व १० और रज १/१०। गुणों के इस वैषम्य को ही सृष्टि कहते हैं, इनकी साम्यावस्था प्रलय है। अतएव सत्त्व सर्वदा ही शुद्ध है, रज और तम अन्य दो गुणों से मिश्रित रहते हैं। मुक्त पुरुष लीलावश शुद्धसत्त्वमय देह ग्रहण कर और उसके द्वारा यथेष्ट भोग का सम्पादन कर स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करते हैं। उस देह के रजोगुण और तमोगुण से गठित न होने के कारण उनलोगों का भोग से वन्धन नहीं होता। यह लीलाविग्रह है। यह भी प्राकृत देह है।[1] कोई-कोई लोग कहते हैं कि मुक्त पुरुष भी पाञ्चभौतिक शरीर से भोग कर सकते हैं। उससे वन्धन नहीं होता अथवा हमलोगों के तुल्य सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि वह देह कर्मजन्य नहीं है। केवल स्वेच्छा से गृहीत है।

महत्तत्त्व का उपादान साक्षात् रूप से त्रिगुण का अंश है। तीन गुणों का समस्त भाग महत्तत्त्व के रूप में परिणत नहीं होता। क्योंकि मूला प्रकृति महत् से १० गुना अधिक है। दूसरी एक बात है। प्रलय के समय महत् तीन गुणों में लीन होता है। उस समय महत् १२ भागों में विभक्त होता है। उसके १० भाग शुद्ध सत्त्व में, १ भाग रजोगुण में और १ तमोगुण में प्रवेश करता है। सृष्टि-काल में शुद्ध सत्त्व के १० भाग और रज का १ भाग तमोगुण के साथ मिलते हैं। इसका परिमाण तमोगुण की अपेक्षा दस गुना कम है। ब्रह्मा, वसु और उनकी भार्याएँ महत् में अभिमानशील हैं। इस तत्त्व के तमोंश से अहङ्कार उत्पन्न होता है। उसमें जितनी मात्रा रजोगुण की रहती है, उसके दस भाग सत्त्व गुण और दशमांश तमोगुण-मिश्रित रहता है। गरुड़, शेष, इन्द्र, काम रुद्रादि और उनकी पत्नियाँ अहङ्कारतत्त्व में अभिमान रखती हैं। वैकारिक, तैजस और तामस-भेद से अहङ्कार तीन प्रकार का है। बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व से उत्पन्न है और तैजस अहङ्कार से उपचित होता है। ब्रह्मा से लेकर उमा-पर्यन्त देवता उसके अभिमानी हैं। ज्ञानरूप बुद्धि गुणविशेष है—यह तत्त्वों में परिगणित नहीं है। मनस्तत्त्व वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न होता है। इसके देव या अभिमानी रुद्र, गरुड़, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वसु और चन्द्रमा हैं। जो मन इन्द्रियरूप से प्रसिद्ध है वह तत्त्व नहीं है। वह नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार का है। नित्य मन परमात्मा, लक्ष्मी तथा ब्रह्मादि सब जीवों का स्वरूपभूत है। इसी को साक्षी[2] कहते हैं। यह आत्मस्वरूप या

---

१. श्री-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध सत्त्व अप्राकृत वस्तु हैं, इसीलिए लीलादेह अप्राकृत है। वह भी जड़ पदार्थ है, यद्यपि प्राकृतिक जड़ पदार्थ से विलक्षण है। पर कोई-कोई आचार्य शुद्ध सत्त्व को चिन्मय वस्तु न मानते हों सो बात नहीं है। ईसाई, मोहम्मदीय, सूफी धर्माचार्य लोग तथा ग्रीक आदि पाश्चात्य और बौद्ध आदि प्राच्य दार्शनिक तत्त्ववेत्ता लोगों ने भी किसी-न-किसी प्रकार से इसका अङ्गीकार किया है। तन्त्र में भी इसके रहस्य का निर्णय करने की चेष्टा की गई है। गौड़ीय सिद्धान्त की आलोचना के प्रसङ्ग में अन्यत्र इस विषय की विस्तृत आलोचना करने की इच्छा है, इसलिए यहाँ हम विरत होते हैं।

२. प्रत्यक्ष साक्षी और षडिन्द्रियभेद से ७ प्रकार का है। परमात्मा, लक्ष्मी और मुक्त गणों का प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्यमय है—यही साक्षिज्ञान है। बद्ध जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के अधीन और प्राकृत है।

चैतन्यस्वरूप है। बद्ध जीव का मन चेतन और अचेतन उभयरूप है। मुक्त लोगों का मन चेतन है। भगवान् जीव-देह में रहकर जीव की इन्द्रियों द्वारा भोग करते हैं। अनित्य मन बाह्य पदार्थ है—आत्मस्वरूप नहीं है। यह ब्रह्मादि सभी जीवों में है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतना-भेद से यह पाँच प्रकार का है। संकल्प और विकल्प मन के कार्य हैं।

मन के तुल्य इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की हैं। जो इन्द्रियाँ तत्त्वरूप हैं, वे अनित्य हैं और तत्त्वभिन्न इन्द्रियाँ नित्य एवं 'साक्षी' कही जाती हैं। दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म के भेद से दो प्रकार की हैं। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। नित्य इन्द्रियाँ परमात्मा, लक्ष्मी तथा जीवमात्र की स्वरूपभूत हैं। पर इनमें कुछ वैशिष्ट्य है। परमात्मा और लक्ष्मी की दस इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय यहाँ तक कि उनके केश, नख आदि भी रूप, रस आदि सब पदार्थों के ग्राहक हैं। मुक्त और बद्ध जीवों की इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य पदार्थ की उद्भासक हैं। इसलिए माध्वमत में प्रत्येक जीव की स्वरूपभूत नित्य इन्द्रियाँ तथा अहंकार से उत्पन्न तत्त्वभूत अनित्य इन्द्रियाँ हैं। ब्रह्मादि की भी स्थूल इन्द्रियाँ हैं, यह स्वीकार करना होगा। उनकी सूक्ष्म इन्द्रियाँ ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत पञ्चभूतों की सृष्टि के अनन्तर अहंकार और पञ्चभूतों से क्रमशः वृद्धिगत होकर स्थूलभाव को प्राप्त होती हैं। स्वरूपभूत इन्द्रिय को साक्षी कहते हैं—मुक्तावस्था में इसके द्वारा साक्षात्‌रूप से सभी पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। किन्तु बद्धावस्था में भी इसकी उपयोगिता है। आत्मा, मन, मन के धर्म सुख, दुःख आदि, अविद्या, काल, अव्याकृताकाश—ये साक्षिगोचर हैं।[1] रूप, रस आदि साक्षात्‌रूप से बाह्य इन्द्रियों के विषय होने पर भी परम्परा से साक्षिभास्य हैं। अतीन्द्रिय पदार्थमात्र ही साक्षी द्वारा प्रतिभात होता है।

शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय 'तन्मात्रा' कहे जाते हैं। ये तत्त्वों के अन्तर्गत हैं और तामसाहङ्कारजन्य द्रव्य पदार्थ हैं। इनसे अतिरिक्त आकाश आदि के गुण जो शब्दादि हैं वे तत्त्व अथवा द्रव्यात्मक नहीं हैं। इन सब तन्मात्राओं द्वारा तामसाहंकार से ही आकाश आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश उद्भूत है—इसका परिमाण अहंकारतत्त्व से दस गुना कम है। आकाश के तुल्य वायु आदि तत्त्व भी स्पर्शादि तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं। पीछे-पीछे के तत्त्व पूर्वोत्पन्न तत्त्वों से दस गुना छोटे हैं। आकाश से वायु का परिमाण इसीलिए दस गुना कम है। अग्नि आदि तत्त्वों के परिमाण के सम्बन्ध में भी वह एक ही नियम समझना चाहिए। आकाश, वायु आदि तत्त्व से अतिरिक्त भी हैं। प्राणादि नित्य वायु ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त जीवों का स्वरूपभूत है, अनित्य प्राणादि संसारी जीवों में रहते हैं। अग्नि आदि भी तत्त्वभिन्न वायु की तरह नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। नित्य अग्नि आदि ईश्वर आदि के स्वरूपभूत हैं।

---

१. आत्मा, मन आदि साक्षिवेद्य हैं, इस सम्बन्ध में माध्वगणों ने बहुत युक्तियाँ दरसाई हैं। इस विषय में विशेष जिज्ञासु जन अणुव्याख्यान आदि आकर-ग्रन्थों में उसकी आलोचना देख सकेंगे। मध्वसिद्धान्तसार नामक ग्रन्थ में भी उसका संक्षिप्त वर्णन दिया गया है।

ब्रह्माण्ड के परिमाण के विषय में श्रीमद्भागवतादि का अनुसरण करते हुए निर्णयकार ने कहा है कि यह ५० करोड़ योजन विस्तीर्ण है। ब्रह्माण्ड के बाहर पृथ्वी आदि से लेकर अव्यक्त-पर्यन्त तत्त्वसमुदाय की आवरणमाला वलय के रूप में अवस्थित है। ब्रह्माण्ड के निर्माणकार्य में उपर्युक्त सभी तत्त्वों के अंशों की आवश्यकता होती है। यह सभी प्राणियों का निवास-स्थान और चौदह भुवनरूप है।

पञ्चभूतों की सृष्टि हो जाने पर पञ्चपर्वा अविद्या की सृष्टि होती है। माध्वगण कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्माण्ड के बाहर पञ्चभूतों से ही अविद्या की उत्पत्ति हुई थी, तथापि भगवान् ने उसको ब्रह्मा पर फेंक दिया था और सृष्टिकाल में उसके ब्रह्मा की देह से बाहर निकल आने के कारण किसी-किसी जगह वह ब्राह्मी सृष्टि कही जाती है। यह अविद्या जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया—इन चार प्रकारों की है। अविद्या जीवाश्रित है एवं प्रत्येक जीव के लिए पृथक्-पृथक् है। माध्व लोग सर्वजीवाश्रित एकमात्र अज्ञान स्वीकार नहीं करते। श्री जैसे विद्या की अभिमानिनी देवता हैं वैसे ही दुर्गा अविद्या की अभिमानिनी देवता हैं।

वर्ण के आकार आदि इक्यावन हैं। लौकिक और वैदिक सभी शब्द वर्णात्मक हैं। वर्ण-समूह, देवताओं के तुल्य, नित्य—क्रमरहित—और व्यापक द्रव्यविशेष हैं। ये ज्ञान द्वारा अभिव्यक्त होते हैं एवं विशेप-विशेष आनुपूर्वी को प्राप्त होकर पदार्थों के वाचक होते हैं। अन्धकार भी एक प्रकार का द्रव्य है। जो तेज के अभाव को अन्धकार कहते हैं उनका मत ठीक नहीं है। शास्त्र में चक्र आदि के द्वारा अन्धकार के उच्छेद का वर्णन मिलता है। जड़ प्रकृति से उत्पन्न अत्यन्त निविड़ द्रव्य विशेष हुए विना इस प्रकार का छेदन सम्भव नहीं है। कौरव और पाण्डवों के युद्ध-काल में सूर्य के रहते भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्धकार की सृष्टि की थी, यह सबपर विदित भी हुआ था। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि ब्रह्मा ने अन्धकार पी डाला था (द्रष्टव्य तृतीय स्कन्ध)। इसके अतिरिक्त आवरकत्व और स्वतन्त्र रूप से उपलब्धि-योग्यता भी अन्धकार की प्रकाशाभावता में विरोधी प्रमाण है।

वासना या संस्कार भी एक प्रकार का द्रव्य है। यह पूर्व अनुभव से उत्पन्न होता है एवं मन में रहता है। इसके प्रवाह का आरम्भ खोजने पर मिलता नहीं। स्वप्न-काल में जो सब पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब वासना से निर्मित होते हैं। काल-आयु का व्यवस्थापक द्रव्य है। वह ज्ञानादि बहुत रूपों से युक्त है—अखण्ड नहीं है। प्रकृति से उसकी उत्पत्ति होती है। उसका विनाश भी होता है। इसलिए वह नित्य द्रव्य नहीं है, यह कहना अनावश्यक है। पर वह व्यापक, स्वगत और सर्वाधार है, इसमें सन्देह नहीं। काल-प्रवाह नित्य है। कार्यमात्र की उत्पत्ति काल के अधीन है। माध्व-मत में प्रतिविम्ब भी एक पृथक् द्रव्य है। वह बिम्ब का अविनाभूत तथा बिम्बसदृश है, किन्तु मिथ्या नहीं है। इसके नित्य और अनित्य ये दो भेद हैं। परमात्मा के सिवा सभी चेतन पदार्थ परमात्मा के प्रतिविम्ब और नित्य हैं। लक्ष्मी, ब्रह्मा और प्रकृति के भी प्रतिविम्ब हैं। वे भी नित्य हैं। अधम श्रेणी के देवता उत्तम देवताओं के प्रतिबिम्बस्वरूप हैं।

गुणों का विशेष विवरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। मगर कई एक प्रसिद्ध गुणों के सम्बन्ध में माध्वगण क्या कहते हैं—यही यहाँ पर आलोचनीय है। प्रथमतः, रूप शुक्ल आदि के भेद से सात प्रकार के हैं। शुक्ल आदि प्रत्येक रूप की नित्य और अनित्य एवं उद्भूत और अनुद्भूत ये दो अवस्थाएँ हैं। नित्य सातों प्रकार के रूप परमात्मा और लक्ष्मी में उपलब्ध होते हैं। जीव के भी स्वरूपभूत नाना प्रकार के वर्ण हैं। मुक्त पुरुषों में सभी के वर्ण अलग-अलग हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में जो 'श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः' आदि वर्णन मिलता है, आचार्य ने उसका मुक्तात्माओं के वर्णन के रूप से अनुव्याख्यान, छान्दोग्य-भाष्य आदि ग्रन्थों में दृष्टान्तरूप में ग्रहण किया है। पाञ्चरात्र में बहुत जगह इस प्रकार का वर्णन दिखाई देता है। प्रकृति के लोहित, शुक्ल और नील रूप भी नित्य हैं। महत्तत्त्व का रूप सुवर्णतुल्य है। पृथिवी, जल और तेज का रूप अनित्य तथा उद्भूत है, किन्तु आकाश का रूप अनुद्भूत है। पृथिवी में सातों प्रकारों के रूप हैं। जल और तेज का रूप क्रमशः शुक्ल और शुक्लभास्वर है। आकाश और अन्धकार का रंग नीला है। वासना तथा प्रतिविम्व के भी नाना प्रकार के रूप हैं। रूप के तुल्य छह प्रकार के रस नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। ईश्वर और लक्ष्मी का रस मधुर है। जल का रस भी वही है। पृथिवी और वासना में छहों प्रकार के रसों का अस्तित्व पाया जाता है। गन्ध दो प्रकार की है—सुरभि और असुरभि। ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त पुरुषों में नित्य सुगन्ध है। पृथिवी और वासना में दोनों प्रकार की गन्ध प्राप्त होती है। स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग विभाग, द्रवत्व, गुरुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य आदि तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इत्यादि बहुत-से गुण माध्वगण स्वीकार करते हैं। उन सब गुणों की विस्तृत आलोचना, वर्त्तमान निवन्ध में होना सम्भव नहीं है। फिर भी आवश्यकतानुसार किसी-किसी गुण की आलोचना प्रसंगतः की जायगी।

माध्व-मत में मोक्ष-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है। परमेश्वर के अनुग्रह से अपरोक्ष ज्ञान अथवा भगवद्दर्शन होता है। भगवान् का दर्शन प्राप्त करने पर उनकी अनन्त कल्याणगुणावली का ज्ञान होता है और उनके प्रति अखण्ड प्रेम-प्रवाह उत्पन्न होता है। वह प्रेम कितना गहरा रहता है, इसका बखान नहीं किया जा सकता। उसके उदय से अपनी आत्मा तथा आत्मीय वर्ग की स्मृति तक हट जाती है। जगत् में जितने प्रकार के अन्तराय हैं उनकी समवेत शक्ति से भी उसका प्रवाह रुकता नहीं है। इस प्रेम का पारिभाषिक नाम 'परमभक्ति' है। इसका फल भगवान् का आत्यन्तिक प्रसाद या परमानुग्रह है। इस अनुग्रह से ही परमार्त्तिरूप संसार से जीव का छुटकारा होता है। स्वर्ग-प्राप्ति तथा जन-लोकादि ऊर्ध्व लोकों में गति भगवान् के अधम और मध्यम अनुग्रह का फल है। किन्तु प्रकृति और अविद्या आदि आवरणों से छुटकारा मिलना भगवान् के परमानुग्रह के विना सम्भव नहीं है। भगवद्दर्शन से

आत्मसम्बद्ध प्रकृति, सत्त्वादि गुण, कर्म और सूक्ष्म देह जल जाते हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्म रहने तक वे दग्ध इन्धनवत् (जले काष्ठ की तरह) पुनः-पुनः आविर्भूत और तिरोहित होते हैं। अज्ञान का आश्रय जीव ही है, अन्तःकरण नहीं। यद्यपि जीव स्वप्रकाश है तथापि ईश्वर की इच्छा से स्वप्रकाश वस्तु भी अविद्या द्वारा आवृत हो सकती है।

यह मुक्ति चार प्रकार की है—जैसे, कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि-मार्ग एवं भोग। उनमें अपरोक्ष ज्ञान से सभी संचित पापों तथा अनिष्ट पुण्य कर्मों का सम्यक् विनाश होता है, वही कर्म-क्षय है[1]। विनाश शब्द से केवल ध्वंस अथवा स्वरूप-विनाश की ही प्रतीति हो सो बात नहीं है। किसी-किसी कर्म का अवश्य ध्वंस होता है। परन्तु कोई-कोई विशिष्ट अनिष्ट पुण्य सुहृद्वर्ग में और कोई-कोई पाप शत्रु में संचारित होता है। प्रारब्ध कर्म अपरोक्ष ज्ञान से भी विनष्ट नहीं होता—एकमात्र भोग से ही उसका क्षय होता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि देवता भी प्रारब्ध कर्म का फलभोग करने के लिए बाध्य होते हैं। ब्रह्मा का प्रारब्ध पुण्यात्मक है, उसका फल है सत्यलोक का आधिपत्य और भोगानुभव तथा उसका भोगकाल सौ ब्रह्मकल्प है। उसी तरह गरुड़ और शेष का प्रारब्ध पुण्य-पापात्मक है और उसका भोगकाल है पचास ब्रह्मकल्प। इन्द्र और कामदेव का बीस ब्रह्मकल्प तथा चन्द्रमा और सूर्य का दस ब्रह्मकल्प तक अपने-अपने पुण्य-पापात्मक प्रारब्ध कर्म का फलभोग होता है। श्रेष्ठ मनुष्यों के भोगकाल का परिमाण एक ब्रह्मकल्प होता है। प्रारब्ध क्षय हो जाने के बाद ब्रह्मनाड़ी के सहारे जीव का उत्क्रमण होता है। यह ब्रह्मनाड़ी अथवा सुषुम्णानाड़ी मूलाधार से मस्तक-पर्यन्त श्वेतवर्ण सरल रेखा के तुल्य दीपशलाका-वत् देह के भीतर विराजमान है। इसके पाँच भेद हैं। देहादि प्रतीक का अवलम्बन किये विना जिन सब जीवों का अन्यत्र अपरोक्ष ज्ञान उदित होता है उनमें से कोई-कोई सुषुम्णा के मार्ग से उत्क्रमण करते हैं। तब जीव को कुछ बोध नहीं रहता, विष्णु का अपने तेज से हृदय का अग्रभाग उज्ज्वल रूप से प्रकाशित होता है। इसी को ब्रह्मद्वार कहते हैं। उसी मार्ग से जीव को साथ लेकर हृदयस्थ भगवान् बाहर निकलते हैं। प्राण उनका अनुगमन करता है, अन्यान्य देवता, विद्या, कर्म और योग्यता उसी प्रकार प्राण का अनुसरण करते हैं। चलते-चलते मार्गस्थित लोकों में निवास करनेवाले लोग ऊपर गमनशील मुक्तात्मा को देखकर, उनके साथ भगवान् अवश्य होंगे, यह जानकर नाना प्रकारों से उनका स्वागत-सत्कार करते हैं। इस तरह क्रमशः वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति होती है और वहाँ भगवान् के तुरीय रूप का साक्षात्कार होता है। माण्डूक्य-भाष्य में लिखा है कि भगवान् का यह तुरीय रूप व्यवहारजगत् में दृष्टिगोचर नहीं होता – वह द्वादशान्त में स्थित है एवं मुक्तात्माओं को ही प्राप्त होता है। देहादि प्रतीकों के अवलम्बन से जो अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं उनके

---

१. चौदह वर्ष तथा उससे अधिक उम्र में अनुष्ठित कर्मों से अधिक-से-अधिक दस बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यदि संचित कर्मों का विनाश न होता तो कभी भी मोक्ष की सम्भावना न रहती।

अन्तकाल में भगवंत्स्मृति अवश्य जाग उठती है। अज्ञानियों के मृत्युकाल में भगवत्स्मृति नहीं जागती—यहाँ तक कि जिन ज्ञानियों का प्रारब्ध-क्षय नहीं होता उनके भी मृत्युकाल में भगवत्स्मृति नहीं जागती। कर्ममिश्रित ज्ञानियों का मन देहत्याग के समय वैष्णवी माया के प्रभाव से वहिर्मुख हो पड़ता है। तव भगवत्प्रकाशमय सुषुम्णा नाड़ी की पार्श्ववर्त्ती नाड़ी द्वारा गमन होता है और क्रमशः अर्चिरादि लोकों की प्राप्ति होती है। तदुपरान्त वायुलोक में जाने पर वायु द्वारा चालित होकर ब्रह्मलोक में गति होती है। ब्रह्मा स्वदेह के लय के अनन्तर ज्ञानी को वैकुण्ठ तक पहुँचा देते हैं। अर्थात् ब्रह्म-लोकवासी सभी ब्रह्मा के प्रारब्ध भोग के अन्त में उनके साथ एक ही समय परमपद प्राप्त करते हैं। किन्तु जो अपरोक्ष ज्ञानी एकगुणोपासक हैं वे ज्ञान-लाभ कर देह से उत्क्रमण नहीं करते,—प्रारब्धभोग के अन्त में देहपात होने पर पृथिवी आदि स्थानों में परमानन्द का भोग करते हैं। किन्तु उपदेश-प्राप्ति सभी को सत्यलोक में ब्रह्मा से होती है। सभी को श्वेतद्वीप में वासुदेव के दर्शन तथा ध्रुवलोक में स्थित अनन्त जगतों के आधारभूत शिशुमार के दर्शन करने पड़ते हैं। एकगुणोपासक श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन कर उनकी अनुज्ञा से पृथिवी आदि में सदानन्द में विहार करते हैं। तम के योग्य जीव द्वेष का विपाक होने के बाद देह से उत्क्रान्त होते हैं और कलि को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा के देहान्त के समय इन सब जीवों के लिङ्गशरीर वायु के गदा-प्रहारों से भग्न हो जाते हैं।

जो जीव नित्य संसारी हैं उनका भी लिङ्गशरीर निवृत्त हो जाता है। लेकिन लिङ्गदेह भग्न होने पर भी उनकी संसार-योग्यता नष्ट नहीं होती। संसारावस्था में वे जिस प्रकार का दुःखमिश्रित सुख का अनुभव करते थे, लिङ्गदेह नष्ट होने पर भी वे वैसे ही सुखमिश्रित दुःख का भोग करते हैं। इसीलिए इस प्रकार के जीवों को नित्य संसारी कहा जाता है। इनका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—मुक्तियोग्य जीवों के लिए वैकुण्ठ आदि लोक हैं। तामस जीवों का भी एक तमोमय स्थान है। किन्तु जो नित्य संसारी हैं वे स्वर्ग, नरक, भूलोक आदि सब स्थानों में सर्वदा संचरण करते रहते हैं। इसीलिए उनका शास्त्र में 'नित्यवद्ध' नाम से अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। पर एक वात है। वह यह कि वास्तविक संसार में अर्थात् लिङ्गदेह के भग्न होने की पूर्व अवस्था में, सुख और दुःख का भोग पारी-पारी से होता है। किन्तु मुक्ति में एक ही समय में सुख और दुःख उभयमिश्रित स्वरूप का अनुभव होता है।

नित्य संसारी जीव दो प्रकार के हैं। उनमें अनेकों की केवल स्वर्ग में स्थिति होती है, अनेक स्वर्ग और नरक दोनों जगह गमनागमन करते रहते हैं।[१] दोनों ही प्रकार के जीव लिङ्गदेह के टूट जाने पर स्वस्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।

माध्व कहते हैं कि भूलोक से स्वर्ग-पर्यन्त तीन लोकों में पुनरावर्त्तन होता है। अर्थात् पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर भी वह अवस्था स्थायी नहीं रहती।

---

१. नित्यसृतिस्था द्विविधाः स्वर्गमात्रैकभागिनः।
पतमानास्तथा केचित् स्वर्गेषु नरकेषु च ॥ (माघमाहात्म्यस्थ शाण्डिल्यतत्त्व)

पुण्य-क्षय होते ही स्वर्ग से पतन अवश्यमेव हो जाता है। इसलिए स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा करना ठीक नहीं है। स्वर्ग के ऊपर महर्लोक है। इस लोक तक यदि चढ़ा जा सके तो कुछ अंशों में निश्चिन्तता प्राप्त हो जाती है। लेकिन उस स्थान में भी पतन की आशंका अल्पाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। महर्लोकनिवासी जीवों का आयुष्काल एक कल्प है एवं स्वर्गवासियों की आयु का परिमाण एक मन्वन्तर है। ज्ञान के सिवा, केवल कर्म द्वारा, स्वर्ग के ऊपर स्तर में चढ़ा नहीं जा सकता। ज्ञान के संचारमात्र से ही त्रिलोक का भेद हो जाने से जीव फिर पुनर्जन्म की शङ्का से रहित हो जाता है। ज्ञान परिपक्व होने पर भगवद्धाम में अथवा कुछ कमी रहने पर वायु-लोक में गति होती है, नहीं तो स्थानमात्र के आश्रित होकर काल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वास्तव में जनलोक से ही पुनरावृत्ति की आशंका निवृत्त हो जाती है। जनलोक-निवासी जीवों का एक ब्रह्म-कल्प तक भोग होता है। महामेरु पर स्थित ब्रह्मसदन तथा जनलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्त्तन-रहित हैं। इन सब लोकों में गमन कर सकने पर जन्म-ग्रहण का भय फिर नहीं रहता। फिर भी अंश द्वारा जन्मादि हो सकते हैं। किन्तु उनसे मूलरूप की कुछ भी क्षति नहीं होती। वस्तुतः इस प्रकार के स्थलों पर भी अवतीर्ण अंश यथासम्भव शीघ्र स्वस्थान में पुनरागमन करते हैं। जो ब्रह्मनाड़ी का अवलम्बन कर उत्क्रमण करते हैं और अर्चिरादि मार्ग के सम्बन्ध से वैकुण्ठलोक को प्राप्त होते हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। अवश्य अन्यों की पुनरावृत्ति हो सकती है। राजा रैवत सत्यलोक से मर्त्य-लोक में अवतीर्ण हुए थे। राजा परीक्षित् शुकदेव के उपदेशों से अपरोक्षज्ञान प्राप्त करके भी अर्चिरादि मार्ग से वैकुण्ठ को प्राप्त होकर वहाँ से व्यास के आदेश से भूलोक में अवतीर्ण हुए थे; और जनमेजय आदि को उन्होंने दर्शन दिये थे, ऐसा सुना जाता है। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से सब कुछ सम्भव होता है।

देवताओं का उत्क्रमण नहीं होता, अर्चिरादि मार्ग से गति भी उनकी नहीं होती। लेकिन मनुष्यरूप में जन्म ग्रहण करने पर उनके भी उत्क्रमण आदि हो सकते हैं, किन्तु उससे मुक्ति-प्राप्ति नहीं हो सकती। देवताओं की मुक्ति एकमात्र उत्तम देह में स्वदेह के लय द्वारा हो सकती है। यह लय-मार्ग दो प्रकार का है—गरुड़मार्ग और शेषमार्ग। प्रथम मार्ग यों है—अग्नि सूर्य में लीन होती है, सूर्य गुरु में, गुरु इन्द्र में, इन्द्र सौपर्णी में एवं सौपर्णी गरुड़ में लीन होती है। द्वितीय मार्ग है—वरुण सोम में लीन होता है, सोम अनिरुद्ध में, अनिरुद्ध काम में, काम वारुणी में एवं वारुणी शेष में लय को प्राप्त होती है। अन्यान्य देवताओं में कोई-कोई गरुड़-मार्ग में अथवा कोई शेष-मार्ग में प्रविष्ट होकर विलीन होते हैं। जैसे भृगु आदि देवता दक्ष में तथा दक्ष इन्द्र में लीन होते हैं, वैसे ही आकाश के अधिष्ठाता गणेश और पृथिवी की अधिष्ठात्री धरा गुरु में लीन होती है। यह गरुड़-मार्ग के अन्तर्गत है। कर्मज देवता, प्रियव्रत और गय स्वायम्भुव मनु में एवं मनु इन्द्र में लीन होते हैं। मरुद्गण और जयादि सभी इन्द्र में लीन होते हैं। निर्ऋति और पितृगण यम में और यम इन्द्र में लीन होते हैं। आजानज और अवशिष्ट देवता

अग्नि में लीन होते हैं। यह भी गरुड़-मार्ग है। गन्धर्वगण कुवेर में, कुवेर सोम में, सनकादि काम में तथा विष्वक्सेन अनिरुद्ध में लीन होते हैं। यह शेष-मार्ग है। गरुड़ और शेष सरस्वती में, सरस्वती ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा लक्ष्मी द्वारा परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। इधर उमा रुद्र में, रुद्र भारती में, भारती वायु में एवं वायु लक्ष्मी में लीन होता है। इन सबका परमात्मा में लय किंवा मुक्ति नहीं होती। ब्रह्मकल्प का अन्त हो जाने पर ये व्युत्थित होकर वायु ब्रह्मरूप में, भारती सरस्वतीरूप में, रुद्र शेषरूप में एवं उमा वारुणीरूप में प्रकटित होती हैं। इसके अनन्तर अवश्य स्वाभाविक क्रम से उनकी मुक्ति होती है।[1]

उपर्युक्त प्रकार से लय हो जाने के बाद जीव ब्रह्मा के साथ विरजा में स्नान कर परम मोक्ष प्राप्त करता है, विरजा में स्नानमात्र से ही लिङ्गदेह का विनाश होता है एवं जीव भगवद्धाम में प्रवेश करता है। अतएव विरजा को पार न करने तक ही प्रारब्ध कर्म रहते हैं। विरजा प्रधान और परमव्योम या अव्याकृत आकाश के मध्यवर्त्ती और लक्ष्मीस्वरूप है। इसको वैकुण्ठ की परिखा (खाई) भी कहा जा सकता है। दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन—इन षोडश कलाओं से विशिष्ट सूक्ष्मदेह को लिङ्गदेह कहते हैं। जब जीव के साथ लिङ्ग का सम्बन्ध हट जाता है तभी लिङ्ग-भङ्ग हुआ यह कहना बनता है। वस्तुतः लिङ्ग प्रकृत्यात्मक है, इसलिए उसके स्वरूप का विनाश नहीं होता, यद्यपि कोई-कोई उसका विनाश भी स्वीकार करते हैं।[2] जो स्वरूप ध्वंसवादी हैं, वे कहते हैं कि यद्यपि लिङ्ग अनादि है तथापि उसका ध्वंस हो सकता है। दृष्टान्तरूप में वे प्रागभाव, अविद्या आदि का उल्लेख करते हैं।

प्रलयकाल में सभी जीव भगवान् के उदर में प्रविष्ट होते हैं। तब केवलमात्र स्वरूपानुभूति रहती है, विषय-भोग नहीं होता। नूतन सृष्टि के समय जब बाहर गति होती है तब विषय-भोग होता है। सृष्टि अथवा प्रलय में मुक्त पुरुषों के ज्ञान, आनन्द आदि में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मुक्त लोगों के लिए भीतर और बाहर एक समान हैं। फिर भी एक बात है। वह यह कि माध्व मुक्ति में सब जीवों का तुल्य आनन्द नहीं मानते। वे कहते हैं कि जीव को अपनी योग्यता के अनुसार आनन्दभोग प्राप्त होता है। योग्यता का तारतम्य रहने पर मुक्ति में भी भोग का तारतम्य अवश्यम्भावी है।

भोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य-भेद से चार प्रकार का है। समानैश्वर्य भोग का नाम सार्ष्टि है—यह सायुज्य का ही अवान्तर भेद है। भगवान्

---

१. माध्व सम्प्रदाय का शैवविद्वेष इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है।

२. जो लोग लिङ्ग के विनाश का स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि विरजा में स्नान करते समय लिङ्गशरीर जीव का त्याग कर नदी में (विरजा में) गिर जाता है और उसी में तैरने लगता है।

में प्रविष्ट होकर भगवद्देह के द्वारा जो भोग होता है वही सायुज्य है[1]। देवगण इसके अधिकारी हैं। देवगण अपने-अपने उत्तम देह में तथा परमात्म-देह में प्रविष्ट होकर भोग कर सकते हैं। ब्रह्मा का भोग केवल परमात्मा के शरीर से ही निष्पन्न होता है[2]। प्रलय-काल में सभी भगवद्देह में प्रवेश करते हैं। अन्य समय में मुक्त जीव अपने इच्छानुसार स्वरूप से बाहर आ सकते हैं, फिर स्वरूप में प्रविष्ट हो सकते हैं। वे स्वाधीन हैं। सालोक्य मुक्ति को प्राप्त मुक्त जीव भगवल्लोक के जिस किसी स्थान में रहकर इच्छानुरूप भोग-सम्पादन करते हैं। कोई-कोई उत्क्रमण न कर यहीं मुक्ति-लाभ करते हैं एवं रहते हैं। कोई अन्तरिक्ष में अथवा स्वर्ग, महर्लोक आदि स्थानों में या क्षीरसागर में रहते हैं। सामीप्य और सारूप्य का भोग भी उक्त रीति से समझ लेना चाहिए। मुक्त जीवों के भोग-स्थानों का अन्त नहीं है। क्षीरसागर, अश्वत्थवन, सुधा-समुद्र[3], मद्य-सरोवर, बाह्य उपवन आदि विचित्र भोगस्थानों का वर्णन मिलता है। उन उपवनों में जो वृक्ष हैं, उनकी प्रत्येक शाखा से अपूप (पूए) आदि गिरते हैं। वहाँ का कर्दम (कीचड़) ही सुस्वादिष्ट पायस (खीर)-रूप है।

मुक्त लोगों में से कोई स्त्रीभोगी हैं, कोई घोड़ों पर सवारी करने में मस्त हैं, कोई दिव्य आभूषणों से विभूषित होकर स्त्रीगणों के साथ जलक्रीड़ा में निरत हैं एवं कोई स्फटिक और इन्द्रनील आदि बहुमूल्य पत्थरों से निर्मित महलों में विराजमान हैं। उनमें से कोई यज्ञ आदि कर्मों में व्यस्त हैं, कोई वेदध्वनिपूर्वक भगवान् की स्तुति में संलग्न हैं, कोई शुद्धसत्त्वमय लीलाशरीर धारण कर क्रीड़ा कर रहे हैं, कोई अतीत जन्म और मरण की बातों का स्मरण कर हर्ष प्रकट कर रहे हैं, अथवा कोई इच्छामात्र से पितृलोक, मातृलोक आदि का दर्शन कर रहे हैं। भगवान् के गुणगान, नृत्य, वाद्य—किसी-न-किसी एक भाव में सभी मग्न हैं। सभी आनन्द में डूबे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पर आनन्द का तारतम्य (कमोवेशी) है। ईर्ष्यादि कुवृत्ति से सभी निर्मुक्त हैं। अपरोक्ष ज्ञान के बाद जो कर्म उपासना आदि किये

---

१. मुक्त जीव मर्त्य देह का त्याग कर चिन्मय देह तथा चिन्मय इन्द्रियों से युक्त होकर भगवद्देह में प्रविष्ट होता है। तब उसके सब अङ्ग भगवदङ्ग द्वारा अनुगृहीत होकर प्रवर्तित होते हैं, भगवान् के ही अनुग्रह से वह स्वेच्छानुसार भीतर अथवा बाहर संचरण करता है। सायुज्य मुक्त पुरुष के भोग का वर्णन आचार्य ने इस प्रकार किया है—

आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति।
गच्छेच्च हरिपादेन मुक्तस्यैषा स्थितिर्भवेत्॥

२. परमात्मा के शरीर में प्रविष्ट होने पर भी मुक्त जीव अपने स्वरूपानन्द का ही भोग करता है, परमात्मानन्द-भोग में समर्थ नहीं होता। परमात्मा और जीव का यही पार्थक्य है कि परमात्मा जीवभोग्य आनन्द के भी भोक्ता हैं, किन्तु जीव परमात्मा में प्रविष्ट होने पर भी उनके आनन्द का भोग प्राप्त नहीं कर सकता।

३. आचार्य कहते हैं कि छान्दोग्योपनिषद् में जो मुक्तयोग्य ब्रह्मपुर का विवरण है उसका नाम श्वेतद्वीप है। उसमें चिदानन्दरसात्मक अरण्य नामक दिव्य समुद्र अथवा अमृतह्रद है, हर्षजोत्मक मद्य-सरोवर है तथा सुधास्रावी अश्वत्थ है।

जाते हैं उनके वैचित्र्य से आनन्दाभिव्यक्ति में तारतम्य होता है। यदि तारतम्य न होता तो अनुष्ठान की सार्थकता न रहती। अपरोक्ष ज्ञान के बाद भी रुद्र, इन्द्र, सूर्य, धर्म आदि के धर्मानुष्ठान का वर्णन मिलता है[1]।

जीव स्वरूपतः अणुपरिमाण है। मुक्ति में उसके लिए भोग-सम्पादन किस प्रकार हो सकता है? कोई-कोई ऐसा प्रश्न उठा सकते हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यद्यपि जीव अणु है तथापि उसके इच्छानुसार भगवान् उसके लिए कल्याणतम महद्रूप का निर्माण कर देते हैं। पितृजीव, गन्धर्वजीव और देवता ब्रह्मादि नाना प्रकार के जीव हैं। भगवान् प्रत्येक मुक्त जीव को उसकी योग्यता के अनुसार स्वभावानुरूप नवीन आकार प्रदान करते हैं। स्वर्णकार जिस प्रकार अग्निक्रिया द्वारा सुवर्ण का मल हटाकर उसे शुद्ध करता है और उसको इच्छानुसार आकार प्रदान करता है, भगवान् भी वैसे ही जीव के अविद्या, काम, कर्म आदि मल को आत्माग्नि में जलाकर उसको योग्य कल्याण-रूप प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से मुक्तावस्था में जीव का अष्टैश्वर्य अभिव्यक्त होता है।

वैकुण्ठ आदि भगवद्धाम लक्ष्म्यात्मक हैं, इसलिए वे चिन्मय और नित्य हैं। केवल यही नहीं, धामों में स्थित लीला के उपकरणभूत सभी पदार्थ भी वैसे ही अप्राकृत और नित्य हैं। ब्रह्मादि जीवों के मुक्त हो जाने पर उनके जगत्सृष्टि आदि व्यापार कुछ नहीं रहते—केवल अपने अधिकार में स्थित मुक्त जीवों के ऊपर आधिपत्य रहता है। नियम्यनियामकभाव मुक्ति के बाद भी विद्यमान रहता है। किन्तु मुक्त की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती। अवश्य वैकुण्ठनिवासी जय, विजय आदि सनकादि के शाप से पृथ्वी अवतीर्ण हुए थे, यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। किन्तु वे मुक्त नहीं थे, केवल अधिकारस्थ थे। मुक्त होने पर शाप नहीं लगता।

परमात्मा स्वयं वैकुण्ठ में अवस्थान करते हैं,—मुक्त ब्रह्मादि करोड़ों जीव उनकी स्तुति करते हैं। वे अनन्त शक्तिशाली, अनन्त गुण-सम्पन्न और परिपूर्ण भोगी हैं। लक्ष्म्यात्मक विमिताख्य पर्यङ्क पर उनकी शय्या है, सुनन्द, नन्द आदि उनके पार्षद हैं, स्वयं महालक्ष्मी उनके प्रिय कर्मों के गान में और विविध सत्कार-कार्यों में निरत रहती हैं।

रुद्र-सम्प्रदाय

(वल्लभ-मत—शुद्धाद्वैत)

अब हम संक्षेप में वल्लभाचार्य-सम्मत सिद्धान्त की किंचित् आलोचना करेंगे। विष्णुस्वामी नामक प्राचीन आचार्य ने जिस मत को चलाया था; उसी का

---

१. रुद्र ने लवण (क्षार) समुद्र में सौ कल्पों तक तपस्या की थी, इन्द्र ने करोड़ों वर्षों तक धूमपान किया था, सूर्य ने दस हजार वर्षों तक नीचे सिर ऊपर टाँगकर कृच्छ्रसाधन किया था एवं आकाशशायी धर्म ने हजार वर्षों तक मरीचि (किरण)-पान किया था।

वल्लभाचार्य प्रचार कर गये हैं। प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी दिल्ली-सम्राट् के अधीन किसी एक द्रविड़देशीय राजा के पुत्र थे। उनका आविर्भाव-काल अभी निर्णीत नहीं हुआ है, पर नाभाजी-रचित भक्तमाल से पता चलता है कि साधु ज्ञानदेव उन्हीं के सम्प्रदाय के अन्तर्गत एवं उनके अव्यवहित परवर्त्ती थे। वे ज्ञानदेव यदि श्रीमद्भगवद्गीता के महाराष्ट्री अनुवादकर्त्ता ज्ञानदेव (१२९० ई०) से अभिन्न हों[1] तो विष्णुस्वामी का समय १२५० ई० मान लिया जा सकता है।

विष्णुस्वामी के मतानुयायियों में गर्भश्रीकान्त मिश्र का नाम सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित है। ये सभी नृसिंहमूर्त्ति के उपासक थे, ऐसा प्रतीत होता है। दीर्घकाल तक यह सम्प्रदाय एक प्रकार से लुप्त रहा। बाद में वल्लभाचार्य ने इसको उज्जीवित किया। वल्लभाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे।

वल्लभाचार्यकृत ब्रह्मसूत्र का अणुभाष्य ही शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का उपजीव्य प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है। वल्लभाचार्य ने बहुत ग्रन्थों की रचना की थी। उनके द्वारा रचित श्रीमद्भागवतटीका सुबोधिनी, गीताटीका, तत्त्वदीपनिबन्ध अथवा तत्त्वार्थदीप, निबन्धप्रकाश, पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, कृष्णप्रेमामृत, सिद्धान्तरहस्य, सेवाफलविवृति, भक्तिवर्द्धिनी आदि विविध ग्रन्थ इस समय भी उस सम्प्रदाय में बड़े आदर के साथ पढ़े जाते हैं और आलोचित होते हैं। उनके पुत्र विट्ठलनाथ अथवा विट्ठलेश्वर दीक्षित ने भी कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके द्वारा रचित विद्वन्मण्डन का उल्लेख वल्लभाचार्य के अणुभाष्य (४।४।१४ सू०) में मिलता है। उनके कृष्णप्रेमामृत-टीका, रत्नविवरण, भक्तिहंस, वल्लभाष्टक, पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद-टीका आदि ग्रन्थ वैष्णव दर्शन के क्रमविकास के इतिहास की आलोचना के प्रसङ्ग में उल्लेखयोग्य हैं। विट्ठल के पञ्चम पुत्र रघुनाथ ने भक्तिहंस के ऊपर भक्तितरङ्गिणी नाम की टीका तथा वल्लभाष्टकस्तोत्र की टीका रची थी। बालकृष्णभट्ट ने प्रमेयरत्नार्णव, शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डप्रकाश, निर्णयार्णव, सेवाकौमुदी आदि पुस्तकों का प्रणयन किया था। बालकृष्ण का नामान्तर लालूभट्ट दीक्षित था।

---

१. ज्ञानदेव ने अपनी दीपिका नामक गीताटीका में अपनी गुरुपरम्परा के वर्णन-प्रसङ्ग में कहा है कि उनके गुरु निवृत्तिनाथ थे, परमगुरु गहनीनाथ और परमेष्ठी गुरु गोरक्षनाथ थे (द्रष्टव्य, दीपिका १८ तथा पण्डित पाण्डुरङ्गशर्मलिखित "An Outline of the History and Teaching of the Nathapanthiya Siddhas")। यह कहना अनावश्यक है कि इस गुरु-परम्परा में विष्णुस्वामी का नाम नहीं है। पर एक बात है। विष्णुस्वामी सिद्ध थे, इसमें सन्देह नहीं। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वरदर्शन की आलोचना करते समय विष्णुस्वामी के मतानुयायियों के "साकारसिद्धि" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। विष्णुस्वामी ने शङ्करसम्मत वेदान्तसिद्धान्त का खण्डन कर साकार ब्रह्मप्रतिपादक स्वमत की आलोचना की है। ग्रियर्सन (Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. II, p. 545) कहते हैं कि विष्णुस्वामी १४वीं सदी में आविर्भूत हुए थे। वल्लभ के पिता लक्ष्मण उनके शिष्य थे। ग्रियर्सन का मत ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि माधवाचार्य ने जिस रूप में विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय का उल्लेख किया है उससे उनके बहुत पहले विष्णुस्वामी का आविर्भाव स्वीकार किये बिना रहा नहीं जाता।

कल्याणराय के पुत्र गोपेश्वर विट्ठल के शिष्य थे। उनके भक्तिमार्त्तण्ड, वादकथा आदि ग्रन्थ उल्लेखयोग्य हैं। विट्ठल के दूसरे शिष्य पीताम्बर ने वल्लभकृत तत्त्वदीपनिबन्ध-प्रकाश की आवरणभङ्ग नामक टीका, विद्वत्कविभिन्दिमाल, प्रहस्त, पुष्टिप्रवाहमर्यादा-विवरण आदि का प्रणयन किया। पीताम्बर के पुत्र पुरुषोत्तम अणुभाष्य की 'प्रकाश' नामक टीका के रचयिता हैं। उनके द्वारा रचित विद्वन्मण्डन-टीका सुवर्णसूत्र, भक्तिहंसविवेक, भक्तितरङ्गिणी-टीका तीर्थ, वल्लभाष्टकविवृति-प्रकाश, अवतारवादावली आदि ग्रन्थों ने अधिक ख्याति प्राप्त की है।

गिरिधर का शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड, हरिराय का ब्रह्मवाद, गोपालकृष्णभट्ट का ब्रह्मवादविवरण, तापीश की पत्रावलम्बटीका, ब्रह्मवादार्थ तथा भट्टबलभद्र की सिद्धान्त-सिद्धापगा शुद्धाद्वैतमत जिज्ञासु के लिए अवश्य पाठ्य ग्रन्थ है। प्रस्थान-रत्नाकर, सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों का नाम भी इस प्रसङ्ग में उल्लेख योग्य है।

रामानुजीय अथवा माध्वसम्प्रदाय के तुल्य वल्लभ-सम्प्रदाय का साहित्य व्यापक अथवा पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। शतदूषणी अथवा न्यायामृत के तुल्य ग्रन्थ शुद्धाद्वैतदर्शन के साहित्य में नहीं हैं।

वल्लभाचार्य लक्ष्मणभट्ट नामक कृष्णयजुर्वेदीय तैलङ्ग ब्राह्मण के पुत्र थे। उनकी माता का नाम एलमागार था। लक्ष्मणभट्ट सपत्नीक तीर्थयात्रा के बहाने श्रीकाशीधाम के लिए रवाना हुए थे। मार्ग में उनकी पत्नी ने एक सन्तान को जन्म दिया। उसी सन्तान ने बाद में वल्लभाचार्य के नाम से ख्याति प्राप्त की। वल्लभ का आविर्भाव-काल सं० १५३५ वि० अथवा १४७८ ई० है। वल्लभ ने वृन्दावन और मथुरा में कुछ दिन व्यतीत किये थे। उस समय गोवर्द्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथ नामक गोपालकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये थे। कहा जाता है कि भगवान् ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर अपने मन्दिर के निर्माण और पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए आदेश दिया था।

वल्लभ-मत में जीवात्मा अणुपरिमाण, ब्रह्मांश और ब्रह्म से अभिन्न है। कारणात्मक अक्षर ब्रह्म से सच्चिदानन्दात्मक अणु-अंश, बृहत् अग्निराशि से छोटी-छोटी चिनगारियों के निकलने के तुल्य, निःसृत होते हैं। अक्षर ब्रह्म या भगवान् का स्वाभाविक धर्म विशुद्ध सत्त्व भी इसी तरह खण्डित होकर अणु-परिमाण में प्रत्येक जीव के साथ जुट जाता है। मूल से अंश के निःसृत होने पर भगवान् की इच्छा से प्रत्येक अंश में सत्त्वांश प्रबल होता है एवं आनन्दांश तिरोहित होता है। यह चित्प्रधान,लुप्तानन्द, निरुपाधिक ब्रह्माणु ही जीव कहलाता है। भगवान् का चिदंश ही जीव है। सृष्टिकाल में ही जीव से भगवान् का आनन्दांश तिरोहित हो जाता है। ऐश्वर्य आदि का तिरोभाव उसके बाद होता है। जीव अणु है सही, किन्तु भगवदाविष्ट अवस्था में, अर्थात् आनन्दांश की अभिव्यक्ति के समय, व्यापकता आदि भगवद्धर्म उसमें प्रकटित होते हैं। किन्तु उस समय भी जीव का व्यापकत्व सिद्ध नहीं होता। यशोदा की गोद में स्थित कृष्ण जिस प्रकार सर्वजगत् के आधाररूप में प्रकाशित हुए थे वैसे ही भगवदाविष्ट जीव में भी कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का प्रकाश दिखाई दे सकता है। लोहे का टुकड़ा अग्नि के सम्पर्क से दाहक होता है, किन्तु उसी कारण दाहकत्व लोह का धर्म नहीं कहा जा सकता।

व्यापकता भी वैसे ही आनन्दांश के सम्बन्धवश चिदंश में प्रकाशित भर होती है (तत्त्वदीप और प्रकाश, पृ० ८३)।

जीवसृष्टि सुनकर कोई यह न समझ लें कि वल्लभ-मत में जीव अनित्य है। वस्तुतः जीव नित्य है, पर जो सृष्टि अथवा निःसृति की बात कही गई है वह उद्गम-बोधक है, उत्पत्तिवाचक नहीं है। ब्रह्म व्यापक होने पर भी उससे अंश-निर्गम असम्भव नहीं है। वस्तुतः उपादान, उपादेय, अधिकरण एवं व्यापार सभी ब्रह्ममय हैं।

शुद्ध, संसारी और मुक्त भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। ब्रह्म से अणु के निकलने के बाद, आनन्दांश के तिरोहित होने पर जिस अवस्था का विकास होता है उसको शुद्ध जीवभाव कहते हैं। वह शुद्ध चिद्भावमात्र है। इसके उपरान्त अविद्या का सम्बन्ध होने पर जीव बद्ध या संसारी होता है। तब भगवदिच्छा से उसके ऐश्वर्य आदि गुण तिरोहित हो जाते हैं। शुद्ध जीव में भगवान् के ऐश्वर्यादि षड्गुणों का अंश रहता है। इन बद्ध जीवों में कोई-कोई देवभावापन्न और कोई आसुर भावापन्न देखे जाते हैं। सूक्ष्म सद्वासनाविशिष्ट मुक्ति-अधिकार को देवत्व कहते हैं। भगवान् जिन लोगों के साथ लीला करने की इच्छा करते हैं उन लोगों को मुक्ति की योग्यता का साधक देवत्व प्रदान करते हैं।[1] जीव के हृदय में उच्चभाव रहने पर भगवदिच्छा से ऐसा होता है। और, जिनके चित्त में नीचभाव स्थान पाता है, वे असद्वासनायुक्त होकर आसुर भाव को प्राप्त होते हैं।[2]

---

१. ब्रह्मवाद में लिखा है (पृ० ३०) कि सृष्टिकाल में शक्ति अलग की जाती है। उसी अवस्था में शक्तिपरिगृहीत भाव आसुरत्व है और स्वपरिगृहीत भाव ही देवत्व है। अर्थात् भगवान् जिन लोगों से विवाह (परिग्रह) करते हैं वे देवजीव हैं एवं माया-विवाहित जीव असुर हैं। किसी का भी त्याग करना नहीं बनता। भगवान् और देवजीव कोई भी परस्पर का त्याग नहीं करते। माया और आसुर जीव भी वैसे ही परस्पर को छोड़ नहीं सकते। दोनों ही क्षेत्रों में भगवदिच्छा ही मूल कारण है। आसुर जीव भगवान् को नहीं पाता; क्योंकि उससे मायाजनित मोहवश ज्ञान और भक्तिरूप-दो भगवत्-शक्तियों के कार्य नहीं होते, इसलिए सायुज्य हो नहीं सकता। जैसे पुरुष का अंशभूत वीर्य स्त्रीगर्भ में प्रविष्ट और स्त्रीगृहीत होने पर फिर पुरुष में प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही आसुर जीव भगवान् में प्रवेश नहीं कर सकता। (द्रष्टव्य ब्रह्मवाद-विवरण गोपालकृष्णभट्टकृत, ३०-३१.)

१. यद्यपि प्रकृति ब्रह्मशक्ति और ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण आनन्दात्मक है तथापि प्रकृति में प्रविष्ट असुरगण आनन्द का लेश भी नहीं पाते; क्योंकि भगवान् उनके निकट अपना आनन्दरूप प्रकट नहीं करते। दैवी माया और आसुरी (तथा राक्षसी) माया में भेद है। माया का कार्य मोह दोनों जगह रहने पर भी पहले स्थल में वह मोक्ष का निमित्त है तथा दूसरे स्थल में उसे बन्धन का कारण समझना चाहिए। प्रकृति जब भगवान् में लीन हो जाती है एवं उनके प्रकृतिस्थ आसुर जीव भी भगवान् में लीन होते हैं, तब भी भगवत्सम्बन्ध परम्परा से होने पर भी आसुर जीवों को आनन्द प्राप्त नहीं होता; क्योंकि तब व्यवधान रहता है। यह व्यवधान ही प्रलय और मुक्ति का भेदक है। मुक्ति स्वरूपानन्दानुभवरूप है, प्रलय केवल उदरवर्तित्व तथा स्वविषयानुभव है। आनन्दानुभव भक्तिमात्र से साध्य है, भक्ति स्नेहरूपा है। यह आनन्दानुभव मोक्षदशा में होता है। तब भक्त भगवान् के हृदय में लक्ष्मी के समान, स्थिति-लाभ करते हैं। प्रलय में केवल निद्रा के तुल्य क्लेश का अपाय होता है (ब्रह्मवाद ३२-३३)। जीवमात्र ही यद्यपि स्वभावतः

यह मुक्ति का प्रतिबन्धक है। यहाँ भी भगवदिच्छा ही मूल है। आसुर जीव स्थूल देह प्राप्त कर नाना प्रकार के निन्दनीय कर्म करते हैं एवं तदनुसार नीच योनियों में भ्रमण करते हैं। ये सदा ही संसारी हैं। जबतक भगवान् आत्मरमण के लिए इच्छा नहीं करेंगे तबतक आसुर जीवों की अविद्या और अविद्या-कार्य के निवृत्त होने की सम्भावना नहीं है। किन्तु उस प्रकार की इच्छा होते ही सर्वत्र विद्यमान अविद्या-कार्य संसार को भगवान् स्वयं ही नष्ट कर देंगे। तब जीव को साधना करने की कोई जरूरत नहीं रहेगी। आसुर जीव भी तब शुद्धावस्था को प्राप्त होंगे।

मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—जीवन्मुक्त और परममुक्त। अविद्या की निवृत्ति होने पर ही जीवन्मुक्ति-अवस्था कहना बनता है। सनकादि मुनिगण जीवन्मुक्त हैं। जो लोग व्यापक वैकुण्ठ अथवा परमव्योम के सिवा अन्यान्य भगवल्लोकों में निवास करते हैं, वे मुक्त हैं। उसके बाद भगवान् की विशिष्ट कृपा से परमव्योम में प्रवेश होने पर परामुक्ति अथवा विशुद्ध ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। दैव जीवों में कोई-कोई सत्संग पाकर मार्गानुरागजन्य श्रवण आदि से समुद्भूत फलरूप स्वतन्त्र भक्ति द्वारा नित्य लीला में प्रवेश करते हैं।

वल्लभीयगण परब्रह्म को नित्यानन्दस्वरूप और अप्राकृत धर्म का आश्रय मानते हैं। वे पुरुषोत्तमशब्दवाच्य श्रीकृष्ण हैं—अलौकिक सभी धर्म उनमें सदा प्रकटित रहते हैं। उनकी सभी लीलाएँ नित्य हैं। जब परब्रह्म में बहुत होने की इच्छा उदित होती है तब दूसरे रूप का आविर्भाव होता है। यह रूप सब कारणों का कारण अक्षर ब्रह्म है। इस अवस्था में सत्त्व के प्राधान्य से आनन्दांश प्रायः तिरोहित रहता है। अक्षर ब्रह्म भक्त और ज्ञानियों को विभिन्न रूपों में प्रतीत होते हैं। भक्त उन्हें व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकों के रूप में आविर्भूत देखते हैं। भक्तों के प्रत्यक्ष विषय अक्षररूप में किन्हीं-किन्हीं विशेष गुणों का प्राकट्य तथा अन्यान्य गुणों का अप्राकट्य रहता है। पर सभी गुणों की सत्ता रहती है। आविर्भाव और तिरोभाव भगवान् की ही एक प्रकार की शक्ति है। गुणों का कार्य न रहने पर ही तिरोभाव को अप्रकटता कहते हैं। यह मायाकृत नहीं हैं। माया के प्रभाव से बद्ध जीव के धर्मरूप में जो तिरोभाव का परिचय प्राप्त होता है वह सद्विषयक ज्ञानाभाव-मात्र है। ज्ञानी के निकट अक्षर ब्रह्म सच्चिदानन्द, देश और काल के अतीत, स्वप्रकाश तथा गुणातीत रूप में भासमान होते हैं। इस प्रकार से प्रकाशमान ब्रह्म में 'एकमात्र तिरोधान शक्ति का प्राकट्य रहता है, अन्यान्य सभी धर्मों का तिरोभाव होता है। इसलिए ज्ञानियों से ज्ञेय अक्षर ब्रह्म निर्धर्म कहे जाते हैं। वस्तुतः वह श्रुत्युक्त धर्मरहित नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो असद्वस्तु की सत्ता होती। वल्लभीय मत के अनुसार तिरोभाव के सिवा अभाव नाम का कोई पृथक् पदार्थ नहीं है (द्रष्टव्य, सुबोधिनी, द्वितीय स्कन्ध) दुःख आदि मायिक धर्म मिथ्या अथवा भ्रान्तिज्ञानसिद्ध हैं, इस कारण उनका अभाव भी मिथ्या है। ब्रह्म में दुःखादि नहीं हैं—कहने पर दुःखादि का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है।

भगवान् का अंश है तथापि देवादि-विभाग क्रीड़ा के निमित्त भगवदिच्छामूलक है। इसीलिए इनमें वैचित्र्य है (वही, [illegible])।

अतएव ज्ञानिज्ञेय ब्रह्मस्वरूप तिरोहित सर्वशक्ति तथा सर्वव्यवहारातीत है। पुरुषोत्तम का एक रूप सूर्यमण्डल आदि में है—यह अन्तर्यामी है। इन्हीं का नामान्तर पुरुष या नारायण है। पुरुष तीन प्रकार के हैं—(१) महत्स्रष्टा, (२) ब्रह्माण्डसंस्थित तथा (३) सर्वभूतस्थ। पुरुष से ही मत्स्यादि लीलावतार आविर्भूत होते हैं। अक्षर से जो सब अन्तर्यामी निकलते हैं वे इस मुख्य अन्तर्यामी के अंश हैं। वे आनन्दप्रधान, जीव के तुल्य प्रतिशरीर में भिन्न तथा तत्-तत् जीव के नियामकमात्र हैं। कारण, जड़ और जीव के अन्तर्यामी समूह में मुख्य अन्तर्यामी का एक-एक अंशमात्र प्रकट होता है।

वल्लभीयगण कहते हैं कि जैसे प्राकृत सत्त्व से पृथक् भगवद्धर्मरूप विशुद्ध सत्त्व है, वैसे ही अप्राकृत रज और तम भी हैं। अप्राकृत सत्त्व स्वचिकीर्षित मत्स्यादि आकारों का विधानपूर्वक, लोहपिण्ड में अग्नि के तुल्य, उनमें आविर्भूत होकर तत्तत् कार्य करता है। इस विशुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह में जगत् का स्थितिकार्य करने की इच्छा से भगवान् वह्निलोहगोलकन्याय से आविष्ट होते हैं—इन्हीं का नाम विष्णु है। इसी प्रकार भगवान् अप्राकृत रजोविग्रह में आविष्ट होने पर ब्रह्मा एवं तमोविग्रह में आविष्ट होने पर शिव नाम को प्राप्त होते हैं। ये तीनों ही गुणावतार हैं। ये अप्राकृतविग्रह होने पर भी प्राकृत तीन गुणों के नियामक होने के कारण 'सगुण' हैं। पुराणों में इन्हें जो परब्रह्म कहा गया है, उसका कारण यह है कि अंशी कृष्ण के साथ इनका वास्तविक कोई भेद नहीं है। यद्यपि ये तीनों गुणावतार हैं तथापि विष्णु में चतुर्भुज, वनमाला, पीताम्बरादि बहुसंख्यक पुरुषोत्तम-धर्मों के प्राकट्यवश विष्णु ही उत्कृष्ट हैं।

भगवान् के रूप अनन्त हैं। सभी रूप पूर्ण ब्रह्म हैं। इसीलिए ज्ञानमार्ग में विषय और फल में कोई विशेष नहीं है। भक्तिमार्ग में विशेष है। उन्होंने क्रीड़ा के लिए जैसे जगत् की रचना की है, वैसे ही अपनी प्राप्ति के लिए भक्तिमार्ग भी पृथक् बनाया है। विभूतिरूप से साधन और फल नियत हैं। पूर्ण फल-दान स्वयंरूप या कृष्णरूप से ही होता है। सायुज्य ही पूर्ण या मुख्य फल है। सायुज्य शब्द से वल्लभीय मत में ब्रह्मैक्य की प्रतीति नहीं होती, योग की प्रतीति होती है। यह ज्ञानलभ्य नहीं है—एकमात्र कृष्णसेवा से लभ्य है। भगवान् के आविर्भूत होने पर ही भजन बनता है। इसीलिए यह बहिर्भजन है।

मुक्ति सगुणा और निर्गुणा भेद से दो प्रकार की है। जिस किसी देवता की उपासना की जाय, उसका मुख्य फल है उसके साथ सायुज्य। परन्तु देवता यदि सगुण हो तो वह सायुज्य सगुणा मुक्ति है। अन्यत्र निर्गुणा मुक्ति है। भगवान् के अतिरिक्त सभी सगुण हैं। इसलिए कृष्ण-सायुज्य ही निर्गुण मुक्ति है। ज्ञानमार्ग में निर्गुण मुक्ति नहीं होती। अक्षर अथवा कूटस्थ गुणानुरोधी और निर्गुण हैं। श्रवण आदि के द्वारा उनका साक्षात्कार करना ही ज्ञानमार्ग है। ज्ञानमार्ग की मुक्ति कैवल्य अथवा जीवन्मुक्ति है। कैवल्य 'सात्त्विक ज्ञान' है—"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्"। यह सात्त्विक मुक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानी संसारातीत होकर

विरक्त होता है और ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होता है। यह सगुणभाव है। ज्ञान प्राप्त होने पर जीवन्मुक्ति होती है—तब अध्यास या आसक्ति नहीं रहती। जीवन्मुक्ति सगुण है; क्योंकि तब जीवभाव विद्या और अविद्या का वशवर्ती रहता है। विद्या और अविद्या विनाशी हैं—चरमवृत्ति-पर्यन्त गुणों का अंगीकार करना पड़ता है। ब्रह्मभाव के बाद भक्ति का उदय होता है, तब गुणातीत में प्रवेश होता है। भक्ति न होने से केवल जीवन्मुक्त होकर रहना पड़ता है—यह सनकादि के तुल्य सगुणभाव-मात्र है। जीवन्मुक्ति तक सगुणभाव रहता है, बाद में भक्तिलाभ होने पर निर्गुणता प्राप्त होती है। प्रथम भाव केवल ज्ञान है और द्वितीय ज्ञानभक्ति है। प्रथम भाव के दृष्टान्त सनकादि हैं एवं द्वितीय के दृष्टान्त शुकादि हैं।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग का नामान्तर पुष्टिमार्ग है। भगवान् के अनुग्रह अथवा कृपा को पुष्टि कहते हैं। यह भगवद्धर्म है और काल का बाधक है। लौकिक और अलौकि नाना प्रकार के फल इससे उत्पन्न होते हैं। फल-दर्शन से ही पुष्टि का अनुमान होता है। बलवान् प्रतिबन्धक की निवृत्तिपूर्वक स्वपद की प्राप्ति में साधकता ही महापुष्टि है। फलतः कर्म और स्वभावजनित बाधा ही बलवान् प्रतिबन्धक है। दृष्टान्त के रूप में इन्द्र का नाम लिया जा सकता है। इन्द्र विश्वरूप, दधीचि और वृत्र के हत्यारे थे। विश्वरूप कर्मठ थे, दधीचि ज्ञानी एवं वृत्र-भक्त थे। यह हत्या-कार्य अत्यन्त दुष्कर्म है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु भगवत्कृपा से उन्हें अनिष्ट-फल प्राप्त नहीं हुआ। भगवान् ने दया कर इन्द्र की रक्षा की। दिति के गर्भ पर इन्द्र द्वारा वज्र-प्रहार होने पर भी उसके प्राण गये नहीं। यह पुष्टि का निदर्शन है। इस जगह वज्राघात का प्राणनाशकत्वरूप स्वभाव बाधित हुआ, यह समझना चाहिए।

पुष्टि से चारों प्रकार के फल हो सकते हैं। भगवान् के अंशभूत कार्त्तवीर्य ने पुष्टि के कारण ही राजपद प्राप्त किया था। देवहूति ने मुक्ति प्राप्त की थी। योगादि उस स्थल में व्यापार-मात्र हैं। अजामिल का नाम-ग्रहण भी व्यापार अथवा निमित्त-मात्र है। जिस पुष्टि से चतुर्विध फल-प्राप्ति होती है वह सामान्य पुष्टि है। विशिष्ट पुष्टि से भगवत्स्वरूप को प्राप्त करानेवाली भक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की पुष्टि से उत्पन्न होनेवाली भक्ति का नाम पुष्टिभक्ति है। एकमात्र भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिभक्ति-प्राप्ति का उपाय है।

भक्तिमात्र ही भगवदनुग्रह-सापेक्ष है। सामान्य अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है वह मर्यादाभक्ति है[1]। विशिष्ट कृपा से जो भक्ति उत्पन्न होती है उसका पारिभाषिक नाम पुष्टिभक्ति है। पुष्टिभक्ति में एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही आकांक्षा का

---

१. वल्लभाचार्य कहते हैं—"कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते, ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते" (अणुभाष्य ३।३।२९)); "साधनं विना स्वरूपबलेनैव कार्यकरणं हि पुष्टिः" (वही ४।१।१३); "साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा" (वही ४।२।७); "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः" (वही ४।४।९); "मर्यादा-पुष्टिभेदेन वरणं द्विधोच्यते। तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापदेनोच्यते पुष्टौ तु नान्यापेक्षा" (वही ३।४।४६)।

विषय होती है, भगवद्भिन्न फल में आकांक्षा नहीं रहती। मोक्ष भी पुष्टिभक्त के लिए तुच्छ है। पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है :

१. प्रवाहपुष्टिभक्ति : प्रवाह अहन्ता और ममतारूप संसारप्रधान है। तद्धर्मयुक्त पुष्टिभक्ति में कर्मरुचि रहती है। उससे भगवदुपयोगी क्रिया-प्रवृत्ति रहती है।

२. मर्यादापुष्टिभक्ति : मर्यादा से जीव की रागमूलक विषय-प्रवृत्ति हटती है और निवृत्तिमार्गीय धर्म में झुकाव होता है। इस प्रकार की भक्ति से मनुष्य की विषयासक्ति नहीं रहती और भगवत्कथा-श्रवण आदि में प्रवृत्ति होती है।

३. पुष्टिपुष्टिभक्ति : इस प्रकार के भक्त पुष्टिभक्त होकर भजनोपयोगी ज्ञानजनक अनुग्रहान्तर को प्राप्त होते हैं एवं सर्वज्ञता प्राप्त करते हैं। ये लोग भगवान्, उनके परिकर, लीला, प्रपञ्च आदि सबको जानते हैं।

४. शुद्धपुष्टिभक्ति : इस प्रकार के भक्त प्रेमप्रधान हैं। ये परिचर्या और स्नेह वासनावश ही करते हैं। इस प्रकार की भक्ति अति दुर्लभ है।

शुद्धपुष्टिभक्ति के धर्म का वर्णन हरिराय ने २१ कारिकाओं द्वारा किया है। (द्रष्टव्य—प्रमेयरत्नार्णव, पृ० १९—२४)। हमने उसका सारांश उद्धृत कर दिया है। इस मार्ग में भगवत्प्राप्ति ही फल है, किन्तु उसके लिए साधन की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् साधनाभाव ही साधनरूप में परिगणित होता है। अथवा फल (=भगवान्) स्वयं ही अपना साधन होता है। सिद्धिलाभ केवल अनुग्रहसापेक्ष है, यत्नसापेक्ष नहीं है। यत्न करने पर विघ्न ही होता है। यहाँ भगवान् जीव की योग्यता का विचार कर जीव को स्वीकार नहीं करते। भक्त भी भगवान् के कार्य में गुण-दोष का विचार नहीं करते, केवल यह उत्तम है, ऐसा समझते हैं। भक्तों को रोदन, चौर्य आदि में हीनता तथा कालियदमन, दावाग्निमोक्षण आदि में माहात्म्यबोध नहीं होता। स्वामी ही सब चेष्टाओं के एकमात्र तात्पर्य हैं—वेद और लोक की अपेक्षा नहीं। इस मार्ग में भगवान् जीव का स्वेच्छा से, विना किसी कारण के, वरण करते हैं। इसीलिए जो फल साधन-सम्पन्न जीव को नहीं मिलता, उसे अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति भी पा जाता है। वियोगावस्था में भी आनन्द रहता है; क्योंकि भक्ति स्वरूपानन्दात्मक फल देने में स्वतन्त्र है, स्वरूपाविर्भाव की अपेक्षा नहीं रखती। भगवद्भाव की अधिकता से इस लोक का भय अथवा परलोक का भय नहीं होता। मन में ऐसा भाव आता है कि भगवान् काल, धर्म, स्वभाव आदि सबके बाधक हैं। इस मार्ग में भगवान् के साथ जीव का दैहिक अथवा भावज सम्बन्ध फलसाधन है। सब इन्द्रियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध ही फलरूप है। यह सम्बन्ध भी भगवदिच्छा से होता है। भगवत्सम्बन्धी में भगवद्बुद्धि होती है, उससे भिन्न में विरोधज्ञान होता है एवं उदासीन में साम्यबोध होता है। देह आदि का रक्षण स्वीयबोध से नहीं होता, भगवदीय बोध से होता है। विरहावस्था में भी भावी भगवदुपयोग का विचार कर देहरक्षण होता है। इस मार्ग में भजन से सेव्य का उपकार नहीं होता—सेव्य केवल सेवक के प्रति भावपुष्टि करते हैं। भगवान् फल प्रदान कर भजन का अपवाद नहीं करते हैं। विरह में मिलन की अपेक्षा अधिक सुख का आस्वादन होता है—

क्योंकि तब प्रतिक्षण में भीतर नवीन-नवीन लीलाएँ प्रकट होती हैं। साधन और फल विपरीत भावापन्न हैं। भाव निरुपाधि स्नेहात्मक है। अन्यनिरपेक्ष दैन्य भगवान् के आविर्भाव का हेतु है। विरहजन्य दैन्य से सब प्रकार से विषय-त्याग और देहादि-समर्पण होता है। विषयरूप से विषयों का त्याग होता है, यह सही है, किन्तु भगवदीय रूप से उनका ग्रहण होता है; क्योंकि ममतामात्र ही संसार है। जीव इस तरह से सर्वदा भगवान् की स्मृति का विषय होता है।

शुद्धाद्वैत-मत में जीव ब्रह्मरूप माना गया है, किन्तु वह अंशात्मक रूप है, अंश्यात्मक नहीं है। इसलिए स्वाभाविक अंश को पुनः पूर्वरूप-सम्पादन करने के लिए एवं अविद्या-दोष मिटाने के लिए भजन करना पड़ता है। ऐश्वर्यादि सम्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने पर ही भगवद्रूपता प्राप्त होती है। फिर भी भगवत्कृत तारतम्य रहता है (द्रष्टव्य—सविवरण ब्रह्मवाद, पृ० २०)। मुख्य भक्त देह, लिङ्ग अथवा चिह्न एवं सौन्दर्यादि गुणों के सम्बन्ध से भगवान् की समता प्राप्त करता है, किन्तु वैचित्र्य के बिना सम्यक् प्रकार से रमण न होने के कारण तारतम्य रहता है। प्रश्न उठ सकता है कि भजन की उपयोगिता अविद्या-निवृत्ति में है—यह ज्ञात हुआ। किन्तु जिस अवस्था में अविद्या नहीं रहती, इस प्रकार के विशुद्ध पुष्टिमार्ग में भजन की आवश्यकता क्या है? वहाँ पर भी भजन किया जाता है, यह शास्त्र से ज्ञात होता है। इसका उत्तर है—उस स्थल में भी लीला के लिए वियुक्त भगवदंशभूत जीव भजन द्वारा भगवान् के साथ सम्बद्ध होकर फलानुभव करता है। इसीलिए भजन का उपयोग है। अतएव दोनों ही स्थलों में भजन में साधनता दिखाई देती है। किन्तु भजन भावात्मक होने से स्वयं फलरूप है, इसलिए उसमें साधनता रहने पर भी पुष्टिमार्ग की कोई हानि नहीं होती; क्योंकि **"पुष्टिमार्गः स एव यत्र फलं स्वयमेव साधनम्"**। (द्रष्टव्य—ब्रह्मवाद, पृ० २२, २३)।

ज्ञान, कर्म और भक्ति—इन तीन प्रकार के मार्गों की बात शास्त्र में पाई जाती है। अधिकार-भेद से प्रत्येक मार्ग फलोत्पादक होता है। लेकिन उसमें निष्ठा रखनी पड़ती है। यदि निष्ठा न हो तो फल की आशा रखना व्यर्थ है। निष्ठा की जड़ साधन है। साधन के बिना किसी भी मार्ग में फल प्राप्त नहीं होता। ज्ञाननिष्ठा होने पर सर्वज्ञता प्राप्त होती है। कर्मनिष्ठा का फल चित्तशुद्धि है और भक्तिनिष्ठा का फल भगवान् की प्रसन्नता है। जो लोग समझते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के उपदेश से ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, वे भ्रान्त हैं। यदि ऐसा होता तो शिष्य उस प्रकार का उपदेश प्राप्त करके ही सर्वज्ञ हो जाता। किन्तु वैसा होता नहीं। पर एक के विज्ञान से सबका विज्ञान अवश्य होता है। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि साधारणतः जो ज्ञान के नाम से परिचित है वह वास्तव में ज्ञान नहीं है। वैसे ही योग आदि कर्मों का अनुष्ठान करके भी उनका कर्त्ता लुब्ध हो पड़ता है,—कर्म का मुख्य फल चित्तशुद्धि है, वह प्राप्त होती नहीं। प्रचलित भक्ति भी ज्ञान के अङ्गरूप से परिचित है। भक्ति का विषय भी भावना से परिकल्पित है। इसीलिए भगवान् के उद्देश्य से भगवत्सेवा, जो भक्ति शब्द का मुख्य तात्पर्य है, सिद्ध नहीं होती। अतएव इस प्रकार ज्ञान की अङ्गस्वरूप भक्ति से भगवत्प्रीति नहीं होती।

कालधर्म से वर्त्तमान समय में सभी अधिकार एक प्रकार से लुप्त हो गये हैं। साधन के द्वारा अधिकार का अर्जन अब उतना सुखसाध्य नहीं है। इस समय भक्तिपूर्वक (केवल विधिपूर्वक नहीं) भगवत्सेवा के विना फलप्राप्ति की आशा नहीं है। जीव का अधिकार न रहने पर भी भक्ति-सम्पत्ति रहने पर भगवत्-कृपा के बल से फल-प्राप्ति अवश्यम्भावी है। कलियुग भक्तियोग की सिद्धि के लिए अनुकूल समय है।

वल्लभ-मत में प्रपञ्च मिथ्या नहीं है—यह भगवत्कृतिजन्य तथा भगवत्स्व-रूपात्मक है, इसलिए सत्य है। वल्लभ-मतावलम्बी माया नाम की एक अचिन्त्य शक्ति भगवान् में स्वीकार करते हैं। इस शक्ति के प्रभाव से भगवान् दूसरे किसी की सहायता की अपेक्षा न कर सब आकार धारण कर सकते हैं। जिसे हम प्रपञ्च कहते हैं, वह भगवान् का ही अपना स्वरूप है, केवल मायाशक्ति के बल से वह प्रपञ्च के रूप से प्रतीत होता है। माया के तुल्य अविद्या भी उन्हीं की शक्ति है। इस शक्ति के वशीभूत होकर ही जीव संसार-दशा का भोग करता है। प्रपञ्च और संसार एक पदार्थ नहीं हैं। 'मैं' और 'मेरा' यही संसार का रूप है। अज्ञान, भ्रम आदि शब्द संसार के वाचक हैं, प्रपञ्च के वाचक नहीं हैं। प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है, वह कभी भी अज्ञानकल्पित अथवा भ्रान्त नहीं हो सकता। श्रुति ने कहा है: "स वै न रेमे", "तस्मादेकाकी न रमते", "स द्वितीयमैच्छत्"—इससे ज्ञात होता है कि भगवान् रमण अथवा आनन्द के आस्वादन के लिए ही प्रपञ्च के रूप से आविर्भूत होते हैं। प्रपञ्च के अन्तर्गत पुरुष, उनके द्वारा किये गये साधन और उनका फल—ये सभी भगवान् के रूप हैं। ऐसी अवस्था में कोई यदि अपने को कर्त्ता या फल का भोक्ता माने तो वह उसकी भ्रान्ति ही है। यही 'मैं', 'मेरा' रूप संसार है। अविद्यावश इस भ्रम का उदय होता है। जब तत्त्व-ज्ञान का स्फुरण होता है, जब सभी भगवान् का रूप है—ऐसा ज्ञात होता है—तब वह भ्रम अथवा संसार निवृत्त हो जाता है। परन्तु ब्रह्मात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं होती। प्रपञ्च सत्य है, पर उसकी आविर्भाव और तिरोभाव—ये दो अवस्थाएँ हैं। मुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्तिकाल में संसार की निवृत्ति होती है, परन्तु प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं होती। उत्पादक और संहारक के भेद के कारण संसार और प्रपञ्च का स्वरूपभेद अवश्य ही मानना चाहिए। हजारों जीवों के मुक्त होने पर भी प्रपञ्च का लोप नहीं होता। लेकिन जब भगवान् आत्मरमण करने की इच्छा करते हैं तब प्रपञ्च का रूप उनमें विलीन हो जाता है। इस अवस्था में जीवमात्र विश्रामसुख का अनुभव करता है। किन्तु यह मुक्ति नहीं है। मुक्ति में अभ्यास नहीं रहता, संसार की निवृत्ति हो जाती है और इस अवस्था में अभ्यास केवल दब मात्र जाता है, पर प्रपञ्च का लय होता है। भगवान् की इच्छा ही प्रपञ्च की उत्पत्ति और विनाश का कारण है। अविद्या जीव के संसार-भ्रमण का कारण है। विद्या के उदय से अविद्या की निवृत्ति होती है, प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं होती।

अविद्या का विनाश होने पर जीव की मुक्ति होती है। विद्या से अविद्या का विनाश होता है सही, किन्तु वह सम्यग् विनाश नहीं है। इसीलिए वह मुक्ति भी

यथार्थ मुक्ति नहीं है। समवायी का विनाश होने से ही कार्य का सर्वथा विनाश

होता है। विद्या सात्त्विक है, उसके द्वारा स्वजनक माया का विनाश नहीं होता। जबतक माया है तबतक सूक्ष्मरूप से अविद्या अवश्य ही रहेगी। अतएव विद्या का फल अविद्या को दबाना मात्र है, यथार्थ विनाश नहीं है। अविद्या से जो देह, इन्द्रिय और प्राण का अध्यास उदित होता है, विद्या के द्वारा केवल वही कुचला जाता है। इसलिए जन्म और मरण से छुटकारा प्राप्त होता है। किन्तु अध्यास न रहने पर भी देहादि के प्रपञ्चान्तर्गत होने से उनके स्वरूप का लोप नहीं होता। यह भी एक प्रकार का मोक्ष है। इसका नामान्तर है—बन्ध-निवृत्ति। पीताम्बर कहते हैं—"**सहेतुकस्य सकार्यस्य बन्धस्योपमर्दरूपोऽभावो विद्याकृतमोक्षः।**" किन्तु विश्व-मायानिवृत्ति ही यथार्थ मुक्ति है, वह विद्या द्वारा प्राप्त नहीं होती। विद्याजन्य मोक्ष में अविद्या स्वकारण माया में स्थित होती है। माया ही वल्लभमत में देहारम्भक धातु की कारणभूत है। माया में अविद्या के रहने के कारण उसके निकटवर्त्ती अन्तःकरण में कुछ अविद्यामल रह जाता है। देहादि का अध्यास अवश्य नहीं रहता।

प्रश्न हो सकता है कि यदि देहादि में अध्यास न रहे तो देह आदि की स्मृति एकबारगी ही नहीं रह सकती। देहादि की अत्यन्त विस्मृति ही मृत्यु है। ऐसी अवस्था में देहादि में अध्यास न रहने पर देहादि की स्थिति किस प्रकार हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और लोकप्रसिद्धि के अनुसार जीवन्मुक्ति—अवस्था देह-स्थिति रहने पर भी होती है, ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए देह आदि में अध्यास न रहने पर भी उनकी अवस्थिति सम्भवपर है, यह अवश्य मानना होगा। अतएव संसार हट जाने पर भी प्रपञ्च की सत्ता बाधित नहीं होती।

जीव का जीवत्व जबतक रहेगा तबतक संघात का लय होने पर भी पुनः उत्पत्ति की सम्भावना रहेगी; क्योंकि उस अवस्था में देहादि-संघात विनाश को प्राप्त होता है, मूल कारण में विलीन नहीं होता। किन्तु जीवत्व की निवृत्ति होने पर अर्थात् जीव के ब्रह्मभूत होने पर अथवा अक्षर में लीन होने पर संघात मूल कारण में लीन हो जाता है, इसलिए फिर कोई चिन्ता नहीं रहती।

ब्रह्म व्यापक वस्तु है। किन्तु प्रलयकाल में होनेवाले आत्मरमण के अनन्तर जब सृष्टि का आरम्भकाल आता है तब उनका व्यापकत्व एक प्रकार से तिरोहित हो जाता है। उनका पहला कार्य इच्छाशक्ति का, तदनन्तर त्रिगुणात्मिका सूक्ष्मरूपा मायाशक्ति का प्रकाश है। इस माया द्वारा वे परिच्छिन्न-से होते हैं अर्थात् उनकी व्यापकता तिरोहितप्राय होती है। तब देश प्रकटित होता है, माया-बल से अंशसमूह परिच्छिन्न होते हैं और इन परिच्छिन्न अंशों द्वारा वे व्याप्त होकर स्थित होते हैं। माया ब्रह्म से अभिन्न शक्ति है। वल्लभाचार्य शाङ्कर सम्प्रदाय के अभिमत सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया नहीं मानते।

वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म अखण्ड और अविभक्त वस्तु होने पर भी उनमें अनन्तरूप हैं; इन सब रूपों में परस्पर कोई भेद नहीं है। इच्छावश अनन्त रूपों का

प्राकट्य होने के कारण उनमें विभाग है, ऐसी केवल प्रतीति होती है। यह ब्रह्मस्वरूप

सृष्टि का उपादान है। ब्रह्म का बहुत होने का संकल्प अथवा भावना सृष्टि का निमित्त है। यह भावना सत्य और विषय की अव्यभिचारिणी है।

उनकी इच्छावश उनसे उन्हीं के स्वरूपभूत असंख्य चिदंश पहली सृष्टि में आविर्भूत होते हैं। ये सब चिदंश भगवद्रूप होने के कारण साकार होने पर भी उच्च-नीच भावेच्छा से निर्गत होने के कारण निराकार होकर ही जन्मते हैं। इनका शास्त्र में 'जीव' नाम से वर्णन किया गया है। इन सब जीवों के स्वरूप और धर्म दोनों ही चैतन्य हैं। ब्रह्म के सदंश से जड़-सृष्टि और आनन्दांश रूप से सब अन्तर्यामियों का प्रादुर्भाव होता है। जीव जैसे असंख्य हैं वैसे ही अन्तर्यामी भी असंख्य हैं। प्रत्येक हृदय में हंसरूप से जीव और अन्तर्यामी—दोनों की स्थिति है। अतएव सच्चिदानन्द ब्रह्म का सदंश जड़, चिदंश जीव तथा आनन्दांश अन्तर्यामी या अन्तरात्मा है। जड़ में चैतन्य और आनन्द तिरोहित रहता है। जीव में आनन्द तिरोहित रहता है। आनन्द ही भगवान् का आकार है, उसका लोप होने से जड़ और जीव दोनों ही निराकार हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जीव चित्प्रधान ब्रह्मांश है, उसमें आनन्दांश तिरोहित रहता है। इस तिरोहित आनन्दांश के आविर्भूत होने पर ही पूर्ण सच्चिदानन्दत्व प्रकटित होता है और व्यापकत्व आदि धर्मों का आविर्भाव होता है। यही ब्रह्मसाम्य या ब्रह्मभाव[1] है। अग्निव्याप्त अयोगोलक में जिस प्रकार दाहकता आदि धर्मों की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार ब्रह्मभूत जीव की देह में भी तादृश जीवगत चिदानन्द का आविर्भाव होता है। तब फिर देह में जड़ता नहीं रहती, उसकी त्रिगुणात्मकता मिट जाती है और ब्रह्मरूपता आविर्भूत होती है। देही जीव भी तब फिर भोक्ता नहीं रहता, ब्रह्मरूप से प्रकट होता है। तिरोहित आनन्द का प्रकाश एकमात्र भगवान् की इच्छा से होता है। उनकी इच्छा स्वतन्त्र है। वे उक्त प्रकार के अव्यक्त आनन्दांश को जगाकर किसी को ब्रह्मभाव प्रदान करते हैं अथवा किसी को अक्षरसायुज्य प्रदान करते हैं।

भगवान् स्वरूपतः एक होकर भी अनेक प्रकार से सृष्टि करते हैं। कभी स्वयं साक्षात् रूप से करते हैं अथवा कभी परम्परा से करते हैं। पुरुष, ब्रह्मा आदि के द्वारा सृष्टि पुराण तथा पञ्चरात्र-शास्त्र में प्रसिद्ध है। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही प्रपञ्च का रूप धारण करते हैं। फिर कालान्तर में महान् ऐन्द्रजालिक के तुल्य मायिक सृष्टि भी करते हैं। मायिक सृष्टि के अतिरिक्त अन्यान्य सृष्टियों में भगवान् स्वयं अनुप्रविष्ट होते हैं। मायिक सृष्टि में ज्ञान आदि में फलसाधकता नहीं है। वेद में आकाश आदि के क्रम से क्रमसृष्टि की बात भी है। सारांश यह कि सृष्टि अनेक प्रकार की है। भगवान् की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। इस सृष्टि-वैचित्र्य के वर्णन द्वारा वेद आदि शास्त्रों ने भगवान् के माहात्म्य का ही यत्किञ्चित् वर्णन किया है। माहात्म्य-वर्णन का प्रधान उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन है।

---

१. पुरुषोत्तम ने कहा है—"जीवोऽणुरपि ब्रह्मभावेऽणुत्वाविरोधेनैव व्यापकः सकलजगदाधारो भवति" (अणुभाष्य-प्रकाश, २।३।३०)।

वल्लभ-मत में माहात्म्य-ज्ञान न होने पर भक्ति का उदय नहीं होता। भक्ति दृढ़ तथा गाढ़ स्नेह-विशेष है। भक्ति द्वारा भगवान् प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। भगवान् की प्रसन्नता के अतिरिक्त उनके साक्षात्कार-लाभ का और कोई उपाय नहीं है। अतएव भक्ति ही मुक्ति का हेतु है। अविद्या जैसे पञ्चपर्वा है, वैसे ही विद्या भी वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भगवद्भक्ति—इन पाँच पर्वों से विशिष्ट है। पहले विषयों में वितृष्णा होती है। उसके अनन्तर नित्यानित्यवस्तुविवेक-पूर्वक सर्वत्याग होने से एकान्त में अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान और विचारपूर्वक आलोचन होता है। सबके अन्त में निरन्तर भावना के फलस्वरूप परमप्रेम उपस्थित होता है। यह प्रेम ही यथार्थ ज्ञान अथवा विद्या है, इसके प्रभाव से जीव भगवान् में प्रवेश अथवा मुक्ति-लाभ करने का अधिकारी होता है। विद्या और अविद्या जब भगवत्-शक्ति हैं, तब भक्ति भी भगवत्-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। मुक्ति की उपायरूपा यह जो भक्ति मैंने कही है, यह प्रावाहिकी भक्ति अथवा मर्यादा-भक्ति है, स्वतन्त्र और अहैतुक भक्ति अथवा प्रेमरूपा भक्ति नहीं है। जब जहाँ चाहे जिस किसी प्रकार से मुक्ति हो उसका मूल कारण भगवत्प्रसाद है। इसलिए सबका त्याग कर दृढ़ विश्वास से भगवान् का ही भजन करना चाहिए—यही भक्ति-वाद का आदर्श है।

वल्लभानुयायी कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय वस्तु है। समझने की सुविधा के लिए तथा तारतम्य बतलाने के उद्देश्य से आचार्यों ने इस वस्तु का तीन प्रकार से वर्णन किया है। पहला स्वरूप, दूसरा कारण या तत्त्व एवं तीसरा कार्य—ब्रह्मतत्त्व-वर्णन के प्रसङ्ग में इस प्रकार के भेदों का विवरण मिलता है। उनमें स्वरूपात्मक ब्रह्म ज्ञानविशिष्ट, क्रियाविशिष्ट तथा ज्ञान और क्रिया दोनों से विशिष्ट यों तीन प्रकार का है। वेद के पूर्व काण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु यज्ञ है। यद्यपि यह तात्पर्यतः क्रियाविशिष्ट भगवदात्मक है, तथा अनुष्ठान से लेकर फलानुभव तक की अवस्था में साधनात्मक क्रिया के रूप से ही प्रतीत होता है। उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म है। इसके रूप, गुण और शक्ति सभी अनन्त हैं। यद्यपि यह ज्ञानविशिष्ट भगवत्स्वरूप है, इसमें कुछ सन्देह नहीं, तथापि गुरु के प्रसाद से चरमवृत्ति का उदय होने तक यह ज्ञानरूप से ही प्रतीत होता है। गीता, भागवत आदि ग्रन्थों में जो स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, वह भक्ति का विषय होने से ज्ञान-क्रियाविशिष्ट, साकार तथा अनन्तगुणपूर्ण है। यही कृष्ण अथवा पुरुषोत्तम कहलाता है। परम भक्ति के फलस्वरूप यह साकार रूप ही प्रकट होता है। अक्षर-तत्त्व, कर्मतत्त्व, कालतत्त्व और स्वभाव—ये सब ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्गत हैं। अन्तर्यामी स्वरूपात्मक होने पर भी जीव के साथ कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट रहने के कारण अनन्त भेदों से युक्त है। किन्तु फिर भी वह कारणात्मक तत्त्व समष्टि में प्रविष्ट होकर उसकी सहायता करता है। इसलिए अन्तर्यामी कारण ब्रह्म के अन्तर्गत है। वल्लभ-मत में कारणात्मक तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस है। उनमें सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्व तथा सत्त्व आदि तीन गुण हैं। यह कहना अनावश्यक है कि इस मत में प्रकृति और तीन गुणों में परस्पर धर्मधर्मिभाव माना गया है। किसी-किसी स्थल में सांख्य

से तत्त्वों के लक्षणों में भेद भी दिखलाई देता है। वल्लभ-मत में पुरुष का निर्विषयक केवलानुभव माना गया है। स्वरूपतः उसमें अहन्ता नहीं रहती। पुरुष एक, अभिन्न और चिद्रूप है। जीवत्व और ईश्वरत्व केवल अवस्थाभेदमूलक हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। अवस्थाभेद का हेतु है विभिन्न प्रकृतियों के साथ सम्बन्ध। प्रकृति व्यामोहिका और मूला भेद से दो प्रकार की है। जब पुरुष भगवान् की इच्छा से मोहिनी प्रकृति को स्वीकार करते हैं तब उसके व्यापारभूत मोहक गुणों के द्वारा बँध-कर जीवावस्था को प्राप्त होते हैं और जब मूला प्रकृति को ग्रहण करते हैं तब स्वरूपस्थ रहकर ही जगत् के कारण हो पड़ते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि एक ही पुरुष के एक अंश में मूला प्रकृति और दूसरे अंश में मोहनी प्रकृति स्थित है। दोनों के अधिष्ठाता एक ही पुरुष हैं। ये भगवान् के अंश हैं। किन्तु ईश्वर स्वयं भगवान् हैं। जीव चिन्मय होने के कारण पुरुष का सजातीय होने पर भी पुरुष से पृथक् हैं। जीव को पुरुष का अंश भी कहा जा सकता है। जो हो, पुरुषांश ही हो अथवा अक्षरांश ही हो, जीव भगवदंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ब्रह्म का रूप है या नहीं, इस प्रकार का प्रश्न अनेकों के मन में उदित होता है। आचार्य कहते हैं कि रूप शब्द के अर्थ व्यवहार[1] का विषय अथवा व्यवहार का साधन दोनों ही हो सकते हैं। इसके किसी भी अर्थ से ब्रह्म की रूपवत्ता स्वीकार करने योग्य नहीं है। रूप और रूपवान् परस्पर भिन्न हैं, यह लौकिक प्रतीति से सिद्ध है। वस्तुतः रूप भी ब्रह्मरूप है—ब्रह्म से ब्रह्म कदापि रूपाभिमानी नहीं हो सकते। इसीलिए 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदराक्षि' आदि रूप का कोई भी भेद नहीं है। शास्त्र-वचनों से भगवान् और भगवद्देह की चिदानन्दमयता समान रूप से स्वीकृत की जाती है।

यह चिदानन्द ही रस-पदार्थ है। यही जीव के प्राण-धारण का प्रयोजक और आनन्ददायक वस्तु है। हृदयाकाश में इसकी अभिव्यक्ति होती है। रसशास्त्र में जो रस का विवरण प्राप्त होता है, वह रसरूप भगवान् का ही कार्यभूत अंश है। रस की अभिव्यञ्जना की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं; इसीलिए वास्तव में एक होकर भी वह नाना रूपों से प्रकाशमान होता है। वास्तव में परब्रह्म ही प्रणाली-विशेष से हृदय में आविर्भूत होकर 'रस' कहलाते हैं। अनन्य भक्ति के बिना इस प्रकार का आविर्भाव नहीं हो सकता। पर बाह्यरूप से भगवान् का आविर्भाव भी रसात्मक है, यह अवश्य मानना होगा। विद्वन्मण्डन की टीका में पुरुषोत्तम ने कहा है—"बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाधमेव।" और एक बात है। भगवान् जैसे रसस्वरूप हैं वैसे ही वे सब रसों के भोक्ता हैं। वे रस होकर भी रसवान् हैं। रसों में शृङ्गार रस का स्थान ही प्रधान है। शृङ्गार रस रति नामक स्थायी भावमय है। इसलिए भगवान् स्वरूपतः रति होकर भी रतिमान् हैं। रति के जो आलम्बन विभाव हैं (जैसे व्रजगोपियाँ) उनके भावानुसार भगवान् शृङ्गाररसरूप होते हैं। आलम्बन जिस प्रकार का होता

१. ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का व्यापार यहाँ व्यवहार कहा गया है।

है, उसके प्रति भगवान् का भाव भी उसी प्रकार का होता है। यह स्मरण रखना होगा कि भाव भी भगवत्स्वरूप से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। भगवान् स्वयं ही रति और स्वयं ही उसके आस्वादन करनेवाले हैं[1]। जो लोग यह सोचते हैं कि लीला अनुकरणमात्र है एवं प्रियाविरह तथा तज्जन्य क्लेशादि पूर्णज्ञानमय परमानन्दघन सर्वव्यापक भगवान् में नहीं हो सकते, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि लीला का विरह भगवान् के पूर्णत्व का बाधक नहीं है और लीला केवल अनुकरण है; यह मानना भी ठीक नहीं है। भगवान् शृङ्गाररसस्वरूप हैं, यह बात यदि सत्य है तो प्रियाविरह और मिलन तथा उनके कार्य आदि उनमें असम्भव हैं—यह कहकर उड़ा देने का कोई हेतु नहीं है। फिर, उनसे ब्रह्मत्व की हानि भी नहीं होती। क्योंकि ब्रह्मवस्तु में सभी विरुद्ध धर्मों का समावेश है। श्रुति वही कहती हैं एवं सिद्ध भक्तजन भी उसका अनुभव करते हैं। भगवान् की अचिन्त्य महिमा सब वादी स्वीकार करते हैं।

भगवान् के सदृश उनका धर्म भी नित्य और सच्चिदानन्दरूप है। जिन भक्तों को वे अपने ऐश्वर्यादि धर्म प्रदान करते हैं जितने दिनों तक उनकी इच्छा रहती है उतने दिनों तक वे सब उनके बीच रहते हैं। इसीलिए वैष्णवाचार्यों ने लीला की भी नित्य और चिन्मयी रूप से व्याख्या की है। अनायास किये जा रहे कर्म लीला कहे जाते हैं। वह प्रतियोगिसापेक्ष और प्रतियोगिनिरपेक्ष रूप से दो प्रकार की है। जागतिक सभी क्रियाएँ प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हैं। किन्तु भगवल्लीला में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती। जो हो, यदि लौकिक दृष्टि का अनुसरण कर आलोचना की जाय तो लीला और उसके सम्बन्धी की नित्यता के सम्बन्ध में क्या-क्या बाधक हैं अथवा कल्पित हो सकते हैं, उनका निर्वाचन करना आवश्यक है। पुरुषोत्तम महाराज ने २८ सम्भाव्यमान बाधकों का उल्लेख किया है एवं दिखलाया है कि भगवल्लीला की नित्यता के सम्बन्ध में उनमें से एक भी प्रयोज्य नहीं है। भगवान् के नाम भी लीला के तुल्य नित्य हैं। उनके जो नाम जिस कर्म से विशिष्ट रूप के सम्बन्धी हैं उस कर्मविशिष्टरूप का वह नाम नित्य ही है। परन्तु जगत् में भक्तजनों के विभिन्न रसों के अनुभव के लिए कभी किसी अंश का आविर्भाव होता है और किसी अंश का आवरण होता है, यही विशेष है। विट्ठलनाथ कहते हैं—"लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादनमित्येवं मन्तव्यम्। तेन भगवान् गोवर्द्धनमुद्धरन् सदा वर्त्तत इति 'गोवर्द्धनोद्धरणधीर' इति क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरणरूपः सदा वर्त्तते। अतएवाद्यापि भक्तानां तथाऽनुभवः क्वचित्।" प्रतिकृति में भजन और स्मरण की व्यवस्था है। यदि रूप अनित्य हो, भगवदात्मक न हो तो उसमें भगवद्भावना अपराध गिनी जायगी। वह भगवान् की प्रसन्नता का हेतु भजन नहीं होगा। किन्तु उस प्रकार से भजन करके भगवत्प्रसन्नता-

---

१. द्रष्टव्य—"तस्य तस्य रसस्य तादृक्तादृग्रूपत्वाद् रसस्य भगवद्रूपत्वात् यत्र यो रसो यादृशो यद्विधः शास्त्रसिद्धस्तत्र तादृशस्तद्विधः स रसो भगवान् एव। भगवांश्चैक एव। तथा च तत्रत्या सर्वा सामग्री रसरूपा एव।" (विद्वन्मण्डनम्, पृ० २६२)

लाभ किया जाता है, यह सत्य बात है। रूप होने पर ही नाम की भी आवश्यकता होती है। नाम भी गुण और कर्म के अनुरूप तथा नित्य है। वस्तुतः भगवान् के नाम, रूप, गुण, कर्म—सभी नित्य और चिन्मय हैं।[1]



१. द्रष्टव्य—"मदुक्तान्यपि नामधेयानि न मया कृतानि, किन्तु पूर्वसिद्धान्येव मयानूद्यन्ते ते सुतस्य बहूनि नामानि रूपाणि सन्तीति समभिव्याहारवशान्नन्दसुतत्वमप्यनादीति ज्ञाप्यते। तेन नन्दस्यापीदानीं मम पुत्रो जात इति ज्ञानमप्यनादीति ज्ञेयम्। परम्। गर्गस्यापि नामकरण-लीलामध्यपातित्वेन तदागमनादिवचनानामपि नित्यत्वेऽनादित्वमेव। पूर्वसिद्धाया एव लीलाया भगवदिच्छया क्रमेणाविर्भावः।"
—(विद्वन्मण्डन)

सहजयान और सिद्धमार्ग

वर्त्तमान समय में बौद्ध-साहित्य और बौद्ध-दर्शन की बहुत अधिक चर्चा हो रही है। हीनयान और महायान—दोनों ही सम्प्रदायों के सम्बन्ध में बहुत ग्रन्थ और सारगर्भित निबन्ध आदि प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। किन्तु साधना और सिद्धान्त के विषय में तान्त्रिक महायान-मत की स्थिति क्या है एवं उसके साथ अन्यान्य मार्गों का क्या सम्बन्ध है, इसकी समुचित चर्चा नहीं दीख पड़ती। इस प्रकार की चर्चा के बिना भारतीय दर्शन और धर्म-मत के विकास—विशेषतः मध्ययुग की साधना और विचारधारा के इतिहास का पता नहीं चल सकता। काल-क्रमानुसार प्राचीन महायान से मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान के नाम से जिन पन्थों का उद्गम हुआ था, उनमें से प्रत्येक का स्वरूप और वैशिष्ट्य क्या है एवं अन्यान्य भारतीय साधन-मार्गों के साथ उनका साधर्म्य और वैधर्म्य कितना है, यह जानना ऐतिहासिकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवतक प्रकाश में आये हैं उनका अधिकांश पूजनीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीजी के अनुसन्धान का फल है। किन्तु प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में अभी बहुत अनुसन्धान की आवश्यकता है। शास्त्रीजी ने "बौद्ध गान ओ दोहा" नाम से सहज-सम्प्रदाय के चार ग्रन्थ[1] प्रकाशित किये हैं। कलकत्ता वङ्गीय एसियाटिक सोसाइटी में संरक्षित हस्तलिखित बौद्ध-ग्रन्थों के विवरण के प्रसङ्ग में[2] शास्त्रीजी ने वज्रयान, सहजयान आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थों की कुछ-कुछ आलोचना की है। सम्प्रति[3] बड़ौदा से 'साधनमाला' तन्त्र का एक खण्ड प्रकाशित हुआ है। यह वज्रयान-सम्प्रदाय का संग्रह-ग्रन्थ है। अद्वयवज्रकृत संग्रह, इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि तथा अनङ्गवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि शीघ्र ही वहाँ से प्रकाशित होगी। इन सब ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का सुचारु रूप से आलोचन होना आवश्यक है। साथ-ही-साथ मत्स्येन्द्र और गोरक्ष द्वारा प्रवर्त्तित सिद्धमार्ग अथवा नाथ-पन्थ एवं श्रीविद्यादि तान्त्रिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त और साधनाएँ आलोचनीय हैं। प्राचीन रसमार्ग (रसायनशास्त्र) भी उस एक ही धारा का विकास है।

विषय अत्यन्त दुरूह है। साक्षाद्रूप से योगमार्ग में संचरण का अधिकार प्राप्त

---

१ चर्याचर्यविनिश्चय। २. दोहाकोष—सरोजवज्रकृत। ३. दोहाकोष—कृष्णपादाचार्यकृत (सहजाम्नाय-पञ्जिका) और ४. डाकार्णव।

२. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Government Collection under the care of the Asiatic Society of Bengal by M. M. Haraprasad Shastri, M. A., C. I. E., F. A. S. B., Vol. I, Buddhist Manuscripts, pp. IX+99; 1917.

३ अर्थात् १९२५ ई० में। सहजयान और सिद्धमार्ग-विषयक यह लेख १९३१ ई० में मासिक पत्रिका में प्रथम प्रकाशित हुआ था।

हुए विना जिन अनुभूतियों का हृदयङ्गम होना सम्भव नहीं है, उन अनुभूतियों का अवलम्बन कर साधारण रूप से आलोचना नहीं हो सकती; क्योंकि उनमें अनेकों के गलत समझने की आशंका होती है। पक्षान्तर में इस प्रकार की आलोचना यथासम्भव सतर्कता के साथ यदि न की जाय तो भी सत्य के आविष्कार की सम्भावना एक प्रकार से रुक जाती है। दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है कि इस प्रकार की आलोचना के विना वज्रयान, मन्त्रयान या सहजयान के साथ सिद्धमार्ग, आगममार्ग आदि का योगसूत्र कहाँ है एवं प्रत्येक का वैशिष्ट्य ही कहाँ है, इसका निर्णय होना असम्भव है। इस प्रकार की आलोचना से ही एक दिन सत्य का निर्णय हो सकेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

पूजनीय शास्त्रीजी कहते हैं कि मन्त्रयान के वाद वज्रयान और तदनन्तर काल-चक्रयान का आविर्भाव हुआ था। सहजयान वज्रयान का प्रायः समकालीन है। नाथमार्ग में हठयोग का प्राधान्य था। केवल यही नहीं, सम्भवतः नाथगण ही हठयोग के प्रवर्त्तक थे। नाथगण अपना योगी के रूप में परिचय देते थे। शास्त्रीजी का मत है कि यह सम्प्रदाय बौद्धसंघ के वहिर्भूत था। हठयोग की साधन-प्रणाली षट्चक्रभेद है एवं फल है सिद्धि। मुक्ति इसका लक्ष्य नहीं है। कालक्रम से यह सम्प्रदाय बौद्ध-सम्प्रदाय के अन्तर्गत हो पड़ा। शास्त्रीजी के मतानुसार यह मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रव-र्त्तित सम्प्रदाय की वात है। गोरक्षनाथ के सम्वन्ध में उनका विश्वास अन्य प्रकार का है। उनका कथन है कि पहले गोरक्षनाथ वज्रयानी वौद्ध थे। तव उनका नाम रमणवज्र था। पीछे वौद्ध-सम्प्रदाय का त्याग कर उन्होंने गोरक्ष नाम ग्रहण किया। तन्त्र के सम्वन्ध में शास्त्रीजी का मत यह है कि यह भारतवर्ष की अपनी निधि नहीं है—सम्भवतः शक देश से ब्राह्मणों के साथ यह भारतवर्ष में लाया गया था।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इन सव सम्प्रदायों की शिक्षा और साधना में क्या कोई साम्य दिखाई देता है या नहीं। यदि दिखाई देता है तो वह क्या है? केवल दैशिक अथवा कालिक व्यवधान एवं वाहरी आचार की विचित्रता से किसी भी सम्प्रदाय की वास्तविक स्थिति का भलीभाँति परिज्ञान नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि ऐतिहासिक विकास की आलोचना करने के पहले तत्त्व-विचार आवश्यक है। क्योंकि हम जानते हैं कि एक ही वीज विभिन्न क्षेत्रों में पड़ने पर एवं प्राकृतिक शक्ति और सेचनादि कृत्रिम परिकर्मादि सहकारी कारणों का तारतम्य रहने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम को प्राप्त होता है। वह परिणाम-वैचित्र्य यद्यपि आकस्मिक नहीं है तथापि वह वीजगत भेद का फल नहीं। उसी प्रकार एक अभिन्न साधना और सिद्धान्त देशभेद, कालभेद तथा अधिकारभेद से विभिन्न प्रकार के रूप धारण करते हैं। अन्तर्दृष्टि यदि न रहे तो उन वाहरी भेदों से मोहित होने के कारण मूल में स्थित ऐक्यसूत्र दिखाई नहीं देता।

इसलिए हम पहले आलोच्य विषय का तत्त्व वतलाने की चेष्टा करेंगे। प्रसङ्गतः उसमें तत्त्व-विषयक साधर्म्य और वैधर्म्य की भी आलोचना रहेगी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के मूलसूत्रों का भेदाभेद निश्चित होने पर ऐतिहासिक आलोचना,

बहिरंग आचार का क्रमविकास और समाज के नैतिक एवं आध्यात्मिक अङ्ग के ऊपर उसका प्रभाव अपेक्षाकृत सहज में आलोचित हो सकेंगे।

सहज-सम्प्रदाय के प्रकाशित ग्रन्थों की भलीभाँति आलोचना करने से समझ में आ सकेगा कि जिस पथ पर आगम और सिद्ध-मार्ग का उद्भव हुआ है वह भी उस मार्ग का प्रदर्शक है। जिन्होंने हठयोग का परिशीलन किया है, वे जानते हैं कि हठ-योग की मूल बात ही चक्र और सूर्य को एकावस्थापन्न करना है। तन्त्र की सांकेतिक भाषा में हकार और ठकार चन्द्र और सूर्य के वाचक हैं, अतएव 'ह'कार और 'ठ'कार का योग कहने से चन्द्र और सूर्य का एकीकरण ज्ञात होता है। परिभाषा के भेद से यही इडा और पिङ्गला नाड़ी के अथवा अपान और प्राण-वायु के समीकरण के नाम से अभिहित होता है। हठयोगी लोग कहते हैं कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है। जिससे जगत् प्रकट होता है वह जब-तक समावस्था में विद्यमान रहता है तबतक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय-अवस्था है। साम्य-भङ्ग होने पर ही वैषम्य, द्वन्द्व अथवा द्वैतभाव का उदय होता है, यही सृष्टि का बीज है। जो दो विरुद्ध शक्तियाँ एक-दूसरे का उपमर्दन कर स्थितिरूप से निष्क्रियभाव में विद्यमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं अर्थात् जब उनमें गुणप्रधान भाव जाग उठता है तब सृष्टि और संहार-व्यापार सूचित होते हैं। बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि और अन्तःशक्ति के प्राधान्य से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दो शक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम रखे जाते हैं। शिव-शक्ति तथा "पुरुष-प्रकृति शब्द मूलतः इस आदि द्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीवदेह में प्राण और अपान के रूप में इस विरुद्ध अथच परस्पर सम्बद्ध शक्तियुगल का ही विकास हमें दिखाई पड़ता है। प्राण और अपान दोनों एक-दूसरे का आकर्षण करते हैं, फिर प्रत्याकर्षण भी करते हैं। दोनों मिलकर एक होना चाहते हैं, पर हो नहीं सकते; क्योंकि जिस अनुपात में प्राण जाग उठता है उसी अनुपात में अपान लुप्त हो पड़ता है। पक्षान्तर में अपान के उदय के अनुपात में प्राण निष्क्रिय होता है। इसलिए किसी समय भी दोनों की शक्तियाँ समजाग्रत् न रहने से वे परस्पर मिल नहीं सकते। अपान अथवा प्राण को जगाकर यदि यथाक्रम प्राण या अपान को उद्‌बुद्ध कर उनके साथ मिलाया जा सके तो दोनों का साम्य हो सकता है। किन्तु साधारणतः वह होता नहीं है। स्वाभाविक निश्वास और प्रश्वास ही पूरक और रेचक हैं एवं दोनों का समीकरण कुम्भक है। जबतक श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है तबतक इडा और पिंगला का मार्ग क्रियाशील रहता है। श्वास और प्रश्वास के समान होने पर सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है। अतएव प्राण और अपान की समता इडा और पिङ्गला का साम्य या निष्क्रियता, पूरक और रेचक की समानता अथवा कुम्भक और सुषुम्णा के द्वार का खुलना—ये सब पर्यायवाची हैं। सुषुम्णा-मार्ग ही मध्य मार्ग—शून्यपदवी या ब्रह्मनाड़ी है। चन्द्र और सूर्य को यदि प्रकृति और पुरुष के स्थानापन्न माना जाय तो चन्द्रसूर्य-मिलन शब्द से प्रकृति और पुरुष के आलिङ्गन का ही बोध होगा। इस आलिङ्गन के विना शून्यपथ खुल ही नहीं सकता। और,

शून्यपथ के खुलते ही वास्तविक शून्य में स्थिति नहीं होती। शून्यता भी आपेक्षिक है। हठयोगिगण इस आपेक्षिकता का प्रदर्शन करने के लिए शून्य, अतिशून्य, महाशून्य आदि पदों का प्रयोग करते हैं। विशुद्ध शून्य ही निर्वाण-पद है—वहाँ वासना नहीं, कामना नहीं, क्लेश अथवा कर्माशय आदि कुछ भी नहीं है। अतएव वास्तविक शून्य अथवा निर्वाण-पद इस आलिङ्गन की गाढ़तम अवस्था के चरम फल के सिवा और कुछ नहीं है। तब रहता क्या है ? इस प्रश्न पर सिद्ध आचार्यगण कहते हैं कि तब एक अद्वय तत्त्व-मात्र विराजमान रहता है, किन्तु उसे तत्त्व न कहकर 'तत्त्वातीत' कहना ही अधिकतर युक्तिसंगत है। इसीलिए शिव और शक्ति नामक दो विन्दु जबतक पूर्णरूप से पार्थक्य का त्याग कर समरूपता को प्राप्त नहीं होते अर्थात् ऐक्य-लाभ नहीं करते तबतक वास्तविक शून्यावस्था का उदय हुआ, ऐसा कहना नहीं बनता। भेद अथवा द्वैत का लेश रहने तक निर्वाण-प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। साम्य और निरञ्जनता ही निर्वाण का स्वरूप है—उसमें पृथक्ता रह नहीं सकती। वाम और दक्षिण के त्यक्त होकर—समान होकर मध्यावस्था का पूर्ण विकास ही निर्वाण है। हठयोग के आचार्यगण सहस्रारस्थ महाबिन्दु में इस मिलन का अनुभव करते हैं और उसमें उत्पन्न रसधारा से अपने को प्लावित करते हैं। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी जिस समय इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियों के संघर्षणजन्य समीकरण से जाग्रत् होकर अग्नि-शिखा के तुल्य ऊपर को उठती है उस समय स्वभावतः ही ऊर्ध्वमुख हो सरल मार्ग में दौड़ती है। इस उत्थान-काल में इधर-उधर बिखरी हुई विविध शक्तियाँ चारों ओर से सिमिट जाती हैं और उस धारा में पड़ती हैं। इन सब शक्तियों के द्वारा ही स्तर-स्तर यानी प्रत्येक स्तर पर जगत् के सब पदार्थ निर्मित हुए हैं और अनुभूत होते हैं। उन सबके उपसंहृत होने के साथ-ही-साथ उनसे रचित और उनसे प्रकाशित जगज्जाल इन्द्रजाल के तुल्य विलीन हो जाता है। चारों ओर महाशून्य हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः लोक-लोकान्तरों को संहाराग्नि से जलाकर, भस्मीभूत कर नादरूप महाशक्ति कुण्डलिनी सिंहनाद करते-करते ऊपर को उठती रहती है। इससे भूत और चित्त संहृत होते हैं, षट्चक्र-भेद होता है और आज्ञाचक्र के ऊपर स्थिति होती है। तदनन्तर वहाँ से अतिसूक्ष्म मार्ग का ग्रहण कर चैतन्यशक्ति के रूप में प्रकाशमान कुण्डलिनी चैतन्य-समुद्र में—परम शिव के वक्षःस्थल में—मिल जाने के लिए दौड़ती है। उनका आश्रित जीव उन्हीं के आकर्षण से उन्हीं के साथ चलता जाता है। उसका और दूसरा साधक कुछ नहीं रहता। वह आश्रित और शरणागत के रूप में विना रोक-टोक के मातृ-अङ्क में विराजमान होता है। जब सहस्रारस्थ परमशिव के साथ कुण्डलिनी युक्त होती है तब उस आलिङ्गन से विचित्र आनन्द का उदय होता है। जीव उसका आस्वाद लेता है। शिवशक्ति के मिलन के विना आनन्द की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। महाबिन्दु में जब इस मिलन का सूत्रपात होता है तब भी दो बिन्दु रहते हैं। उसके बाद दो बिन्दु क्रमशः एक महाबिन्दु में परिणत हो जाते हैं। यह महाबिन्दु अखण्ड, परमानन्दमय और युगलभावापन्न होकर भी अद्वय है।

हठयोगियों के सिद्धपथ के सम्बन्ध में आलोचना करते समय बहुत-सी बातें

हमें कहनी होंगी। आपाततः बौद्ध-सहजयान की साधना से सम्बद्ध सिद्धान्त क्या है, यह एक बार संक्षेप में देख लिया जाय। सहजियागणों के मत में सहजावस्था की प्राप्ति ही पूर्णता-सिद्धि है। इसके नामान्तर निर्वाण, महासुख, सुखराज, महामुद्रा-साक्षात्कार इत्यादि हैं। इस अवस्था में वाच्यवाचक, ज्ञाता-ज्ञेय और भोक्ता-भोग्य भाव नहीं भी रहते। उभयनिष्ठ सम्बन्ध भी नहीं रहता। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यह त्रिपुटी ही विकल्प-जाल है। इसका भेद करके निर्विकल्प पद की उपलब्धि ही सहज अवस्था है। "जहिं मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नहे पवेश।"—यहाँ मन और प्राण का संचार नहीं है एवं चन्द्र-सूर्य के भी प्रवेश का अधिकार नहीं है। चन्द्र-सूर्य इडा-पिंगलामय आवर्त्तनशील कालचक्र का नामान्तर है। शान्तिमय निर्वाण-पद कालातीत है, इसलिए उसमें चन्द्र-सूर्य की क्रिया दिखाई नहीं देती। उन्मनीभाव होने पर ही मन का लय होता है। इसलिए जो अवस्था उन्मनी अवस्था की भी परावस्था के रूप से वर्णित हुई है, उसमें मन की क्रिया नहीं रहती, किसी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता—यह कहना ही व्यर्थ है। प्राण के स्थिर होने से वहाँ श्वास-प्रश्वास नहीं चलता। वहाँ की वायु में लहरें नहीं खेलती हैं—इसीलिए वह स्थिर या स्तमित वायु शास्त्रों में गगन के नाम से वहुत स्थलों पर प्रतिपादित हुई है। सहजिया लोग कहते हैं कि यह निर्वाण ही प्रत्येक का 'निज स्वभाव' (निज-सहाव) है—यही परमार्थ है। यहाँ का जो आनन्द है, उसे महासुख कहते हैं। वह सहज होने के कारण एक, कारणहीन और नित्योदित है। इस अवस्था का लाभ किये विना जरा-मरण का त्याग नहीं होता। जबतक वायु की चंचलता है, तवतक संकल्प का प्रभाव अवश्यम्भावी है। उसका फल है भ्रान्ति का विकास। संकल्प से सब कार्यों में अपना कर्त्तृत्वाभिमान जागता है—'मैं कर्त्ता हूँ' यों अपने में कर्त्तृत्व की प्रतीति होती है। वस्तुतः जगत् के सब कार्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं और स्वभाव में ही विलीन होते हैं—कर्त्ता कोई नहीं है। इसलिए अपने में कर्त्तृत्वबोध अज्ञान का विलासमात्र है। वायु के स्थिर हो जाने पर संकल्पों का जाल कट जाता है, ज्ञान-मुद्रा प्राप्त होने से मिथ्याज्ञान और कर्त्तृत्वाभिमान विलुप्त हो जाते हैं। स्वभाव ही सबका मूल है, कर्त्ता कोई भी नहीं है, यह वोध ही शुद्ध वोध अथवा ज्ञानमुद्रा है। इस वोध का उदय होते ही सब धर्मों का शोधन होकर संकल्प-विकल्प के अतीत निर्विकार-निरञ्जन पद की प्राप्ति होती है।

एकमात्र गुरुपदेश ही इस अवस्था की प्राप्ति का उपाय है। इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। किन्तु गुरु का स्वरूप क्या है? सहजिया लोग कहते हैं—श्रीगुरु 'युगनद्धरूप' मिथुनाकार हैं। ये शून्यता और करुणा की मिलित मूर्त्ति हैं—उपाय और प्रज्ञा के[1] समरस विग्रह हैं। यह युगलरूप ही परमार्थरूप और महासुख

---

१. प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य हो निर्वाण है। अनङ्गवज्र ने अपने 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' नामक ग्रन्थ में कहा है कि प्रज्ञा का लक्षण निःस्वभाव है तथा उपाय का लक्षण स्वभाव है। केवल प्रज्ञा के द्वारा अथवा केवल उपाय के द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा और उपाय—दोनों के साम्य या अभिन्नता का सम्पादन करना

का आलय है। इसका अवलम्बन किये विना केवल संसार से उत्तीर्ण होना ही नहीं, संसार और निर्वाण में समान दृष्टि प्राप्त करना भी असम्भव है। सहजिया-मत में मौनमुद्रा ही श्रीगुरु का उपदेश है—वाक्य द्वारा सहज या अनुत्तर ज्ञान का सम्वाद नहीं दिया जा सकता। जो कुछ मन और इन्द्रियों का गोचर है, मन और इन्द्रियाँ जितनी दूर तक जा सकती हैं, वह सभी विकल्प के अन्तर्गत है। जो मन और इन्द्रियों के पथ पर निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं, उनको पृथग्जन कहा जाता है। उनके देह, वाक्य और चित्त सहजतत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकते। सहजियों के मत में महासुख अथवा सहजानन्दमय श्रीगुरुदेव ही 'जिनरत्न' शब्द से अभिहित हुए हैं। वे आनन्द अथवा रति के प्रभाव से शिष्य के अन्दर महासुख का विस्तार करते हैं, इसीलिए उनका इतना अधिक गौरव है—"सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति" मौखिक उपदेश से किसी स्थायी फल का लाभ नहीं होता।

किन्तु किस प्रणाली से इस महासुख की प्राप्ति होती है? उसकी उपलब्धि कहाँ होती है? वहाँ जाने का मार्ग कौन है? इसके उत्तर में सहजियागण कहते हैं कि उष्णीषकमल में ही महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र में तथा हठयोग के ग्रन्थादि में इस कमल का सहस्रदल के रूप में वर्णन किया गया है। वज्रगुरु अर्थात् जो वज्रमार्ग का अवलम्बन कर सिद्धिलाभ करते हुए वज्रधर अवस्था को प्राप्त हुए हैं, उनका आसन इसी उष्णीषकमल की कर्णिका के मध्य में है। वहाँ चढ़ने का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। साधनादि-प्रक्रिया द्वारा जो लोग बिन्दुसिद्ध नहीं हुए, उनके लिए वहाँ चढ़कर सिद्धि-लाभ करने की आशा दुराशा-मात्र है। मध्यमार्ग का अवलम्बन कर बिन्दु को स्थिर करते हुए उसको ऊपर संचालित करने पर क्रमशः महासुखपद्म के केन्द्र-स्थान में पहुँचा जाता है। जीव संसारावस्था में दक्षिण और वाम मार्ग में रात-दिन भ्रमण करता है—उसे अतिसूक्ष्म और दुर्गम मध्य मार्ग में चलने का साहस नहीं होता एवं चलने का सामर्थ्य भी नहीं है। वस्तुतः पुरुषार्थ के द्वारा मध्यमार्ग का आश्रय प्राप्त करना एक प्रकार से असम्भव व्यापार है। उस मार्ग में प्रवेश पाने के लिए गुरुकृपा ही एकमात्र उत्तम उपाय है। सहजिया लोगों ने इस वामशक्ति का 'ललना' और दक्षिण-शक्ति का 'रसना' के नाम से वहुत जगह उल्लेख किया है एवं 'ललना' का चन्द्र या प्रज्ञा तथा रसना का सूर्य या उपाय के रूप में निर्देश किया है। उनके मत में दोनों के बीच में जिस शक्ति की क्रिया होती है एवं जो वर्त्तमान अवस्था में अवरुद्धप्राय है उसका पारिभाषिक नाम 'अवधूती' है। चन्द्र और सूर्य के मिलन अथवा प्रज्ञा और उपाय के आलिङ्गन से मध्यमार्ग का उन्मीलन होता है। अवधूती पद की व्युत्पत्ति है—"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादिपापान् (?) धुनोतीत्यवधूती।"

चाहिए। उस अवस्था में भोग और मोक्ष दोनों ही एक-से हो जाते हैं। "न प्रज्ञाकैवल्यमात्रेण बुद्धत्वं भवति नाप्युपायमात्रेण, किन्तु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः, तदा भुक्तिमुक्तिर्भवति।" अन्यत्र कहा है—उभयोर्मिलनं यच्च सलिलक्षीरयोरिव। अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायस्तदुच्यते॥ ×××× चिन्तामणिरिवाम्भोजगतः सर्वदा स्थितम्। भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वरूपतः॥

अवधूती-मार्ग ही, अद्वयमार्ग, शून्यपथ और आनन्द-स्थान है। यहाँ ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं रहता—दोनों ही समरस होकर शून्याकार में विराजमान रहते हैं। इस पथ पर यदि आरूढ़ न हुआ जा सके तो क्लेश-निर्मुक्त अथवा द्वन्द्वातीत होने की सम्भावना सुदूर पराहत है। चन्द्र और सूर्य के आलिङ्गन के विना अवधूती विशुद्ध नहीं हो सकती। यह स्मरण रखना होगा कि ललना और रसना अवधूती के ही अशुद्ध रूप हैं। ये दोनों ही शोधित होकर एकाकार हो जाते हैं। तब वैषम्य अथवा मलिनता कुछ भी नहीं रहती। इसको अवधूती का उन्मीलन या शोधन कहा जा सकता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन वस्तुतः नाड़ीशुद्धि का ही नामान्तर है। सिद्धाचार्य लुइपाद कहते हैं कि चन्द्र शुद्ध होकर 'आलि' नाम को प्राप्त होता है। इस शोधन का फल धवन (या धमन) है। सूर्य शुद्ध होकर 'कालि' नाम से अभिहित होता है—इसका फल चवन (या चमन) है। 'द्विकल्पतन्त्र' में लिखा है कि आलि और कालि का संयोग ही वज्रसत्त्व की अधिष्ठानभूमि है। अर्थात् विशुद्ध चन्द्र और सूर्य मिलित होकर जब ऐक्य-लाभ करते हैं तब उस अद्वैतभूमि में सिद्धविन्दु वज्रसत्त्व का आविर्भाव होता है—"आलि-कालिसमायोगः वज्रसत्त्वस्य विष्टरम्।" यह संयोग आरब्ध होकर क्रमशः चलता रहता है। संयोग की गाढ़ता के अनुसार अवधूती का संग भी निविड़ होता रहता हैं एवं उसी अनुपात से शून्यता, अद्वयभाव, आनन्द या रति और नैरात्म्यबोध या वोधि गम्भीरभाव से उपलब्ध होने लगते हैं। इस संयोग अथवा मिलन का पारिभाषिक नाम 'सुरत' अथवा शृंगार है एवं इसका फल रस की अभिव्यक्ति है। जब चन्द्र और सूर्य मिलते-मिलते क्रमशः अपना स्वरूप और धर्म खो बैठते हैं, जब चन्द्र फिर चन्द्र नहीं रहता और सूर्य भी सूर्य नहीं रहता, दोनों मिलकर एकरस और एकाकार हो जाते हैं, तब वह निःस्वभाव और नैरात्म्य अवस्था ही शून्यावस्था है। यही यथार्थ साम्य है। जो इस शून्यमय अद्वयभाव पर अधिष्ठित होकर आत्मप्रकाश करता हैं, वही वज्रगुरु का स्वरूप है। इस अवस्था की प्राप्ति एक दिन में नहीं होती। एक भूमि के वाद दूसरी भूमि का क्रमशः जय करते-करते तेरह भूमियाँ पार करने पर इसकी पूर्ण सिद्धि आयत्त होती है। सहजिया-साहित्य में 'वज्रधर' पद से इन चौदह भूमियों के अधीश्वर की प्रतीति होती है।

पारमार्थिक अवस्था शून्य है, यह वात पहले ही बतलाई जा चुकी है। सहज-साधकगण विशुद्धि के तारतम्य के अनुसार इस शून्य को चार प्रकारों में विभक्त करते हैं—शून्य, अतिशून्य और महाशून्य। इन तीन अवस्थाओं में उपाधि है, दोष हैं और क्लेशादि मल का सम्वन्ध है। किन्तु चतुर्थ शून्य, जिसका पारिभाषिक नाम 'प्रभास्वर' है, निरुपाधिक शून्य है। यह कहना अनावश्यक है कि यह पूर्वोक्त अद्वैतभूमि के सिवा और कुछ नहीं है। यह चतुर्थ शून्य ही वज्रगुरु का अधिष्ठान है, यह भी प्रसङ्गतः पहले कहा जा चुका है। इसी के प्रभाव से प्रथम तीन शून्यों के सब दोष निवृत्त होते हैं। तब एकमात्र निरुपाधिक विशुद्ध शून्य ही वर्त्तमान रहता है। सम्भोगचक्र में नैरात्म्यधर्म की उपलब्धि इस विशुद्ध शून्य में स्थिति के सिवा और कुछ नहीं है। इस अवस्था में निरन्तर जाग्रत रहने की व्यवस्था है। प्रथम तीन शून्यों में जिन

आनन्दों का विकास होता है, उन्हें कायानन्द, चित्तानन्द और रागानन्द कहते हैं। जिस समय इन तीन आनन्दों के एकरस होने से ज्ञानानन्दरूप चौथे आनन्द का आविर्भाव होता है, तब जरा और मृत्यु निवृत्त हो जाती हैं एवं सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। चतुर्थानन्द का उद्बोधन और अनुत्तरबोधि-प्राप्ति एक ही बात है। तब सात प्रकृति-दोष और समाधि-मल सब दूर हो जाते हैं। विन्दु और नाद के साम्य को प्राप्त होने से किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। ग्राहक ज्ञानरूप विकल्प ही उपाय अथवा दीर्घ हुङ्कारमय विन्दु है, ग्राह्य ज्ञानरूप विकल्प ही प्रज्ञा अथवा नाद है। अनुत्तरबोधि में ग्राह्य और ग्राहक का परस्पर भेद नहीं रहता, उपाय और प्रज्ञा एकाकार हो जाते हैं, नाद और विन्दु का मिलन होता है, द्वैतभाव अद्वैत हुआ दिखाई देता है और सब धर्मों की अनुपलब्धिरूप निर्वाणपद प्रकाशित हो पड़ता है।

स्वाधिष्ठान शून्य तृतीय है और वज्रगुरु का अधिष्ठानरूप शून्य चतुर्थ है। तृतीय शून्य और चतुर्थ शून्य का जो मिलन है, वही 'युगनद्ध फल' का प्रकाश अथवा अनादि दिव्य मिथनावस्था है। इस अवस्था में युगपत् सब धर्मों का उदय होता है। तदुपरान्त जब तृतीय और चतुर्थ शून्य में भेद तिरोहित होने से अद्वयसिद्धि होती है तब सब धर्मों का तिरोधान हो जाता है।

महासुखकमल में यदि जाना हो, यथार्थ सामरस्य पाना हो तो मध्यमार्ग का अवलम्बन करना होगा, विरोध का समन्वय करना होगा और द्वन्द्व का मिलन कराना होगा। जबतक दो को एक न किया जा सके तबतक सृष्टि और संहार के अतीत निरञ्जनपद-प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इसलिए मिलन ही अद्वयशून्यावस्था अथवा परमानन्द-लाभ का एकमात्र उपाय है। सहजियागण कहते हैं— अकुशल का परिहार और इन्द्रियनिरोध जिन समाधियों का उद्देश्य है, उनके द्वारा निर्वि-
कल्पक दशा उदित नहीं हो सकती। विषयों का परित्याग अथवा वैराग्य-साधन करके कोई फल नहीं होता; क्योंकि उनके द्वारा युगल अवस्था प्राप्त नहीं होती। यदि युगलप्राप्ति के मार्ग में न पहुँचा जा सके तो मिलन और उसका फल सामरस्य या अद्वयता संघटित नहीं होती। इसलिए सहज-पथ राग-पथ है, वैराग्य-पथ नहीं है। इस पथ में दुष्कर उपवास आदि निष्फल और श्रममात्र हैं। 'श्रीसमाज' नामक तन्त्र में लिखा है :

> "दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैर्मूर्त्तिः शुष्यति दुःखिता।
> दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥"

अतएव,

> "पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
> सुखेन साधयेद् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥"

अर्थात् पञ्चविध काम का त्याग कर एवं तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न कर, योगतन्त्र के अनुसार सुखपूर्वक बोधि का साधन करना चाहिए। विषय-त्याग करने के मार्ग में यदि चला जाय तो जन्म-जन्मान्तरों तक दुःखानुभव अवश्य होगा। देहरूप वृक्ष के चित्तरूप अङ्कुर को विशुद्ध विषयरस द्वारा सींचने पर वह वृक्ष कल्पवृक्ष बन असीम और आकाशवत् निरञ्जन फल प्रदान करने में समर्थ होता है,

महासुख अथवा परम निर्वाणपद प्रदान करता है।[1] बन्धन रागवश होता है और मुक्ति भी राग से ही होती है। महाराग अथवा अनन्यराग ही मुक्ति का सहज साधन है, वैराग्य नहीं। हेवज्रतन्त्र में यह बात स्पष्टरूप से कही गई है।[2] इसमें वैराग्यदमन का सामर्थ्य होने से ही 'वीर' शब्द की सार्थकता होती है।

विशुद्ध अवधूतिका को सहजिया लोगों ने 'डोम्बी' शब्द से व्यवहृत किया है। ललना और रसना को एकत्र न किया जा सके तो अवधूतिका का शोधन होना सम्भव नहीं। इसलिए जब अवधूतिका विशुद्ध हो जाती है तब ललना और रसना एक होकर उस अवधूतिका का ही रूप धारण करती हैं। तब एकमात्र अवधूतिका ही देदीप्यमान रहती है। यहीं अन्य शास्त्रों में उपदिष्ट शक्ति की अद्वय अवस्था या नाड़ीशुद्धि है। यह विशुद्ध अद्वयमार्ग या ब्रह्मनाड़ी ही, 'डोम्बी' पद का अभिधेय (अर्थ) है—यह बात इस समय सहज में ही ज्ञात हो सकेगी। यही वज्र-मार्ग या वज्रयान अर्थात् शून्यपथ है। वाम शक्ति और दक्षिण शक्ति के मिलन से जो अग्नि अथवा तेज उत्पन्न होता है उसकी पहले नाभि अथवा निर्माणचक्र में अभिव्यक्ति होती है। इस अग्नि को महासुख-रागाग्नि कहते हैं। सहजिया लोगों की सांकेतिक भाषा में इसका नाम चण्डाली है। प्राथमिक अवस्था में यह सम्यक् शुद्ध नहीं रहती। साधना के परिपाक के अनुसार यह क्रमशः शोधित होकर 'डोम्बी' रूप में परिणत होती है। तब विषयराशि दग्ध हो जाती है, अद्वयभाव पूर्णता को प्राप्त होता है। अवधूती, चण्डाली और डोम्बी अथवा बंगाली—ये एक ही शक्ति की तीन अवस्थाएँ मात्र हैं। अवधूती अवस्था में द्वैत रहता है, ललना और रसना का पार्थक्य रहता है, इडा और पिङ्गला स्वस्वकार्यसाधन करती हैं एवं प्राण और अपान यथानियम स्पन्दित होते हैं। जब दोनों का सम्मिलन होता है तब अद्वयाग्नि या रागानल प्रज्वलित हो उठता है। किन्तु प्रज्वलित होने पर भी द्वैत को पूर्णरूप से जलाकर आत्मसात् करना एक निमेष का कार्य नहीं है—यह क्रम से ही हो सकता है। यह सम्मिलन क्रमशः घनीभूत होता रहता है। अन्त में द्वैत नहीं रहता। तब दो पृथक् शक्तियाँ एक हो जाती हैं। यही अवधूती की पूर्ण विशुद्धि या चण्डाली से डोम्बीभाव की प्राप्ति है। इस अवस्था में रागाग्नि के द्वारा विषय-जाल के जल जाने के बाद निर्मल नैरात्म्यभाव अनन्त

१. द्रष्टव्य : तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः। गगनव्यापी फलदः (?) कल्प-तरुत्वं कथं लभते ॥ —चर्याचर्यविनिश्चय की लुई-कृत प्रथम दोहे की टीका से उद्धृत सरहपाद का वचन।

२. रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते। (हेवज्रतन्त्रतन्त्र)। सहजाम्नायपञ्जिकाकार भी (पृ० ९८) इसलिए कहते हैं :

"वज्जति येन विजड्डा लघु परिमुच्चन्ति तेन वि बुधा।" जिस पञ्चकामोपभोग से मूर्ख लोग बद्ध होते हैं, गुरु के आदेश से ज्ञान-लाभ होने पर उसके द्वारा ही पण्डित शीघ्र संसार से मुक्त हो सकते हैं। यह निम्नलिखित वचन से तुलना योग्य है—येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः। तेनैव विषतत्त्वज्ञो विषेण स्फुटयेद् विषम्॥ ज्ञानसम्बोधि में लिखा है—चित्त ही भव और निर्वाण का महाबीज है। यह संवृति में संवृतिमय आकार धारण करता है एवं निर्वाण में स्वभावहीन हो पड़ता है—चित्तमेव महाबीजं भवनिर्वाणयोरपि। संवृतो संवृति याति निर्वाणे निःस्वभावताम्॥

और असीम आकाश के तुल्य विकसित हो उठता है। अवधूती, चण्डाली और डोम्बी द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत भाव की सूचकमात्र हैं। तन्त्र में जिस शक्ति के अपरा, परापरा और परा—ये तीन भेद हैं, उसका भी यही तात्पर्य है। अवधूती की द्वैतावस्था में, अर्थात् जबतक चन्द्र और सूर्य का संयोग नहीं होता तबतक, वायु का प्रवेश और निर्गम होता रहता है एवं शक्ति वक्रमार्ग से संचरण करती है। इसी को प्रचलित भाषा में संसार कहते हैं। शक्ति का सरल मार्ग से[1] संचालन करना अथवा उसकी वक्रता दूर करना साधना का उद्देश्य है। साधना के प्रभाव से शक्ति-प्रवाह के पथ के सरल होने पर पथ भी चला जाता है और प्रवाह भी चला जाता है। निर्वाण-चक्र में जब रागाग्नि का उदय होता है तभी से वक्रगति का सरल होना आरम्भ होता है। अन्तिम क्षण में सरलता सम्यक् सिद्ध होकर सरल रेखा विन्दु में परिणत होती है एवं गति निरुद्ध हो जाती है। जो अग्नि जल उठी थी तब वह बुझकर अव्यक्तभाव धारण करती है। यही निर्वाण है। स्पन्दन न होने के कारण शास्त्र में इसका आकाशरूप से वर्णन हुआ है। सहजिया लोग कहते हैं, "ज्ञानवह्निः....भावाभावं दग्ध्वा सुमेरुशिखराग्रे गगनमिति महासुखचक्रे अन्तर्भवति।" ज्ञानानल भाव और अभाव दोनों को जलाकर सुमेरुशिखर के अग्रभाव में गगनमण्डल में विलीन हो जाता है। गगन-मण्डल ब्रह्मरन्ध्ररूप आकाश है। पहले बहुत जगहों पर जो महासुखचक्र की बात कही

---

१ मध्यमार्ग ही सरल पथ – ऋजुमार्ग, 'उजुवाट' है। दक्षिण और वामपथ वक्रमार्ग है। इसलिए वाम और दक्षिण का त्याग कर मध्य पथ पकड़ने का उपदेश है। सरहपाद ने कहा है :

उजड़े उजु छाँड़ि मा लेहु रें वङ्क।

सिद्धाचार्य शान्तिपाद कहते हैं :

"सअ सम्वेअण सरुअ विआरेते अलक्खन न जाइ। जे जे उजवाटे गेला अनावाटा भइला सोई॥ अर्थात् स्वरूप-विचार आदि के द्वारा अलक्ष्य वस्तु का लक्षण नहीं किया जा सकता—जो अलक्ष्य है, उसका कुछ विचार नहीं हो सकता। अतएव, विचार कर अलक्ष्य को अवगत करने का प्रयत्न निष्फल है। पर उसे प्राप्त करने का सरल मार्ग है। उसका अवलम्बन करने पर फिर शास्त्रविचार आदि की आवश्यकता नहीं होती। जो कोई उस पथ से गया है वह महासुखचक्र को प्राप्त हुआ है—उसने निर्वाणपद लाभ किया है, जहाँ से फिर संसार में लौटना नहीं पड़ता। अतएव—

बाम दहिन दो वाटो छाड़ी
शान्ति बुगथेउ संकेलिउ

अर्थात्, वाम और दक्षिण-पथ छोड़कर मध्य पथ का ग्रहण करना चाहिए। इस परिशुद्ध अवधूतीमार्ग अथवा वज्रमार्ग के सिवा बुद्धत्व, तथागतभाव, निर्वाण, अथवा महासुख प्राप्त होने का और दूसरा पथ नहीं है।

"एतद् विरमानन्दोपायमार्गं विहाय नान्यमार्गः सम्भारोऽभिमुखोऽस्ति।"

रतिवज्र में लिखा है :

नान्योपायेन बुद्धत्वं शुद्धश्चेदं जगत्त्रयम्।
एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः॥

गई है वही इसका स्वरूप है। रागवह्नि के निवृत्त होने पर जिस आनन्द का प्रकाश होता है उसका नाम है विरमानन्द, तब चन्द्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है, एवं वायु की गति स्तम्भित होती है। विरमानन्द के आविर्भाव-काल में वोधचित्ताक्षर के उपदेश से अविरतानन्द स्वयं ही सन्निहित होकर उसके साथ मिल जाता है। जिनके विरमानन्द का उदय हो चुका हो वे ही यथार्थ योगीन्द्र हैं। सहजियों के मत में वे ही 'वज्रधर' कहे जाने योग्य सद्गुरु हैं। बत्तीस महापुरुष लक्षण तथा अस्सी अनुव्यञ्जन अथवा गौण चिह्नों द्वारा इन चतुर्दश भूमियों के अधीश्वर योगिराज की देह लक्षित होती है।[1]

हम पहले ही कह चुके हैं कि विन्दुसिद्धि हुए विना अद्वयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जवतक विन्दु चञ्चल रहता है तबतक शून्य अथवा निर्विकल्प अवस्था की सिद्धि असम्भव है। इस चञ्चल अथवा क्षरणशील विन्दु को सहजियागण संवृति-बोधिचित्त कहते हैं। 'वारुणी' शब्द इसी का वाचक है। स्वरूप की आलोचना करने पर इसकी चन्द्र से अभिन्नता ही स्वीकार करनी होगी। मुख्यरूप से अवधूती-मार्ग द्वारा ही यह संचालित होता है। वस्तुतः देहस्थित मुख्य-मुख्य सभी नाड़ियाँ इसकी वाहक हैं। सहजियों की सांकेतिक भाषा में सभी नाड़ियाँ 'योगिनी' नाम से वर्णित होती हैं। ललना आदि नाड़ियाँ जब आभासशून्य होती हैं अर्थात् वास-नादि मल से रहित होकर शोधित होती हैं तब मध्य मार्ग खुलता है,—यही विशुद्ध मध्य नाड़ी है,—जिसे बहुत जगह नैरात्म्ययोगिनी के नाम से कहा गया है। यह प्राण की स्थैर्यसाधक है। इसका आश्रय जबतक न लिया जाय, प्राण एक क्षण के लिए भी चञ्चलता का त्याग नहीं करता। जबतक आभास है तबतक द्वैत अवश्य ही रहेगा, तबतक प्राण और मन में कम्पन तथा विन्दु में चञ्चलता अवश्य रहेगी। शोधित मध्य नाड़ी का मुख सहजानन्दस्वरूप है। उसका स्पर्श करने पर ही वह आनन्द विरमानन्द के रूप में प्रकाशित होता है। उष्णीषकमल का मधुपान ही विरमानन्द का आस्वादन है। इसका स्वरूप महासुख अथवा शून्यतामय परमार्थ बोधिचित्त है। गुरुपरम्परा के विना इस अवस्था की प्राप्ति का कोई उपाय न होने के कारण यह एकमात्र गुरुकृपा से प्राप्त हो सकती है—ऐसा शास्त्र में वर्णित है। संवृतिबोधिचित्तरूप चन्द्र इस अवस्था में क्षरणहीन होने से परमार्थरूप से वज्रशिखर के अग्र देश में निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

भूसुकुपाद कहते हैं (चर्याचर्यविनिश्चय २७): जब चतुर्थ सन्ध्या में अर्थात् अर्धरात्रि में, प्रज्ञाज्ञान के अभिषेक दान के समय, वज्रसूर्य की किरणों के गिरने से उष्णीषकमल विकसित होता है तब उस स्थान पर बत्तीस नाड़ियों का स्राव होता

१. द्रष्टव्य : चर्याचर्यविनिश्चय-टीका, पृ० ४३; दीघनिकाय २,२६ आदि, ३।१४२ आदि; विनयपिटक, १, ६५; मज्झिमनिकाय ३-१२६; संयुक्तनिकाय ४।१६८ इत्यादि। ये ३२ महापुरुष-लक्षण और ८० अनुव्यञ्जन क्रमशः Getty रचित The God of Northern Buddhism पुस्तक के १७०-१ पृष्ठ में और Grunwedel रचित Buddhist Art in India के १६१ पृष्ठ में वर्णित हैं।

है—सब नाड़ियाँ आनन्दरस से सिक्त हो जाती हैं। तदनन्तर अवधूतीमार्ग का अवलम्बन कर बोधिचित्तरूप चन्द्र अर्थात् विन्दु वज्रशिखर में गमन करता है, वहाँ जाकर प्रभास्वर गगन में निर्वाण को प्राप्त होता है। वह विशुद्ध महासुखरूपी नैरात्म्यरूपा अवधूतिकाकमलिनी बोधिचित्त-महासुख रस से समग्र देह को प्लावित और आप्यायित करती है। इसके पश्चात् स्वभाव के अलङ्घ्य नियम से फिर महा-सुखचक्र की ओर ही दौड़ती है।

काय, वाणी और चित्त—इन तीनों के दृढ़ हुए विना विन्दुसिद्धि नहीं होती। इसीलिए सबसे पहले देवता-योग के द्वारा काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र और सूर्य के पक्ष के ग्रहण का खण्डनपूर्वक वाक्य की स्थिरता एवं सुमेरु-शिखर पर श्वास के उन्नयन और मणिमूल के द्वार का रोधपूर्वक चित्त की दृढ़ता सम्पादित करनी पड़ती है।

अजर और अमर भाव की प्राप्ति साधना का लक्ष्य है। उसी का नामान्तर स्कन्धपञ्चक की दृढ़ता अर्थात् देहसिद्धि है। स्वाधिष्ठानगत बोधिचित्त अथवा विन्दु को आवद्ध किये विना उसका लाभ नहीं किया जा सकता। सहजिया लोग कहते हैं—कर्ममुद्राप्रसङ्ग में महासुखकमल के दोहन से आनन्दधारा निकलती है। यह आनन्द-धारा या संवृतिबोधिचित्त अशोधित अवधूतिका-मार्ग से उतरकर पीठस्थान में वज्रमणि पर गिरता है। साधन-मार्ग में अकुशल योगी (बालयोगी) उसको धारण नहीं कर सकते। किन्तु जिन्होंने गुरु-परम्परा द्वारा योग के रहस्य को प्राप्त किया है, वे देहवृक्ष के उस फल का भक्षण करते हैं, अर्थात् परिशोधित कुम्भक-समाधि तथा अपने अनुभव-क्रम के द्वारा उसको स्वभावहीन कर शून्यरूप में परिणत करते हैं। वज्रजाप के उपदेश के द्वारा व्युत्थान वायु और उत्प्रेक्षा-प्रवेश इन दोनों को शुद्ध अवधूती के आकर्षण से विरमानन्द स्थान में ले जाने पर चतुर्थ सन्ध्या में वे सब दोष अपने-आप ही तिरोहित हो जाते हैं। तब निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होने पर भी विलम्ब नहीं होता।

हम पहले ही कह चुके हैं कि तृतीय शून्य के साथ चतुर्थ शून्य का मिलन होने से सहजानन्द का विकास होता है। यह राग अर्थात् महाराग का ही प्रकाश है, यह कहना वेकार है। तुरीयानन्द के नाम से इसका वर्णन है। जब विरमानन्द इसको आत्मसात् कर लेता है तब राग के निवृत्त होने से परमशान्ति का आविर्भाव होता है। यह विराग है। सहजिया लोग इस राग और विराग को क्रमशः परम (= सह-जानन्द) और विरम (= विरमानन्द) अथवा काल और विकाल कहते हैं। वे कहते हैं—इन दोनों की ही उपेक्षा कर[1] मध्यस्थ धर्माक्षर या अनाहत अक्षर को ही लक्ष्य करना उचित है। यही चन्द्रमा की षोडशी कला है। वायु के गमन-मार्ग को रोककर चन्द्र-सूर्य के मार्ग को निरुद्ध कर घोर अन्धकार के मध्य में मन अथवा बोधिचित्त को दीप के आकार में परिणत कर सकने पर यथासमय स्वभाव के नियमानुसार महासुख का प्रकाश अपने-आप ही होता है।

१. द्रष्टव्य—रागं चैव विरागं च वर्जयित्वा पुनः स्थितः। (श्रीसम्पुट)

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि के रूप में गिना जाता है। शून्यता और करुणा के अभेद को महामुद्रा कहते हैं। जिन्हें यह अभेद-ज्ञान हो चुका है वे सब कुछ जान गये, जगत् के अनन्त रहस्यजाल उनके प्रज्ञालोक से प्रकाशित विशुद्ध दृष्टि के सामने उगकर विलीन हो गये हैं। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्न-करण्डक', 'जिनरत्न' आदि नाम उस महामुद्रा के ही पर्यायवाची हैं। यह कहना अनावश्यक है कि तन्त्रशास्त्र में शिव तथा शक्ति का जो स्थान अथवा जो तात्पर्य है, वज्र और सहजयान की शून्यता और करुणा अथवा वज्र और कमल का भी अनेकांशों में वही स्थान और वही तात्पर्य है। इसलिए अर्वाचीन बौद्ध-साहित्य में जहाँ शून्यता और करुणा के मिलन की बात वर्णित देखी जाती है अथवा जहाँ वज्र के साथ कमल के संघटन का विवरण प्राप्त होता है वहाँ तन्त्रोक्त शिव-शक्ति का मिलन ही समझना चाहिए। तन्त्र में यन्त्र के मध्य में इस मिलन को समझाने के लिए दो समकेन्द्र त्रिकोण—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण और एक अधोमुख त्रिकोण परस्पर जुटे हुए अङ्कित रहते हैं। दो त्रिकोण साधारणतः षट्कोण कहे जाते हैं। इन षट्कोणों के केन्द्रस्थान में ही विन्दु का स्थान है। सहजिया लोग भी महामुद्रा का 'एवम्' के आकार में वर्णन करते हैं, इसलिए प्रकारान्तर से वे भी तान्त्रिक सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। उनकी भाषा में 'ए' से माता या चन्द्र तथा 'व' से रताधिपति या सूर्य की प्रतीति होती है। विन्दु दोनों का मध्य स्थान है। एकार और वकार का संयोग माता-पिता अथवा चन्द्र-सूर्य के संयोग के सिवा और कुछ नहीं है। सहज-मत में विन्दु अनाहत और उससे उत्पन्न अक्षरमाला का वाचक है। इसके नामान्तर धर्माक्षर, अनाहताक्षर, षोडशी अथवा नित्यकला हैं। इसके बाहर कालचक्र घूमता है। जीव अथवा संवृतिबोधिचित्त स्खलित विन्दु के रूप से इस चक्र का आश्रयण कर चन्द्र-सूर्यमय वक्रपथ पर जन्म-जन्मान्तरों तक संसार-भ्रमण करता है। तदुपरान्त मध्यपथ पर चलते-चलते एक दिन जब कालचक्र समाप्त हो जाता है तब विन्दुस्थान पर अधिकारपूर्वक महामुद्रा का दर्शन कर निर्वाण-पद को प्राप्त होता है एवं जीवन में परम शान्ति प्राप्त करता है। तब पूर्वानुभूत जगज्जाल का उपसंहार हो जाता है—सब दृश्य पदार्थ, जो उतने समय तक उसकी मुग्ध दृष्टि के सामने अनन्त रूप और अनन्त भावों में उपस्थित हो रहे थे, सब सिमट जाते हैं। परमार्थ-बोधिचित्त-रूप वज्रधर अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् बोधिचित्त अथवा मन तब निश्चल होता है एवं वायु षट्कोण के मध्यवर्त्ती विन्दु या अनाहत अक्षर के निकट बँध जाता है। वायुरूप गृहिणी की निश्चलता ही सहजियों की सन्ध्या-भाषा में शवरी के पतन के रूप से उल्लिखित होती है। मन और वायु के स्थैर्य के साथ-ही-साथ सब विषय निवृत्त हो जाते हैं। तब शवर अथवा वज्रधर मेरु-शृङ्ग पर महासुख में निवास करते हैं—उनपर पाँच मण्डलों में विभक्त प्राणरूप पवन फिर आक्रमण नहीं कर सकता। जब उस अधः-ऊर्ध्व कमल या षट्कोणात्मक महामुद्रा नामक जिनरत्न अर्थात् चिदाकाश ('वर गगन') का अवधूती द्वारा स्पर्श होता है तभी उस महासुख अवस्था का विकास होता है। महामुद्रा के दर्शन होने पर निर्वाण और पाँच प्रकार का कामगुणात्मक भवभोग अर्थात् रूप, रस आदि का आस्वादनरूप संसार एक ही साथ

निष्पन्न होता है। संसार और निर्वाण में लेशमात्र भी भेद नहीं रहता। "जो भव सो निर्वाण खलु भेवु न मन्वह पन्न। एक सहावे विरहिता निर्मल मइ पड़िवन्न ॥" (सहजाम्नाय-पञ्जिका, पृ० ११८)

सहजिया लोग कहते हैं कि जो वज्रकमल के संयोग से बोधिचित्त को वज्रपथ पर अच्युत करने में समर्थ हुए हैं—शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाड़ी में विन्दु को परिचालित कर उसको दृढ़ और स्थिर कर सके हैं, वे ही परमयोगी हैं, वे ही धर्म का यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। इन्द्रियसुख में निमग्न व्यक्ति के लिए धर्मतत्त्व-ज्ञान दुर्लभ है। "नान्यो हीन्द्रियघर्षणलक्षणसुखाभिनिविष्टः।" बोधिचित्त या विन्दु ही सब सिद्धियों का मूल है—वह यदि पतित होता है तो स्कन्धविज्ञान मूर्च्छित हो जाता है, सिद्धि हाथ नहीं लगती। जीवदेह का कङ्कालदण्ड ही मेरुगिरि है, उसके बीच में स्थित शून्य नाड़ी ही गिरिगह्वर है—इसी गह्वर में नैरात्म्यधातु का एकाधिपत्य है। आकाश इसी का नामान्तर है। यहाँ आते ही बोधिचित्त स्थिर हो जाता है। "वरगिरिकन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्त थइ।" प्राण और अपान की समता से तब अपान निरुद्ध होता है और प्राण भी निरुद्ध होता है। अपान के निरोध से बोधिचित्त की अधोगति नहीं होती तथा प्राण के निरोध से ऊर्ध्वगति भी नहीं होती। प्रवाह न रहने से विन्दु स्थिर होकर अव्यक्तभाव धारण करता है। "अह न गमइ उह न जाइ, रेणि रहि अ तसु णिच्चल पाइ।" बोधिचित्त चन्द्र या सोमरूप है जब वह विमल और स्थिर रहता है तब पूर्णिमा अवस्था का ज्ञापक होता है।

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष-रूप मासचक्र ही कालचक्र की स्वरूप है। पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला क्रमशः क्षीण होती है, दूसरे पक्ष में अमावास्या के बाद वह क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती है। कलाओं की यह पारी-पारी से ह्रास और वृद्धि उसकी अनित्यता ही सूचित करते हैं। चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ कलारूप में नित्य होने पर भी विकारशील हैं। षोडशी कला यथार्थरूप से नित्य और अमृत कला है। इस षोडशी कला का आपूरण अथवा संक्षय कुछ भी नहीं होता। क्षरणहीन होने के कारण इस षोडशीकला को ही 'अक्षर' कहते हैं। कालचक्र का निरन्तर आवर्त्तन इसका स्पर्श नहीं कर सकता। विन्दु जब इस षोडशी कला में आकर स्थिर हो जाता है तब वह पूर्णचन्द्र के रूप में निश्चल और अच्युत अवस्था प्राप्त करता है। इस अवस्था में ही महाराग-सुख का अनुभव होता है, किन्तु यहाँ न आ सकने पर विन्दु का क्षरण अवश्य ही होता है; क्योंकि अक्षर के सिवा सभी क्षर है। चन्द्रबिन्दु कला के रूप में कालचक्र में गिरता है—कालाग्नि विन्दु को सुखाती है। पूर्णिमा के बाद ही कृष्णप्रतिपदा से कला-क्षय आरम्भ होता है, इसलिए सहजिया लोग इस बिन्दुपात को बिन्दु का कृष्णपक्ष की प्रतिपदा में प्रवेशकाल कहते हैं। यथा—

"कालाग्नेश्च्युत्यवस्था कृष्णप्रतिपत्प्रवेशकालः।"

अतएव वज्रयान या साम्यमार्ग के सिवा अद्वय शून्यावस्था की—अभेद्य, अच्छेद्य नित्यवज्रावस्था की—प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। और सभी पंथों में जब चित्त का क्षरण अवश्यम्भावी है तब यही पथ एकमात्र ब्रह्मचर्य का पथ है। यही

सहज पथ है, और सभी पथ विकल्प-जालमात्र हैं। कल्पना का विलास जिस पथ में उदित होता है वह मिथ्या है।

हठयोग की साधन-प्रणाली को सिद्धपथ कहते हैं। हमने पहले हठयोग का जो परिचय प्रदान किया है उससे ज्ञात होगा कि सिद्धमार्ग या हठमार्ग की वज्र या सहज-मार्ग से वस्तुतः प्रचुर मात्रा में समानता है। किन्तु, इसके सम्बन्ध में और भी विशद आलोचना की आवश्यकता है। हठयोगी लोग कहते हैं कि जब चित्त समत्व को प्राप्त होता है, वायु मध्यपथ से गमन करता है, तब अमरोली, वज्रोली और सहजोली अपने-आप आयत्त हो जाती हैं—

"चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते॥"

वज्रोली और सहजोली शब्द सुनकर वज्रयान और सहजयान की स्मृति मन में उदित होती है। वायु के मध्यमार्ग में जाने पर चित्त वृत्तिशून्य होकर शून्य आकार धारण करता है। मन और प्राण दोनों के ही जब सुषुम्णा नाड़ी का अवलम्बन करने से ब्रह्मरन्ध्र का अवकाश बन्द हो जाता है तब ज्ञान का उदय होता है। मध्य पथ के खुलने पर काल का पराक्रम फिर नहीं रहता; क्योंकि इड़ा और पिङ्गलामय काल-संचार का मार्ग तब बन्द रहता है। इसलिए हठयोगी कहते हैं कि सुषुम्णा काल की भोक्त्री है। मन और प्राण के स्थिर होने पर विन्दु स्थिर होता है (ह०यो०प्र० ४।२८)। इसका नाम विन्दुसिद्धि है। इससे नित्य और शुद्ध सत्त्व तथा पिण्डस्थैर्य उत्पन्न होता है (वही वहीं)। विन्दु से ही जब देह का विकास होता है तब जितने समय तक विन्दु चञ्चल रहेगा उतने समय तक देह जरा और मृत्यु के अधीन रहेगी, यह कहना ही अनावश्यक है। विन्दु की स्थिरता होने से ही कार्यसिद्धि का आविर्भाव होता है। वज्रकाय, सहजकाय आदि शब्द सिद्धदेह के बोधक हैं। यही पातञ्जल-योगदर्शन की वज्रसंहननरूप कायसम्पत् है। सिद्धाचार्य रासायनिक और वज्रयानिक आचार्यगण सभी ने सिद्धदेह की आवश्यकता का अनुभव कर इसकी प्रणाली और प्रकारभेद का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि बिन्दुसिद्धि अथवा देह-सिद्धि के विना महाशक्ति के साथ संयोग-लाभ करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः भूतशुद्धि और चित्त-शुद्धि के विना उपासना का अधिकार उत्पन्न नहीं हो सकता। आधार पक्का न होने तथा धारणा-शक्ति न रहने पर विराट् चैतन्य का सम्बन्ध नहीं होता। यदि यथाकथंचित् हो भी जाय तो आत्मविनाश अवश्यम्भावी है। सिद्धदेह योगी जरा और मृत्यु से परे हैं।

यहाँ एक बात की आलोचना करना आवश्यक प्रतीत होता है। जीवदेह में जो भाव-विकार होते हैं उनका कारण क्या है? जरा और मृत्यु—ये छह विकारों के अन्तर्गत हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि शब्दब्रह्म की अव्याहत नित्यकला कालशक्ति के आश्रय से भावविकारों को उत्पन्न करती है (वा०प०, ब्रह्मकाण्ड १।३)। कालशक्ति के प्रभाव से ही प्रकृति का विकार होता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि

परिणाममात्र ही विकार नहीं है। सांख्य जिसे विसदृश परिणाम कहते हैं वही विकार कहलाता है। सदृश परिणाम को विकार कहना नहीं बनता। इसलिए जहाँ सदृश परिणाम की भी सम्भावना नहीं, वहाँ अर्थात् स्थिर विन्दु में कोई भी परिवर्त्तन नहीं होता। वह निर्विकार प्रकृतिस्थान है।[1] तन्त्रमत में सृष्टि का मूल उपादान चन्द्र अथवा सोम है। चन्द्रमा जहाँ विन्दुरूप में स्थित है वहाँ सृष्टि नहीं है, कम्पन भी नहीं है। यही अमृत कला या षोडशी कला है। यह पञ्चदश कलाओं की समष्टि होकर भी उनके अतीत है। इस नित्य कला का क्षरण या स्राव नहीं होता। इसीलिए यह अक्षर, विन्दु आदि नामों द्वारा अभिहित होती है। परन्तु कौशल से यदि इसके साथ शिवतत्त्व की—संहाराग्नि-शिखा की योजना की जाय तो इससे सुधाधारा निस्यन्दित होती है। वस्तुतः यह स्यन्दन अक्षरविन्दु का नहीं है। पञ्चदशी कला विश्वात्मिका है। वह षोडशी के साथ अभिन्नरूप से महाविन्दु में विराजमान है। पर यह षोडशी के साथ अभिन्न रूप होने से कभी-कभी षोडशी के स्राव की बात सुन पड़ती है। वास्तव में दो विन्दुओं की अद्वयावस्था ही षोडशी है। प्रकारान्तर से कहा जाता है कि इसका क्षरण होने पर भी अक्षरत्व क्षुण्ण नहीं होता। इस विन्दु-क्षरण से ही नाद का आविर्भाव होता है। सृष्टि नादरूपा और नादमूलक है।

शुद्ध और अशुद्ध भेद से सृष्टि दो प्रकार की है। हम यहाँ मिश्र सृष्टि की चर्चा नहीं करेंगे। विन्दु के प्रसार से दोनों सृष्टियों का उदय होता है। शुद्ध सृष्टि में आविर्भाव, स्थिति और तिरोभाव—ये तीन अवस्थाएँ हैं। आविर्भाव और तिरोभाव के मध्य में भाव की स्थिरता रहती है, क्रमिक परिणाम नहीं रहता। अशुद्ध मार्ग में क्रमपरिणाम दिखाई देता है। अतएव अशुद्ध मार्ग में प्रत्येक क्षण में भाव का अवस्थान्तर होना स्वाभाविक है। यही एक शब्द में जरा शब्द का अर्थ है। जन्म के बाद और नाश के पहले जो अवस्था है, उसे साधारणतः चार भागों में विभक्त किया जाता है, वह मोटा-मोटी स्थितिरूप होने पर भी क्रम से परिवर्त्तनशील अथवा जरायुक्त है। अशुद्ध अध्वा के वीतने पर जरा हट जाती है, आविर्भाव और तिरोभाव के अन्तराल में

---

१. यह कहना अनावश्यक है कि प्रकृति का यह रूप प्रचलित सांख्यदर्शन में उपलब्ध नहीं होता। सांख्य-मत में प्रकृति नित्यपरिणामिनी है। विसदृशपरिणाम होने से ही सृष्टि होती है यह सत्य है, किन्तु सृष्टि की पूर्वावस्था भी परिणामहीन नहीं है। प्रलय-काल में जब प्रकृति सब विकारों को अपने गर्भ में विलीन कर अपने में आप विद्यमान रहती हैं तब भी उनके सदृशपरिणाम का विराम नहीं होता। इसीलिए सांख्योक्त प्रकृति स्थिर विन्दुरूप में वर्णित नहीं हो सकती। सांख्योक्त प्रकृति तीन गुणों की साम्यरूपा है। यह तीन विन्दुओं की समष्टि है, इसलिए समभुज त्रिकोणस्वरूप है। इसके मध्य में विन्दु सांख्योक्त पुरुष हैं। वास्तव में पुरुष मध्यबिन्दु नहीं हैं। पुरुष के साथ नित्यसंयुक्त समभावापन्न स्थिरबिन्दु ही मध्यबिन्दु है। उसके स्पन्दन से तीन गुण अथवा तीन बिन्दु अभिव्यक्त होकर त्रिकोण की सृष्टि करते हैं। सृष्टि का मूल उपादान यह मध्यबिन्दु है। यद्यपि पुरुष इस मध्यबिन्दु के साथ नित्यमिलित हैं तथापि वह नित्यविमुक्त हैं। पुरुष सृष्टि के उपादान नहीं हो सकते। वास्तव में पुरुषतत्त्व बिन्दु के भी अतीत हैं। सांख्य की प्रकृति में कम्पन है—कम्पन बिन्दु का ही स्पन्दनमात्र है। आगम-मत में इसलिए यह भी नाद के अन्तर्गत है।

एक प्रकार की ही स्थिति रहती है। कोई भी दूसरी अवस्था नहीं होती। शुद्ध अध्वा भी जब निवृत्त हो जाता है तब विन्दु स्थिर होता है। शुद्ध अध्वा की स्थिति के समय विकार नहीं रहता अर्थात् विसदृशपरिणाम नहीं रहता, केवल सदृशपरिणाम रहता है। कालाग्नि रुद्र के स्पर्श से नित्य कलारूप चन्द्रविन्दु का जब क्षरण होता है तभी से सृष्टि की सूचना होती है, फिर सृष्टि के साथ प्रलय भी अनुविद्ध रहता है। विशुद्ध अध्वा में आकार का आविर्भाव और तिरोभाव होता है—दोनों के मध्य में विकार न रहने पर भी परिणाम होता है। यहीं वर्त्तमान क्षेत्र में काल के प्रभाव का फल है। अशुद्ध अध्वा में जन्म से लेकर विनाश होने तक छहों विकार होते हैं। मध्य में जरा है, जिसे चार अवान्तर भागों में विभक्त किया जाता है। शुद्धाध्वा में भी मरण है, किन्तु वह तिरोभावमात्र है, स्थूल जगत् के मरण के तुल्य नहीं है। इसलिए वहाँ की अवस्था अमरत्व के नाम से वर्णित होती है।[1] वस्तुतः यह अमरता युगान्त या कल्पान्त या महाकल्पान्त तक स्थिति के सिवा और कुछ नहीं है। यदि शुद्धावस्था वास्तव में ही काल के अतीत होती तो मध्यावस्था में भी परिणाम नहीं रहता—सदा स्थिति ही रहती। और यदि स्वभावजात संकल्प से आकार का ग्रहण अथवा त्याग होता तो आविर्भाव और तिरोभाव रहते सही, किन्तु उस स्थल में भी नित्यसिद्ध आकार का ही ग्रहण अथवा त्याग होता, आकार का निर्माण नहीं होता। अवश्य वह अवस्था भी है। पर वह काल-चक्र के ऊपर स्थित है। बौद्ध-महायान के आचार्यगण और वैष्णवाचार्यगण उस अवस्था का परिचय विशेष रूप से दे गये हैं। काल की वक्रगति के ऊपर चढ़ सकने पर ही अजरत्व-लाभ होता है और काल की गति का स्तम्भन होने पर जन्म-मरण कट जाते हैं। चन्द्रकलारूप विन्दु क्षरित होकर कालचक्र में पड़ता है। कालाग्नि उसका शोषण करती है—ग्रास करती है। जरा उसी का फल है।[2] मृत्यु भी वही है।[3] अतएव विन्दु जब अक्षरभाव को प्राप्त होकर चन्द्र की षोडशी वा अमृत कला में विलीन होता है, जब इसकी चञ्चलता हट जाती है तब जरा और मृत्यु तिरोहित होती हैं।

---

१. "अपाम सोमममृता अभूम्"—इस स्थल में सोम या अमृत-पान के फलरूप से जो अमरत्व का वर्णन हुआ है उसकी भी दीर्घजीवित्व के रूप में अनेकों ने व्याख्या की है। इस सोम का चन्द्रबिन्दु या अमृत कला के रूप में ग्रहण किया जाय तो इस अमरत्व को आपेक्षिक न कहकर यथार्थ ही मानना होगा। फिर यदि यह क्षरित अमृतधारा मानी जाय तो पूर्व व्याख्या अवश्य ही सुसंगत होती है। जो क्षरित होता है, उसके द्वारा अक्षरावस्था की उपलब्धि नहीं हो सकती।

२. द्रष्टव्य—"यत् किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥"
(ह० यो० प्र० ३।७७)
टीकाकार कहते हैं—यहाँ सूर्य का अर्थ अग्नि है।

३ द्रष्टव्य—"चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम्"
(ह० यो० प्र० ३।२५)
तुलनीय—"मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।" (वही)
यह कहना अनावश्यक है कि यह बिन्दुधारण पूर्वोक्त चन्द्रविन्दु को क्षरित न होने देने तथा क्षरणशील अंश को अक्षरत्व में परिणत करने के सिवा और कुछ नहीं है। यह अक्षरावस्था ही ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा है।

इसको स्कन्धसिद्धि कहते हैं। जरा न रहने के कारण सिद्धदेह रूप-लावण्ययुक्त होती है और सोमकला से पूर्ण रहती है एवं स्थिरता आने के कारण वज्र के तुल्य सुदृढ़ होती है।

हम पहले सहजयान और वज्रयान के विषय में संक्षिप्त आलोचना करते समय सिद्धमार्ग अथवा नाथपन्थ के सम्बन्ध में दो-चार बातें कह चुके हैं। किन्तु उससे वक्तव्य विषय अभी भलीभाँति स्पष्ट हुआ नहीं है। सिद्ध-सम्प्रदाय के विचार और सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाले विना सहजमार्ग तथा अन्यान्य बौद्ध और अबौद्ध सम्प्रदायों के साथ उसकी तुलनामूलक समालोचना चल नहीं सकती। विशेषत: मध्ययुग की साधना का यदि परिचय प्राप्त करना हो तो इस विषय में व्यापक तथा सूक्ष्मरूप से आलोचन होना आवश्यक है।

सिद्धगणों द्वारा आचरित और प्रचारित धर्म अनेक अंशों में हठयोग का ही अभिन्न रूप है। लौकिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक कौन है, यह जानने का उपाय नहीं है। यद्यपि परमार्थत: अन्यान्य विद्याओं के तुल्य हठविद्या भी साक्षाद्रूप से परमात्मा से ही उद्भूत है एवं हठयोगी लोग भी यही कहते हैं[1], तथापि उक्त विद्या के जगत् में प्रचार का पहला नेता कौन है, वही हमलोगों का जिज्ञास्य है। साधारणत: मत्स्येन्द्रनाथ को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। अवश्य इसमें प्रमाण भी है।[2] किन्तु भारतीय शासनपद्धति के इतिहास और क्रमविकास की

---

१. हठयोगप्रदीपिका (१।१) में कहा है—"श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।" ब्रह्मानन्द ने अपनी ज्योत्स्ना नामक टीका में प्रकारान्तर से यही बात कही है—"गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादो प्रसिद्धः।" महाकालयोगशास्त्र प्रसिद्ध महाकालसंहिता से पृथक् है अथवा अभिन्न ग्रन्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। पर उक्त संहिताग्रन्थ का जितना अंश प्रबन्धलेखक के दृष्टिगोचर हुआ है, उसमें यह अंश मिला नहीं।

२. हठयोगप्रदीपिका (१।४) में कहा है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ—ये दो आचार्य ही हठयोग का रहस्य भलीभाँति जानते थे। ब्रह्मानन्द ने इस प्रसङ्ग में जलन्धरनाथ, भर्त्तृहरि और गोपीचन्द्र का नामोल्लेख किया है। यह कहना अनावश्यक है कि ये सभी नाथ-सम्प्रदाय के उपदेष्टा थे। भर्त्तृहरि का दूसरा नाम विचारनाथ था। उनकी अनेक पदावलियाँ हैं। गोपीचन्द्र की भी हैं। जलन्धर, चर्पटी, चौरङ्गी अथवा चतुरङ्गीनाथ, बालनाथ आदि बहुत सिद्धों की पदावलियाँ न्यूनाधिक परिमाण में प्राप्त होती हैं। इन सब पदसाहित्य और निरञ्जनपुराण, विराट्पुराण, अवधूतविद्या, गोरक्षोपनिषत् आदि ग्रन्थों की आलोचना करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष इस सम्प्रदाय के लौकिक प्रवर्त्तक हैं। वङ्गभाषा में भी नाथगणों की अनेक कहानियाँ वर्णित हैं। उनमें से कुछ-कुछ प्रकाशित भी हुई हैं। हिन्दी और मराठी-साहित्य में भी प्रायः ऐसा ही है। इस विषय में अँगरेजी, बंगला, हिन्दी, मराठी प्रभृति विभिन्न भाषाओं में विविध सामयिक पत्रिकाओं में बहुत-से ऐतिहासिक प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। वर्त्तमान प्रबन्ध के लेखक का "Some Aspects of the History of and Teachings of the Nathas" नामक निबन्ध इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। (इस निबन्ध का प्रथमांशमात्र "The Princess of Wales Saraswati Bhavana Studies", Vol VI, PP. 19 से 43 तक प्रकाशित हुआ है।)

आलोचना करने पर ज्ञात हो सकता है कि सिद्ध-मार्ग स्थापित होने के पूर्व से ही किसी-न-किसी आकार में हठयोग प्रचलित था। मार्कण्डेयप्रोक्त हठयोग अत्यन्त प्राचीन है। उसमें विशुद्ध हठयोगांश में नाथगणों द्वारा प्रचारित सिद्धान्त के साथ मौलिक ऐक्य रहने पर भी वहुत-से अवान्तर विषयों में वैलक्षण्य था। जो सिद्धमार्ग का प्राणस्वरूप तथा उसके वैशिष्ट्य का सम्पादक हैं, उसका नाथगणों ने ही अपनी साधना और अनुभूति के फलरूप से जगत् में व्यापकरूप से प्रचार किया था।

एक वात प्रसङ्गतः हम यहाँ पर कह रखते हैं। बौद्ध महायान-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहज और वज्रमार्ग में अनुभूति-सम्पन्न आचार्य 'सिद्धाचार्य' के नाम से अभिहित होते थे। मत्स्येन्द्रनाथ के नाम के साथ जो धर्ममत जुटा हुआ है एवं जिसका हमने सिद्धमार्ग के नाम से वर्णन किया है, उसमें भी आचार्य का साधारणतः सिद्ध के नाम से ही उल्लेख किया गया है। नाथगणों द्वारा प्रचारित सिद्धमार्ग में परम पद का 'सहजावस्था', केवलमात्र 'सहज' अथवा 'स्वभाव' के नाम से वर्णन किया गया है। यह कहना वेकार है कि यह 'सहज' शब्द सहज-पन्थी अथवा वज्र-पन्थियों का एक पारिभाषिक शब्द है। दोनों ही मार्गों में इस योग का प्राधान्य कहा जाता है, युगनद्धरूप से गुरु की अत्यन्त आवश्यकता मानी गई है एवं देहसिद्धि का गौरव मुक्तकण्ठ से उद्घोषित हुआ है। इस तरह के वहुत-से विषयों में दोनों मतों में समता दिखलाई पड़ती है। जिन सब सिद्धों का बौद्ध सहजिया अथवा वज्रयानी साधक भक्ति के साथ उपास्यरूप में उल्लेख करते हैं, वे सभी—सब न होने पर भी उनमें अधिकांश ही—हठयोगी अथवा नाथयोगियों के भी नमस्य हैं। जो सब रासायनिक मध्ययुग में रसविद्या के प्रभाव से लोहवेध के तुल्य देहवेध अथवा पिण्डस्थैर्यसम्पादन करने के लिए उसके उपयुक्त साधन-पथ पर अग्रसर हुए थे, वे भी रससाधना के प्रवर्त्तक आदि गुरु के रूप में सिद्धों का उल्लेख कर गये हैं। तन्त्रशास्त्र में भी किसी-किसी जगह इन सब सिद्धों की प्रचुर प्रशंसा की गई है।

कोई-कोई यह मानते हैं कि सिद्धगण अद्वैतवादी थे, किन्तु सिद्धगणों के जो पद अथवा वचनावलियाँ मिलती हैं, उनका विशेषरूप से अनुशीलन करके देखने पर मालूम पड़ता है कि सिद्धगणों ने द्वैतवाद अथवा अद्वैतवाद किसी पक्ष का अवलम्बन नहीं किया। बहुत स्थलों पर उन्होंने अपने मत का द्वैताद्वैतविलक्षण कहकर वर्णन किया है। जलन्धरनाथ सिद्धसम्प्रदाय के एक अति प्रसिद्ध और शक्तिशाली आचार्य थे। उन्होंने अपनी 'सिद्धान्तवाक्य' नामक पदावली में नाथ-सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट अक्षरों में कहा है :

"द्वैतं वाद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शङ्करं वा।"

'नाथ-सूत्र' नामक ग्रन्थ में भी यही सिद्धान्त स्पष्टरूप से प्रतिपादित हुआ है। उन्होंने द्वैत अथवा अद्वैत किसी मत को जैसे पूर्ण सत्यरूप नहीं माना है; वैसे ही किसी का भ्रान्ति कहकर परिहार भी नहीं किया। वे कहते हैं द्वैत तथा अद्वैत दोनों का सामरस्य न होने तक पूर्ण सत्य का साक्षात्कार होने की सम्भावना नहीं है। इसी कारण नाथ-मत में ऐसा एक सर्वाङ्ग सुन्दर सामञ्जस्य का आदर्श दिखाई पड़ता है

जो अन्यत्र सुलभ नहीं है। जो लोग जड़ और चेतन के मध्य विरोध है, यह कल्पना कर दोनों में से अन्यतर पक्ष का समर्थन करते हैं, नाथ-सिद्धान्त की ओर से देखने पर उन्हें भ्रान्त मानना होगा। जिस कार्यसिद्धि के व्यापार का नाथगण प्रचार कर गये हैं एवं जो भारतीय साधना का एक महान् गौरव का विषय है, वह वस्तुतः इस सामरस्यभाव के ही अनुकूल है। जबतक जड़ और चेतन में पार्थक्य रहेगा तबतक देहसिद्धि की आशा दुराशामात्र है। सिद्धदेह तथा आत्मस्वरूप के मध्य वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है। अथच देहसिद्धि के विना आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जिस कर्म-कौशल से देह और आत्मा का यह कल्पित भेद हट जाता है एवं मौलिक अभिन्नता प्रतिष्ठित होती है, उस साधन-प्रणाली का ही सिद्धगण योग के नाम से वर्णन करते हैं। इसीलिए वे कहते हैं, योग के विना परावस्था की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। आदिनाथ ने कहा है :

"योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।" 'विवेकमार्त्तण्ड' ग्रन्थ में भी शब्दान्तर से यही बात कही गई है; जैसे—

"योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।"

तथाकथित गुरुमुख से निःसृत उपदेशावली अथवा शास्त्रमाला केवल विकल्पजाल-मात्र है। उसके द्वारा जीव की बन्धन-मुक्ति में विन्दुमात्र भी सहायता नहीं होती। निर्विकल्प परम पद में यदि पहुँचना हो तो अन्यान्य विकल्पों के तुल्य शास्त्राध्ययनरूप विकल्प का भी पूर्णरूप से त्याग करना होगा। केवल इन्द्रियगोचर शब्द सुनकर कोई कभी भी इन्द्रिय के अतीत निष्कम्प चिन्मयस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। जीवन का जो अंश शास्त्राध्ययन अथवा विकल्पमय वाग्जाल के विस्तार में यापित होता है; सिद्धगणों के मत में वह निष्फल है। जीव विकल्प में पड़कर अपना नित्यसिद्ध रूप भूल गया है और अविद्या के प्रभाव से असत् को सत् मानकर तृषित हृदय से मरुस्थल में भटक रहे पथिक के तुल्य मरीचिका की ओर ही अग्रसर हो रहा है। सिद्धगण कहते हैं कि विकल्प का उपशम एवं इस अनादि काल से बह रहे भ्रान्तिस्रोत का निरोध न होने तक जीव के परम कल्याण की प्राप्ति की कोई आशा नहीं है। अन्धा जैसे किसी को मार्ग दिखाकर चला नहीं सकता, वैसे ही एक विकल्पग्रस्त जीव अन्य विकल्प-ग्रस्त जीव को केवल विकल्प के साहाय्य से निर्विकल्प परम पद पर चढ़ा नहीं सकता।

इसीलिए गुरु की आवश्यकता है। गुरु-कृपा के विना, गुरुदत्त शक्ति का सहारा लिये विना, जीव के लिए मोह से उत्तीर्ण होने का और कोई मार्ग नहीं है। जो परम्पराप्राप्त महाजनों द्वारा आचरित सुमार्ग दरसाकर जीव की भ्रान्ति हटाने और वल-सम्पादन करने में समर्थ हैं, जिनका आश्रय लेकर असहाय जीव—अर्थात् जलप्रवाह में तैरते हुए तृण के टुकड़े के समान संसार-सागर में निरन्तर डूबता और उतराता हुआ असहाय जीव—आत्मस्वरूप में विश्राम-लाभ कर सकता है, वे ही 'गुरु' कहलाते हैं। वे जिस पथ का प्रदर्शन करते हैं उस पथ पर चलने पर ही स्वसंवेद्य आत्मवस्तु का दर्शन प्राप्त होता है। आत्मसाक्षात्कार के लिए दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। केवल

उपदेशमय वाक्याडम्बर के द्वारा आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में परिचय प्रदान नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है, मन, वचन, इन्द्रिय आदि का अगोचर है। इसीलिए 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्' है। जठरसंहिता में कहा है :

"परम्पराप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रान्तिकारणम् ॥
तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम्।
भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत् ॥"

एकमात्र गुरु के कृपाकटाक्षपात से निरुत्थान दशा का उदय होता है। इस अवस्था में स्वदेह आत्मसंवेद्य अवस्था को प्राप्त होकर परमपद के साथ सामरस्य प्राप्त करती है। तव निजावेशवश अर्थात् आत्मस्मृति के उदय से एक अनिर्वचनीय महानन्दमय अवस्था का स्फुरण होता है। इससे जिस प्रकाश का उद्दीपन होता है, उसकी अनुभूति होने पर ही सव भेद तिरोहित हो जाते हैं।

अपने पिण्ड अथवा देह का ज्ञान भलीभाँति सिद्ध होने पर परमपद के साथ उसका ऐक्य अथवा अभेद स्वभावतः ही प्रतिष्ठित होता है। जिसके अवगत होने पर समस्त जगत् का ज्ञान उदित होता है एवं सव प्रकार की सिद्धियाँ अपने-आप ही उपस्थित होती हैं, उसे परमपद कहते हैं। इस ज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था में विश्वातीत परमेश्वर विश्व में सव रूपों में समानभाव से विद्यमान दिखलाई देते हैं। सिद्धगणों की पारिभाषिक भाषा में इसका नाम 'सहजज्ञान' है। यह स्मरण रखना होगा कि आत्मा में विश्वदर्शन तथा विश्व में आत्मदर्शन परस्पर पृथक् अवस्थाएँ हैं। अपने में विश्वदर्शन होने पर ही सहजज्ञान का आविर्भाव नहीं होता; क्योंकि जवतक तुरीयातीत परमात्मा का विश्व के अणु-परमाणु में पूर्णरूप से प्रत्यक्ष न किया जाय तवतक ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। द्वितीय अवस्था में स्फुरणशील सव वृत्तियाँ संयमपूर्वक आत्मा में धारणा की जाती हैं। ज्ञान की इस अवस्था का नाम 'संयमज्ञान' है। तृतीय अवस्था में प्रकाशमय आत्मा को स्वरूपतः अभिव्यक्त कर सर्वदा 'लौल्य' अथवा उद्यम-अवस्था में स्थिति होती है। इसका नाम 'उपाय-ज्ञान' है। चतुर्थ अवस्था में आत्मस्वरूप में जाति आदि विकल्पों का आत्यन्तिक अभाव दृष्टिगोचर होता है। यह 'अद्वयज्ञान' की अवस्था है। इन चतुर्विध भावों से ही परावस्था का उदय होता है। परावस्था को प्राप्त योगी तृप्त और निर्विकल्पभाव से सर्वदा निरुत्थान पद पर विराजमान रहते हैं।

कोई-कोई परमपद की प्राप्ति के साधन का इस प्रकार वर्णन करते हैं, जैसे—

"सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः।
स्वोपायं.... विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥"

सिद्धगण कहते हैं कि पिण्ड और पिण्डाधार शक्ति का ज्ञान प्राप्त हुए विना तत्त्वबोध असम्पूर्ण रह जाता है। इस देह का ही दूसरा नाम पिण्ड है, इसका ज्ञान

आवश्यक है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में मूलगत ऐक्य विद्यमान है। व्यष्टि और समष्टि

में जिस प्रकार का भेद है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड में भी वही है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि और क्रम-विकास का ज्ञान यदि प्राप्त करना हो तो अपने पिण्ड की उत्पत्ति और परिणाम-प्रणाली की आलोचना करनी चाहिए। ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, पिण्ड में भी सूक्ष्मरूप से ब्रह्माण्ड का सब कुछ है। इसलिए जो पिण्ड का तत्त्व जानते हैं; उनके लिए ब्रह्माण्ड का कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। सात तल, इक्कीस लोक, सात द्वीप, सात समुद्र, नौ खण्ड, बहत्तर हजार नदियाँ, नक्षत्र, राशि, ग्रह, तारा, पर्वत, देवता आदि सभी देह में विद्यमान हैं। सुखरूपी स्वर्ग, दुःखरूपी नरक, निर्विकल्परूपी मोक्ष—ये भी देहाश्रित हैं। निद्रा के आदि में और जागरण के अन्त में जिस क्षणस्थायी अवस्था का प्रकाश होता है उसका स्वस्वरूप के रूप से ग्रहण किया जा सकता है। सारांश यह कि ब्रह्माण्ड में जितने प्रकार के भाव अथवा अवस्थाएँ विद्यमान हैं, क्रियाकुशलकर्मी पुरुष उन सबको अपनी देह में ही प्रत्यक्ष देख पाते हैं।

"अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम्॥"

निराकार परम तत्त्व जब आकार-ग्रहण के लिए उन्मुख होते हैं, तभी से सृष्टि की सूचना होती है। सिद्धगण इस सूचना से पूर्णविकास-पर्यन्त सब अवस्थाओं को छह विभागों में विभक्त कर छह प्रकार के पिण्ड-स्वरूपों का निरूपण करते हैं। उनमें पहले पिण्ड का नाम पर अथवा आदि पिण्ड है, दूसरे का नाम साकार पिण्ड है, तीसरे से छठे तक चार पिण्डों के नाम क्रमशः महासाकार, प्राकृत, अवलोकन और गर्भ हैं।

पिण्ड की उत्पत्ति के पहले जो परमतत्त्व अव्यक्त रूप से अपने में आप वर्त्तमान रहता है, जो कार्य, कारण, कर्त्तृत्व, कुल, अकुल आदि सब प्रकार के भेदों से परे है, वह स्वयं तत्त्व' के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी एक 'निज शक्ति' है, वह स्वयं तत्त्व की स्वरूपभूत शक्ति है। इस निज शक्ति से अवरोहक्रम से शक्तिचक्र का क्रम-विकास होता है। निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी—शक्ति की ये पाँच अवस्थाएँ हैं। यह स्मरण रखना होगा कि शक्ति स्वरूप का ही धर्म अथवा अवस्था-मात्र है। परा का लक्षण उन्मुखता है, अपरा का लक्षण स्पन्दन-मात्र है, सूक्ष्मा का अहन्ता तथा कुण्डलिनी का लक्षण स्थूलत्व है। निजा आदि पाँच शक्तियों में प्रत्येक के ही पाँच-पाँच गुण हैं।[1] पर या आदि पिण्ड इन पाँच शक्तियों के द्वारा गठित है। इसलिए परपिण्ड में पच्चीस गुणों का समावेश है।[2]

---

१. निजा के गुण हैं—निराकारता, नित्यता, निरन्तरत्व, निःस्पन्दता और निरुत्थानभाव; परा के गुण हैं—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नता, अनन्तत्व और अव्यक्तता। अपरा के गुण हैं—स्फुरता, स्फारता, स्फुटता, स्फोटता और स्फूर्त्ति; सूक्ष्मा के गुण हैं—निरन्तरत्व, निरंश व, निश्चलत्व, निश्चय और निर्विकल्पभाव एवं कुण्डलिनी के गुण—पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रकृतिरूपता, प्रत्यङ्मुखत्व और उच्चलस्वभाव हैं। (द्रष्टव्य—नित्यनाथकृत सिद्धसिद्धान्त पद्धति तथा बलभद्रकृत सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह।)

२. सिद्धगण अनेक प्रकारों से परपिण्ड के पच्चीस गुणों का प्रदर्शन करते हैं। पाँच शक्तियों के

परपिण्ड से महाकाश आदि के क्रम से महापृथिवी-पर्यन्त पाँच तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। इन पाँच तत्त्वों के संघात से साकार पिण्ड की उत्पत्ति होती है। इनमें प्रत्येक के पाँच गुण हैं[१], इसलिए साकार पिण्ड में भी २५ गुणों का विकास लक्षित होता है। शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और विधि (ब्रह्मा)—ये आठ महासाकार पिण्ड की आठ मूर्त्तियाँ हैं। महासाकार पिण्ड का विकास होने के उपरान्त प्राकृत पिण्डों की उत्पत्ति होती है। पाञ्चभौतिक शरीर को ही सिद्धगण प्राकृत पिण्ड कहते हैं। विधि या ब्रह्मा से ही उसकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक भूत में पाँच गुण हैं।[२] इसलिए शरीर में भी २५ गुणों की क्रिया दिखाई देती है। प्राकृत पिण्ड से नरनारी-रूप अवलोकन-पिण्ड तथा अवलोकन-पिण्ड से दशधातुमय[3] गर्भपिण्ड उत्पन्न होता है।

ऊपर सिद्धगणों द्वारा प्रदर्शित पिण्ड-विभाग का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे यह मालूम हो जाता है कि उनके मतानुसार साकार के तुल्य निराकार भी सृष्टि के अन्तर्गत है। परम वस्तु साकार और निराकार दोनों के ही अतीत है।

अनुरूप पाँच तत्त्व या पद हैं—जैसे, अपर, पर, शून्य, निरंजन और परमात्मा। इनमें से प्रत्येक में पाँच गुणों की सत्ता और क्रिया मानी जाती है। परपिण्ड इन पाँच तत्त्वों से निर्मित होता है, इसलिए परम पिण्ड में २५ गुणों की सत्ता मानी जाती है। अस्तिता, स्वयंसंवेदनाभास, स्वेच्छामात्र, सत्तामात्र और स्वसाक्षात्कार—ये ही अपरादि पाँच पद या तत्त्वों के स्वरूप हैं। अपर पद के गुण हैं—अकलत्व, संशयहीनता, अनुमतत्व, अपरत्व और अमरत्व; पर पद के गुण हैं—निष्कलत्व, अलोलत्व, असंख्येयत्व, अक्षयत्व और अभिन्नत्व, शून्य पद के गुण हैं—लीनता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मनी और लय; निरंजन के गुण हैं—सहजत्व, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता और सर्वगत्व तथा परमात्मा के गुण हैं—अभयत्व, अभेद्यत्व, अच्छेद्यता, अनाश्यता और अशोष्यता।

परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहंभाव—परपिण्ड के अन्तर्गत ये पाँच क्रम-विकसित अवस्थाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक अवस्था में पाँच गुणों का विकास होता है। परमानन्द के गुण हैं—निःस्पन्दता, हर्ष, उन्माद, स्पन्द और नित्यसुख; प्रबोध के गुण हैं—उदय, उल्लास, अवभास, विकास और प्रभा; चिदुदय के गुण हैं—सद्भाव, विचार, कर्तृता, ज्ञातृत्व और स्वातन्त्र्य; प्रकाश के गुण हैं—निर्विकारता, निष्कलता, सद्बोध, समता और विश्रान्ति एवं सोऽहंभाव के गुण हैं—अहंता, खण्डितैश्वर्य, स्वानुभूति, समर्थता और सर्वज्ञता।

१. महाकाश के गुण हैं—अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यता, रव और नीलवर्ण; महावायु के गुण हैं—संचार, चालन, स्पन्द, शोषण और धूम्रवर्ण; महातेज के गुण हैं—दाहकता, पावकता, सूक्ष्मता, रूपभावकत्व और रक्तवर्ण; महाजल के गुण हैं—प्रवाह, अप्यायन, रस, द्रव और श्वेतवर्ण एवं महापृथिवी के गुण हैं—स्थूलता, नानाकारता, काठिन्य, गन्ध और पीतवर्ण।

२. आकाश के गुण हैं—राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह; वायु के गुण हैं—धावन, चलन, रोध, प्रसार और आकुञ्चन; तेज के गुण हैं—क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, निद्रा और कान्ति; जल के गुण हैं—लाला, मूत्र, रक्त, स्वेद और शुक्र एवं पृथिवी के गुण हैं—अस्थि, त्वक्, मांस, लोम और नाड़ी।

३. दस धातुओं में अस्थि (हड्डी), मज्जा, मेदा और शुक्र—पितृवीर्य से तथा मांस, रक्त, लोम त्वक्, पित्त और कफ—ये छह माता से उत्पन्न होते हैं।

निराकार अवस्था ही अद्वैतावस्था है—यह कहना बेकार है, सापेक्षता के कारण यह भी परम पद नहीं है। इन छह पिण्डों में किसी को भी सिद्धपिण्ड नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परम पद के साथ सामरस्य जबतक न हो तबतक पिण्डसिद्धि हो नहीं सकती।

शिव और शक्ति में वस्तुतः कोई भेद नहीं है—

"शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥"

चन्द्रमा और चाँदनी में जैसे कोई स्वरूपगत भेद नहीं है, वैसे ही शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है। जिसे शिव कहा जाता है, वह भी शक्ति की ही एक नित्यसिद्ध अवस्थामात्र है। सिद्धगण इस अवस्था का 'निरुत्थान दशा' के नाम से वर्णन करते हैं। यह शक्ति की आत्मलीन अवस्थामात्र है। इस अवस्था को लक्ष्य कर शास्त्र में कुलाकुलस्वरूप, सामरस्यभूमि, सत्ता, अहन्ता, परा, भासा, स्फुरता आदि संज्ञाएँ प्रवृत्त हुई हैं। शक्ति की कुल और अकुल—ये दो अवस्थाएँ हैं। कुलशक्ति पाँच प्रकार की है, जैसे—सत्त्व, रज, तम, काल और जीव। अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति, प्राकृतिक परिणाम का हेतु काल[1] तथा प्रकृति के उपदेष्टा पुरुष—सभी कुलशक्ति के अन्तर्गत हैं। प्राचीन सांख्याचार्यगण पुरुष, प्रकृति और काल—इन तीन तत्त्वों का मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करते थे। सिद्धगणों द्वारा लक्षित अकुलशक्ति को वे ग्रहण नहीं करते। कुलशक्ति में से प्रत्येक में पाँच गुणों का विकास होता है[2]। किन्तु अकुलशक्ति एक, अखण्ड, अद्वय, अनन्य, अधर्मक और निरन्तर है। यह अकुलशक्ति अपरम्परा या साक्षात् शक्ति भी कही जाती है। कुलशक्ति ही परम्परा-शक्ति है, यही पिण्ड की आधारभूत कुण्डलिनी-शक्ति है। यह साधारणतः सर्वत्र अबुद्ध अथवा प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहती है। योग-बल से अथवा सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित क्रिया-कौशल का अवलम्बन कर इस निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति को प्रबुद्ध अथवा चेतन करना पड़ता है।

---

१. प्रचलित सांख्य में प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक माना जाता है। काल पृथक् तत्त्व नहीं माना जाता। दिशा और काल दोनों ही आकाश के अन्तर्गत हैं। किन्तु प्राचीन सांख्य एवं तदनुयायी पाञ्चरात्र आदि शास्त्रों में बहुत स्थलों पर प्रकृति का परिणाम नैमित्तिक रूप में व्याख्यात हुआ है। यह निमित्त ही उन लोगों का कालतत्त्व है। निमित्त का, वृत्तिरोध के कारण, उपसंहार होने पर प्रकृति का सदृशपरिणाम तक बन्द हो जाता है। तब प्रकृति के परिणाम के बिलकुल निवृत्त हो जाने के कारण गुणातीत अवस्था का उन्मेष होता है। प्रचलित सांख्य में कहा है—"चलञ्च गुणवृत्तम्"। इसलिए गुण कभी भी निश्चल नहीं हो सकते। अर्थात् प्रचलित सांख्यमत में गुण नित्य हैं, कदापि उनका उपसंहार नहीं माना जाता। यह कहना अनावश्यक है कि प्राचीन सांख्य अनेक अंशों में वेदान्त का अनुगामी है।

२. सत्त्व के गुण—दया, धर्म, क्रिया, भक्ति और श्रद्धा; रज के गुण—दान, भोग, शृंगार, स्वार्थ और आदान (ग्रहण); तम के गुण—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा और क्रूरता; काल के गुण—विवाद, कलह, शोक, बन्ध और वञ्चना एवं जीव के गुण—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत हैं। कुलशक्ति में ये २५ भाव विद्यमान रहते हैं।

इसके चैतन्य-सम्पादन से ही मध्यशक्ति[1] का विकास होता है एवं क्रमशः पिण्डसिद्धि संघटित होती है।

पिण्डसिद्धि ही योगमार्ग की साधना की असाधारणता और वैशिष्ट्य है। योगी कहते हैं कि शुष्क ज्ञानमार्ग से योगमार्ग का यही भेद है। ज्ञानमार्ग में देह के परिपक्व नहीं होने से प्रारब्ध-जय नहीं किया जा सकता। किन्तु योगाग्नि से संस्कृत देह प्रारब्ध के अधीन नहीं है[2]। हम इस बात को और भी स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि जन्म अथवा स्थूल देहसम्बन्ध, आयु अथवा जीवन-काल तथा भोग अथवा सुख-दुःखबोध प्रारब्ध कर्म के फल हैं। प्रारब्ध कर्म की अखण्डनीयता के कारण जाति अर्थात् जन्म, आयु और भोग का परिवर्त्तन नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ज्ञान का उदय होने पर जब संचित कर्म जल जाते हैं एवं क्रियमाण कर्म नहीं रहते तब भी प्रारब्ध विद्यमान रहता है। प्रारब्ध कर्म का एकमात्र भोग द्वारा ही क्षय हो सकता है। प्रारब्ध के शेष रहने के कारण ही ज्ञानोदय के साथ-ही-साथ देहपात नहीं होता। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेद में यही हेतु है। इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष भी प्रारब्ध-रहित नहीं होते। 'पञ्चदशी' के नाम वेदान्त-ग्रन्थ में स्वेच्छा प्रारब्ध, परेच्छा प्रारब्ध और अनिच्छा प्रारब्ध—तीन प्रकार के प्रारब्ध कर्म माने गये हैं। 'अनुभूतिप्रकाश' ग्रन्थ में प्रकारान्तर से तीव्र, मध्य, मन्द और सुप्त भेद से चार प्रकार के प्रारब्धों का वर्णन किया गया है। तीव्रादि प्रारब्धों में प्रत्येक स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा-भेद से तीन प्रकार के हैं। इसलिए प्रारब्ध कर्म वस्तुतः १२ प्रकार के हैं। पुराण आदि में जो सब आख्यायिकाएँ हैं उनमें प्रत्येक प्रकार के प्रारब्ध का दृष्टान्त प्राप्त हो सकता है। जल में मछलियों की क्रीड़ा देखकर सौभरि मुनि मान्धाता राजा की कन्याओं के साथ निरन्तर विलास में रत हुए थे—यह स्वेच्छातीव्र प्रारब्ध का उदाहरण है। गुरु के शाप से कृष्ण और शुक्ल पक्षों में चन्द्रमा के ह्रास और वृद्धि परेच्छातीव्र प्रारब्ध का दृष्टान्त है। माण्डव्य मुनि का शूलारोहण अनिच्छातीव्र प्रारब्ध का फल है। इसी तरह अजातशत्रु को व्युत्थान-दशा में दुःख आदि का ज्ञान, शिखिध्वज का तत्त्वज्ञान के बाद भी चूड़ाला की इच्छा से राज्यभोग और भगीरथ का राज्यभोग

---

१. तत्त्वसार के मत के अनुसार कुण्डलिनी की प्रबुद्ध या परा अवस्था ही मध्यशक्ति या परा संवित् है। सब शास्त्रों में इन्हीं का महेश्वरी के रूप में स्तव किया गया है। सद्गुरु के आश्रय से इस शक्ति को अपनी स्वरूपदशा में प्रबुद्ध कर सकने पर देहसिद्धि होती है। जिस अवस्था में पहुँचने पर शक्ति के अवरोह (उतार) की सम्भावना दूर हो जाती है, वही शक्ति की स्वरूपावस्था अथवा शिवभाव की प्राप्ति है। व्युत्थान न होने के कारण यह अवस्था निरुत्थदशा के नाम से पुकारी जाती है। इसे शिवभाव या शिवकैवल्य कहा जा सकता है। वैदान्तिकों ने "चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्" कहकर इस निरुत्थ शक्ति की ही स्तुति की है।

२. विद्यारण्यस्वामी ने जीवन्मुक्तिविवेक में कहा है—"प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात् प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु। तथा च योगिनामुद्दालकवीतहव्यप्रभृतीनां स्वेच्छया देहपरित्याग उपपद्यते।" यहाँ स्पष्ट अक्षरों में प्रारब्ध से योगाभ्यास की प्रबलता मानी गई है।

क्रमशः स्वेच्छा, परेच्छा, अनिच्छा मध्य प्रारब्ध के फल हैं। कवि, हरि आदि योगियों का आत्मसुखानुसन्धान, नारद की इच्छा से ध्रुव का भगवद्दर्शन से उत्पन्न आत्मसुख-स्मृति एवं वामदेवादि को गर्भ में ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति स्वेच्छादि भेदयुक्त मन्द प्रारब्ध के निदर्शन हैं। ऋषभदेव की निर्विकल्प समाधि के विषय में विघ्नाभाव, अगस्त्य के शिष्य विन्ध्यपर्वत की अवस्था तथा तत्त्वज्ञानशालिनी पृथिवी की दशा क्रमशः तीन प्रकार के सुप्त प्रारब्ध के फलरूप से शास्त्रों में उल्लिखित हैं[1]। तत्त्वज्ञान द्वारा इस प्रारब्ध का क्षय नहीं होता।

१. अच्युतराय-कृत 'अद्वैतामृतमञ्जरी' नामक निबन्ध में भी इस प्रकार के विविध प्रारब्धों के दृष्टान्त संगृहीत हुए हैं। स्वेच्छातीव्र प्रारब्ध से जीवन्मुक्त महापुरुषगण भी कभी पशुवत् व्यवहार करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित याज्ञवल्क्य की गउओं की कामना इसका उदाहरण है। कश्यप ने दिति की इच्छा से प्रदोष-काल में उसके साथ विहार किया था। यह परेच्छातीव्र प्रारब्धवश पशुवत् व्यवहार का दृष्टान्त है। अनिच्छातीव्र प्रारब्ध का दृष्टान्त है—सनकादि ऋषियों का वैकुण्ठधाम के द्वारपाल जय और विजय को शाप देना। सनकादि शुद्धसत्त्वप्रधान महात्मा थे, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए दूसरों का अपकार करना उनके मन का अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता। फिर वैकुण्ठधाम नित्य निर्मल है, इसलिए वहाँ राग-द्वेष पैदा होने की सम्भावना नहीं है। फिर भी अन्तर्यामी की प्रेरणा से उनका अनिच्छातीव्र प्रारब्ध के फलस्वरूप शाप प्रदान संघटित हुआ था। स्वेच्छामध्य प्रारब्धवश बालक के तुल्य व्यवहार होता है। दत्तात्रेय ने जगत् में भोग-प्राधान्य का प्रदर्शन करते-करते योगाभावकाल में कार्तवीर्य आदि को अपना गुप्तरूप और परमात्मभाव प्रकटित कर अद्वैततत्त्व का उपदेश दिया था। परेच्छामध्य प्रारब्ध से भी बालक का-सा व्यवहार होता है। श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में कहा है कि जडभरत ने, राजा रहूगण द्वारा पालकी ढोने में नियोजित होकर, प्राणियों की हत्या के भय से धीरे-धीरे चलने के कारण राजा के तिरस्कार का भाजन होने पर उन्हें अद्वैततत्त्व का उपदेश दिया था। अनिच्छामध्य प्रारब्ध के कारण भी बालकवत् व्यवहार होता है। दृष्टान्त के रूप में सूर्य आदि जीवन्मुक्त पुरुषों की बात कही जा सकती है। सूर्य आदि जीवन्मुक्त होने से परमानन्दतृप्त तथा स्व-स्व अधिकार-भाग में स्पृहारहित हैं तथापि अन्तर्यामी की प्रेरणा से उन्होंने प्रारब्ध के वशीभूत होकर अपने फलभोग के विरामकाल में याज्ञवल्क्य आदि को अद्वैततत्त्व का उपदेश दिया था। अनिच्छामध्य प्रारब्ध सर्वत्र ही इसी प्रकार समझना होगा। स्वेच्छामन्द प्रारब्ध के दृष्टान्त बलि हैं। बलि बहुत दिनों तक भोग भोगकर वैराग्य को प्राप्त हुए, तदुपरान्त तत्त्वज्ञान प्राप्त कर समाधि में मग्न हुए थे। परेच्छामन्द प्रारब्ध के दृष्टान्त प्रह्लाद हैं। निर्विकल्प समाधि के पूर्व भगवदिच्छा से विवेक-लाभ कर प्रह्लाद समाधि-निष्ठ हुए थे। अनिच्छामन्द प्रारब्ध के दृष्टान्त जनक हैं। योगवासिष्ठरामायण के उपशम-प्रकरण में कहा है कि एक दिन जनक उपवन में भ्रमण के लिए गये थे। उस समय कुछ आकाशचारी सिद्ध उस जगह शून्य पथ में आत्मतत्त्व के विषय में परस्पर आलाप कर रहे थे। उनकी इच्छा न रहने पर भी वे भी उन शब्दों को सुनकर विचार-परायण हुए थे। स्वेच्छा-सुप्त प्रारब्ध के कारण शुकदेवजी के तुल्य स्वेच्छावश निर्विघ्न से दीर्घकाल तक असंप्रज्ञात समाधि में स्थित होती है। परेच्छासुप्त प्रारब्ध के दृष्टान्त श्रीरामचन्द्र हैं। वशिष्ठ के शक्ति-सञ्चारवश रामचन्द्र निर्विकल्प समाधि में लीन हो गये थे, तब विश्वामित्र ने अपना शक्ति-सञ्चारवश रामचन्द्र को व्युत्थित करने के उद्देश्य से वशिष्ठदेव और देवताओं का कार्य-साधन करने के लिए उन्हें व्युत्थित करने के उद्देश्य से वशिष्ठदेव की प्रार्थना की थी। (द्रष्टव्य—योगवासिष्ठरामायण-निर्वाणप्रकरण, पूर्वार्द्ध, अन्तिम सर्ग) वशिष्ठ की इच्छा से राम को निर्विकल्प समाधिस्थित परेच्छासुप्त प्रारब्ध का फल है। अनिच्छासुप्त प्रारब्ध का दृष्टान्त देवहूति है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में

इसीलिए योग की महिमा इतनी अधिक है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' में (पतञ्जलि-पक्ष) शङ्कराचार्य ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है कि केवलमात्र ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। यह कहना अनावश्यक है कि यह मत प्रचलित सिद्धान्त के विरुद्ध है। उन्होंने कहा है कि मुक्ति के साधन विद्या और योग दोनों ही हैं। सद्गुरु के उपदेश से विद्या-लाभ होता है और उससे अविद्या की निवृत्ति होती है। किन्तु देहशुद्धि हुए विना देहरूप दर्पण का दोष नष्ट नहीं होता। देहशुद्धि का एकमात्र उपाय योगाभ्यास है। इसीलिए जिन लोगों को ज्ञान प्राप्त हो चुका है उनमें भी कभी-कभी दैहिक दोष की प्रवलता के कारण भ्रान्ति का उदय होता है। अतएव ज्ञान और वैराग्य के प्राप्त होने पर भी दोष-क्षय के लिए योग-मार्ग का अवलम्वन करना चाहिए। जैसे गुड़ आदि के रस के भलीभाँति अवगत होने पर भी पित्तज्वर-वश उसका अनुभव नहीं होता वैसे ही आत्मा का सम्यग् ज्ञान होने पर भी योग के विना उसकी अपरोक्ष अनुभूति नहीं होती। विद्या के संचार से अविद्या नष्ट होती है—साथ-ही-साथ अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भी हटते हैं, तब क्लेश न रहने के कारण योगेच्छा भी नहीं रहती। उस समय मुक्ति के लिए योगाभ्यास करना आवश्यक होता है। दीर्घकाल तक इस अभ्यास के कारण सव चित्तवृत्तियों के निरोध से होनेवाली आत्मा की स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है। योगी अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। किन्तु ये सव ऐश्वर्य अथवा सिद्धियाँ मुक्ति की बाधक नहीं होतीं—

"अणिमाद्यष्टकं तस्य योगसिद्धस्य जायते।
तेन मुक्तिविरोधो न शिवस्येव यथा तथा॥"

योगतत्त्वोपनिषद् में भी (१४-१५) यही वात कही गई है—योगहीन ज्ञान अथवा ज्ञानहीन योग इनमें कोई भी मुक्ति का साधन नहीं है।

सिद्धगण इस सिद्धान्त का नाना स्थलों और नाना अवसरों पर मुक्तकण्ठ से प्रचार कर गये हैं। वे कहते हैं—जवतक देह सिद्ध नहीं होती, जवतक देहजय नहीं होता तवतक मुक्ति की आशा दुराशा-मात्र है। 'योगबीज' नामक सिद्धमार्ग के ग्रन्थ में कहा गया है कि कामादि दोषों से आच्छन्न जीव केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता—

कपिल और देवहूति की आख्यायिका है। देवहूति पति और पुत्र के वियोग से व्याकुल हुई थीं—उनकी समाधि में इच्छा बिलकुल ही नहीं थी। तथापि अनिच्छासुप्त प्रारब्ध का उन्मेष होने से देवहूति ने निर्विकल्प समाधि-लाभ किया था।

अच्युतराय द्वारा संगृहीत दृष्टान्तों से ज्ञात हो सकता है कि ज्ञानियों के विभिन्न व्यवहार प्रारब्ध की तीव्रता के कारण होते हैं। उत्कट प्रारब्धवश ज्ञानी भी पशु-तुल्य व्यवहार करते हैं। मध्य प्रारब्ध से व्यवहार बालक-तुल्य, मन्द और सुप्त प्रारब्धजन्य व्यवहार क्रम से मिथुनवत् तथा केवलिवत् होते हैं।

प्रारब्ध के भेद से अज्ञानी का भी व्यवहारभेद दिखाई देता है, यहाँ पर उसका आलोचन अप्रासंगिक है।

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना देवोऽपि योगेन न मोक्षं लभते प्रिये॥"

योगाग्नि के सिवा देह को परिपक्व करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। परिपक्व देह का लक्षण है—जाड्य, शोक आदि से विमुक्त होना। अयोगियों की अपक्व देह जड़, पार्थिव और दुःखप्रद है। 'योगबीजकार' ने विशद रूप से समझाया है कि योग के विना ज्ञान, वैराग्य, जप सब कुछ विफल है। जो लोग योगबल से देह को परिपक्व करने में समर्थ नहीं हुए, वे ध्यानस्थ होने पर भी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सकते, तीव्र निग्रह से भी रिपु-दमन नहीं कर सकते और शारीरिक तथा मानसिक दुःख से अविचलित नहीं रह सकते। अग्नि, जल, वायु, शस्त्र आदि के प्रभाव से अपक्व देह पीड़ित होती है और चित्त में विक्षोभ उत्पन्न होता है। अपक्व देह में प्राण और अपान का साम्यभाव नहीं रहता, इसलिए वायु के विकारवश चित्त में भी नाना प्रकार के दुःखों का उदय होता है। चित्त-जय न कर सकने पर शान्तिपथ दृष्टिगोचर नहीं होता। देह के असिद्ध रहने पर वायु प्रकृतिस्थ नहीं हो सकता, चित्त भी निश्चल नहीं होता। इसलिए योग ही स्वाधीनता-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। योग-मार्ग का त्याग कर शास्त्राध्ययन, विचार, आचार, कर्मकाण्ड, भजन आदि जिस किसी का अवलम्बन क्यों न किया जाय; किसी से भी स्वरूपावस्थिति होने की सम्भावना नहीं है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के आक्रमण से यदि ऊपर चढ़ना हो तो योगसोपान का अवश्य ही आश्रयण करना होगा।

योगाग्नि द्वारा सप्तधातुमय देह जल जाती है—महाभूतों का उपसंहार होता है। सिद्धगण कहते हैं, योगदेह देवदुर्लभ है—इसके बल की सीमा नहीं है। यह अस्त्रों द्वारा कटती नहीं, जल में सड़ती नहीं, अग्नि से जलती नहीं, बन्धनों द्वारा बँधती नहीं। यह आकाश के तुल्य है, यहाँ तक कि आकाश से भी बढ़कर स्वच्छ है। योग-देह वस्तुतः स्थूल, सूक्ष्म, कारण—सभी प्रकार की प्राकृत देहों से विलक्षण है। इच्छा करने पर इसको स्थूलतम से बढ़कर स्थूल एवं सूक्ष्मतम से भी अधिक सूक्ष्म अवस्था में परिणत किया जा सकता है। उपनिषदों ने आत्मा के सम्बन्ध में 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्'—इन दो विशेषणों का प्रयोग किया है—वस्तुतः योगाग्नि से संस्कृत सिद्ध देह में भी ये विशेषण प्रयोग-योग्य हैं। यह कामरूप और स्वतन्त्र है। जरा और मृत्यु इसका स्पर्श नहीं कर सकतीं। योगी इस देह से त्रिभुवन में जिस किसी स्थान पर अनायास विचरण कर सकते हैं। इसकी गति में बाधा डाल सके, ऐसी कोई भी शक्ति जगत् में विद्यमान नहीं है। योगदेहधारी योगी इच्छानुसार एक साथ बहुत रूप ग्रहण कर सकते हैं। फिर उन सबका त्याग भी कर सकते हैं। यदि जीवन्मुक्त पद का कोई अर्थ है तो वह कर्त्तव्यहीन, दोष-रहित, निर्लेप, सदास्वरूपस्थित सिद्धयोगी ही समझना होगा।

सिद्धों के मतानुसार ज्ञानी देहान्त होने पर सिद्धों की संगति प्राप्त करते हैं और सिद्धों की कृपा से योग-लाभ कर संसार-सागर से पार होते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है—तो क्या ज्ञान से मुक्ति नहीं होती? शास्त्रों में बहुत जगह ज्ञान

को ही मुक्ति का साधन कहा गया है—वह क्या मिथ्या है ? इसका समाधान यह है कि शास्त्रवचन मिथ्या नहीं हैं। ज्ञान खड्ग है, योग युद्ध और वीर्यरूप है एवं मोक्ष विजय-लाभ है। खड्ग से जय-लाभ होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु युद्ध और वीर्य के विना केवलमात्र खड्ग से उसकी आशा करना दुराशामात्र है। बहुत जन्मों के ज्ञान से योग-लाभ होता है, किन्तु योग से एक ही जन्म में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतएव मोक्ष के उपायरूप से दोनों की गणना रहने पर भी योग की ही प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है। ज्ञानपथ में दीर्घकालव्यापी विचार के फलस्वरूप ज्ञान का उदय होने पर 'मैं मुक्त हुआ हूँ' इस प्रकार का एक बोध जागता है। किन्तु यह मुक्ति नहीं है, केवलमात्र मुक्ति का अभिमान है। इसके बहुत जन्मों के पश्चात् योग-लाभ होने से मुक्ति होती है। तब वह अभिमान नहीं रहता। परन्तु योग-पथ का साधनक्रम पृथक् है। इस पथ पर प्राण और अपान के संयोग से देह में स्थित चन्द्र और सूर्य का ऐक्य-सम्पादन किया जाता है। इस एकीकरण के प्रभाव से एक तीव्र अग्नि का विकास होता है, जिसका पारिभाषिक रूप में 'योगाग्नि' के नाम से वर्णन किया जाता है। इस चिन्मय अग्नि के अनुप्रवेश से सप्तधातुमय पिण्ड दग्ध हो जाता है और अभिनव चिद्देह का आविर्भाव होता है। यही सिद्ध देह है। व्याधि, विकार, जरा, मृत्यु आदि इस देह को कलुषित नहीं कर सकते। इसलिए योगमार्ग में चलनेवाले पथिक के वार-वार जन्म-मरण होने की आशंका नहीं रहती। योग के प्रभाव से एक ही जन्म में ज्ञान का उदय हो सकता है। किन्तु विचारपथ में इसकी सम्भावना नहीं है। चित्त और प्राण परस्पर सम्बद्ध हैं। चित्त का जय करना हो तो प्राण ही एकमात्र उपाय है, विचार नहीं। फिर सिद्धमार्ग के सिवा अन्य मार्ग में प्राणजय की प्रणाली भलीभाँति आलोचित नहीं हुई है। प्राण का जय किये विना योगसिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए योगप्रधान सिद्धमार्ग के सिवा चित्तजय का मार्ग और कहीं भी उस प्रकार से प्रदर्शित नहीं है ऐसा यदि कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। चित्त का जय और विशुद्धि का एक ही अर्थ है। विशुद्ध चित्त में आत्मज्ञान स्वभावतः अपरोक्षानुभूति के रूप से ही उदित होता है।

कुण्डलिनी-शक्ति यदि उद्बुद्ध न की जा सके तो देहसिद्धि की आशा करना व्यर्थ है। सिद्धगण कहते हैं कि वेदान्तादि शास्त्रों के श्रवण अथवा विचार द्वारा देह-दोष हटते नहीं। देह-शोधन के लिए योगाभ्यास करना आवश्यक है। योग का मूल-स्तम्भ ही कुण्डलिनी का उत्थान है। अतएव सिद्धगणों के सब साधन कुण्डलिनी का अवलम्बन करके ही प्रवर्तित हुए हैं।

मनुष्य आदि जीवों की देह में आधार आदि जो कई एक शक्ति के केन्द्र[1] अथवा चक्र हैं, उन्हें प्रबुद्ध कुण्डलिनी-शक्ति के द्वारा समभावापन्न करना पड़ता है। शक्ति जबतक चक्र में बँधी रहती है तबतक वह नियन्त्रित, परिच्छिन्न, पराधीन

१. वराहोपनिषद् (५।५३) में षट्चक्र 'शक्तिस्थान' एवं कण्ठ से मस्तक-पर्यन्त आकाश 'शाम्भवस्थान' कहा गया है।

और साधार रहती है। किन्तु जब वह चक्रभेद करते हुए निरालम्ब स्थान में पहुँचकर परमशिवरूप से अवस्थिति करती है, तब सभी चक्र प्राणहीन देह के तुल्य निष्क्रिय हो जाते हैं। उनकी सत्ता भी तब अव्यक्त हो जाती है। जिस विन्दु के अपने प्रसार से चक्र अथवा मण्डल की उत्पत्ति होती है, उपसंहार के समय उसी में वह चक्र विलीन हो जाता है। देवता आदि सब पदार्थ चक्र के अन्तर्गत हैं, चक्र-संहार के कारण देवता आदि की भी फिर पृथक् सत्ता नहीं रहती। चरम अवस्था में एकमात्र वह महाशक्ति ही रहती हैं, जो परम शिव की गोद में स्थिर होकर परमभाव से विराजमान रहती हैं।

सिद्ध योगी लोगों ने देह में बहुत-से चक्रों की सत्ता का आविष्कार किया है। आधार आदि छह चक्रों के अतिरिक्त और भी अनेक चक्रों का विवरण उनके साहित्य में पाया जाता है। स्वाधिष्ठान के ऊपर कटिस्थान (कमर) में कुण्डलिनी-चक्र है, मणिपूर के ऊपर गुप्तचक्र (अष्टदल अध-ऊर्ध्व कमल) है, आज्ञा या अग्निचक्र के ऊपर ललाट-स्थान में द्वात्रिंशद्दलमय चन्द्रचक्र है, मूर्धस्थित ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर तालुस्थान में चतुःषष्टि (चौंसठ) दलात्मक तालुचक्र है, तालुचक्र के ऊपर भ्रमर-गुहा में अष्टोत्तरशत (१०८) दलमय ब्रह्मचक्र है, ब्रह्मचक्र का अतिक्रम करके शिखा-स्थान में असंख्यदलमय कोल्हाट-चक्र है। इन सब चक्रों का विवरण नाथों के ग्रन्थ आदि में मिल जाता है। उक्त चक्रों में तालुचक्र से ही श्वास निवृत्त हो जाता है, ब्रह्मचक्र में स्थिति होने पर महामौनावस्था की प्राप्ति होती है,एवं कोल्हाट चक्र में परम शून्यपद का मार्ग प्राप्त होता है। कोल्हाट चक्र में अव्यक्त शक्ति का अधिष्ठान है। यह परमशून्य स्थान इक्कीस ब्रह्माण्डों[1] के ऊपर स्थित है। इस शून्य में प्रविष्ट हुए विना अनावृत और मुक्तभाव का बोध जागता नहीं। वस्तुतः इस परमशून्यावस्था में प्रवेश को ही मुक्ति अथवा निर्वाण कहते हैं। इस सम्बन्ध में सिद्धगणों का कथन

---

१. विराट्पुराण में चौदह भुवनों की सत्ता देह में इस प्रकार दिखलाई गई है। चौदह भुवनों से सात लोक और सात पाताल जानने होंगे। भूतल, महीतल, अतल, सुतल, रसातल, वितल और तल—ये सात पाताल-क्रम से लिङ्गस्थान, मूलस्थान, उसके नीचे का प्रदेश, जङ्घा, जानु, गुल्फ और पैर के तलुवे—इन सात स्थानों से अभिन्न हैं। फिर भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—ये सात लोक क्रम से लिङ्ग, नाभि, उदर, उर, कण्ठ, नासिका और मस्तक-रूप हैं। सात ब्रह्माण्डों का वर्णन विराट्पुराण में है—ललाटदेश से शिखामण्डल तक क्रमशः ऊपर-ऊपर इन ब्रह्माण्डों का स्थान बतलाया गया है। सात ब्रह्माण्ड और उनके स्थान—जैसे, ललाट में धूम्रब्रह्माण्ड, मस्तक-सन्धि में आकाश-ब्रह्माण्ड, सहस्रदलकमल में सूर्यब्रह्माण्ड, तालुचक्र में परमशून्यब्रह्माण्ड, उसके ऊपर अकल्पितब्रह्माण्ड, भ्रमरगुहा में निरञ्जनब्रह्माण्ड तथा शिखामण्डल में निराकारब्रह्माण्ड प्रकाशमान रहता है। इसके बाद ही निराधारब्रह्माण्ड है। इन सब ब्रह्माण्डों की आलोचना के प्रसङ्ग में स्वभावतः ही प्राचीन बौद्धों के 'अरूपलोक' की बात याद आ जाती है। उस सम्बन्ध में विस्तृत आलोचन यहाँ अप्रासङ्गिक होगा, इसलिए यहाँ उसकी अवतारणा निष्प्रयोजन है।

इस प्रकार है—"परमशून्यस्थानादुपरि गत्वा योगी न जायते न म्रियते न गच्छति नागच्छति। स च योगी तिष्ठति युगे युगे ज्योतिः समेत्य[1]॥"

प्रचलित योगग्रन्थादि में जो सहस्रदल का वर्णन मिलता है, वह नाथगणों के ब्रह्मरन्ध्रचक्र का नामान्तर है। इसलिए आज्ञा से सहस्रार तक का अवकाश जैसे चक्रहीन नहीं है वैसे ही सहस्रार का भेद करने पर भी सहसा चक्रहीन अवस्था की उपलब्धि नहीं होती। जीव आज्ञा में जाने पर हंस तथा सहस्रार में जाने पर परमहंस पद को प्राप्त होते हैं। किन्तु सिद्ध-मतानुसार यह भी चरमावस्था नहीं है।

संन्यासयोग और केवलयोग के भेद से योग दो प्रकार का है। जो लोग संन्यासयोगी हैं, वे सूर्यमण्डल का भेद कर परमपद को प्राप्त होते हैं। स्मृति में कहा है :

"संन्यस्तं पुरुषं दृष्ट्वा स्थानाच्चलित भास्करः।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्म प्रयास्यति॥"

१. द्रष्टव्य—विराट्पुराण (प्रथम पटल) बहुत दिन पहले एक सज्जन ने वर्त्तमान निबन्ध के लेखक को एक पट, जिस पर नरदेह अङ्कित था, दिखलाया था। पट एक बड़े कपड़े पर बनाया गया था। इसमें गोरक्षपन्थियों के मतानुसारी चक्र और देवता आदि के चित्र देह में यथास्थान बैठाये गये थे एवं पास ही में आवश्यक व्याख्या भी हिन्दी और टूटी-फूटी संस्कृत में दी गई थी। चित्र का रचनाकाल—विक्रम-सम्वत् १८७० अथवा शकाब्द १७०७ (१८८५ ई०), कृष्णा सप्तमी, कार्त्तिक मास, रविवार; निर्माता का नाम—'योगमार्गी सिद्ध' गोसाईं केदारनाथ। इस चित्र में चक्रादि का जो वर्णन दिया गया है वह विराट्-पुराण के विवरण से भी किसी-किसी जगह विलक्षण है। इस चित्र में आधारकमल के ऊपर योनिस्थानस्थ महापद्मचक्र है, स्वाधिष्ठान के ऊपर षड्दलपद्मस्थान में षड्दलमय सुषुम्णाचक्र है, गर्भस्थान में गर्भचक्र है, मणिपूर के ऊपर लिङ्गचक्र है, उसके ऊपर मनश्चक्र है, विशुद्ध के बाद क्रमशः गले में प्राणचक्र, त्रिग्रन्थि-स्थान में अबलचक्र, मुख में चक्षुकचक्र, नासिका में बलवान् चक्र, कानों में कर्णमूलचक्र, दो भौंहों के ऊपर त्रिवेणीचक्र, उसके ऊपर ललाट में चन्द्रचक्र, ललाट के ऊपर, प्रदेश में ब्रह्मद्वारचक्र, मस्तक में कुण्डलिनी-चक्र, मूर्धा में ब्रह्मरन्ध्रचक्र, तालुस्थान में ऊर्ध्वरन्ध्रचक्र, उसके ऊपर अलक्ष्यचक्र या भ्रमर-गुहा है। भ्रमरगुहा का अतिक्रमण कर अकुण्ठपीठ पुण्यागारचक्र और उसके बाद शिखा में कुल्हाटचक्र दिखलाया गया है। विराट्पुराण में इसके बाद और चक्रों का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु वर्त्तमान चित्र में शिखामण्डल के ऊपर वज्रदण्डचक्र और सबके ऊपर निरालम्ब स्थान में निराधारचक्र माना गया है। चन्द्रचक्र के ऊपर ललाट में अमृतचक्र अङ्कित किया हुआ है। यह ब्रह्मद्वारचक्र के नीचे है। यही गायत्री या कामधेनु का स्थान है। कटिस्थान में स्थित कुण्डलिनी-चक्र गर्भचक्र के ऊपर और मणिपूरचक्र के नीचे है। कपिलमुनि-विरचित 'दृष्टान्तर' नामक एक पुस्तक है। तञ्जोर महाराज के ग्रन्थागार में इसकी हस्तलिखित एक प्रति है। यह भी सिद्ध-सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसके द्वितीय अध्याय में लिखा है (श्लोक २२—२७) कि प्रसिद्ध षट्चक्र वस्तुतः सूर्यचक्रस्वरूप है। उसमें आधार से मणिपूर तक तीन शक्तिचक्र हैं—उनके ऊपर स्थित तीन पुरुषचक्र हैं। आज्ञा के ऊपर छह चक्र हैं—उनकी समष्टि का नाम सोमचक्र है। त्रिकूटस्थान, श्रीहट्ट, कोल्हाट, ओड्रपीठ, भ्रमरगुफा और ब्रह्मरन्ध्र—ये छह सोमचक्र आज्ञाचक्र के ऊपर क्रमशः एक के ऊपर एक यों सन्निवेशित हैं।

किन्तु जो केवल योगी हैं वे कुण्डलिनी द्वारा सुषुम्णाद्वार का भेद कर उस मार्ग का अवलम्बन करते हुए सहस्रारचक्र में (कपालसंपुट में) प्रवेश करते हैं एवं वहाँ चन्द्र, सूर्य और वह्नि से जनित अमृत का पान कर वहाँ के तुरीय या तुरीयातीत पद का साक्षात्कार-लाभ करते हैं। इस साक्षात्कार से उन्हें सविशेष अथवा निर्विशेष ब्रह्मपद प्राप्त होता है।

सिद्धगणों द्वारा प्रवर्त्तित योग का किसी-किसी स्थल पर महायोग के रूप से वर्णन किया गया है। वे कहते हैं कि एकमात्र पारमार्थिक महायोग ही साधना के विभिन्न प्रकारों से मन्त्र, लय, हठ और राजयोग के नाम से परिचित है :-

"एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते।"

वस्तुतः योग का कोई भेद नहीं है। दीर्घकाल तक मातृकादियुक्त मन्त्रों का जप और अणिमादियुक्त ज्ञान की उपलब्धि मन्त्रयोग का लक्षण है। लययोग चित्त का निरोध है। यह असंख्य उपायों से सिद्ध हो सकता है। चाहे जिस किसी व्यावहारिक अवस्था में रहकर भी निष्कल परमेश्वर का ध्यान हो सकता है। यह भी लययोग के ही अन्तर्गत है। बीस प्रकार के अवयवों से विशिष्ट योग ही हठयोग है। यमादि अष्ट अंग तथा महामुद्रादि द्वादश अंग—हठयोगसाधना के ये २० अवयव हैं। द्वादश अंगों के नाम हैं— महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर उड्डीयान, मूलबन्ध, नादानुसन्धान (दीर्घ प्रणवानुसन्धान), सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली, और सहजोली। हठयोग के अभ्यास से राजयोग में प्रवेश होता है। इस मार्ग में साधन करते-करते विवेक और वैराग्य उत्पन्न होते हैं एवं भगवत्साक्षात्कार होता है।

मन्त्रयोग का वास्तविक रहस्य यह है—जीवमात्र के ही देह में प्राणशक्ति निःश्वास और प्रश्वास के रूप में खेलती है। योगी लोग कहते हैं, यह श्वास बाहर निकलते समय 'हम्' रूप में एवं भीतर प्रवेश के समय 'सः' रूप में ध्वनित होता है, यही हंसमन्त्र, हंसविद्या अथवा अजपा नामक गायत्री है एवं प्रत्येक जीव निरन्तर अहोरात्र में (२१६०० बार) इसका जप करता है। किन्तु गुरुकृपा से योग-लाभ करने पर गुरुमुख से उच्चरित वाक्य के माहात्म्य से वह जप सुषुम्णा-मार्ग में विपरीत रूप से निष्पन्न होता है। 'हंसः' तब 'सोऽहम्' रूप में परिवर्त्तित होता है। यही यथार्थ मन्त्रयोग है। हंसविद्या किसी जगह (द्रष्टव्य—योगचूडामण्युपनिषद् ३६) प्राणविद्या कही गई है। यह प्राणधारिणी शक्ति तथा कुण्डलिनी-शक्ति से उद्भूत है।

मन्त्रयोग की साधना से पश्चिम मार्ग में अर्थात् सुषुम्णा-पथ में ज्ञान का उदय होता है। हठयोग का अर्थ है—देहस्थित सूर्य ('ह') और चन्द्र ('ठ') का ऐक्य-साधन। इस योग-साधन से देह के सब प्रकार के दोष तथा उनसे उत्पन्न जड़ता हटती है। इस क्रिया के सिवा देहशुद्धि, देहदोषनिवृत्ति और देह की जड़ता का निराकरण अन्य किसी प्रक्रिया से सहज में नहीं हो सकता। इसके बाद क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्य का सम्पादन अपेक्षाकृत सहज हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व प्रतिष्ठित होने पर चित्त का लय

होता है, वायु स्थिर होता है एवं आत्मानन्द की उपलब्धि होती है। तब जीवभाव नहीं रहता, मन नहीं रहता, वायु भी नहीं रहता—रहते हैं एकमात्र परमात्मा और उनकी स्वरूपभूत शक्ति। शास्त्र में शिव और शक्ति इन दो शब्दों का इन दो परम तत्त्वों के ही वाचक के रूप से व्यवहार हुआ है। योगशिखोपनिषद् में (१,१३६—१३८) लिखा है—देवीतत्त्वस्वरूप रक्तवर्ण 'रजः' महापीठ योनि में अवस्थित है और शशिस्थान में अर्थात् ऊपर चन्द्रमण्डल में विन्दु या 'रेतः' स्वरूप शिवतत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इससे जाना जा सकता है कि ब्रह्मपथ के दो मेरुओं में दो तत्त्व वस्तुतः नित्य-मिलित, यहाँ तक कि अभेदरूप होकर भी पृथक् रूप से, वियुक्त के तुल्य, विराजमान हैं। जब ये शिव और शक्ति योग के प्रभाव से कल्पित भेद का त्याग कर सम्मिलित होंगे, तभी राजयोग की सिद्धि सूचित होगी ("रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतः")। राजयोग में अधिकार प्राप्त होने पर अणिमा आदि आठ सिद्धियों का आविर्भाव होता है।

इन चारों प्रकार के योगों का सामान्य लक्षण एक—अर्थात् प्राण और अपान का समीकरण है।

सिद्धि का आविर्भाव जबतक न हो तबतक साधक यथार्थ योगी नहीं हो सकते हैं। अवश्य नाना उपायों से तथाकथित सिद्धियों का आविर्भाव हो सकता है, किन्तु उन सब साधनों से जनित कल्पित सिद्धियाँ अनित्य और अल्पवीर्य हैं। रस (पारद), ओषधि, क्रिया, मन्त्र आदि के अभ्यास से इन सब खण्ड सिद्धियों का प्रकाश होता है। किन्तु योगमार्ग में पूर्णता-लाभ करने पर जिस स्वाभाविक आत्मविभूति का आविर्भाव होता है वह नित्य और महावीर्य है। वह इच्छाशक्ति कही जा सकती है। योगशिखोपनिषद् में उसका 'इच्छारूपा' के नाम से वर्णन किया गया है। दीर्घकाल की साधना से वासना-जाल के कट जाने पर आत्मयोगनिष्ठ योगी लोग इस इच्छारूपा महासिद्धि को प्राप्त होते हैं। सिद्धगण कहते हैं कि सिद्धि के द्वारा ही मुक्त और बद्ध का परिचय प्राप्त होता है। जो जीवन्मुक्त हों उनमें अलौकिक गुण अवश्य ही रहेंगे—उनके द्वारा ही उनकी पहिचान करनी होगी; क्योंकि आत्मज्ञान स्वानुभव-वेद्य है। उसे दूसरे के लिए साक्षाद्रूप से जानने का उपाय नहीं है। सिद्धि ही बद्ध और मुक्त के भेद के निर्णय का एकमात्र उपाय है—

"सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च।
अलौकिकगुणस्तस्य कदाचिद् दृश्यते ध्रुवम्
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत्॥"
(योगशिखोपनिषद्, प्रथमाध्याय)

सिद्धगण कहते हैं कि स्वदेह में छह चक्र[1], सोलह आधार, तीन लक्ष्य और पाँच आकाशों का पता न लगने तक सिद्धिलाभ की आशा व्यर्थ है। हठयोगी और राजयोगी दोनों ही यह स्वीकार करते हैं। गुरु द्वारा उपदिष्ट क्रिया ही इनका पता पाने का एकमात्र उपाय है।

---

१. किसी-किसी जगह तालु, आकाश और भ्रूचक्र के योग से नौ चक्रों का उल्लेख है। (द्रष्टव्य मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ४,५)

यदि संसार-सागर से पार होना हो तो अन्तर्लक्ष्य आदि तीन प्रकार के लक्ष्यों का अवलोकन करते हुए तारकब्रह्म का आश्रय लेना आवश्यक है। सूक्ष्ममार्ग के अवलम्बन से तीन गुणों का लङ्घन कर भ्रूमध्य में तारक ज्योति का दर्शन करना चाहिए। तीन प्रकार के लक्ष्यो में अन्तर्लक्ष्य सुषुम्णा के अन्तर्गत कुण्डलिनी-मध्य-स्थित आकाश का साक्षात्कार है, वहिर्लक्ष्य है नासिका के अग्रभाग में चार अंगुल से बारह अंगुल तक प्रधानतः नील और पीत वर्णवाले आकाश का दर्शन और मध्यलक्ष्य है निकटवर्त्ती अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र और वह्निज्वाला का दर्शन। मध्य लक्ष्य से अभ्यासवश क्रमशः आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश—ये पाँच आकाश दृष्टिगोचर होते हैं।

तारक योग दो प्रकार का है—पूर्वतारक और उत्तरतारक अथवा अमनस्क। पूर्वतारक के अभ्यास के समय मन की सत्ता विद्यमान रहती है। यद्यपि लक्ष्यदर्शन में चक्षु की अपेक्षा होती है, तथापि जबतक इस चाक्षुष दृष्टि में मन का अनुप्रवेश नहीं होता तबतक यह अन्तर्दृष्टि के रूप में परिणत नहीं होती एवं तारक-ग्रहण के लिए भी उपयोगी नहीं होती। मन से युक्त आन्तर दृष्टि ही तारक ज्योति की प्रकाशिका है। अमनस्क-तारक में अवश्य मन विलीन अवस्था में रहता है, इसलिए उसका कोई व्यापार नहीं होता। पूर्वतारक भी दो प्रकार का है—प्रथम अंश, जितनी दूर तक इन्द्रियों का व्यापार होता है उतनी ही दूर अर्थात् मूलाधार से आज्ञाचक्र तक मूर्त्तितारक; द्वितीय अंश, अर्थात् आज्ञा से सहस्रार-पर्यन्त[1], अमूर्त्त तारक। पूर्वतारक योग के अभ्यास-क्रम में दो भौंहों के मध्य में स्थित आकाश में ज्योति का आविर्भाव होता है। मन के लीन हो जाने के बाद तालुमूल के ऊपरी भाग में विराट्-ज्योति का प्रकाश होता है। वह चैतन्य-स्वरूप है। उसकी उपलब्धि होते ही अणिमादि अष्टसिद्धियों की अभिव्यक्ति होती है। हठयोग और तन्त्रशास्त्र में जिस शाम्भवी मुद्रा के इतने गुण बखाने गये हैं वह उस अमनस्क नामक उत्तरतारक योग की ही परिपक्व अवस्था है।

साधक को साधन-पथ पर अग्रसर होने पर सर्वप्रथम अग्निमण्डल प्राप्त होता है। इस मण्डल का अतिक्रमण कर ऊपर चढ़ने पर ही वह सूर्यमण्डल में प्रवेश कर

१. आज्ञाचक्र तक इन्द्रियों की क्रिया न्यूनाधिक परिमाण में दिखाई देती है। मन की क्रिया तो रहती ही है। किन्तु आज्ञाचक्र-भेद हो जाने पर इन्द्रियाँ सर्वथा उपरत हो जाती हैं, पर मानस-क्रिया तब भी बन्द नहीं होती। जितनी हो सहस्रार की ओर गति बढ़ती जाती है उतना ही मन भी निश्चल होता जाता है। सहस्रदल कमल की कर्णिका के मध्य में मन के बंध जाने पर उसका चाञ्चल्य फिर नहीं रहता। निष्क्रिय मन तब विलीन हो जाता है, उसकी पृथक् सत्ता यां कार्य फिर मालूम नहीं पड़ते। यही अमनस्कावस्था है। इसी की पूर्णता शाम्भवी मुद्रा है। जबतक ठीक इस अवस्था में न पहुँचा जाय तबतक बाह्य दृष्टि का उन्मेष और निमेष-व्यापार भलीभाँति तिरोहित नहीं होते। बहिर्दृष्टि के उन्मेष, निमेष आदि से रहित होने पर ही जानना होगा कि अन्तर्लक्ष्य स्थिर हुआ है, मन पर विजय हुई है एवं आत्मचैतन्य का प्रकाश हुआ है। मानसिक चाञ्चल्य वायु के स्पन्दन से होता है। इसलिए उस अवस्था में मन, वायु (प्राण) और दृष्टि सभी स्थिर रहते हैं—केवल आकाशरूपी आत्मचैतन्य ही प्रकाशमान रहता है।

सकता है। सूर्यमण्डल के भीतर सुधास्रावी चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डल के मध्य में शुक्ल और भास्वर तेजोमय अखण्ड ब्रह्ममण्डल विराजमान रहता है। इस ब्रह्मतेजो-राशि का तीन प्रकार से दर्शन करने की विधि है—निमीलित, अर्द्धउन्मीलित और पूर्ण उन्मीलित; इन तीन प्रकार की दृष्टियों के शास्त्रीय पारिभाषिक नाम अमादृष्टि, प्रतिपद्‌दृष्टि और पूर्णिमा-दृष्टि हैं। योगी लोग इनमें पूर्णिमा दृष्टि की ही प्रशंसा करते हैं—नासिका के अग्रभाग में लक्ष्य रखकर इसका अभ्यास करना चाहिए। पूर्णिमा-दृष्टि ही क्रमशः शाम्भवी मुद्रा में परिणत होती है।

जिन तीन प्रकार के लक्ष्यों द्वारा साधक योगसिद्धि प्राप्त करते हैं, प्रसङ्गतः संक्षेप में उनका प्रतिपादन ऊपर किया गया है। किसी-किसी जगह बाह्य और आभ्यन्तर—ये दो ही प्रकार के लक्ष्य वर्णित हुए हैं। उनमें पृथिव्यादि और नासाग्र आदि बाह्यलक्ष्य तथा मूलाधारादि चक्र अन्तर्लक्ष्य के अन्तर्गत हैं।

चक्र का ज्ञान तथा आधार, लक्ष्य और आकाश के ज्ञान यद्यपि उत्पत्ति में परस्पर सहायक और चरमावस्था में अभिन्न रूप हैं तथापि साधनाकाल में उनका पृथक्-पृथक् रूप से ही अर्जन करना पड़ता है। अन्यथा सिद्धावस्था में पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार विन्दु, प्राण, मन आदि की सिद्धि भी पृथक् रूप से ही करनी चाहिए; अन्यथा वास्तविक फल-लाभ से वञ्चित होना पड़ता है।

कोई-कोई यह सोच सकते हैं कि विन्दु आदि की स्थिरता और चञ्चलता जब समकालीन है तब साधक का प्रत्येक को पृथक् रूप से स्थिर और शुद्ध करने का प्रयास निरर्थक ही प्रतीत होता है। अर्थात् विन्दु को शोधित कर स्थिर कर सकने पर प्राणसंयम, मन का निरोध आदि स्वयं ही हो जाते हैं, उनके लिए पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है; प्राणनिरोध कर सकने पर बिन्दुशोधन और मन के संयम के लिए पृथक् साधना निष्प्रयोजन है; मन की निवृत्ति के साधक के लिए विन्दु, वायु आदि की शुद्धि और संयम के विषय में चेष्टा न करने पर भी कोई हानि नहीं होती; क्योंकि जिस किसी मार्ग से चरमावस्था में पहुँचा जा सकता है एवं तब सभी मार्गों की साधना का फल हस्तगत हो जाता है। जो लोग ऐसा सोचते हैं, उनका सिद्धान्त सर्वथा अमूल हो, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि विभिन्न मार्गों से एक ही अद्वैत भूमि में पहुँचा जाता है एवं एक बार अद्वैत भूमि में पहुँच जाने पर अन्य पथ पर न चलने के कारण अभाव या अपूर्णता का अनुभव नहीं होता। किन्तु बात यह है कि यदि पूर्णता-लाभ करना हो अथवा अद्वैतावस्था का अधिकारी होना हो तो अपनी अध्यात्म-स्थिति के अनुसार सभी ओर न्यूनाधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। जगत् के पदार्थसमुदाय जैसे परस्पर मिश्रित हैं—जिस किसी एक विशिष्ट पदार्थ में सब पदार्थों के अंश न्यूनाधिक परिमाण में सन्निविष्ट हैं; केवल प्राधान्यवश किसी गुण और क्रिया की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही सभी साधन-मार्ग परस्पर मिले हुए हैं। पर मिले रहने पर भी जिस पथ पर जिस अंश की प्रबलता रहती है, उसमें वही सदा जाग्रत् रहता है, अन्यान्य अंश दबकर प्रसुप्त रहते हैं। योग्यता के अनुसार पथ का निर्देश होने पर भी गम्य स्थान में यदि जाना हो तो सभी पथिकों को सुप्त अंश का जागरण कर लेना चाहिए, नहीं

तो साम्यावस्था में प्रवेश का अधिकार पैदा नहीं होता। यदि कोई साधक ब्रह्मचर्य की साधना में विन्दु के शोधन और स्थिरीकरण के विषय में निरन्तर चेष्टा करते हों तो वे प्राण, मन आदि के साधन का यथावत् अभ्यास न करने पर ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा अथवा बिन्दु-सिद्धि की उपलब्धि नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो पृथक्-पृथक् योगाङ्गों के साधन का उपदेश न रहता।

षट्चक्र की साधना भी इसीलिए आवश्यक है। जो लोग योगपथ की जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि विन्दु-साधना के द्वारा अन्नमय कोष, प्राण अथवा वायु की क्रिया द्वारा प्राणमय कोष, मन की क्रिया के बल से मनोमय कोष एवं विचार और विवेक द्वारा विज्ञानमय कोष शोधित होता है। आनन्दमय कोष नित्य-शुद्ध है, फिर भी अहेतुक भक्तियोग से उसका आगन्तुक मल दूर करना पड़ता है। इस प्रकार तीनों देहों की विशुद्धि सम्पन्न होती है और जीव परमार्थ-लाभ से कृतकृत्य होता है। विन्दु-साधना के फलस्वरूप स्थूल देह की आपेक्षिक शुद्धि होने पर प्राण, मन और विज्ञान की क्रिया में क्रमशः अधिकार उत्पन्न होता है। वस्तुतः असिद्ध विन्दुवाले साधक के लिए प्राणायाम का अभ्यास अत्यन्त दुष्कर कार्य है। सुषुम्णा-द्वार के खुले विना प्राणवायु इड़ा और पिङ्गला-मार्ग का त्याग नहीं कर सकता। देहशुद्धि के अभाव से ही वायु वक्र रहता है और दक्षिण और वाम पथ से संचरण करता है। विन्दु-साधना के अभ्यास से साधक का देहमल हट जाता है, देह में सात्त्विक तेज का प्रादुर्भाव होता है, ओज का विकास होता है और दृढ़ता का उदय होता है; —सब बाहर का आकर्षण अपने-आप ही मन्द पड़ जाता है। सुषुम्णा-पथ जब खुलता है तब बाह्य स्थूल वायु, जो इड़ादि मार्गों से गमनागमन करता है, शोधित और सूक्ष्म होकर उस खुले हुए सूक्ष्मपथ से बहने लगता है। उस सूक्ष्म और निर्मल वायु में सत्त्व गुण का भाग अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसीलिए सात्त्विक तेज से तेजोमय होकर वह हल्का वायु सरल मार्ग से ऊपर-नीचे संचरण करता है एवं ऊर्ध्वगति और अधोगति के मध्य में बीच-बीच में आपेक्षिक स्थिरता प्राप्त करता है। यही सुषुम्णा के मध्य में प्राण की क्रिया है। पूर्व में जो अजपा की बात का उल्लेख किया गया है, यह अन्तःप्राणायाम अथवा स्वाभाविक प्राण-व्यापार ही उसका स्वरूप है। प्राणक्रिया में अधिक उत्कर्ष प्राप्त करने पर जो बल-सञ्चय होता है, उसके प्रभाव से प्राण का आवरण कुछ-कुछ हटने लगता है। जैसे देहमल कुछ हटने पर प्राणराज्य में प्रवेश किया जाता है, वैसे ही प्राण का मल कुछ दूर होने पर ही मन का पता लगता है, तब प्राणक्रिया स्वभावतः ही मन की क्रिया में परिणत हो जाती है। प्राण जब स्वभाव से चालित होकर कार्य करता है तब जैसे देह स्थिर और निश्चल रहती है, वैसे ही स्वभाव के स्रोत में मन के प्रवाहित होने पर प्राण स्वतः ही स्थिर हो जाता है। स्थूलदेह में इड़ा और पिङ्गला में जो स्थूल वायु की निःश्वास-प्रश्वासरूप क्रिया है, वही सुषुम्णा में सूक्ष्म प्राण की ऊर्ध्वगति और अधोगतिरूप क्रिया है, वही फिर वज्रनाड़ी के मध्य में सूक्ष्म मन की सङ्कल्प-विकल्परूप क्रिया है। स्वभाव की प्रेरणा से जब मन की क्रिया

चलने लगती है तब मन क्रमशः निर्मल होने लगता है, उसका आवरण हटने लगता है। संकल्प-विकल्प-वृत्ति क्रमशः तिरोहित होने लगती है। इस प्रकार साधना के बल से विकल्प-वृत्ति के बहुत-कुछ दबने पर चित्रा नाड़ी के विकास के साथ-ही-साथ विज्ञानमय कोष खुल जाता है। तब संकल्प शुद्ध होने से मन स्थिर हो जाता है और सत्यसंकल्पभाव का उदय होता है। योगियों की जिन सब योगविभूतियों का वर्णन मिलता है वे इस भूमि में ही उपलब्ध होती हैं। इस अवस्था में संकल्प कभी रहता है और कभी नहीं रहता। विज्ञान अथवा संकल्पत्याग की साधना ही इस अवस्था के साधक की स्वाभाविक साधना है। मनोमय भूमि में जो द्वन्द्व संकल्प और विकल्प के रूप में प्रकाशित होता है, वही शुद्ध संकल्पमय विज्ञानभूमि में संकल्प के आविर्भाव और तिरोभाव के रूप से प्रकटित होता है। यह निर्विकल्प अवस्था होने पर भी निःसंकल्प अवस्था नहीं है। इसके बाद उस आविर्भाव और तिरोभाव के पुनः-पुनः आवर्त्तन से चित्त से संकल्प की सत्ता बिलकुल मिट जाती है—संकल्प फिर कभी उठता नहीं। संकल्प ही ज्ञान और इच्छा है, उसकी निवृत्ति परमानन्द है। वह आनन्दमय कोष में ब्रह्मनाल के मध्य में उपलब्ध होता है। इसके पश्चात् जो अवस्था प्राप्त होती है वह वस्तुतः अवस्था नहीं है। वह 'स्वभाव' या 'सहज' है, वह अव्यक्त है। परमार्थ दृष्टि से वह आनन्द के भी अतीत है।

योगी इस सहज या स्वभाव को प्राप्त होने के लिए ही आयास करते हैं। इसके सम्बन्ध में कहा गया है :

"दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।"

वेदान्त का पञ्चकोष-विवेक, तन्त्र का चक्रभेद, पातञ्जल-मत का अष्टाङ्ग-योगाभ्यास, बौद्धों का 'अनुपूर्वविहार'—मूलतः एक ही पथ के प्रकार-भेद मात्र हैं।

सिद्धगण कहते हैं कि जीवदेह में जाल की तरह असंख्य नाड़ियाँ व्याप्त हैं। इन सब नाड़ियों में साधारणतः पित्त, कफ आदि आवरक पदार्थ अल्पाधिक परिमाण में सटे हुए हैं। प्राणायाम-साधना के पहले सब नाड़ियों का विधिपूर्वक शोधन आवश्यक है। अशोधित नाड़ियों में वायु को प्रवेश-पथ नहीं मिलता।

"शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः॥"

(गोरक्षपद्धति, ९५)

यह कहना अनावश्यक है कि नाड़ीशुद्धि के विना जैसे प्राणायाम में अधिकार नहीं होता वैसे ही प्राण की क्रिया के विना नाड़ीशुद्धि भी ठीक-ठीक नहीं होती। पर एक बात है। कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि आसनाभ्यास और पूरक तथा रेचक नाम की प्राणक्रिया ही नाड़ीशुद्धि के सम्पादन के लिए उपयोगी हैं। अशुद्ध नाड़ी में कुम्भक का अधिकार उत्पन्न नहीं होता[1]। प्राणक्रिया द्वारा मन का शोधन करना ही

---

१. 'वशिष्ठयोग' नामक ग्रन्थ में नाड़ीशुद्धि के प्रसङ्ग में पूरक के बाद और रेचक से पहले अग्निमण्डल-स्थित वह्निबीज के ध्यान का उपदेश है। 'नकुलीशयोगपरायण' कार ने उस उपदेश की व्याख्या करते समय कहा है कि कुम्भक भी नाड़ीशुद्धि का साधन है अर्थात्

याज्ञवल्क्यादि अधिकांश आचार्यों का मत है। वे नेति आदि पट्कर्मों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते[1]।

अभ्यासयोग के द्वारा नाड़ी-चक्र के विशुद्ध होने पर कितने ही बाहरी और भीतरी चिह्न प्रकट होते हैं। देह की कृशता और लाघव, दीप्ति या कान्ति, जठराग्नि की वृद्धि, चिन्ताशून्यता तथा नादाभिव्यक्ति—ये नाड़ीशुद्धि के प्रधान लक्षण हैं।

देह में नाड़ियों की संख्या कितनी है, यह गणना नहीं की जा सकती। सिद्धगणों ने ७२००० नाड़ियों की बात साधारणतः कही है[2]। उनमें चौदह नाड़ियाँ औरों की अपेक्षा प्रधान हैं। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा की बात बहुत बार कही जा चुकी है। उनके सिवा सरस्वती, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, विश्वोदरी, यशस्विनी, पूषा और अलम्बुषा—इन ग्यारह नाड़ियों के नाम और परिचय सिद्धगणों के ग्रन्थ आदि में तथा अन्यान्य शास्त्रों में पाये जाते हैं। ये सभी नाड़ियाँ प्राणवाहिनी तथा नाभिमण्डल से निकलकर चारों ओर फैली हुई हैं।

इस देह का परिमाण साधारणतः ९६ अंगुल बतलाया गया है। उनमें पायुदेश से दो अंगुल ऊपर और निम्न स्थान से दो अंगुल नीचे देहमध्य है[3] (तुलनीय—दर्शनोपनिषत् ४, २-३; वाराहोपनिषत् ५, १९-२०; त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्, मन्त्रभाग ६६)। यही अग्नि-स्थान है। मनुष्यदेह में यह नेत्र के भीतर एक चटकीले रंग के त्रिकोण के तुल्य प्रतीत होता है[4]। इस स्थान में तेज को अभिव्यक्त कर देहस्थित वायु की न्यूनता अथवा साम्य का सम्पादन कर सकने पर ब्रह्मज्ञान का उन्मेष हो

कुम्भक-सहित रेचक और पूरक के द्वारा ही नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। जैसे, "तस्माद··· निरोध-सहित ध्यानमेव फलसाधनं विधीयते इत्येव वशिष्ठवाक्यार्थः।" कालिकापुराण, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थों का भी यही मत है।

१. "प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणान्तु केषांचिदन्यत् कर्म न सम्मतम्॥"

नेति, धौति, नौली, वस्ति, त्राटक और भस्त्रा—इन छह क्रियाओं को हठयोगी षट्कर्म कहते हैं। यद्यपि षट्कर्म का उद्देश्य प्राणायाम के द्वारा ही सिद्ध हो जाता है, तथापि किन्हीं-किन्हीं योगियों ने दैहिक प्रकृति के वैशिष्ट्य पर लक्ष्य रखकर ही इन सब कर्मों की भी उपयोगिता स्वीकार की है। विशेषतः मेदा और श्लेष्मा का आधिक्य रहने पर धौति आदि क्रियाएँ बहुत अधिक उपकारी होती हैं।

"षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति।

२. शिवसंहिता (२, १३—१५) में नाड़ियों की संख्या ७५००० कही गई है। उनमें १४ नाड़ियाँ प्रधान हैं। विराट्पुराण के चतुर्थ पटल, योगशारीर आदि ग्रन्थों में १० प्रधान नाड़ियों का उल्लेख दिखाई देता है। योगशारीर में पयस्विनी, वारुणी, विश्वोदरी और यशस्विनी नाड़ी का नाम नहीं है। विराट्पुराण में प्रदत्त संख्या में कोई-कोई नाम अन्य प्रकार से लिखा गया है। जैसे—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, हस्तिजिह्विका, पुंसावरी, यशावरी, बिन्दुका, कुहू और शङ्खिनी। उसके मतानुसार ये १० नाड़ियाँ प्रधान हैं।

३. चौपाये जीवों का देहमध्य हृदय में और अन्यान्य जीवों का तुन्द में अथवा उदर में है।

४. चौपाये पशुओं का अग्निस्थान चौकोर है, पक्षियों का गोल है, सर्प आदि का षट्कोण और स्वेदज जीवों का अष्टकोण है।

सकता है। मूलाधार से नौ अंगुल दूर कन्दस्थान स्थित है। वह देखने में अण्डाकार (मुर्गी के अण्डे के तुल्य) है एवं त्वक् आदि द्वारा परिवेष्टित है। इसके बीच में ही (नाभि में) विलम्बिनी नामक नाड़ी स्थित है—यहीं से तिरछी चलनेवाली, ऊर्ध्वमुख और अधोमुख सब नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। इड़ा और पिङ्गला नाड़ी भी इस विलम्बिनी में ही अनुस्यूत हैं।

यहाँ से दो नाड़ियाँ दो नेत्रों में, दो दो कानों में, एक भ्रूमध्य में, एक जिह्वा के प्रान्त में गई हैं। इनके नाम गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, शूरा और सरस्वती हैं। विश्वोदरी नाड़ी चार प्रकार के अन्न का भोग करती है, राका जलपान कर हिचकी पैदा करती है और नासिका में श्लेष्मा को जमा करती है एवं अधोमुखी अश्विनी नाड़ी अन्न का सार ग्रहणपूर्वक मस्तक में संचित करती है। शङ्खिनी कण्ठकूप से उत्पन्न है। ये सब नाड़ियाँ नाभि के ऊपर प्रदेश में स्थित हैं। नाभि के नीचे की ओर तीन नाड़ियाँ अधोमुख होकर फैली हुई हैं। उनमें से कुहू का काम मल को बाहर निकालना, वारुणी का काम मूत्रत्याग है और चित्रा के द्वारा शुक्रमोचन होता है[1]।

१. तुलनीय—योगशिखोपनिषत्, पंचम अध्याय। योगशारीर में कहा है कि बायें और दाहिने कान के अन्त तक गई नाड़ी का नाम गान्धारी और हस्तिजिह्वा है। कुहू और सरस्वती के सम्बन्ध में कोई भेद नहीं है। शङ्खिनी नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र से ब्रह्म-मार्ग में संचार करती है। जननेन्द्रिय के सन्निकट जाकर यही 'बिन्दुवहा' नाम से प्रसिद्ध होती है। मानसोल्लास का मत बहुत-कुछ योगशिखोपनिषत् के सदृश है। पर इसमें शूरा नाड़ी का नाम शुक्रा है और हिचकी पैदा करनेवाली नाड़ी का नाम पयस्विनी कहा गया है। मानसोल्लास के मतानुसार नाभि के नीचे स्थित तीन नाड़ियों में एक कुहू मल निकालनेवाली, राका शुक्र बहानेवाली और सिनीवाली मूत्रवहा है। शङ्खिनी नाड़ी भुक्त अन्न का रस ग्रहण कर कपालकुहर में गमनपूर्वक मस्तक पर सहस्रारकमल में सुधासञ्चय करती है। भास्करराय के भावनोपनिषद् के भाष्य में जो विवरण दिया गया है, वह कुछ भिन्न प्रकार का है। उसमें सरस्वती जिह्वाग्रगामिनी है, किन्तु शङ्खिनी और पयस्विनी कानों में जानेवाली, गान्धारी और पूषा नेत्रों में जानेवाली हैं। हस्तिजिह्वा और यशस्विनी का पैर के अँगूठे तक विस्तार है। कुहू त्रिकोण के अग्रभाग से उठकर जननेन्द्रिय तक गई है। कुहू के बायें पार्श्व में विश्वोदरा और दाहिने पार्श्व में वारुणी है और अलम्बुषा पायु तक गई है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सरस्वती और कुहू नाड़ी सुषुम्णा के दोनों पार्श्वों में हैं, गान्धारी और हस्तिजिह्वा इड़ा के पीछे और आगे हैं, पूषा और यशस्विनी पिङ्गला के पीछे और सामने हैं, विश्वोदरी कुहू और हस्तिजिह्वा की मध्यवर्त्तिनी है, वारुणी, यशस्विनी और कुहू के मध्य में स्थित है, शङ्खिनी पूषा और सरस्वती के मध्य में स्थित है एवं अलम्बुषा कन्दमध्य अथवा पायुमूल से नीचे स्थित है। कुहू का स्थान सुषुम्णा के सामने की ओर लिङ्ग-पर्यन्त है। वारुणी सर्वगामिनी है। यशस्विनी दाहिने पैर के अँगूठे तक, पूषा पिङ्गला के पीछे दाहिने नेत्र तक, पयस्विनी उसी तरह दाहिने कान तक और सरस्वती जिह्वा-पर्यन्त फैली है। शङ्खिनी दाहिने कर्ण से ऊपर की ओर गई है, गान्धारी इडा के पीछे होकर बायें नेत्र-पर्यन्त तथा हस्तिजिह्वा बायें पैर के अँगूठे तक विस्तृत है। याज्ञवल्क्य के विवरण की ध्यानपूर्वक आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि उनके मत में इड़ा के पीछे से एक नाड़ी बायें नेत्र तक और पिङ्गला के पीछे से उसी तरह दूसरी एक नाड़ी दाहिने नेत्र तक गई है। उसी प्रकार इडा के सामने से एक नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक तथा पिङ्गला के सामने से दूसरी एक नाड़ी दाहिने

जिस स्थान से सब नाड़ियाँ निकलकर चारों ओर फैली हुई हैं, वही स्थूल और सूक्ष्म देह का सन्धिस्थल है। ये सभी नाड़ियाँ वायव्य तथा प्राणवाहिनी हैं। रस, रक्त आदि बहानेवाले स्रोतों की आलोचना यहाँ अनावश्यक हैं, किन्तु यह बात सत्य है कि वे भी प्राणवाही हैं; क्योंकि रसादि का संचालन भी वायु-क्रिया की अपेक्षा रखता है। नाभिकन्द अथवा मूलस्थान से इन्द्रियों के गोलक तक जो सब नाड़ियाँ व्याप्त हैं, जिनको रूपवहा, शब्दवहा आदि नामों से अभिहित करने पर भी अत्युक्ति नहीं होगी, वे भी वास्तव में प्राणवहा नाड़ियाँ हैं; क्योंकि रूपादि के संचालन में भी शास्त्र-मतानुसार सूक्ष्मवायु ही कारण माना गया है। मनोवहा नाड़ी भी वैसी ही जाननी चाहिए। अतएव नाड़ीमात्र ही वायु से बना और वायु के यातायात का मार्गरूप है। वायु की स्थूलता तथा सूक्ष्मता के ऊपर नाड़ियों की स्थूलता और सूक्ष्मता निर्भर है। जबतक वायु की क्रिया रहती है तबतक नाड़ी-जाल का भेद कर शान्त आकाश में स्थिति-लाभ की कदापि सम्भावना नहीं है। हमलोगों की इन्द्रियों की क्रिया, मन की क्रिया और बुद्धि की क्रिया—सभी वायु के स्पन्दन से उत्पन्न होती हैं, अतएव नाड़ीचक्र की सहायता से निष्पन्न हैं। ज्ञान, इच्छा आदि भी वैसे ही हैं। क्रिया की परावस्था में जब वायु की गति निरुद्ध हो जाती है, तब नाड़ी-जाल का उपसंहार हो जाता है। तब ज्ञान आदि सब व्यापार निरुद्ध हो जाते हैं—यही योग-

---

पैर के अँगूठे तक विस्तृत है। दोनों नेत्रों के साथ पैर के अँगूठों का एक गूढ सम्बन्ध है। दाहिने कान के साथ मस्तक का एक गुप्त सम्बन्ध है। शङ्खिनी ही उस सम्बन्ध की स्थापक है। इस शङ्खिनी नाड़ी का मुख ही तन्त्रशास्त्र में 'गुरुवक्त्र' अथवा शिव के ऊर्ध्व मुख के नाम से वर्णित है। इस स्थान से ही शिष्य के दाहिने कान में तारकमन्त्र का उपदेश दिया जाता है। इसलिए सुषुम्णा के भीतर मन और प्राण के प्रविष्ट होने पर जब नाद की अभिव्यक्ति होती है तब उसका दाहिने कान से ही श्रवण किया जाता है। क्योंकि, ऐसा होने पर नाद का बाहरी आवरण सहज में हट जाता है, चित्त आकाशगामी होता है और प्रणव की परमावस्था प्राप्त होती है, इसके बाद परब्रह्म में स्थित होती है। योगशिखोपनिषत् में शङ्खिनी जो अधोमुख कही गई है वह इस सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर कही गई। इन सब नाड़ियों का सूक्ष्म और विस्तृत विवरण यहाँ आलोचनीय नहीं है एवं वह योगपथ में अप्रविष्ट पाठकों के लिए अनायास बोधयोग्य भी नहीं है। पर कुछ आलोचना किये बिना विषय का स्पष्टीकरण नहीं होगा, इसलिए इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् में स्पष्ट ही कहा गया है कि ७२००० नाड़ियों की बात साधारणतः उल्लेखनीय है। ये सब स्थूल नाड़ियाँ हैं—इनकी मूल दस प्रधान नाड़ियाँ हैं एवं इन सबका आश्रय कर सूक्ष्म नाड़ियाँ कितनी हैं, यह गिनती नहीं की जा सकती।

"द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः।
संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः॥" (मन्त्रभाग, ७५-७६)

इस उपनिषत् में उल्लिखित मूल दस नाड़ियों में इडा दि तीन के अतिरिक्त सात नाड़ियाँ ये हैं—गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूष, यशस्विनी, अलम्बुषा, शुभा और कौशिकी। प्रथम दो नाड़ियाँ इडा के सामने और पृष्ठभाग से बायें और दाहिने नेत्र-पर्यन्त एवं तृतीय और चतुर्थ नाड़ियाँ बायें और दाहिने कान तक विस्तृत हैं। अलम्बुषा पायु से नीचे गई है, शुभा लिङ्ग तक तथा कौशिकी पैर के अँगूठे तक फैली हैं।

शास्त्रोक्त वृत्तिनिरोध की अवस्था है। तब शून्य अथवा ब्रह्म के साक्षात्कृत होने से वृत्ति-निरोध की भी निवृत्ति होने पर व्युत्थान और निरोध समभावापन्न हो जाते हैं—भीतर और बाहर कारण और कार्य सब प्रकार के द्वन्द्वों के कटने से द्वन्द्वातीत परम साम्यभाव का उदय होता है। निर्वाणावस्था वस्तुतः इसी का नामान्तर है। निर्वाण-पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है—अर्थात् वायु की निवृत्तावस्था।

जीवभाव तथा ईश्वरभाव दोनों का ही मूल वायु है—वायु की स्तिमितावस्था में जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों के निरुद्ध होने से एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अवस्थित रहता है। वायु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार शक्ति भी कहा जाता है। इसलिए पूर्वोक्त वायु का निरोध और शक्ति का लय पर्यायवाची हैं। निरोध और लय को कोई लोग ध्वंस नहीं मानते हैं; क्योंकि योगी लोग कहते हैं कि इस जगत् में किसी सत्ता का ध्वंस नहीं होता। वैषम्य ही सृष्टि का लक्षण है, इसलिए निरोध अथवा लय शब्द से साम्यभाव ही समझना होगा। वायु के कम्पन अथवा शक्ति के स्पन्दन से सृष्टि का आविर्भाव होता है, यह कहना अनावश्यक है। कम्पन वास्तव में साम्यच्युति के सिवा और कुछ नहीं है। तीन गुण, अणु आदि विभिन्न प्रकार के स्पन्दनों या द्वन्द्वों से आविर्भूत हुए हैं। वायु की ऐकान्तिक समता के अवसर पर अर्थात् महाप्रलय में सब एकाकार हो जाते हैं।

इस प्रकार जरा ध्यान देने पर बहुत सहज में समझ में आ सकेगा कि शक्ति का प्रवाह-मार्ग ही नाड़ी है। व्यष्टि और समष्टि दोनों में ही यह विद्यमान है। पिण्ड अथवा देह में सर्वत्र जैसे नाड़ीजाल व्याप्त है वैसे ही ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यह जाल व्याप्त है। देह में नाभि से ये सब मार्ग निकले हैं। नाभि में सूर्य-मण्डल के प्रकाशमान रहने के कारण ये सब मार्ग सर्वदा ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं। वस्तुतः इन सबका सूर्यरश्मियों के रूप से ही प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार बाह्य जगत् अथवा ब्रह्माण्ड में भी सूर्यमण्डल से रश्मियों के रूप में अनन्त धाराएँ चारों ओर बिखरी हुई हैं। ये सब तिरछे रूप से व्याप्त होकर परस्पर एक-दूसरे को काटकर कुटिल और जटिल जाल के तुल्य मालूम पड़ती हैं। शास्त्र में इसीलिए नाड़ी और रश्मि पर्यायवाची शब्द हैं। एक जीव के साथ दूसरा जीव, एक लोक के साथ दूसरा लोक, इन सब महीन तारों द्वारा जकड़ा और गुँथा हुआ है। मृत्यु के समय लिङ्गात्मक जीव जब स्थूल देह का त्याग कर अपने कर्मों के अनुसार गमन करता है तब उन सब नाड़ियों या रश्मियों का सहारा लेकर ही उसे जाना पड़ता है। देह से जिस नाड़ीद्वार से वह निकलता है, वही नाड़ी उसे ढोकर यथास्थान ले जाती है। व्यासकृत योग-भाष्य में कहा है कि योगी इच्छानुसार सूर्य-रश्मियों में विहार करते हैं—चल-फिर सकते हैं। यह कहना अनावश्यक है कि यह नाड़ी-संचार के सिवा और कुछ नहीं है। परकाय-प्रवेश, सूक्ष्म देह से गमनागमन आदि सब व्यापार सूर्यरश्मि अथवा नाड़ीपथ का आश्रयण करके ही होते हैं। इन सब विषयों पर विस्तृत विचार यहाँ अप्रासङ्गिक है, पर जो कुछ कहा गया है उससे प्रतीत हो जायगा कि नाड़ी और nerve ठीक समानार्थक नहीं हैं।

इन सब वक्र नाड़ियों में जो वायु संचरण करता है वह भी वक्रगति और स्थूल है। वायु ही जब शक्ति है तब इस वक्र और स्थूल वायु को जड़शक्ति कहा जा सकता है। साधना द्वारा क्रमशः, दीर्घकाल के अभ्यास और वैराग्य से, वायु सरल होता है। यह सरलता आपेक्षिक है एवं यही वायु की विशुद्धि है, यह कहना बेकार है। वाह्य या स्थूल वायु मिश्रभावापन्न है, इसलिए उसमें हजारों प्रकार के आकर्षण-विकर्षणों का मूल है। किन्तु जब क्रिया-कौशल से यह शोधित होता है अर्थात् इसका आगन्तुक मल हटाया जाता है, तब यह स्वभावतः सरल पथ से ही संचरण करने लगता है। सरल गति ही स्वाभाविक गति है। वायु की इस प्रकार की अवस्था सूक्ष्म अवस्था कही जा सकती है। यद्यपि यह आपेक्षिक है, तथापि यहाँ से स्थूलता की निवृत्ति का आरम्भ होने के कारण इसे एक स्वतन्त्र पथ का सोपान कहना असंगत प्रतीत नहीं होता। सरल और सूक्ष्म वायु जिस पथ से प्रवाहित होता है, वह भी सरल पथ है, उसी का दूसरा नाम सुषुम्णा नाड़ी है। यद्यपि यह शास्त्र में ब्रह्मनाड़ी या शून्यनाड़ी कही गई है तथापि यह प्रथमावस्था में ठीक-ठीक उन नामों के योग्य नहीं होती। क्योंकि, गति सरल होना आरम्भ होते ही जैसे तत्क्षण सम्यक् सरलता सिद्ध नहीं होती वैसे ही वक्रनाड़ी (इड़ा-पिंगला) का त्याग करने पर भी पहले ही एक-वारगी पूर्ण सरलता प्राप्त नहीं होती, क्रमशः होती है। इसलिए सरल पथ पर प्रविष्ट होकर भी वक्रता का अवशेष क्रमशः मिटता है। सुषुम्णा के भीतर वज्रिणी नाड़ी है, वज्रिणी नाड़ी के मध्य में चित्रिणी नाड़ी एवं चित्रिणी के मध्य में वास्तविक ब्रह्मनाड़ी स्थित है। योगी लोग सूक्ष्म दृष्टि से सुषुम्णा के मध्य में भी भेद देख पाते हैं। इसलिए इन सब स्तरों का विन्यास माना गया है। असली बात यह है कि जैसे मनुष्य-मात्र ठीक-ठीक मनुष्य-लक्षणों से युक्त नहीं होता, वैसे ही सुषुम्णा में प्रवेश करने पर भी वास्तविक शून्य अथवा ब्रह्म-पथ का सन्धान पाने में कुछ समय लगता है।

अतएव वायु की क्रमिक शुद्धि और सूक्ष्मता के साथ-साथ सरलता अवश्य होती है। ब्रह्ममार्ग में यह सरलता निरपेक्ष और पूर्ण है। इसीलिए शक्ति की जड़ता-परिहारपूर्वक चैतन्यभाव की प्राप्ति भी ब्रह्म-पथ में ही भलीभाँति सिद्ध होती है। स्थूल और सूक्ष्म वायु एक ही वायु के दो अवस्थाभेद-मात्र हैं। शक्ति भी वैसे ही जड़ और चेतन रूप से पृथक् रूप में निर्दिष्ट होने पर भी मूल में एक और अभिन्न है। साधना का उद्देश्य है, शक्ति की जड़ता हटाकर उसे चैतन्य रूप में प्रकटित करना। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जड़ शक्ति के ही, स्तर-भेद से, विभिन्न नाममात्र हैं। देह से बहिर्भूत विषयों के अन्तर्गत पदार्थों में स्थित शक्ति भी वही है। किन्तु जब वायु क्रमशः शुद्ध और सरल होकर शून्य में प्रवेश करता है तब शक्ति का चैतन्य-सम्पादन अथवा जागरण पूर्ण होता है। इसीको कुण्डलिनी-चैतन्य या मन्त्रचैतन्य आदि नामों से पुकारा जाता है। वक्रमार्ग में संचरण करनेवाला स्थूल वायु जब क्रिया के प्रभाव से निर्गम स्थान में आकर इकट्ठा होता है तब वहाँ एक घनीभूत तेज का विकास होता है। बिखरी हुई सूर्यरश्मियों को एक जगह संचित करने पर जैसे एक चमकीला सूर्याकार ज्योतिबिम्ब प्रकाशमान होता है एवं उसमें दाहिका शक्ति भी रहती है,

वैसे ही देह में इधर-उधर संचार करनेवाले वायु के अर्थात् इन्द्रिय आदि की वृत्ति का नियमन करनेवाले प्राणवायु के एक जगह एकत्र होने पर एक सूर्य-मण्डल के ही तुल्य आकार के तेजोमण्डल का प्रकाश होता है। उसमें भी दाहिका शक्ति रहती है—वस्तुतः यही ज्ञानाग्नि है एवं इसके द्वारा ही कर्म आदि जलते हैं। यह त्रिकोण में अभिव्यक्त होने के कारण त्रिकोणाकार दिखाई देने पर भी मध्यविन्दु में गोलाकार ही मालूम पड़ती है। किन्हीं-किन्हीं ने इसका भानुमण्डल नाम रखा है। वस्तुतः यह सूर्य का प्रतिविम्बमात्र है। नाभिचक्र में इसी का विकास होता है। वाहरी सूर्यरश्मियों को इकट्ठा करने पर जो तेज का विन्दु दिखाई देता है, उसके साथ सूर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध सरल रेखा से हुआ है। अर्थात् उस तेज-विन्दु से सूर्य तक एक सरल पथ वर्त्तमान है, दोनों के बीच में स्थूल व्यवधान कुछ नहीं है, दोनों ही आपस में सन्निहित हैं। वाह्य प्राण और मन की एकाग्रता से जिस ज्योति का उदय होता है उसके साथ भी परज्योति का वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिक क्या कहें, इस अपर और पर ज्योति की संयोजक सरल रश्मि ही सुषुम्णा नाड़ी है[1]। अपर और परज्योति में वास्तविक स्थूल कोई

१. वैदिक साहित्य तथा तदनुसारी परवर्त्ती शास्त्र आदि में हृदय नाड़ी-निर्गम का मूल कहा गया है। अर्थात् वाह्य नाड़ीजाल अथवा उनमें संचरणशील वायु के संयत होने पर, अतएव मन के स्थिर होने पर, जिस आकाश का आविर्भाव होता है वही हृदय अथवा दहरपुण्डरीक है। इसके ठीक मध्य में—कर्णिका में—गोलाकार तेज-मण्डल का विकास होता है—कोई-कोई उसे सूर्य कहते हैं। यह हृदय आकाश कहे जाने पर भी और स्थूल वृत्तियों का लयस्थान होने पर भी यथार्थ आकाश नहीं है। यह चित्ताकाश या अन्तराकाशमात्र है, चिदाकाश नहीं है। क्योंकि, यहाँ भी एकाग्रवृत्ति का सरल प्रवाह रहता है। वस्तुतः वैदिक लोग यहाँ से ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्णा नाड़ी का उदय मानते हैं :

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः। तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥"

तिरछी चलनेवाली सब नाड़ियाँ पुरीतत् नामक हृदयवेष्टन के बाहर से चारों ओर समग्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं।

"यतो निर्याति विषयो यस्मिंश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम्॥"

इसलिए हृदय से विषय उत्पन्न होते हैं और हृदय में ही सब विषय विलीन होते हैं। मन के हृदय में प्रवेश करते ही उसकी क्रिया विलुप्त हो जाती है; क्योंकि तब वह विषयशून्य तथा वायुशून्य हो जाता है। जबतक मन चारों ओर संचरण करता है तबतक विषयों में ही भ्रमण करता है एवं वक्र नाड़ी-पथ से विचरण करता है। यह संकल्प-विकल्प अथवा संशय है। तबतक श्वास-प्रश्वास रहता है। यह मन का स्थूलरूप से विचरण है। हृदय-कमल का विकास होने पर मन एकाग्र होकर उपसंहृत होता है तथा उस कमल में प्रवेश कर वक्रगति, स्थूलता और जाड्य का त्याग करना आरम्भ करता है; क्योंकि हृदय ही मन की स्थिति का कारण है। तब ऊपर से ज्ञान का आलोक मन पर पड़ता है और उसे सरल बना डालता है। ज्ञान के आलोक से उज्ज्वल मन उस समय हल्का होकर सरल पथ से ऊपर को उठता है और ज्ञान के केन्द्र-स्थान में प्रवेश करता है। यह केन्द्रस्थान हृदयपुण्डरीक की कर्णिका अथवा ब्रह्मरन्ध्र है। यहाँ आत्मा के साथ उसका मिलन अथवा योग होता है। तब उसकी सरल गति भी रुक जाती है। यही मन की निवृत्ति है। इस उद्बुद्ध मन को जीव

व्यवधान नहीं है। पर सूक्ष्म व्यवधान अवश्य है। वे ही ग्रन्थिरूप में (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि रूप में) एवं और भी सूक्ष्मरूप से देखने पर चक्ररूप में

नाम देने पर इस योग को जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर संयोग भी कहा जा सकता है। जो हो, वैदिकगण जिस स्थान से अध्यात्म-पथ पर यात्रा करते थे उसका नाम हृदय है। सिद्धगण जिस स्थान से यात्रा करते हैं उसका नाम नाभिमण्डल है। किसी-किसी सम्प्रदाय में भ्रूमध्य से भी यात्रा की व्यवस्था है। उनके मत में यहीं पर हृदय और मनःस्थान स्वीकृत है। इन सब विषयों की विस्तृत आलोचना अन्यत्र करने की इच्छा है। आपाततः केवल यही वक्तव्य है कि प्रस्थानभेद में क्रिया के तारतम्य-भेद से तथा अधिकारवैचित्र्यवश यात्रास्थान का आपाततः प्रतीयमान पार्थक्य रहने पर भी वास्तविक कुछ भी भेद नहीं है। योगचिन्तामणिकार शिवानन्द ने "श्रीमत् शङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्य के मत से मूलाधार हो सुषुम्णामुख है" यह कहकर याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि मुनियों तथा गोरक्षनाथ आदि सिद्ध योगियों के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—याज्ञवल्क्यवशिष्ठादिमुनीनां गोरक्षादियोगिनां च मते नाभिस्थकन्दमध्ये सुषुम्णा-मुखं कुण्डलिनी च"—अर्थात् इनके मत में सुषुम्णा नाड़ी का मुख तथा कुण्डलिनी नाभिस्थित कन्दमध्य में मानी गई है। इसके बाद उन्होंने इस मत का खण्डन किया है—"ब्रह्म-विष्णुग्रन्थिशब्दितयोर्मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रयोर्भेदानुपपत्तेर्मतमिदं चिन्त्यम्।" यह खण्डन-प्रयास नितान्त अशोभन हुआ है, यह अनुभवशील कर्मकुशल योगिमात्र ही जान सकते हैं; क्योंकि ग्रन्थि और चक्र का कुछ सूक्ष्म भेद है, जिसकी यहाँ उपेक्षा की गई है। चक्रमात्र ही पारिभाषिक संज्ञा में ग्रन्थि नहीं है, नहीं तो ग्रन्थियों की संख्या तीन न मानकर छह या उससे अधिक मानी जाती। इसके अतिरिक्त मूलाधार और स्वाधिष्ठान-चक्र को ब्रह्मग्रन्थि और विष्णुग्रन्थि कहने पर मणिपूर को रुद्रग्रन्थि कहना आवश्यक हो पड़ता है। अनाहत आदि चक्र तब ग्रन्थिहीन मानने पड़ते हैं। यदि अनाहत में गमन ही इष्ट हो तो इस प्रकार का ग्रन्थिविन्यास माना जा सकता है। किन्तु वास्तव में ब्रह्मपथ अनाहत चक्र का भेद कर ऊर्ध्वमुख गमन करता है। अनाहत विशुद्ध और आज्ञा में भी आवरण है। प्रश्न हो सकता है कि जो नाभि में कुण्डलिनी को जगाते हैं वे निम्न चक्रों का भेद कैसे करेंगे? इसका उत्तर है—नाभिचक्र में अधःस्थित दो चक्रों का साम्य हो जाता है। जो लोग मूलाधार से यात्रा आरम्भ करने के पक्षपाती हैं, उनके भी तेज का विकास नाभिस्थान में ही होता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की क्रिया केवल अरणिमन्थन-मात्र है। सृष्टिक्रिया वस्तुतः नाभि को आश्रय करके ही निष्पन्न होती है। मूलाधार के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि यह अधोमुख त्रिकोणाकार और योनिस्थान है। स्वाधिष्ठान लिङ्गस्थान है। कुण्डलिनी को यदि जगाना हो तो इस योनिपीठस्थित महालिङ्ग को चेतन करना पड़ता है। इन लिङ्ग और योनि का अर्थात् शिव और शक्ति का ऊर्ध्वमुख में मिलन होना आरम्भ होते ही नाभिचक्र जाग उठता है एवं कुण्डलिनी उद्बुद्ध हो जाती है। यह मिलन की पूर्णता का इतिहास ही षट्चक्रभेद का रहस्य है। सहस्रार में यह मिलन पूर्ण होता है। कुण्डलिनी के उत्थान के साथ-ही-साथ त्रिकोण और लिङ्ग दोनों ही ऊर्ध्वमुख होकर परस्पर खूब गाढभाव से मिलने लगते हैं। फलतः कुण्डलिनी का उत्थान और लिङ्ग का उत्थान एक प्रकार से एकार्थक (पर्यायवाची) हैं। योग तथा अद्वैतभाव की प्राप्ति जबतक नहीं होती तबतक यह क्रिया चलती रहती है। यही ऊर्ध्वरेता होने की साधना है, इसलिए नाभिचक्र को सुषुम्णा का मुख मानने में कोई दोष नहीं है।

प्रतीत होते हैं। इनका भेद कर सकने पर ही अपर और पर ज्योति का योग अथवा मिलन सम्पन्न हो सकता है। इसलिए सुषुम्णा नाड़ी सरल रश्मि होने पर भी जव ब्रह्मनाल में परिणत होती है तभी वह यथार्थ 'सरल' कही जा सकती है।

यह जो अपर ज्योति की वात कही गई है यही प्रबुद्ध कुण्डलिनी-शक्ति है। मन और प्राण से युक्त जीव इसके साथ आश्रितरूप में विद्यमान रहता है। ग्रन्थि और चक्रों का भेद इसके द्वारा ही होता है। कुण्डलिनी-शक्ति शीताधिक्यवश प्रसुप्त सर्प के तुल्य कुण्डलिताकार से ब्रह्मद्वार को अपने मुख से ढककर सोई है। इस नींद के कारण ही जीव की बाह्य वृत्ति और भेदज्ञान जाग्रत् हुआ है। स्थूल आदि देहों के साथ तादात्म्य-वोध, इन्द्रिय आदि की अपने-अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति, जड़ता अथवा अज्ञान, जन्म-मरण—ये सब इस निद्रा के ही फलस्वरूप हैं। साधना द्वारा अग्नि और वायु की सहायता से इन्हें जगाना पड़ता है। ये अष्टप्रकृतिरूप और अष्टधा कुण्डलीकृत हैं। ये जागकर ही सीधे ऊपर की ओर दौड़ती हैं। विशेष प्रकार की प्रक्रिया (मूलवन्ध) द्वारा अधःस्थित वायु को ऊपर चढ़ाकर कुम्भक का अवलम्बन करने पर ही वह निरुद्ध वायु अग्निस्थान में स्थित अग्नि को, आघात कर, जगा देता है। तव प्रदीप्त हुई अग्नि और वेगवान् वायु—दोनों एक साथ कुण्डलिनी को प्रवुद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं; अथवा ऊर्ध्वगामी अपान के नाभि के अधोदेश में स्थित वह्निमण्डल में प्रवेश कर आघात करते ही अग्नि की ज्वाला धधकती है। तव अग्नि और अपान एकत्र होकर उष्ण स्वरूप प्राण का स्पर्श करते हैं। उससे देहज वह्नि अत्यन्त प्रदीप्त होती है। इस ताप से तप्त होकर निद्रित कुण्डलिनी जाग उठती है और निःश्वासपूर्वक सरल आकार धारण कर सुषुम्णा में प्रवेश करती है। किसी-किसी जगह सरस्वती नाड़ी की चालना तथा वायु के निरोध को कुण्डलिनी-जागरण का मुख्य साधन माना गया है। सरस्वती अथवा अरुन्धती नाड़ी के संचालित होने पर कुण्डलिनी को चालित करने के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पर प्राणायाम की अवश्य आवश्यकता होती है तथा मूलादि तीन बन्धों की भी विशेष अवस्था में उपयोगिता होती है। मूलवन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डीयान-बन्ध—इन तीन बन्धों के सम्वन्ध में सिद्धगण वहुत-कुछ कह गये हैं। मूलबन्ध के द्वारा अधोगामी अपानवायु ऊपर की ओर गतिशील होकर अग्निमण्डल में प्रवेश करता है और अग्निशिखा को बढ़ाकर प्राण का स्पर्श करता है। उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अव्यवहित बाद ही किया जाता है। उसके अभ्यास से प्राण ऊर्ध्व गतिशील होता है। जालन्धरबन्ध पूरक के अनन्तर करने की व्यवस्था है। उसके द्वारा नाड़ियों का मुख वन्द होता है। अधोगामी अमृतप्रवाह निरुद्ध होता है और वायु की गति सव नाड़ियों से लौटकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होती है। उड्डीयानबन्ध के प्रभाव से प्राण सिर के मध्य में प्रवेश करता है।

रस और सौन्दर्य

यदि सौन्दर्य के विषय में कुछ कहना हो तो पहले रस के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। संसार रस के लिए पागल है। कैसे रस मिलेगा, कहाँ रस है—इसका किसी को पता नहीं है, फिर भी सभी रस चाहते हैं। भ्रमर जो गूँजते-गूँजते एक फूल से दूसरे फूल में भ्रमण करता है, वह भी रस की आकांक्षा से, योगी योगमग्न हैं, भोगी भोग-विलास में विभोर हैं, लोग स्त्री को चाहते हैं, पुत्र से स्नेह करते हैं, जहाँ सौन्दर्य देखते हैं वहाँ दौड़ पड़ते हैं—सभी रस की प्यास से, रस के लोभ से चञ्चल हैं। रस के विना प्राणी जी नहीं सकता। "को ह्यन्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्।" रस ही सार है—रस ही सत्त्व है।

जिसका आस्वादन कभी हुआ नहीं, उसके लिए आकांक्षा हो नहीं सकती। रस के लिए सारा संसार पागल है, इसलिए उसका अनुभव एक-न-एक दिन कहीं अवश्य ही हुआ है। निश्चय ही एक दिन सारा संसार उस रसपान से मतवाला होकर आत्मविस्मृत हुआ था, पीछे नियति की प्रेरणा से उस अवस्था से च्युत हो पड़ा है। योग से भ्रष्ट होकर संसार आज उसी की पुनः प्राप्ति की आशा से खोई मणिवाले सर्प के समान व्याकुल हुआ-सा भाग रहा है। जबतक फिर उस योग की स्थापना नहीं होगी तबतक इस अशान्ति के हटने की सम्भावना नहीं।

जिस वस्तु का स्वाद जिसे मिला नहीं, उसके लिए उसकी आकांक्षा नहीं होती। किन्तु रस का आस्वाद हमें कब मिला, कहाँ और किस तरह मिला ? कोई-कोई कह सकते हैं कि इस प्रश्न की कोई विशेष सार्थकता नहीं है; क्योंकि जीवन के अतीत अध्यायों की ओर दृष्टिपात करने पर सभी को मानना पड़ेगा कि रसानुभव सभी को कहीं-न-कहीं थोड़ा बहुत अवश्य ही हुआ है। अच्छा लगना, सुन्दर प्रतीत होना और आनन्द का अनुभव करना—ये किसी को भी हुए नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए रस के लिए आकांक्षा होना कोई विचित्र बात नहीं है। किन्तु यह उत्तर ठीक प्रतीत नहीं होता। इसका प्रधान कारण यह है कि जिसको हम चाहते हैं और जिसका हमें अनुभव हुआ, वे एक तरह के नहीं हैं। हमने आस्वाद लिया हो बेदाने का और चाह रहे हों अंगूर—ऐसा हो नहीं सकता। जिस रस का हमने अनुभव किया है, वह परिच्छिन्न, एकदेशीय, क्षणिक और मलिन है, किन्तु जिसे हम चाहते हैं वह इसके विपरीत है। यदि पूर्ण आनन्द, पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम का कभी आस्वादन हमने नहीं किया तो उसके लिए तृष्णा जागी कैसे ? जिस परम सौन्दर्य ने पीछे रहकर इस तृष्णा का उद्दीपन किया है उसी को फिर सामने उपलब्धि किये विना इसकी निवृत्ति होगी नहीं। हम संसार में आनन्द जितना ही पाते हैं, सौन्दर्य जितना ही देखते हैं, उतनी ही हृदय में अभाव-प्रतीति और

भी अधिक जाग उठती है। देखकर भी देखने की साध किसी तरह भी मिटती नहीं, मालूम होता है, यह अपूर्ण है। जभी अपूर्ण समझते हैं तभी सीमा आँखों के सामने दिखाई देती है, तभी अनजाने में हृदय रो उठता है। सोचते हैं और भी—और भी आगे जायँ, सम्भवतः सुदूर भविष्य में किसी-न-किसी दिन उसे आयत्त कर सकेंगे। किन्तु हाय मोह ! यह समझ नहीं पाते हैं कि काल-प्रवाह में इस आकांक्षा की तृप्ति हो नहीं सकती। आनन्द चाहे जितना ही क्यों न बढ़े, सौन्दर्य चाहे जितना ही छलछला उठे, तृप्ति तब भी बहुत दूर की वस्तु है; क्योंकि और भी विकास हो सकता है एवं कभी भी इस क्रम-विकास की सम्भावना दूर होगी नहीं। इससे ज्ञात हो जायगा कि हृदय जिसकी आकांक्षा करता है वह ससीम सौन्दर्य अथवा परिमित आनन्द नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक-न-एक दिन क्रम-विकास से उसकी तृप्ति हो जाती। वस्तुतः यह असीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम, निरवच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य का सम्भोग पहले हुआ है, इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य की आकांक्षा होती है, विच्छिन्न (खण्ड) सौन्दर्य से तृष्णा मिटती नहीं। जिसका विरह है, उसे पाये विना व्याकुलता का अवसान हो नहीं सकता।

इसलिए प्रश्न रह गया कि यह पूर्ण सौन्दर्य कब हमें मिला था एवं कहाँ मिला था ? हम पहले देख चुके हैं कि कालक्रम से इस पूर्ण सौन्दर्य को हम पा नहीं सकते; करोड़ों कल्पों में भी हम ऐसा सौन्दर्य पायेंगे नहीं, जिससे बढ़कर और सौन्दर्य हो न सके, अर्थात् काल के मध्य में पूर्ण सौन्दर्य का विकास हो सकता नहीं। काल में जो विकास होता है वह क्रम-विकास है। इस क्रम का अन्त नहीं है। और भी अधिक, और भी अधिक हो सकता है—किन्तु कभी भी पूर्णता होती नहीं। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि काल में कभी इसकी अनुभूति भी होती नहीं। अर्थात् हमें जिस सौन्दर्य की अनुभूति हुई है, वह कोई सुदूर अतीत में नहीं है, किसी दिगन्तस्थित नक्षत्र में नहीं है अथवा किसी विशिष्ट काल या देश में नहीं है।

अतएव एक प्रकार से यह प्रश्न ही अनुपपन्न है। किन्तु घूम-फिरकर प्रश्न फिर भी होता है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी यह सत्य है कि इस सौन्दर्य का आस्वादन जब हमें हुआ था तब काल नहीं था—जहाँ हमने इसका आस्वादन किया था वहाँ देश नहीं था। वह हमारी 'योग' अवस्था अथवा मिलन था। उसके बाद वर्त्तमान अवस्था 'योगभ्रंश' अथवा विरह है। फिर उस योग में जाने के लिए हम छटपटा रहे हैं, पुनर्मिलन चाहते हैं। अर्थात् हम देश और काल में निर्वासित हुए हैं। फिर देश-काल को छिन्न-भिन्न कर; विलीन कर वैसे ही योगयुक्त होना चाहते हैं।

किन्तु यह वियोग क्या अत्यन्त वियोग है ? पूर्ण से विच्छेद क्या सचमुच इतना वास्तविक है ? नहीं; यह बात नहीं है। वियोग सत्य है, विच्छेद स्वीकार्य है, किन्तु उस वियोग के मूल में भी नित्य योग खोया नहीं है, वह कभी खोता नहीं है। यदि खो गया होता तो यह वियोग चिरवियोग हो जाता, फिर लौटने की सम्भावना नहीं रहती।

यह जो आकांक्षा है, यह जो ससीम अतृप्ति है, यह बतला रही है कि असीम के साथ योग एकदम टूटा नहीं है। स्मृति है—इसीलिए योग है। वह योग, वह अनुभूति अस्पष्ट है, यह हम स्वीकार करते हैं, किन्तु वह है अवश्य।

यदि यह अनुभूति—यदि पूर्ण का यह आस्वादन न रहता तो सौन्दर्य का कोई मानदण्ड न रहता। मान के विना तुलना करना सम्भव न होता। जब हमें दो फूले हुए फूलों को देखकर किसी समय एक दूसरे की अपेक्षा सुन्दर जँचता है, तब अनजाने में सौन्दर्य के मानदण्ड का हम प्रयोग करते हैं। जहाँ तारतम्य का बोध होता है वहाँ निश्चय ही मान के न्यूनाधिक्य की निर्णायक उपाधि रहती है। प्रकृत स्थल में चित्तस्थित पूर्ण सौन्दर्य की अस्पष्ट अनुभूति अथवा अनुभवाभास ही वाह्य सौन्दर्य के तारतम्य का बोधक निमित्त है। अर्थात् वाहर की वस्तुओं को देखकर उनमें जो पूर्ण सौन्दर्य का जितना अधिक निकटवर्त्ती प्रतीत होता है वह उतना सुन्दर लगता है। सौन्दर्य का विकास जैसे क्रमिक है, यह सन्निकर्ष भी वैसे ही क्रमिक है। वाहर में जैसे पूर्ण विकसित सौन्दर्य का भी सम्भव नहीं, वैसे ही सन्निकर्ष की इस चरमावस्था का अर्थात् एकीभाव का भी सम्भव नहीं है।

देश और काल में जब पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त नहीं होता एवं वृत्तिज्ञान जब देश और काल की सीमा में बँधा रहता है तब पूर्ण सौन्दर्य वृत्ति के निकट प्रकाशित नहीं हो पाता, यह बात सत्य है। वल्कि वृत्ति पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिवन्धक है। सौन्दर्य का जो पूर्ण आस्वाद है, वृत्तिरूप में वही विभक्त हो जाता है। वृत्ति से जिस सौन्दर्य का बोध होता है वह खण्ड-सौन्दर्य है, परिच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य स्वयं ही अपने को प्रकट करता है, उसे अन्य कोई प्रकट नहीं कर सकता। वृत्ति के द्वारा जो सौन्दर्य-बोध का आभास प्रस्फुटित होता है, वह सापेक्ष, परतन्त्र, क्रम से वढ़नेवाला और काल के अन्तर्गत है। पूर्ण सौन्दर्य उससे विपरीत है। इस पूर्ण सौन्दर्य की छाया लेकर ही खण्ड-सौन्दर्य अपने को प्रकट करता है।

तव क्या पूर्ण सौन्दर्य और खण्ड-सौन्दर्य दो पृथक् वस्तुएँ हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। दोनों वास्तव में एक हैं। लेकिन इस वियोगावस्था में दोनों को ठीक एक कहना सम्भव नहीं है। मालूम पड़ता है, दोनों पृथक् हैं। यह जो दो का अनुभव होता है, इसी के भीतर वियोग की व्यथा छिपी हुई है। इसको जोर-जवरदस्ती से एक नहीं किया जा सकता।

किन्तु फिर भी सत्य वात यह है कि दोनों ही एक हैं। जो सौन्दर्य वाहर है वही अन्दर है, जो खण्ड-सौन्दर्य होकर इन्द्रिय-द्वार में वृत्तिरूप से विराजमान होता है, वही पूर्ण सौन्दर्य-रूप में अतीन्द्रिय भाव से नित्य प्रकाशमान है। गुलाव का जो सौन्दर्य है, वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है; शिशु के प्रफुल्लित मुखकमल में शोभा है, वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है—जिसे जब जहाँ जिस रूप से जिस किसी सौन्दर्य का बोध हुआ है, वह भी वह पूर्ण सौन्दर्य ही है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि सभी यदि पूर्ण सौन्दर्य हैं एवं पूर्ण सौन्दर्य यदि सभी का आस्वादित और आस्वाद्यमान है तो ऐसी स्थिति में फिर सौन्दर्य के लिए

आकांक्षा क्यों होती है ? बात यह है, पूर्ण सौन्दर्य का बोध अस्पष्ट रूप से सभी को है। किन्तु अस्पष्टता ही अतृप्ति की हेतु है। इस अस्पष्ट को स्पष्ट करना ही तो सब चाहते हैं। जो छाया है उसे काया देने की इच्छा होती है। वृत्ति द्वारा इस अस्पष्ट का स्पष्टीकरण होता है, जो छाया के तुल्य था वह मानों स्पष्ट रूप से भास उठता है। भासित हो उठता है सही, किन्तु खण्डरूप से। इसीलिए वृत्ति की सहायता से स्पष्ट हुए सौन्दर्य का साक्षात्कार होने पर भी, खण्ड होने से, ससीम होने के कारण उससे तृप्ति परिपूर्ण नहीं होती। वृत्ति तो अखण्ड सौन्दर्य को पकड़ नहीं सकती। अखण्ड सौन्दर्य के प्रकाश में वृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

इसी बात को और स्पष्ट रूप से कहते हैं। कल्पना कीजिए, एक खिला गुलाब का फूल हमारी दृष्टि के सामने पड़ा है। उसके सौन्दर्य ने हमें आकृष्ट किया है—उसका सुन्दर रूप में हम अनुभव कर रहे हैं। इस अनुभव का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ क्या लगता है ? यह सौन्दर्य कहाँ है ? यह क्या गुलाब में है, अथवा हममें है अथवा दोनों में है ? इस अनुभव का स्वरूप क्या है ?

आपाततः यही प्रतीत होता है कि यह केवल गुलाब में नहीं है। यदि वहीं होता तो सभी गुलाब को सुन्दर देखते। किन्तु सब उसे सुन्दर देखते नहीं। और यह केवल हममें अर्थात् द्रष्टा में है, यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि ऐसा होता तो हम अर्थात् द्रष्टा सब वस्तुओं को सुन्दर देखते, किन्तु हम सभी को सुन्दर देखते नहीं। इसलिए मानना होगा कि इस अनुभव के विश्लेषण से सिद्धान्त होता है कि वर्त्तमान क्षेत्र में जब वृत्ति द्वारा बोध हो रहा है तब सौन्दर्य खण्डित-सा हुआ है, एक ओर अस्पष्ट अथ च पूर्ण सौन्दर्य है, जो हममें है, दूसरी ओर स्पष्ट अथ च खण्ड-सौन्दर्य है, जिसे हम गुलाब में देख रहे हैं। किन्तु यथार्थ रस-स्फूर्त्ति के समय ऐसा रहता नहीं। तब सौन्दर्य द्रष्टा में नहीं रहता, गुलाब में भी नहीं रहता। द्रष्टा और गुलाब तब एकरस साम्यावस्थापन्न हो जाते हैं, केवल सौन्दर्य ही, स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही तब रहता है। यही पूर्ण सौन्दर्य है, जिसमें भोक्ता और भोग्य दोनों ही नित्यसम्भोग-रूप से विराजमान रहते हैं।

वृत्ति द्वारा सौन्दर्योपलब्धि किसे कहते हैं ? जब किसी विशिष्ट वस्तु का हम प्रत्यक्ष करते हैं, तब वह वस्तु हमारे चित्त में स्थित आवरण को धक्का देकर थोड़ा-बहुत हटा देती है। चित्त पूर्ण सौन्दर्यावभासमय है, किन्तु यह अवभास आवरण से ढका होने से अस्पष्ट है। किन्तु सर्वथा ढका नहीं है, न हो ही सकता है। मेघ सूर्य को ढकता है, किन्तु एकबारगी ढक नहीं सकता। यदि एकबारगी ढकता तो मेघ स्वयं भी प्रकाशित न होता। मेघ जो मेघ है, वह भी प्रकाशमान होने से है, इसलिए वह सूर्यालोक की अपेक्षा रखता है। उसी प्रकार आवरण चित्त को एक-बारगी ढक नहीं सकता। चित्त को ढकता है, किन्तु आवरण का भेद करके भी ज्योति का स्फुरण होता है। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य, आवरण के प्रभाव से, अस्पष्ट होने पर भी एकबारगी अप्रकाशमान नहीं है। जहाँ चित्त है वहीं यह बात लागू होती है। पर अस्पष्टता का तारतम्य अवश्य है। यह जो आवरण के कारण अस्पष्टता है, आवरण के हटने पर वह भी स्पष्टता में बदल जाती है। आवरण के तनिक हटने

पर जो स्पष्टता दिखती है वह किञ्चित् मात्र है। घर के झरोखे के छिद्र से अनन्त आकाश का जैसे एकदेशमात्र दिखलाई देता है, आंशिक रूप से आवरण हटने पर उसी प्रकार पूर्ण सौन्दर्य का एकदेशमात्र ही प्रकाशित होता है। यह प्रकाशमान एकदेश ही खण्ड-सौन्दर्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह आंशिक आवरण-नाश ही वृत्ति-ज्ञान है। इसलिए जो गुलाब का सौन्दर्य है वह भी पूर्ण सौन्दर्य ही है, पर एक एकदेश-मात्र है। इसी प्रकार जगत् का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही उस पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश है। आवरण-भङ्ग के तारतम्यवश उद्घाटित सौन्दर्य के तारतम्य अथवा वैशिष्ट्य का निरूपण होता है।

किन्तु, आवरणभङ्ग के वैशिष्ट्य का नियामक क्या है? आपाततः यह बाह्य पदार्थ के स्वरूप में स्थित वैशिष्ट्य के रूप से ही गृहीत होगा। किन्तु हम आगे देखेंगे कि यही अन्तिम बात नहीं है, इसलिए आवरणभङ्ग का भेद, जो स्वाभाविक है, वह इस अवस्था में कहा नहीं जा सकता। आपाततः कहना ही होगा कि आगन्तुक कारण के वैचित्र्यवश आवरण के हटने पर भी वैचित्र्य रहता है। स्फटिक के समीप नील वर्ण की स्थिति से स्फटिक नीला प्रतीत होता है और पीत वर्ण की स्थिति से पीला प्रतीत होता है—यह आगन्तुक कारणजन्य भेद का दृष्टान्त है। चक्षु के निकट स्थित घट में घटाकार वृत्ति एवं पट में पटाकार वृत्ति चित्त धारण करता है, यह भी आगन्तुक भेद है। ठीक उसी प्रकार फूल के सौन्दर्य और लता के सौन्दर्य—दोनों में अनुभव का भेद जानना होगा। फूल के सौन्दर्यास्वाद की जो वृत्ति है, लता के सौन्दर्यास्वाद की वृत्ति उससे विलक्षण है, इसका कारण आगन्तुक है। फूल और लता का वैशिष्ट्य जैसे सत्तागत है, वैसे ही ज्ञानागत भी है, फिर आस्वादगत भी है। इसलिए स्वीकार करना होगा कि फूल और लता में ऐसा विशिष्ट कुछ है, जिससे एक एक प्रकार की सौन्दर्यानुभूति का उद्दीपक है, दूसरा दूसरी प्रकार की।

किन्तु, यह आपेक्षिक सत्य है। बाह्य पदार्थ यदि परमार्थतः नहीं रहते अथवा जिस अवस्था में नहीं रहते तब अथवा उस अवस्था में बाह्य पदार्थ के स्वरूपगत वैशिष्ट्य के द्वारा रसानुभूति के वैचित्र्य का उपपादन नहीं किया जाता। सत्ता जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल और लता खण्डसत्ता हैं, ज्ञान जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल का ज्ञान और लता का ज्ञान अर्थात् फूलरूप ज्ञान और लतारूप ज्ञान परस्पर विलक्षण हैं, वैसे ही सौन्दर्य एक और अखण्ड होने पर भी फूल का सौन्दर्य और लता का सौन्दर्य अर्थात् फूलरूप सौन्दर्य और लतारूप सौन्दर्य परस्पर भिन्न हैं। इस जगत् में दो वस्तुएँ ठीक एक नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु का एक स्वभाव है, एक व्यक्तित्व है, एक विशिष्टता है, जो दूसरी वस्तु में नहीं होती। यदि यह सत्य है, तो खण्ड-सत्ता जैसे अनन्त हैं संख्या में तथा प्रकार में, खण्ड-ज्ञान भी वैसे ही अनन्त हैं, खण्ड-सौन्दर्य भी वैसे ही अनन्त हैं। किन्तु जो सत्ता है, वही तो ज्ञान है; क्योंकि प्रकाशमान सत्ता ही ज्ञान है और अप्रकाशमान सत्ता आलोक है। फिर जो ज्ञान है वही आनन्द है, क्योंकि अनुकूल ज्ञान ही, भला लगना ही आनन्द या सौन्दर्यबोध है और प्रतिकूल ज्ञान ही दुःख या कदर्यता है! सत्ता जब ज्ञान होती है तब वह नित्यज्ञान है और ज्ञान जब आनन्द होता है, तब वह नित्य संवेद्यमान आनन्द है। यह नित्य संवेद्यमाव

आनन्द ही रस है। इसलिए रस का सदा अभिन्न रूप से आस्वादन ही अखण्ड या पूर्ण अनुभूति का स्वरूप है। यह वृत्ति नहीं रसस्फूर्त्ति है।

इसलिए रसपदार्थ में सत्ता और ज्ञान का अन्तर्निवेश है। रस से सत्ता और ज्ञान का वस्तुतः पार्थक्य नहीं है। अतएव रस एक होकर भी अनन्त है, सामान्य होकर भी विशेष है। एक विशिष्ट रस की स्फूर्त्ति फूल है तथा दूसरे विशिष्ट रस की स्फूर्त्ति लता है—दोनों के आस्वादन में भेद है। इसीलिए जगत् किसी के भी अभाव का सहन नहीं कर सकता। एक का अभाव दूसरा पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु की मर्यादा है, जो अलङ्घनीय है।

इससे यह ज्ञात हुआ कि पूर्ण सौन्दर्य ही खण्ड-सौन्दर्य है। किन्तु खण्ड-सौन्दर्य जब वृत्ति से प्रकाशमान होता है, तब वह रसविशेष नहीं है, रसाभास-मात्र है। यह रसाभास विक्षिप्त वृत्ति के निरोध से यथार्थ रस में परिणत होता है, जिसे estatic अथवा aesthetic intuition कहा जा सकता है।

यह जो रस-विशेष है, यह अनन्त है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में स्फुरण और आस्वादन का वैशिष्ट्य है। पर आलङ्कारिकों ने जो इसे श्रेणीबद्ध किया है, वह केवल जातिगत भेद को लक्ष्य में रखकर, शास्त्रीय व्यवहार की सुगमता के लिए किया है। शहद का स्वाद और गुड़ का स्वाद एक प्रकार का नहीं है, फिर शहद का स्वाद और नमक का स्वाद भो एक तरह का नहीं है, तथापि जिस कारण से शहद और गुड़ को एक श्रेणी के अन्तर्गत किया जाता है एवं शहद और नमक को नहीं किया जाता, उसी कारण से आलङ्कारिकों ने रस को श्रेणियों में विभक्त किया है। इसलिए जानना होगा कि शहद और गुड़ प्रयोजनवश एक जाति के अन्तर्गत होने पर भी वस्तुतः दोनों के जैसे आस्वाद में वैचित्र्य है वैसे ही एक रस दूसरे रस के साथ एक श्रेणी के अन्तर्गत होने पर भी (जैसे शृंगार) ठीक एक नहीं है। सत्ता और ज्ञान के वैचित्र्य में यदि कोई सार्थकता है तो रस में भी वह है।

इसलिए एक हिसाब से रस अनन्त और दूसरे हिसाब से रसों की एक निर्दिष्ट संख्या है। मूल में रस एक ही है।

यह निर्दिष्ट संख्या कितनी है, इस विचार को यहाँ उठाने की आवश्यकता नहीं है। हम केवल मूल बात समझने की चेष्टा कर रहे हैं। हमने यह जो अनन्त रस कहे हैं, इनमें प्रत्येक के अवस्था के भेद हो सकते हैं। ये भेद स्थूलमान से शुद्ध और मलिन भेद से दो प्रकार के हैं। यह बाह्य दृष्टि से है अर्थात् प्रत्येक रस शुद्धभाव से स्वप्रकाश है, तभी यथार्थ में वह रस कहलाता है। और मलिन होने पर ही वह मिश्रित हो जाता है। इसीलिए वह वास्तविक रस नहीं है, रसाभास है। यह जो एक शुद्ध स्वप्रकाश रस का आस्वाद है उसकी भी फिर दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था चिरस्थायी है, उसमें प्रवेश करने पर फिर उतरा नहीं जाता; दूसरी अवस्था स्थायी होने पर भी काल से अवच्छिन्न है, वहाँ से व्युत्थान के संस्कार की प्रबलता से उतरना पड़ता है। दोनों ही स्वच्छ और उज्ज्वल हैं, वस्तुतः दोनों ही एक हैं। पर एक चाञ्चल्य अथवा मालिन्य की सम्भावना से रहित है और दूसरे में उसकी सम्भावना है।

एक में व्युत्थान-संस्कार तथा निरोध-संस्कार नहीं है अथवा चिरनिद्रित है और दूसरे में वह है। किन्तु आस्वादन में कोई तारतम्य नहीं है।

इसलिए जब एक खण्ड-सौन्दर्य को देखकर हम उसका सम्भोग करते हैं तब पहले वह विक्षिप्त वृत्ति का आस्वादन है। यह एक विशिष्ट (Unique) सौन्दर्य का ही आस्वादन है सही, किन्तु वह आस्वादन निर्मल नहीं है, इसलिए गम्भीर नहीं है। उस आस्वादन से हम आत्मविस्मृत नहीं होते हैं। क्रम से जब वृत्ति स्थिर होने लगती है अर्थात् जब वृत्ति अपने क्षेत्र से विषयान्तर को डुबा देती है अथवा हटा देती है, केवल उस एकमात्र खण्ड-सौन्दर्य को ही प्रकाशित करती है; अर्थात् वृत्ति जब सब विषयों की उसी एक सौन्दर्य में आहुति देकर उसी एक को लेकर मिश्रितभाव से प्रकटित होती है। उस समय का आस्वादन कुछ नया आस्वादन नहीं है। वह उस विक्षिप्त अवस्था का आस्वादन ही है; दोनों में qualitative कोई भेद नहीं है, पर वह इस समय निर्मल है और इसी कारण अत्यन्त गम्भीर है। यही एकाग्र भूमि की प्रज्ञा है। यहाँ रस का स्फुरण होता है—रससामान्य के अङ्क में एक विशिष्ट रस-व्यक्ति प्रकट होती है। इस अवस्था में वह खण्ड-सौन्दर्य अपने आलोक से अपने-आप प्रकाशित होता है। भोक्ता और भोग्य मानों स्वसंवेद्यमान सम्भोग में एकाकार होकर स्थित होते हैं।

किन्तु, इस अवस्था में चिरकाल तक स्थिति नहीं होती। भाव का नशा हट जाने पर ही पूर्व अवस्था लौट आती है—योग के बाद फिर वियोग होता है—मिलन के अन्त में विरह जागता है। किन्तु जिस कारण से इस योग का भङ्ग होता है वह योगावस्था में भी अव्यक्त रूप से वर्त्तमान रहता है। मिलन के अङ्क में विरह इसी प्रकार छिपा रहता है।

"दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया

अर्थात् वियोग की भावना कर, दोनों की गोद में दोनों रोते हैं। इसको हम संस्कार कहें चाहे और कुछ कहें, उससे कुछ आता-जाता नहीं। किन्तु यदि यह संस्कार कट जाय तो फिर वह योग हटता नहीं।

इसलिए विशिष्ट रसस्फूर्त्ति की शुद्धावस्था भी कालातीत और कालावच्छिन्न भेद से दो प्रकार की है। जिस उपाय से काल का अतिक्रम किया जाता है, सदा रहनेवाली स्थिति प्राप्त की जाती है, उस उपाय के सफल होने पर ही वह विशिष्ट निर्मल रसास्वाद भी अबाधित रहेगा। किन्तु उसकी आलोचना का यह स्थान नहीं है। पर रससामान्य रसविशेष का बाधक नहीं है, यह हम आगे चलकर कहेंगे। क्योंकि, सामान्य 'विशेष का' विरोधी नहीं होता—विशेष में भी सामान्य जुटा रहता है।

यहाँ हमें एक बात की मीमांसा करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। कोई-कोई कह सकते हैं कि रस में विशिष्टता आरोपित भेद है, स्वगत भेद नहीं है। रस एक ही है, केवल उपाधि के भेद से उसमें आगन्तुक भेद की प्रतीति होती है। हमें यह यथार्थ सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता। रस एक है, यह बात सत्य है, उसमें सजातीय अथवा विजातीय भेद की बात तो दूर रही, स्वगत भेद तक नहीं है।

किन्तु रस बहुत हैं—यह कथन भी मिथ्या नहीं है। विभाव, अनुभाव आदि के वैचित्र्यवश रस विचित्र हैं। यह लौकिक दृष्टि के अनुसार है, यह कहना अनावश्यक है। किन्तु, यहाँ भी विभावादि तो मूल में रस के अंग हैं। घट के आकार से रहित घटज्ञान जैसे कल्पना-योग्य नहीं है, फिर भी अखण्ड ज्ञान निर्विषयक है, वैसे ही विभाव आदि से विरहित खण्ड-रस कल्पनीय नहीं है, फिर भी रस-सामान्य में विभाव आदि का अवकाश नहीं है। विक्षिप्त वृत्ति में भेदबोध परिस्फुट रहता है, वहाँ विभाव आदि पृथक् हैं—यह अवश्य ही मानना होगा। किन्तु जहाँ रसस्फूर्त्ति होती है, वहाँ भी विभावादि रहते हैं, पर वे अभिन्न रूप से रस के अंग प्रतीत होते हैं। यह विशिष्ट रस है। रस-सामान्य में अवश्य विभावादि का भान नहीं रहता, किन्तु विशिष्ट रस का बोध हुए बिना रस-सामान्य में नहीं पहुँचा जाता। जब विशिष्ट रस का स्फुरण होता है तब रस-सामान्य का भी स्फुरण होता है—अर्थात् रसस्फुरण में सामान्यांश और विशेषांश दोनों ही मिले हुए रहते हैं। उनमें विशेष अंश का निरोध होने पर सामान्य अंश रह जाता है। जैसे सुवर्ण और कुण्डल हैं। एक विशिष्ट आकार में ढाला गया सुवर्ण ही कुण्डल कहा जाता है। दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जब हम कुण्डल को देखते हैं तब सुवर्ण को भी देखते हैं, वैसे ही जब विशिष्ट रस का आस्वादन होता है तब सामान्य रस का भी आस्वादन होता है। सामान्य रस को ही विशेष अंशवश विशेष रस कहा जाता है। वह विशेष अंश यदि न रहे अर्थात् विलीन हो जाय तो रस सामान्य ही रहता है। वह निर्विशेष निराकार है। जिस आकार के कारण सुवर्ण को हम कुण्डल कहते हैं, वह आकार यदि न रहे तो सुवर्ण जैसे सुवर्णमात्र है, निराकार सुवर्ण है, कुण्डल नहीं है। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा। सामान्य का आश्रयण करके ही विशेष का स्फुरण होता है, आधार का आश्रयण करके ही आधेय का स्फुरण होता है एवं उपादान का आश्रयण करके ही कार्य का स्फुरण होता है। किन्तु विपरीत मत सत्य नहीं है। क्योंकि विशेष-रहित सामान्य, आधेयहीन आधार और कार्यशून्य उपादान प्रतीत नहीं हो सकते। उस जगह अपेक्षा-बुद्धि न रहने के कारण सामान्य, आधार और उपादान इस आकार से ज्ञान नहीं होता। किन्तु वस्तु का ज्ञान अवश्य ही होता है। तब जानना होगा कि जिस विशेष के कारण एक रस नाना रस होता है, उस विशेष का स्वरूप क्या है ?

मान लीजिए यह विशेष ही उपाधि है। इसी के भेद से रस में भेद होता है। वर्त्तमान अवस्था में अर्थात् जब हम विक्षिप्त वृत्ति के अधीन हैं तब यह उपाधि, जो बाह्य और अनित्य है, अवश्य ही स्वीकार-योग्य है। वस्तुतः यह उपाधि बाह्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है। फलतः रस में नित्य ही अन्तरंगरूप से यह विशेष लगा है; इसलिए रस नित्य ही नाना, नित्य ही स्वभावतः ही परस्पर विलक्षण और विशिष्ट है, यह मानना होगा। अतएव रस एक है, सर्वत्र अनुस्यूत सामान्यभूत है, यह जैसे सत्य है वैसे ही रस अनन्त हैं, प्रत्येक रस विलक्षण और विशिष्ट है एवं यह विशेष स्वाभाविक है—किसी बाहरी कारण के सम्बन्ध से नहीं है, यह भी वैसे ही सत्य है। जहाँ रसास्वाद होता है वहाँ बाहुल्य और आनुपूर्व्य का सम्भव नहीं

है। वाह्य तवतक है जवतक भेद है, जवतक रस का उदय नहीं हुआ। किन्तु रस की अभिव्यक्ति होने पर फिर वाह्यत्व नहीं रहता ।

. यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह उपाधि अनित्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर है—जगत् की सभी वस्तुएँ उपाधिस्वरूप हैं। जिस दृष्टि में कोई भी वस्तु अनित्य या असत् नहीं है उस दृष्टि में इस प्रश्न का समाधान अपने-आप ही हो जाता है। हम आपाततः युक्ति द्वारा इसका समाधान करते हैं। असत् शब्द से किसकी प्रतीति होती है ? यही प्रतीति होती है कि जो रूप एक वार दृष्टिगोचर होता है, अभिव्यक्त होता है, ठीक वही रूप फिर दिखाई नहीं देता। प्रत्येक निमेष में इस प्रकार का परिवर्त्तन हो रहा है। किन्तु इसका तात्पर्य क्या है ? एक के वाद दूसरी—इस प्रकार अनन्त रूप-परम्परा अभिव्यक्त हो रही है अथवा जिसके द्वारा देखना होता है, वह चित्त क्रमशः भिन्न-भिन्न वृत्तियों में परिणत हो रहा है। वृत्ति के विना रूप की अभिव्यक्ति जैसे असम्भव वात है, रूप के विना शुद्ध वृत्ति भी वैसे ही असम्भव है। असल वात यह है कि यह विशिष्ट वृत्ति और विशिष्ट रूप परस्पर सापेक्ष हैं। इन्हीं का स्रोत चला है, इसको काल-स्रोत कहते हैं। हम विक्षिप्त अवस्था में हैं, इसलिए इस स्रोत को रोक नहीं सकते। किन्तु किसी उपाय से इस वह रहे स्रोत को यदि हम रोक सकें तो स्थैर्य आवेगा। अर्थात् वृत्ति के स्थिर होने पर रूप भी स्थिर होगा एवं रूप के स्थिर होने पर वृत्ति भी स्थिर होगी। इसलिए एकाग्र अवस्था में जिस रूप का भान होता है, वह रूप चंचल या परिवर्त्तनशील नहीं है। जवतक चित्त की एकाग्र अवस्था रहेगी तवतक उस स्थिर वृत्ति के सामने वह रूप भी स्थिरभाव से प्रकाशमान रहेगा। यदि यह एकाग्र अवस्था इच्छानुसार स्थायी रह जाय, जो मलिन प्रकृति के ऊर्ध्व में हो सकती है, तो रूप का प्रकाशकाल स्वायत्त हो जाता है। मान लीजिए कि एक गुलाब के फूल का अवलम्वन कर यदि हमारी प्रज्ञा का उदय हो एवं यह एकाग्र समाधि यदि एक हजार वर्ष तक न टूटे तो ठीक हजार वर्ष तक ही उस गुलाव का प्रकाश रहेगा। विक्षिप्त चित्त के निकट जगत् के करोड़ों परिवर्त्तन संघटित होने पर भी स्थिर चित्त के निकट वही एकमात्र रूप प्रकाशमान रहेगा। अवश्य यह समाधि टूट सकती है। किन्तु उसका हेतु यह है कि उसके टूटने का कारण चित्त में है। जव वह वीज नहीं रहेगा अर्थात् जव रज और तम हट जायँगे, जब सत्त्व विशुद्ध होगा, तब यह समाधि सदा स्थायी अथवा इच्छानुसार रहनेवाली होगी। जगत् के सभी रूप एक-एक खण्ड प्रकाशात्मक हैं, जो महाप्रकाश के विशिष्ट विलास हैं। आज यदि समाधि टूट जाने से अथवा अपनी इच्छा से उस रूप का तिरोधान हो जाय तो फिर ठीक उसी को उद्भासित किया जा सकता है; क्योंकि तिरोहित होने पर भी वह कभी भी महाप्रकाश के निकट तिरोहित नहीं होता, हो भी नहीं सकता, अव्यक्त होता है सिर्फ वृत्तिज्ञान के निकट। यदि यह सत्य है तो सभी रूप नित्य हैं, वस्तुमात्र ही सर्वदा सत्य है। फिर जिस अवस्था में वह रूप इच्छानुसार प्रकाशमान रहता है तब उस अवस्था में वह वाह्य नहीं है, प्रकाश के ही अन्तरङ्ग अर्थात् अनन्य रूप से स्थित है।

अतएव उपाधि जब नित्य ही अन्तरङ्गरूप से प्रकाशमान है, तब अनन्त विशिष्ट रस परमार्थतः सदा ही हैं—अभिव्यक्त रूप से ही हैं, यह स्वीकार करना होगा। रसमात्र ही नित्य सिद्ध है, कदापि साध्य नहीं है। पर वृत्ति के अधीन होने के कारण हम उसे अव्यक्त मानते हैं। अभिव्यञ्जक सामग्री आवरण को हटाकर नित्य सिद्ध रस का ही उद्‌बोधन करती है एवं उद्‌बोधन के समय अभिव्यञ्जक भी रस के अन्तर्गत हो जाता है।

इसलिए मानना होगा कि विशिष्ट रस प्रकार और संख्या में सदा ही अनन्त हैं, किन्तु अनन्त होने पर भी इसकी स्थिति दो प्रकार की है। कभी रस-सामान्य में विशेष अन्तर्लीन रूप से शक्तिरूप में रहता है और कभी परिस्फुट रूप में रहता है।

प्रथम शङ्का का समाधान एक प्रकार से हो गया। जिनका यह मत है कि रसमात्र ही विशेषरूप है, सामान्य रस हो नहीं सकता, उनका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। सामान्य के न रहने पर विशेष रह ही नहीं सकता, यह बात हम पहले कह चुके हैं। विशेष अवस्था में जब आस्वादन होता है, तब सामान्य अवस्था को रस नहीं है, नहीं कहा जा सकता। पर साधारणतः हमारे लिए उस रस की धारणा करना कठिन होता है।

इससे ज्ञात हुआ कि रस यद्यपि एक है, फिर भी उसमें अनन्त वैचित्र्यों की शक्ति है एवं यह शक्ति कभी-कभी प्रस्फुट होती है। जिसके बल से रस अपनी वैचित्र्य-शक्ति को प्रस्फुटित करता है अथवा प्रस्फुटित वैचित्र्य को अपने में लीन करता है, वही उसका स्वातन्त्र्य है। यह शक्ति अथवा उपाधि ही रस की देह है। यह सूक्ष्म रूप से रस में चाहे लीन रहे अथवा स्थूलरूप से विकसित रहे, सदा ही है। इस देह के साथ रस का अभेद सम्बन्ध है। प्राकृत जगत् में जैसे देह और देही भिन्न हैं, यहाँ वैसा नहीं है।

यह तो हुई शुद्धावस्था की बात। हमलोगों के इन्द्रियगोचर जगत् में भी ठीक इसीके अनुरूप अवस्था है। ये जो अनन्त वैचित्र्य हमें दिखाई देते हैं, इनमें प्रत्येक का अर्थ है। एक-एक मुख का जो भाव है, केवल मुख का ही भाव क्यों, प्रत्येक मनुष्य—प्रत्येक पशुपक्षी, प्रत्येक वृक्ष, लता एक-एक विशेष भाव या रस का विकास अर्थात् स्थूलरूप में प्रकाश है। पर यह अमिश्र नहीं, केवल यही बात है। किसी मनुष्य का चेहरा वैसा न होकर अन्य प्रकार का क्यों नहीं हुआ? हो नहीं सकता, यही उसका उत्तर है। प्रत्येक मनुष्य जब भाव का विकास है तब भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार आकृति का वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। आकृति तो भाव की ही देह है, इसलिए भाव से अभिन्न है। चरम परमार्थ दृष्टि से यदि देखा जाय तो एक देह में एक विशिष्ट भाव का ही विकास होता है, अन्य भावों का नहीं होता। जितने भाव उतनी देह। एक भाव का अवलम्बन कर बहुत भाव प्रकाशित नहीं हो सकते। पर एक देह के बहुत विलास हो सकते हैं—एक हिसाब से उसमें भी भाववैचित्र्य सम्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक और बात ध्यान में रखनी होगी। प्रत्येक जीव का एक अपना रूप है—उसे विनश्वर पदार्थ की तरह कल्पित रूप मानने का कोई कारण नहीं है। सब कल्पनाओं का उपराम होने पर भी वह रहता है। यह रूप केवल उसी

का रूप है, दूसरे का नहीं। इसके अतिरिक्त उसका और एक रूप है, वह समान रूप से सभी जीवों का है और ईश्वर का भी है; इस दृष्टि से वे सभी जीव ईश्वर से अभिन्न हैं। पहला रूप उसका विशेष (Individual) रूप है और दूसरा सामान्य (Universal) रूप है। अर्थात् निर्विशेषभाव से देखने पर जैसे सब जीव एक हैं एवं जीव और भगवान् अभिन्न हैं, सविशेष भाव से देखने पर वैसे ही प्रत्येक जीव भिन्न है एवं जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में तथा जीव और जीवान्तर में यह भेदाभेद नित्य ही है। भेद जब अनन्त और अभेद जब एक है एवं दोनों ही जब नित्य हैं, तब यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भेद से अभेद की ओर अथवा भेद की ओर दृष्टि अथवा भाव भी अनन्त प्रकार के हैं। अर्थात् एक जीव भगवान् अथवा जगत् को जिस दृष्टि से देखता है, जिस भाव से जानता है, दूसरा जीव ठीक वैसा नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव का दृष्टिकोण स्वभावतः भिन्न है। इसलिए भगवान् के साथ एवं उन्हीं के अंश जीव के साथ प्रत्येक जीव का अपना एक विलक्षण सम्बन्ध है। भगवान् का भी वैसे ही प्रत्येक जीव के साथ एक विशिष्ट भावमय सम्बन्ध है।

इस परस्पर सम्बन्ध का आविष्कार ही रस-साधना की पहली सीढ़ी है। सौन्दर्य-तत्त्व की साधना तभी यथार्थ में सिद्ध हुई है, कहा जा सकता है जबकि पूर्वोक्त प्रकार से रस-साक्षात्कार हुआ हो। जीव शुद्ध चित्शक्ति, तटस्थ होने पर भी वैशिष्ट्ययुक्त और दर्पण के तुल्य स्वच्छ है; उसके ऊपर अनन्त प्रकार के सौन्दर्यों की छाया पड़ने के कारण ही अनन्त प्रकार के विशिष्ट रसों का आस्वादन होता है। ये अनन्त रस अनन्त प्रकार के हैं; क्योंकि जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक दृष्टि-केन्द्र से सौन्दर्य के आभास अनन्त हैं, दृष्टिकेन्द्रों के अनन्त होने से प्रत्येक आभास भी अनन्त है।

यह जो जीव के विशेष और सामान्य रूपों की बात कही गई है, इनमें एक का त्याग कर दूसरा रह नहीं सकता। जहाँ विशेष रूप अभिव्यक्ति रहता है वहाँ भी अव्यक्तरूप से सामान्य रूप रहता है तथा सामान्य रूप की अभिव्यक्ति के समय भी अस्फुटभाव से विशेष रूप रहता है। अतएव भेद जैसे अभेद से जुटा है, अभेद भी वैसे ही भेद से जुटा है। दोनों में नित्य सम्बन्ध है। भेदावस्था में भी अभेद विद्यमान रहता है, पर अभिभूत रहने से उसकी केवल उपलब्धि नहीं होती। अभेदावस्था में भेद के अस्तित्व का भी उसी प्रकार अवश्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः इनमें एक भी साम्यभाव नहीं है। साम्यभाव जीवभाव नहीं है, ईश्वरभाव भी नहीं है, भेद अथवा नानात्व नहीं, अभेद या एकत्व भी नहीं है। यह समानकाल में भेद और अभेद समानरूप से दोनों ही है, फिर भी दोनों के ही अतीत है। जालन्धरनाथ की एक उक्ति का इस प्रसङ्ग में स्मरण होता है—

"द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शङ्करं वा।"

—अर्थात् परमार्थ तत्त्व द्वैत भी है, अद्वैत भी है; फिर वस्तुतः वह द्वैताद्वैत विकल्प के अतीत है।

पूर्णरसस्फूर्ति के स्वरूप की आलोचना के प्रसङ्ग में यही बात ध्यान में रखनी होगी। इस साम्यभाव में खड़े हुए बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ खड़े

होने पर सभी कुछ सुन्दर दिखाई देता है, सब कुछ भला लगता है, सभी के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि सब कुछ हमारा ही रूप है। उस अवस्था में उसको 'मैं' कहें चाहे 'तुम' कहें, उसमें कुछ क्षति नहीं होती। 'मैं' और 'तुम' दोनों ही शब्द उस अवस्था में एक ही वस्तु के वाचक हैं। औपनिषदगण उसको आत्माराम अवस्था कहते हैं, भक्तगण उसे पराभक्ति कहते हैं—स्वरूपतः दोनों में कोई भेद नहीं है। प्रह्लाद ने कहा है :

"नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः।"

पहले प्रह्लाद ने 'त्वम्' कहकर नमस्कार किया, फिर प्रत्यगात्मभाव के स्फुरण की ओर लक्ष्य कर 'अहम्' कहकर नमस्कार किया। उसके बाद जब उन्होंने देखा, जो 'त्वम्' है वही 'अहम्' है, इसलिए 'त्वम्' और 'अहम्' एकत्र जुटाकर कहे। जहाँ 'त्वम्' और 'अहम्' का साम्यभाव उपलब्ध हुआ है, वहाँ 'त्वम्' कहने से 'अहम्' की प्रतीति होती है और 'अहम्' कहने पर भी 'त्वम्' प्रतीत होता है। एक ही पदार्थ के दो नाम हैं 'त्वम्' और 'अहम्'।

सूफी-सम्प्रदाय के सिद्ध कवि हल्लाज ने कहा है :

I am He whom I love, He whom I love is I;
We are *two* spirits dwelling in *one* body.

यह वही उपनिषद् में कही गई एक वृक्ष में बैठे दो पक्षियों की कथा है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषष्वजाते।"

पक्षान्तर में जिलि ने कहा है :

We are the spirit of *one*, Though we dwell by turns in *two* bodies.

जलालुद्दीन रूमी ने भी प्रकारान्तर से वही भाव प्रकट किया है :

Happy the moment when we are Seated thou and I;
With *two* forms and with two figures, but with one soul, thou and I.

जीव और ईश्वर के भेदाभेद के सम्बन्ध में इसकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट निर्देश और क्या हो सकता है ?

जिसने इस प्रकार से आरोहण किया है वह अपने रूप में आप ही विभोर है। किसी एक भक्त ने पूर्ण सौन्दर्य के अपार समुद्र में डूबने के बाद उस अवस्था की स्मृति का अनुसरण कर गाया था :

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम्।
अवाक् च निःस्पन्दतमो विमूढः कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव॥

यहाँ तुम भाव का अवलम्बन कर भक्त का हृदय उच्छ्वसित हो उठा है। किसी का फिर 'मैं' भाव प्रधान रूप से फूट उठता है।

साधारण मनुष्य के जीवन में भी ऐसा शुभ मुहूर्त्त कभी-कभी आता है, जब वह अपना खण्ड 'मैं' या परिच्छिन्न 'अहम्' का अतिक्रमण कर पूर्णाहन्ता के आभास को मानों कुछ परिमाण में प्राप्त होता है। तब जगत् की सब वस्तुओं की ओर यहाँ तक कि अपने रूप की ओर भी वह विस्मयविमुग्ध नेत्रों से दृष्टिपात करता है, तब उसके नेत्रों के सामने सब कुछ एक ही अपूर्व सुषमा से अलंकृत-सा प्रतीत होता है। तब "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।" होता है, तब सभी—तुम, मैं और जगत् अर्थात् सभी—पदार्थ मधुमय प्रतीत होते हैं। तब मालूम पड़ता है सुख और दुःख आनन्द से भरे हैं, निन्दा और स्तुति माधुर्यपूर्ण हैं एवं भला-बुरा एकाकार हैं। तब अन्दर और बाहर एक-एक तान मधुर स्रोत बहने लगता है। एक असीम अनन्त माधुर्यसागर अपने उज्ज्वल प्रकाश में स्वयं अपने निकट प्रकाशमान हो उठता है। कभी उसमें तरंगें रहती हैं और कभी नहीं रहतीं अथवा समान काल में तरंगें और स्थिरता दोनों ही रहती हैं, किन्तु माधुरी में कमी नहीं आती। यही पूर्ण रसबोध की अवस्था है। यहाँ मिलन में आनन्द है और विरह में भी आनन्द है, हँसने में भी माधुर्य है और रोने में भी माधुर्य है।

जो मैं हूँ वही तुम हो, फिर जो तुम हो वही जगत् है, इसलिए जिसे आत्म-प्रेम कहते हैं, उसी का दूसरा पहलू भगवत्प्रेम है वैसे ही भगवत्प्रेम की दूसरी दिशा जीव और जगत् के प्रति प्रेम है। मूल वस्तु एक और अद्वितीय है।

एक ही पुरुष उत्तम, मध्यम और प्रथम भेद में केवल कल्पित हुआ है। पूर्ण रस का उद्‌बोध होने पर इस एक और अखण्ड प्रेम का विकास होता है।

किन्तु भेददृष्टि से जीव, जगत् और भगवान् का स्वरूपगत परस्पर वैलक्षण्य भी तो है। पूर्ण रस के आस्वादन के समय वह भी अवश्य ही प्रकटित होता है। अन्यथा आस्वादन की पूर्णता असिद्ध रह जाती है।

अतएव यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक जीव रसानुभूति के समय ऐसी एक अवस्था में स्थित होता है, जहाँ वह जिस आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा जीव भी रसानुभव के समय वही करता है; क्योंकि तब वह भी जैसे पूर्ण 'मैं' है; अन्य जीव भी वही है; इसलिए आस्वादनकर्त्ता वस्तुतः एक ही है। यह आनन्द ही नित्य-सिद्ध ब्रह्मानन्द है। किन्तु केवल इतना कहने से ही तो चलेगा नहीं। प्रत्येक जीव का स्वभाव जब विलक्षण है, तब एक जीव जिस विशिष्ट आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा कोई जीव उसका आस्वादन नहीं कर सकता, यह मानना ही पड़ेगा। इस आस्वादन के प्रकार अनन्त हैं, सम्भावनीयताएँ अपरिमित हैं। इसीलिए कालातीत ऐक्य अथवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर भी प्रत्येक जीव की आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना कभी न्यून नहीं होती। एक स्थिर आनन्द के वक्ष में नित्य-नूतन विचित्र आनन्द का स्फुरण होता है—ब्रह्मानन्द के समुद्रवक्ष में यही तो नित्य लीला की लहरमाला है। इस विशिष्ट आनन्द की दिशा से ही भगवान् के साथ जीव का गुप्त सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

इस सम्बन्ध का आविष्कार कर विशिष्ट रस के आस्वादन में ही रससाधन की सार्थकता है। रसज्ञ सामाजिकगण इसी कारण निर्विशेष सामान्यात्मक ब्रह्मानन्द-लाभ को रसचर्चा का चरमफल नहीं मानते। स्वायम्भुव आगम में कहा —

"ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णवः।
तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्दो रसः॥"

ब्रह्मानन्दरस में माधुर्य नहीं है, यहाँ तक कि वैष्णव-रस में अर्थात् वैकुण्ठाधिपति परमात्मानन्दरूप रस में भी, शान्त और दास्य के ऊपर गति न होने के कारण, माधुर्य की सम्भावना नहीं है। माधुर्य एकमात्र भगवदानन्दरस में ही है। सख्य और वात्सल्य का अतिक्रम कर उज्ज्वल रस में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। अतएव सविशेष भगवद्भाव में आरूढ़ हुए विना पूर्णभाव से रस का आस्वादन नहीं हो सकता।

प्रत्येक व्यक्ति के साथ ही सामान्य का एक निगूढ़ और आन्तरिक सम्बन्ध है। व्यक्ति सामान्य को सामान्यरूप में पाकर तृप्त नहीं होता। वह उसका अपने विशिष्ट भाव से अनन्त काल तक सम्भोग करने की इच्छा करता है। जब कर सकता है तभी वह यथार्थ रसिक होता है, उससे पहले नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के साथ सामान्य का यह मिलन अति गुप्त स्थान में संघटित होता है—उस निर्जन कुञ्ज में अन्य किसी के भी प्रवेश का अधिकार नहीं; क्योंकि वहाँ सामान्य सिर्फ उसी व्यक्ति का है, अन्य व्यक्ति का नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति ही सामान्य को कह सकता है—'तुम मेरे ही हो—केवल मेरे ही हो', यह वात सत्य है। फिर, यह वात भी सत्य है कि सामान्य सभी व्यक्तियों का समान धन है, किसी का भी निजस्व (स्वधन) नहीं है। श्रीकृष्ण राधावल्लभ हैं, यह जैसे सत्य है, फिर वे गोपी-मात्र के ही वल्लभ हैं, यह भी वैसे ही सत्य है। पर इसमें एक रहस्य है। जिस गुप्त स्वधाम में श्रीकृष्ण सिर्फ एक जन के हैं, जबतक ठीक उस स्थान में न पहुँचा जा सके, तवतक 'तुम मेरे हो'—यह कहना तो वनता है, किन्तु 'केवल मेरे ही हो'—यह कहना नहीं वनता। उसी स्वभाव का नाम राधाभाव है। जो गोपी उस महाभावमय स्वभाव में प्रतिष्ठित है, वही राधा है।

हमने पूर्ण रसास्वाद का थोड़ा-सा दिग्दर्शन किया। अभिनवगुप्ताचार्य ने रस का जो स्वरूप दिखलाया है, उसमें केवल रसतत्त्व का मूल सूत्रमात्र आविष्कृत हुआ है। रस नित्य वस्तु है—आस्वाद्यमान न होने पर जब रस पद की सार्थकता नहीं है तब वह नित्य ही आस्वाद्यमान है। किन्तु आस्वादन करता है कौन? जहाँ भोग्य नित्य है और भोग भी नित्य है, वहाँ भोक्ता भी अवश्य ही नित्य है—यह सहज में ही जाना जा सकता है। इसलिए यह भोक्ता 'खण्ड मैं' नहीं है, जो मैं देश और काल से परिच्छिन्न है, मलिन सत्त्व से उपहित है, वह मैं नहीं, जो मैं देह से सम्बद्ध होने के कारण जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख के अधीन है वह मैं नहीं, जो मैं प्राकृतिक नियम की हथकड़ियों से बँधा है एवं अनादि कर्म-संस्कारों के वशीभूत है, वह मैं नहीं; किन्तु पूर्ण अपरिच्छिन्न, निर्मल और नित्य मैं है। यह 'पूर्ण अहम्' देश और काल के अतीत है, प्राकृतिक देह से रहित है, जागतिक नियमों के ऊपर स्वाधीन भाव से नित्य विराजमान है। इसके जन्म-मरण नहीं, सुख-दुःख नहीं तथा

वासना कामना नहीं हैं। यह पूर्ण मैं ही रस का आस्वादयिता है, भोक्ता है। किन्तु भोक्ता, भोग्य और भोग वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं—रसस्फूर्ति के समय इनका पृथक् भाग नहीं रहता। यदि रहे तो रस का स्फुरण नहीं हो सकता। "भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।" पर जो भोक्ता, भोग्य आदि का प्रयोग किया जाता है, वह केवल अलौकिक त्रिपुटी के अनुरोध से किया जाता है। पानक रस के तुल्य भोक्ता आदि तीन पदार्थ अनेक होकर भी एकरूप हैं। इसलिए अभिनवगुप्ताचार्य का सारभूत सिद्धान्त यह है कि पूर्ण मैं ही निरन्तर अपना आप ही आस्वादन कर रहे हैं। यह आस्वादन अथवा चर्वण केवल शुद्ध ज्ञान-मात्र (cognition) नहीं है—सांख्य के पुरुष जैसे प्रकृति का निर्लिप्त और उदासीन दृष्टि से पृथक् रूप में साक्षिभाव से दूर से अवलोकन-मात्र करते हैं[1] वैसा नहीं है—यह भावमय अनुभूति (feeling) है। इसलिए रस जब भाव की गाढ़ और अभिव्यक्त अवस्था-मात्र है तब वह शुष्क ज्ञानमात्र नहीं, यह सुख से जाना जा सकता है। अर्थात् रसतत्त्व आनन्दरूप है, केवल चिदात्मक नहीं है।[2] इसीलिए आचार्य ने रसानुभूति को सविकल्पक और निर्विकल्पक—इन दो विरुद्ध कोटियों से पृथक् बतलाया है; क्योंकि सविकल्पक आदि भेद ज्ञानगत हैं, भावगत नहीं हैं।

रस ही आनन्द और रस ही प्रेम है। यह भगवान् की अंशभूत ह्लादिनी शक्ति का सारांश है। इसीलिए वैष्णवाचार्यगणों ने प्रेम की 'आनन्दचिन्मय रस' कहकर व्याख्या की है।

प्रेम का जो आलम्बन है, वह इस प्रेम से नित्य ही संलग्न है। रसस्फूर्ति के समय अलौकिक त्रिपुटी की सत्ता के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकेगा। आलम्बन आश्रय और विषय-भेद से दो प्रकार का है। यहाँ आश्रयालम्बन अथवा भोक्ता के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। किन्तु प्रेम का विषयालम्बन सौन्दर्य है, अर्थात् जो अच्छा लगता है अथवा जिसे हम प्यार करते हैं वही सौन्दर्य है एवं यह भला लगना ही प्रेम है। अतएव मूलतः प्रेम और सौन्दर्य अभिन्न होने पर भी रसस्फुरण की दृष्टि से दोनों नित्य सम्बद्ध हैं।

हम साधारण अवस्था में भी इस तत्त्व का थोड़ा परिचय पाते हैं। कवि ने कहा है:

"भावेर अञ्जन माखि जे दिके पालटि आँखि
नेहारि जगत् एइ असीम सुन्दर।"

अर्थात् हृदय में प्यार रहने पर चक्षु के उसी राग से रञ्जित होने पर सर्वत्र ही सौन्दर्य

---

१. प्रकृतिं पश्यति पुरुषः स्वस्थः प्रेक्षकवदुदासीनः।

२. 'केवल चिदात्मक नहीं' यह कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्योक्त कैवल्य रसपदवाच्य नहीं है। पुरुष चित्स्वरूप है—यह स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है। यह आनन्दात्मक अवस्था नहीं है। इसलिए वैदान्तिक और वैष्णवाचार्यगण इस अवस्था को परम पुरुषार्थ नहीं मानते। यहाँ भी वास्तव में आवरण की सत्ता है। जब यह आवरण हटेगा, जब चित्तत्त्व आबधित होगा, तभी आनन्द का प्रकाश होगा; क्योंकि अबाधित आत्मविश्रान्त चैतन्य ही आनन्द का स्वरूप है।

दिखलाई देता है, अन्वेषण कर उसे बाहर निकालना नहीं पड़ता। प्यार ही सौन्दर्य को प्रकट करता है। जिसको जो प्यार करता है, उसको इसीलिए वह सुन्दर देखे विना रह नहीं सकता। इसीलिए स्नेहमयी जननी की दृष्टि में अपना काना बालक भी कमलनयन मालूम पड़ता है। फिर, जहाँ सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रेम अपने-आप जाग उठता है। दोनों ही पक्ष बीज और अंकुर के तुल्य परस्पर सम्बद्ध हैं। रसानुभूति जब भोक्ता की ओर से स्फुरित होती है तब प्रथम पक्ष एवं जब भोग्य की ओर से जागती है तब द्वितीय पक्ष सार्थक समझा जाता है। यह अनुभूति किसकी किस ओर से कब जागती है—यह कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः दोनों ही पक्ष समान रूप से सत्य हैं। अर्थात् प्रेम और सौन्दर्य दोनों में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। कौन पहले है और कौन बाद में है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

हम इन दोनों दिशाओं से विषय की थोड़ी आलोचना करेंगे। सभी देशों और सभी कालों में विद्वानों ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है। शकुन्तला के—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्य्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

इस श्लोक में कालिदास ने इसी तत्त्व को इंगित किया है। रूप, रस, गन्ध आदि की रमणीयता कहने पर सौन्दर्य की ही प्रतीति होती है। कालिदास कहते हैं, इस सौन्दर्य के दर्शन से चित्त में प्रेम की अथवा सौहृद की स्मृति जाग उठती है। भले ही वह स्मृति अस्पष्ट हो, भले ही अबुद्धिपूर्वक हो एवं भले ही वह प्यार "भाव स्थिर" हो तथापि वह प्रेम की ही स्मृति है न। किन्तु जिनको अनुभव नहीं हुआ, उनको तो स्मरण होता नहीं, इसलिए मानना होगा कि हमने सौन्दर्य को ही प्यार किया था। अन्यथा सौन्दर्य देखने पर प्रेम की स्मृति जागती नहीं।

सौन्दर्य और सुन्दर, प्रेम और प्रेमिक एक ही हैं। धर्म और धर्मी में स्वरूपगत कोई भेद नहीं है। जो ज्ञाता है वही ज्ञान है, जो आनन्दमय है वही आनन्द है, जो चेतन है वही चैतन्य है, फिर विषय भी वही है।

फिर भी ज्ञानांश में बहुत्व का आरोप होता है, ज्ञाता एक ही रहता है। जैसे उपाधि के भेद से सौन्दर्य अनन्त होने पर भी सुन्दर एक ही है, वैसे ही उपाधिभेद से प्रेम अनन्त होने पर भी प्रेमिक एक ही है, यह सत्य है।

प्रेमिक मानो 'मैं' हूँ और सुन्दर मानो 'तुम' हो। जगत् के जितने सौन्दर्य हैं, सभी जब एक हैं तब एकमात्र अद्वितीय सुन्दर तुम हो। सभी प्रेम जब मूल में एक हैं, तब एकमात्र अद्वितीय प्रेमिक 'मैं' हूँ। तुम्हारा अनन्त सौन्दर्य, मेरा अनन्त प्रेम—प्रकार में अनन्त, काल में अनन्त, देश में अनन्त, वैचित्र्य में अनन्त—है, इसी से तुममें

मुझमें नित्य लीला है। अवश्य इस लीला की स्फूर्त्ति तब हो सकती है जब तुम और मैं दोनों स्वरूप में सजग रहें[1]।

इसलिए लीलाएँ अनन्त, धाम अनन्त और आस्वादन अनन्त हैं। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य चिर पुरातन होकर भी प्रत्येक क्षण में रसिकों के निकट नित्य नूतनरूप में भासित होता है। 'जनम अवधि हम रूप नेहारनु नयन न तिरपित भेल' देखकर भी देखने की आकांक्षा कभी निवृत्त नहीं होती।

प्रेम और सौन्दर्य जल-पिपासा और जल के साथ उपमेय हैं। सौन्दर्य को छोड़कर प्रेम का दूसरा कोई आलम्बन नहीं है। श्रद्धा अथवा निष्ठा का एकमात्र विषय जैसे सत्य है, ज्ञान का एकमात्र विषय जैसे मङ्गल अथवा निःश्रेयस है, प्रेम का एकमात्र विषय वैसे ही सौन्दर्य अथवा प्रेय है। यदि जगत् में जल नाम का कोई पदार्थ न रहता तो पिपासा भी न रहती; क्योंकि जल और पिपासा परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इसीलिए पिपासा की सत्ता ही जल की सत्ता को प्रमाणित करती है।

वस्तुतः पिपासा जल के अभाव को सूचित करती है अथवा सत्ता को सूचित करती है, यह यहाँ आलोचना का विषय नहीं है। प्यास विरह है, वह एक ओर जैसे मिलने की अस्पष्ट स्मृति की उद्दीपक है, दूसरी ओर वैसे ही मिलने की संघटक भी है। पिपासा शब्द का अर्थ क्या है? (क) 'मुझे जल चाहिए'—यह जो बोध है, उसमें जल क्या है, यह हमारे स्मृतिपथ में उदित होता है। उसी तरह स्मरण कर सकने पर इसी बोध से जल का आविर्भाव हो सकता है,—यह सृष्टि-रहस्य[2] है। एक हिसाब से स्पष्टता और अस्पष्टता के सिवा अनुभव और स्मृति में मूल में कोई भेद नहीं है। स्मृति वास्तव में अस्पष्ट अनुभव है और अनुभव स्पष्टीकृत स्मृति है। दोनों में कालगत भेद के सिवा और विशेष कोई भेद रह नहीं सकता। अतीत का आवरण हटाने पर वही वर्त्तमान है। वर्त्तमान में आरोप (आवरण) पहिनाने पर वही अतीत है। कालिक भेद कल्पनाजनित है। जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध में तीव्र इच्छा, व्याकुल आकांक्षा होने पर वह वस्तु सृष्ट होती है अथवा अभिव्यक्त होती है। स्मृति का अवलम्बन किये बिना इच्छा का उदय होना सम्भव नहीं। इच्छा का उदय होने पर प्राप्ति अवश्यम्भावी है। शीघ्र अथवा विलम्ब से यहाँ अथवा देशान्तर में प्राप्ति होगी—यह इच्छा की तीव्रता पर निर्भर है। उत्कट इच्छा होने पर देश और काल का कोई नियम नहीं रहता। इच्छा के साथ-ही-साथ उसकी पूर्णता सम्पादित होती है।

---

१. नाना भक्ते रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय॥
—चै० चरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद

श्रीभगवान् ही सब रसों के विषय और आश्रय हैं। इसलिए वस्तुतः भक्त और भगवान् अभिन्न हैं। लीलारस के आस्वादन के लिए इस अभेद में रूपभेद जाग उठता है।

२. इसीलिए आगमिकगण स्मृति की सब सिद्धियों के प्रदान में समर्थ चिन्तामणि के साथ तुलना करते हैं एवं उसे मन्त्र आदि की प्राणस्वरूप कहते हैं—"ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणिस्तद्विभवं व्यनक्ति।"

जहाँ पिपासा इस प्रकार तीव्र हो वहाँ जल तो पिपासा से अपने-आप प्रकट होगा। इसलिए वहाँ पिपासा जल की सत्ता की सूचक और आविष्कारक है। (ख) पक्षान्तर में 'पिपासा' शब्द से कण्ठशुष्कता आदि-वोध के अवसान की कामना प्रतीत होती है। इस स्थल में जललाभ की आशा नहीं; क्योंकि यहाँ जल तो इच्छा का विषय नहीं है। जो इच्छा का विषय है, वह है कण्ठशुष्कता की निवृत्ति। उसका बोध अस्पष्ट होने पर भी पिपासु को अवश्य ही है। शास्त्रीय भाषा में इसी का नाम दुःख-निवृत्ति अथवा शान्ति है। इस इच्छा से जल के विना ही पिपासा की निवृत्ति होती है। इस जगह पिपासा जल के भाव अथवा अभाव किसी को सूचित नहीं करती।

हम जिसको अभाव कहते हैं; वह वस्तुतः आंशिक आवरण-मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि में अभाव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। जो अभाव का प्रतियोगी है, अभाव-ज्ञान उसी की स्मृति से घटित है। इस स्मृति में भाव ही आलम्वन-स्वरूप है, इसलिए स्मृति की गाढता से अर्थात् अभाव-वोध की तीव्रता से भाव का उदय होता है। यह योगविज्ञान का एक गूढ तत्त्व है। आम का अभाव-वोध आम की स्मृति के विना जब नहीं होता एवं आम की स्मृति में जब सूक्ष्मरूप से आम ही आलम्बन है तब कहना पड़ेगा कि आम के अभाववोध के मूल में भी आम है। इसलिए तीव्र-भाव से उस वोध के उत्पन्न होने पर वह सूक्ष्म या अव्यक्त आम स्थूलरूप से, व्याव-हारिक रूप से अभिव्यक्त होगा। अतएव आम के अभाव के माने हैं आम का सूक्ष्म अस्तित्व, ऐकान्तिक अभाव नहीं। ऐकान्तिक अभाव प्रतियोगिनिरपेक्ष है, भाषा से उसका निर्देश नहीं हो सकता। चिन्ता-राज्य में भी उसका स्थान नहीं है। हम जिस अभाव शब्द का प्रयोग करते हैं, वह सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भावरूप में परिगणित होता है, किन्तु वह व्यवहार-योग्य भाव नहीं है। हमने अभाव को जो आंशिक आवरण कहा है, अब वह समझ में आ सकेगा।

पिपासा के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं, प्रेम के सम्बन्ध में भी ठीक वे ही सब बातें लागू होती हैं। यह आलोचना 'खण्ड मैं' अथवा परिच्छिन्न अहङ्कार की ओर से ही की जा रही है, यह कहना अनावश्यक है। जो जिस प्रकार का प्रेम चाहता है, जो जिस विशिष्ट सौन्दर्य को विषयरूप से प्राप्त करने की कामना करता है, उसके लिए वह अवश्य ही है। प्रेम तीव्र होने पर ही वह सौन्दर्य प्रकाशित होगा। अनन्त सौन्दर्य का भाण्डार अनन्त है। माँग सकने पर अर्थात् इस विषय का अनुसन्धान ठीक-ठीक होने पर भाण्डार खोला जा सकता है। इसलिए नरोत्तमदास ने कहा है, रागमार्ग की साधना का विशेषत्व केवल आकांक्षा करना है :

"भावना करिवे जाहा सिद्ध देहे पावे ताहा।" यह अति सत्य बात है।

हमने पहले जो कहा है उसी से काम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी जाना जा सकेगा। संस्कृत-साहित्य में जिस प्रकार कामदेव और रति में प्राकृत सौन्दर्य-कल्पना का चरम उत्कर्ष हुआ है, ग्रीक-साहित्य में भी उसी प्रकार है। कादम्बरी में कुसुमायुध का "त्रिभुवनाद्‌भुतरूपसम्भार" कहकर वर्णन किया गया है। केवल यही नहीं। काम 'रूपैकपक्षपाती' और 'नवयौवनसुलभ' कहा गया है। Venus,

Aphrodite, Adonis, Eros आदि के रूप-वर्णन की आलोचना करने पर प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में भी कामदेव के ही सौन्दर्य की कल्पना का उत्कर्ष हुआ है, यह विश्वास होता है। जिस किसी कारण से ही हो, सौन्दर्य काम का उद्दीपक है एवं काम सौन्दर्य का प्रकाशक है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। विद्वान् Remy de Gourmont ने अपने 'Culture des Idees' (१९००, पृ० १०३) ग्रन्थ में कहा है : "That which inclines to love seems beautiful; that which seems beautiful inclines to love. This intimate union of art and love is indeed the only explanation of Art. × × × × Art is the accomplice of love." अन्यान्य वैज्ञानिक पण्डितों ने भी इस विषय पर बहुत गवेषणा की है। पण्डित शान्तायन (G. Santayan) ने अपने 'The sense of Beauty' नामक ग्रन्थ में; ग्रोस (Gross) ने 'Der aesthetische Genuss' नामक ग्रन्थ में, कलिन स्काट ने 'Sex and Art' प्रवन्ध में (American Journal of Psychology, सप्तम भाग, २य संख्या, पृष्ठ २०६); ष्ट्राज (Stratz) ने अपनी 'Die Schonheit des Weiblichen Korpos' नामक पुस्तक में इस विषय की विशेष चर्चा की है। शान्तायन ने स्पष्ट अक्षरों में यौन-आकर्षण (Sexual attraction) का सौन्दर्यबोध (aesthetic contemplation) के अङ्गरूप से उल्लेख किया है। इनके मतानुसार विशिष्ट (Specific) यौनभाव (Sexual emotion) भी सौन्दर्यज्ञान के अन्तर्गत है। ग्रोस ने दिखलाया है कि यौनभाव और सौन्दर्य-ज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं। कामशास्त्र में भी इस विषय की आलोचना है। कामतत्त्व का स्फुरण हुए विना चेहरे का लावण्य खिलता नहीं, यह चिरप्रसिद्ध है।

वस्तुत: प्रेम और काम में स्वरूपत: कोई भेद नहीं है। एक ही रस दो रूपों से कहा जाता है। प्राचीन काल में दोनों नाम एक ही वस्तु के वाचक रूप से प्रसिद्ध थे।

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।"

श्रीकृष्ण का बीजमन्त्र कामबीज है और गायत्री कामगायत्री है। 'कामाद् गोप्य:' यह बात वहुत प्रसिद्ध है। जगत् के आदि दम्पती कामेश्वर-कामेश्वरी हैं, यह आगमशास्त्र में प्रसिद्ध है। आदि रस शृंगार कामात्मक है। इन सब स्थलों में 'काम' शब्द से प्रेम ही समझना चाहिए।

साधारणत: व्यवहार में काम और प्रेम का जो भेद दीख पड़ता है, जिसका अवलम्वन कर चैतन्य-चरितामृत में काम लोह और प्रेम सुवर्ण कहा गया है, उस भेद का कारण रस की शुद्धता या मलिनता है। बाहरी विषयों के उपराग से रस में मलिनता आती है। कविराज गोस्वामी ने कहा है कि आत्मेन्द्रियप्रीति की इच्छा काम है और कृष्णेन्द्रियप्रीति की इच्छा प्रेम है। इसमें भी वही तत्त्व प्रकटित हुआ है।

सारांश यह कि इस भेद को प्राचीन आचार्यगण भी जानते थे। गौडीय वैष्णवों ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है—श्रीकृष्ण अप्राकृत मदन हैं और कामदेव प्राकृत

मदन है। किन्तु मदन एक ही है। प्रकृति के ऊर्ध्व में अर्थात् रज और तम के सम्बन्ध से शून्य होने पर मदन श्रीकृष्ण हैं। ये 'कोटिकन्दर्पलावण्य', 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथ' हैं—ये ही आगम की ललिता अथवा 'सुन्दरी' हैं। महायोगी अथवा महाज्ञानी भी इस विश्वविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से विचलित हो उठते हैं।[१] कामदेव ने इन्हीं का कणमात्र सौन्दर्य पाकर त्रिभुवन को पागल बना रखा है। सौन्दर्य-लहरीकार ने कहा है :

"हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥"

सौन्दर्य एक ही है, वह अप्राकृत भाव से श्रीकृष्ण में और प्राकृत-भाव से कामदेव में है। अप्राकृत सौन्दर्य और अप्राकृत काम की समरसावस्था शुद्ध शृंगार है, प्राकृत सौन्दर्य और प्राकृत काम की साम्यावस्था मलिन शृंगार है। अतएव काम और सौन्दर्य रसस्फूर्त्ति-काल में नित्यमिलित रूप से ही प्रकाशमान होते हैं।

एक महासौन्दर्य की ही अनन्त कलाएँ अनन्त खण्ड-सौन्दर्य के रूप में नित्य प्रकाशमान होती हैं। ये सब शुद्ध कालातीत कलाएँ कालशक्ति के आश्रयण से मलिन और विनश्वर रूप में प्रकट होती हैं।

"अव्याहताः कलास्तस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादिषड्विकारात्मभावभेदस्य योनयः॥"

जगत् के सौन्दर्य को देखकर पूर्ण सौन्दर्य की स्मृति हृदय में जागने के कारण ही हृदय रो उठता है। एक भावुक कवि[२] ने इस प्रसंग में कहा है—"The youth sees the girl; it may be a chance face, a chance outline amidst the most banal surroundings. But it gives the cue. There is a memory, a confused reminiscence. The mortal figure without penetrates to the immortal figure within, and there rises into consciousness a shining form, glorious, not belonging to this world, but vibrating with the agelong life of humanity, and the memory of thousand love-dreams. The waking of this Vision intoxicates the man; it glows and burns within him; a goddess

---

१. शृङ्गाररस राजमयमूर्त्तिधर। अतएव आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर॥ चैतन्यचरितामृत मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद। श्रीभगवान् अपने सौन्दर्य से स्वयं भी मोहित हो पड़ते हैं ललितमाधव में लिखा है—अपरिकलिपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयान् माधुर्यपूरः। अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव पूर्ण सौन्दर्य का ऐसा ही आकर्षण है।

२. Edward Carpenter : 'The Art of Creation', p. 137.

(it may be Venus herself) stands in the sacred place of his temple; a sense of awestruck splendour fills him and the world is changed." देश और काल के बाहर इस पूर्ण सौन्दर्य का, साधारणत: और विशेषत:, हमने आस्वादन किया है। उसी की पुन: प्राप्ति की आकांक्षा से ऐन्द्रियक जगत् में हम विचरण कर रहे हैं। किन्तु यहाँ उसे पाने की सम्भावना नहीं है। यहाँ जो कुछ देखते हैं—जो सुनते हैं, मालूम पड़ता है, सभी मानों परिचित हैं, अति परिचित हैं, फिर भी इस परिचय के ऊपर एक पर्दा पड़ गया है। इन्द्रियाँ केवल आंशिक रूप और क्षणिक रूप से उस पर्दे को हटा देती हैं तभी चिर परिचित को 'यही है' यों अपनी पहचान देती हैं।

जो संसारसुख से सुखी हैं वे भी सौन्दर्य के मोहन करस्पर्श से व्याकुल हो उठते हैं, मानों किसी के विरह से व्याकुल और चंचल हों। वस्तुत: वे तब अनजाने में जन्मान्तर के सौहृद का स्मरण करते हैं। अनन्त प्रकार के अनन्त विशिष्ट भाव हृदय में स्थिर हैं। विभावादि के प्रभाव से उनमें कोई-न-कोई अकस्मात् रसरूप में जाग उठता है।

एक सौन्दर्य ही जब नाना सौन्दर्य है एवं वह मौलिक नाना सौन्दर्य ही जब जगत् में भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों के रूप में प्रकाशमान है, तब जगत् सौन्दर्यसार है, यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं, सभी रसमय हैं, किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब सुख और दु:ख के रूप में और सौन्दर्य सुन्दर और कुत्सित के रूप में विभक्त हो पड़ता है। काल का स्रोत वेग से बहता है एवं हमलोगों को बहा ले जाता है। तब श्रेय और प्रेय से विभाग होता है, नियम के जगत् में हम उतर पड़ते हैं, पाप और पुण्य का आविर्भाव होता है एवं राग और द्वेष की सम्भावना फूट उठती है।

जिस ओर ताकें, उसी ओर यदि हम सौन्दर्य न देख पावें, जिसको देखें उसी को यदि प्यार न कर सकें, तो रससाधना की सिद्धि नहीं हुई, यह जानना होगा। सौन्दर्य को खोजकर बाहर निकालना नहीं पड़ता, प्रेम का कोई हेतु नहीं है। पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम के साथ स्वाभाविक मिलन पुनः होने पर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ स्वाभाविक मिलन फूट उठता है। योग प्रतिष्ठित होता है। तब कोई भी पर नहीं रहता तथा कुछ भी कुत्सित नहीं रहता। मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य-साधना का यही यथार्थ परिणाम है।

अनादि सुषुप्ति और उसका भङ्ग

जीव का जागरण कब होता है, उसका कालनिर्देश नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब जीव पहले जाग उठता है, वस्तुतः उसके लिए उसी समय काल की गति शुरू होती है। जीव जब सुषुप्त रहते हैं तब काल की गति स्तम्भित-सी रहती है। काल उस समय रहने पर न रहने के समान है। निद्रा अथवा सुषुप्ति अनादि अथवा सादि भेद से दो प्रकार की है। आदि सृष्टि के प्रारम्भ में जीव प्रबुद्ध होकर अपने-अपने मार्ग में चलने लगता है। इस जागरण के पहले जीव जिस निद्रा में निद्रित रहा, उसका नाम है अनादि निद्रा; क्योंकि उस निद्रा से पहले जीव जागरण-अवस्था में था ही नहीं। सच कहा जाय तो उस निद्रा की पूर्व-अवस्था ही नहीं है। यदि उसकी पूर्वावस्था का स्वीकार किया जाय तो उसको अनादि निद्रा नहीं कहा जा सकेगा। प्रलय के अन्त में जो सृष्टि होती है वह है सादि निद्रा से जागरण। यह जागरण क्रम से होता है। आदि सृष्टि के पूर्व खण्डप्रलय या महाप्रलय कुछ नहीं था, फिर भी यदि 'प्रलय' शब्द का प्रयोग इस प्रसङ्ग में करना हो तो उसे अनादि निद्रा का ही नामान्तर समझना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाय तो 'आदि सृष्टि' शब्द की कोई सार्थकता नहीं रहेगी। जीवभाव के क्रम-विकास का प्रथम सूत्रपात आदि सृष्टि से ही होता है। अनादि सुषुप्ति-अवस्था में अनन्त जीव परस्पर अविभक्त अवस्था में लीन रहते हैं। अनादि सुषुप्ति के ऊर्ध्व में जहाँ जीव नित्य चैतन्य में विराजमान रहते हैं, वहीं से अव्यक्त रूप से सुषुप्ति में अनन्त जीवों की सूचना होती है। यह सुषुप्ति ही विश्वमातृका महामाया है। वही परमेश्वर-परमेश्वरी, शिव-शक्ति अथवा भगवान्-भगवती का नित्यमिलित अद्वय रूप है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य-बल से उनकी स्वरूपभूता शक्ति व्यक्त चैतन्य रूप में अपने को प्रकट करती है। चैतन्य के आत्म-प्रकाश से पहले शक्ति परमेश्वर के स्वरूप में गुप्त रहती है। उस समय एक ओर जैसे शक्ति के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती वैसे ही दूसरी ओर, परमेश्वर की भी आत्मोपलब्धि नहीं होती। शक्ति की अभिव्यक्ति के बिना परमेश्वर के नित्य-सिद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

इससे प्रतीत होता है कि शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—एक गुप्त और दूसरी प्रकट। जब शक्ति गुप्त रहती है; तब एकमात्र स्वरूप ही रहता है; परन्तु वह न रहने के तुल्य है। शक्ति रहने पर भी उसकी पृथक् सत्ता का अनुभव नहीं होता। शिव की स्वभावावस्था यही है। एक प्रकार से इसे जडत्व कहा जा सकता है। परन्तु शक्ति जब प्रकट रहती है, तब उसको चैतन्य कहा जाता है। इसके प्रभाव से ही सृष्टि आदि व्यापारों का स्फुरण होता है। शक्ति की प्रकट या चैतन्यात्मक अवस्था को आगम-वेत्ता परनाद कहते हैं। इस अवस्था में जड़ नहीं रहता, केवल चैतन्य ही चैतन्य

रहता है। परनाद या चैतन्य के प्रभाव से महामाया की सुप्त सत्ता जाग उठती है। महामाया की गति चैतन्य के प्रभाव से ही निरन्तर शक्ति के अधीन हो रही है। दृष्टि ही शक्ति है। क्षण-भेद से अनन्त दृष्टियाँ मानों उस महामाया-सत्ता में सुप्त अनन्त जीवों के रूप में विलीन रही हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो कहा जा सकता है, विलीन रही हैं। किन्तु दूसरी दृष्टि से अर्थात् लौकिक ज्ञान की दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि विलीन हो रही हैं। यह विलयभाव वस्तुतः अनादि निद्रा की ही एक अवस्था है। पहले जिस परनाद के विषय में कहा गया है, वही मानों विश्वगुरु भगवान् की पुकार है। उसी पुकार से विश्व-सृष्टि होती है।

परनाद के प्रभाव से महामाया या बिन्दु के क्षुब्ध होने पर महामाया के कार्य-रूप में अपरनाद का सूत्रपात होता है। अपरनाद शब्दरूप ज्ञान है, परन्तु परनाद शब्दातीत बोधरूप ज्ञान है।

ज्ञान बोधरूप और शब्दरूप—दो प्रकार का है। बोधरूप ज्ञान भी शब्दरूप में आरूढ़ होकर ही प्रवृत्त होता है, नहीं तो उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जब महामाया से सुप्त जीव जाग उठते हैं तब भी मानों सब जीव जिस ज्ञानभूमि में स्थित रहते हैं वह परनादरूप साक्षाच्चैतन्य नहीं है और मायिक ज्ञानरूप भेदज्ञान भी नहीं है; क्योंकि तब भी माया का क्षोभ हुआ नहां। वही शब्दरूप ज्ञान है, जो बिन्दु-जनित नाद से या अपरनाद से अनुविद्ध है। इस अवस्था में नादात्मक महाज्ञान से उसकी पाँच धाराओं का अवलम्बन कर पञ्चस्रोतोमय ज्ञानधारा उपदेश के रूप में आविर्भूत होती है। आदिगुरु और आदि ईश्वर कल्प-सिद्ध जीव इसे प्राप्त कर आदि विद्वान् नाम से परिचित होते हैं। परनादरूपी चैतन्य से बिन्दुक्षोभ के अनन्तर आहतनाद की अभिव्यक्ति होने पर पञ्चस्रोतोमय शास्त्र या उपदेशात्मक ज्ञान को आदि सृष्टि में आविर्भूत अधिकारी लोग प्राप्त करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि महाज्ञान का यह उपदेश किसके लिए है? क्या यह सृष्टि-धारा में अवतरणशील प्रवृत्ति-प्रधान जीव के लिए है अथवा संहार-धारा से उत्थानशील निवृत्ति-प्रधान जीव के लिए है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह दोनों के लिए ही उपयोगी है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है—"स पूर्वेषामपि गुरुः।" पूर्वेषां शब्द से सृष्टि के आदिकाल में आविर्भूत ऋषि, सिद्ध, कार्येश्वर आदि सभी लिये जा सकते हैं। सब लोग उस परम स्थान से ही ज्ञान के उस परम भाण्डार से ही—अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए ऋग्वेद में अग्निदेव "पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यः" कहे गये हैं। पूर्व या प्रत्न ऋषि वे हैं, जो सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हुए थे। नूत्न ऋषि वे हैं, जो सृष्टि के मध्य में आविर्भूत हुए थे या हो रहे हैं। परमेश्वर ने ब्रह्मा की सृष्टि कर उन्हें वेद की शिक्षा दी थी। तदनन्तर ब्रह्मा स्वयं वेदार्थ ग्रहण कर सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त हुए। इसके गूढ़ अर्थ का अनुसरण करना चाहिए।

स्मरण रखना होगा कि महामायारूप बिन्दु में दो प्रकार के जीव सोये हुए हैं। उनमें एक श्रेणी निवृत्ति की ओर अभिमुख है और दूसरी श्रेणी प्रवृत्ति की ओर अभिमुख है। ये दोनों ही बिन्दुक्षोभ के साथ-ही-साथ आविर्भूत होते हैं।

जितने जीवाणुओं ने मायाराज्य में पड़कर सांसारिक जीवन बिताकर उसके अन्त में स्वस्थान में लौटने के लिए निवृत्तिमार्ग में चलना शुरू किया तथा जो युगपत् या क्रमशः सब तत्त्वों को भेदकर मायातत्त्व का भी अतिक्रम कर सके, वे जीव महामाया में सुप्त होकर विलीन रहते हैं। मायाभेद चाहे किसी प्रकार से भी हुआ हो, उससे किसी प्रकार का वैलक्षण्य नहीं होता। ये सब जीव निवृत्तिमुखी हैं। इनमें जिनका आणव मल प्रलय के मध्यकाल में ही परिपक्व हो जाता है, वे वहीं से भगवदनुग्रह प्राप्त कर पूर्णत्व-लाभ करते हैं। उन लोगों को फिर नवीन सृष्टि में अधिकारी आदि के रूप में आना नहीं पड़ता। परन्तु जिनमें अधिकार आदि की वासना रहती है, वे भगवदनुग्रह प्राप्त कर वैन्दवदेह धारण करते हुए कार्येश्वर आदि के रूप में अधिकारादि को प्राप्त होते हैं। वासना बिलकुल न रहने पर अधिकारादि-लाभ नहीं होता। वासना भी मल ही तो है, परन्तु यह अनादि मल नहीं है, सादि मल है। ये सब जीव या अणु परनाद के प्रभाव से अपना स्वरूप पहिचान सकते हैं और बिन्दुक्षोभजन्य शुद्ध देहादि प्राप्त कर ईश्वर, देवता आदि पदों में नियुक्त होते हैं। पञ्चस्रोतोमय महाज्ञान का उपदेश इन्हें प्राप्त होता है। इस उपदेश के कारण ये लोग सभी विभुत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञत्व न रहने पर इनके द्वारा भगवान् की सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों का सम्पादन नहीं हो सकता। इन सबमें भगवान् की कर्तृत्वशक्ति और करणशक्ति समान रूप से प्रतिफलित न होने पर भी उनकी सर्वज्ञानशक्ति समानरूप में विकास को प्राप्त होती है। प्राचीन वैदिक ऋषियों की भाषा में कहा जा सकता है कि ये सब लोग साक्षात् परमेश्वर से वेदज्ञान-लाभ करते हैं।

जो सब जीव अनादि सुषुप्ति से सर्वप्रथम जाग उठते हैं, वे परनाद के प्रभाव से ही जागते हैं; क्योंकि परनादरूपिणी चैतन्यशक्ति के आघात के बिना महामाया से सुप्त जीवों का आविर्भाव होता नहीं। ये प्रवृत्तिमुखी जीव हैं। इनका लक्ष्य इस समय भी बहिर्मुख ही है। ये जागकर उठते ही आत्मविस्मृतरूप से चलने लगते हैं। वस्तुतः यह जागरण अर्धजागरण है, द्वितीय जागरण पूर्ण जागरण है।

प्रथम जागरण से बहिर्मुख गति होती है। द्वितीय जागरण से अन्तर्मुख गति होती है। प्रथम जागरण की पूर्वावस्था अनादि सुषुप्ति है। प्रथम जागरण से ही स्वप्न आरम्भ होता है—इसी का नाम अर्धजागरण है। द्वितीय जागरण से स्वप्न समाप्त होकर वास्तविक या पूर्ण जागरण का आरम्भ होता है। द्वितीय जागरण के बाद अन्तर्मुखी गति जहाँ शेष होती है, वही पूर्णतम जागरण है। किन्तु उसको फिर जागरण कहना नहीं बनता। वही वस्तुतः तुरीय है। साधारण लोग जिसे तुरीय कहते हैं, यह वह नहीं है। इसको सचेतन भाव से प्राप्त होने पर ही सुषुप्ति में प्रवेश हो सकता है। सुषुप्ति में प्रवेश के बिना भगवत्ता-लाभ की बात अलीककल्पना-मात्र है। जहाँ से स्वप्न रूप में सृष्टि का प्रारम्भ होता है, पुनः वहीं स्वप्नान्त में महा-जाग्रत् काल में पुनः प्रवेश होता है। इसलिए निवृत्ति-मार्ग की यात्रा भी ठीक जागरण नहीं है। प्रथम जागरण का फल अपने सामने आगे बढ़ना है तथा द्वितीय जागरण का फल अपनी स्थिति में लौट आना है। उसके बाद जागरण पूर्ण होने पर सामने-

पीछे, जाना-आना, भीतर-वाहर कुछ भी नहीं रहता। वहीं सुषुप्ति और जागरण का समन्वय होता है। तव सक्रिय और निष्क्रिय, सगुण और निर्गुण, सकल और निष्कल, एक और अनेक— ये सव भेद सदा के लिए विदा हो जाते हैं।

आत्मविस्मृत होकर ही जीव वहिर्मुख हो दौड़ता है। इसके मूल में चैतन्य है। वह यदि न रहे तो किसी प्रकार गति हो नहीं सकती। अनादि सुषुप्ति में भी आत्म-विस्मृति रहती है सही, किन्तु चैतन्य की प्रेरणा के अभाववश वहिर्गति नहीं रहती। वैसे ही आत्मस्मृति-लाभ के साथ-साथ जीव की गति अन्तर्मुखी होने लगती है। इसके मूल में भी चैतन्य की प्रेरणा रहती है। यदि वह न रहती तो आत्मस्मृति के साथ-ही-साथ विज्ञान कैवल्यरूपी सुषुप्ति-अवस्था का उदय होता। वैन्दव देह का लाभ कर अन्तर्मुखी गति न होती। वहिर्गति की सममात्रा में अन्तर्गति सम्पन्न होने के कारण वहिर्गति के संस्कार जल जाते हैं। तव फिर व्युत्थान की सम्भावना नहीं रहती।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति वहु होनारूप क्रीड़ा करती है। जवतक वहुभाव का सम्यक् विकास नहीं होता तवतक यह इच्छा कार्य करती रहती है। यह काल के ईक्षणरूप से वीजभाव को प्राप्त होकर महामाया के गर्भ में सुप्त रहती है। यही सुप्त जीव-समष्टि है। इस समष्टि में अनन्त जीवाणु हैं अथवा एक के वाद एक यों संचित हो रहे हैं। किन्तु ये सव जीव सुप्त होने के कारण एक प्रकार से जड़ पदार्थ के तुल्य अस्तित्वहीन न होने पर भी अस्तित्वहीन के तुल्य पड़े हुए हैं। इन सव अणुओं के अनन्त होने पर भी इनका परस्पर पार्थक्य अभी तक विकसित नहीं होता, ये सव समष्टि के रूप में एकाकार से सुप्तभाव में विलीन रहते हैं। जिस महा इच्छा से इनका आविर्भाव हुआ है उसकी पूर्णता इस समय वहुत दूर है; क्योंकि परम पुरुष वहुत होने की इच्छा कर इस प्रकार आविर्भूत हुए हैं। जव-तक वहुत पुरुषों का आविर्भाव नहीं होगा तवतक परम पुरुष की वहुत होने की इच्छा सार्थक न होगी। सचमुच वहुत होने के लिए जीव को स्तर-स्तर में फूट उठना होगा। परमेश्वर की इच्छा व्यापकभाव से मातृशक्ति में गृहीत होती है। इसलिए एक ओर जैसे महामाया में अणुसमष्टि संचित होती है, दूसरी ओर वैसे ही माया में भी होती है। कारण, महामाया के तुल्य माया भी मातृशक्ति है। स्वातन्त्र्य के प्रभाव से काल की ओर से निरन्तर अग्नि से चिनगारियों के निकलने के तुल्य जीव-सृष्टि हो रही है। सृष्टि होने के साथ-साथ महामाया में अथवा माया में अथवा महामाया होकर माया में ये सव अणु सुप्त होकर पड़े हुए हैं। महामाया का आदि नहीं है, माया का भी आदि नहीं है। इसलिए इन सव जीवों की सुषुप्ति भी अनादि निद्रा कही जाती है। साक्षात् अथवा परम्परा से इस निद्रा से जीव को जगाता है पूर्व-वर्णित परनाद या चैतन्य। अर्थात् चैतन्य के प्रभाव से ही सुप्त जीव सुप्ति से जाग उठते हैं।

पूर्ववर्णित सुषुप्ति वस्तुतः अणुओं की रोधावस्था है। उस अवस्था में परमेश्वर की अनवच्छिन्न ज्ञान और क्रिया अर्थात् चैतन्य अथवा भगवत्ता प्रत्येक अणु में

सुप्तभाव से निहित रहती है, मल अथवा आवरण से आच्छन्न होकर रहती है। जिस कारण से जीव की अनादिनिद्रा की वात कही जाती है ठीक उसी कारण से उसका अनादि मल-सम्वन्ध भी स्वीकार करना पड़ता है। इसका आपाततः परमेश्वर के निग्रह रूप से ग्रहण करने पर भी वास्तव में यह भी अनुग्रह का ही एक प्रकार है। जहाँ मूल सत्ता ही मङ्गलमय है वहाँ निग्रह का उद्देश्य भी मङ्गलमय न हो, ऐसा हो नहीं सकता। भगवान् का स्वातन्त्र्य काल-रूप में खेल रहा है, यह कहा गया है। उसी प्रकार वह चैतन्य रूप में भी खेल रहा है। एक ओर काल-रूप में जीवाणुओं को संचित किया जा सकता है, दूसरी ओर उनको चैतन्य रूप में अनादि निद्रा से जगाया जा रहा है। काल के खेल के साथ जैसा चैतन्य का सम्वन्ध है, उसी प्रकार चैतन्य के खेल के साथ भी काल का सम्वन्ध है। काल का खेल निग्रह और चैतन्य का खेल अनुग्रह है। चैतन्य के प्रभाव से जीव अनादि सुषुप्ति से जागते हैं सही, परन्तु एक साथ सव जीव नहीं जागते, क्रमशः जागते हैं। यही चैतन्य के ऊपर काल का प्रभाव है।

यह जागरण दो प्रकार का है, यह पहले कहा जा चुका है। अभिनव जीव जब जाग उठते हैं तव वहिर्मुख भाव से ही जागते हैं; क्योंकि सृष्टिकर्त्ता की वहु होने की इच्छा तव भी सम्यक् रूप से पूर्ण नहीं हुई। वहिर्मुख हुए विना वहु नहीं हुआ जाता एवं अपने व्यक्तित्व का भी विकास नहीं होता। ये सव जीव अथवा अणु जागकर ही अपने एवं अपने धाम के ज्योतिर्मय स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। जीव जब सुप्त था, तव उसको वोध नहीं था, वह अचेतन था तथा उसमें अहंभाव नहीं था। किन्तु जव वह जागता है तब अहंभाव लेकर ही जागता है। यही अहन्त्व का प्रथम आविर्भाव है। यह 'अहम्' अथवा 'वोध' दृश्यमान अनन्त ज्योति के साथ अपना वास्तविक स्वरूप है, जो इस ज्योति के भी अतीत है, उसकी वह धारणा नहीं कर सकता; क्योंकि जीव इस समय भी वहिर्मुख है। इस समय अपने स्वरूप की उपलब्धि की उसे सम्भावना नहीं; क्योंकि वहिर्मुख गति को समाप्त कर अन्तर्मुख गति आरम्भ किये विना स्वरूप-दर्शन नहीं हो सकता।

यह जो ज्योतिःस्वरूप में अपनी उपलब्धि है, यह स्थायी नहीं होती। जीव ज्योतिःस्वरूप होकर भी वहिर्मुख होने के कारण उसमें स्थित नहीं रह सकता। वह वाहर ताककर छाया के तुल्य किसी वस्तु को देखता है एवं अपने को उससे अभिन्न मानता है। इस प्रकार ब्रह्मभाव से क्रमशः महाकारण, कारण एवं सूक्ष्म भाव का भेद कर स्थूल तक वह अवतीर्ण होता है। अवतरण की यही चरम सीमा है। इसके वाद भोग होता है। तदुपरान्त निवृत्ति की ओर मुड़ने पर सदगुरु की कृपा से ऊपर की ओर आरोहण होता है।

इस आरोहण में ही पूर्ववर्णित द्वितीय जागरण का तत्त्व है। इसके प्रभाव से चक्रम अवस्था में अपना यथार्थ स्वरूप पहिचाना जा सकता है। तब फिर बाहरी अथवा भीतरी किसी भाव के साथ सम्वन्ध नहीं रहता।

सृष्टि की ओर जीव को प्रेरित करना चैतन्य अथवा गुरुशक्ति का ही कार्य है। वे जीव को जगाकर बाहर भेजते हैं, बाहर जाते-जाते जहाँ जो कुछ ग्रहण करने का है उसे ग्रहण कराकर उसे पुष्ट करते हैं। इस तरह प्रत्येक का व्यक्तित्व अलग-अलग निखर उठता है, तब पुरुष आकार की प्राप्ति के कारण उसमें परम पुरुष के प्रतिबिम्ब को धारण करने की योग्यता उत्पन्न होती है। इस अवस्था में द्वितीय जागरण की आवश्यकता होती है। द्वितीय जागरण के अनन्तर पुरुषरूप में उसका दिव्यभाव से विकास पूर्ण होने लगता है। इस प्रकार वह क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म कारण, महाकारण और कैवल्य देहों का भेदकर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अवरोहण के मूल में जैसे चैतन्य की क्रिया अर्थात् प्रथम जागरण रहता है, वैसे ही आरोहण के मूल में भी चैतन्य की क्रिया अथवा द्वितीय जागरण रहता है।

प्रथम जागरण से अर्थात् अन्नमय कोष के प्रथम गठन से मनोमय कोष के विकास तक जीव की गति बहिर्मुखी होता है। मनोमय कोष में रहते ही विज्ञान-संचार से द्वितीय जागरण का आरम्भ होता है। उससे अन्तर्मुखी गति चलने लगती है। ब्रह्मावस्था से जब महाकारण शरीर में अवतरण होता है तभी सर्व-प्रथम नरलोक का साक्षात्कार होता है। महाकारण ही विश्व है, इसी को नर कहते हैं। किन्तु ध्यान में रखना होगा कि नर होने पर भी यह एक प्रकार का प्रतिबिम्ब है। वास्तविक नरस्वरूप अभी भी बहुत दूर है। यह आकार कारण अवस्था में अवतीर्ण होकर लिङ्गात्मक भावरूप से व्यक्त स्थूल सत्ता में अनुप्रविष्ट होता है। बीज जैसे क्षेत्र में पड़ता है, यह भी ठीक वैसा ही है। इसके पश्चात् क्रमशः विभिन्न योनियों में स्थूल रूप से अभिव्यक्ति होने लगती है।

स्थावर से मनुष्य-योनि के पूर्व तक ८४ लाख योनियों की कथा प्रसिद्ध है। उद्‌भिद्, कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु आदि अगणित वैचित्र्य हैं। प्रकृति के क्रम-विकास के अन्दर चाहे जिस किसी देह में शुद्ध दृष्टि का संचार हो, वहाँ अन्तर के भीतर मनुष्य का आकार दीख पड़ता है। बाह्य आकार क्रम-विकास के कारण धीरे-धीरे अन्दर स्थित आदर्शरूप मनुष्य के आकार का सादृश्य प्राप्त करता है। तब प्रकृति का विकास आपाततः स्थगित होता है। मनुष्य-देह प्राप्त करना और अन्नमय कोष से मनोमय कोष-पर्यन्त विकास होना एक ही बात है। ८४ लाख योनियों तक पहले अन्नमय कोष और तदन्तर प्राणमय कोष का विकास होता है। अन्त में मनोमय कोष का पूर्वाभास पाया जाता है। वास्तविक मनोमय कोष का विकास मनुष्य-देह में ही हो सकता है। मनुष्य-देह प्राप्त होने पर ही कर्म में अधिकार उत्पन्न होता है। सत् और असत् का विचार, पाप-पुण्य का ज्ञान, कर्त्तव्य-निश्चय, आभास-मात्र होने पर भी विवेक-ज्ञान का उदय, कर्तृत्वाभिमान आदि मनुष्य-देह के धर्म हैं। मनुष्य स्वयं कर्त्ता के स्वांग में रहता है, इसलिए प्रकृति उसके गृह की रचना का भार अपने हाथ से खुल्लमखुल्ला त्याग देती है। मनोमय कोष के विकसित होने के बाद जीव की संसार-दशा चलने लगती है। इन्द्रिय आदि के द्वारा कर्म करना और उसका फलभोग

करना—यही इस अवस्था का वैशिष्ट्य है। जिस परिणाम-प्रवाह में मनोमय कोष-पर्यन्त विकास हुआ, वह तब रुक जाता है। मनुष्य तब स्वप्नराज्य में भ्रमण करता है। इस स्वप्न-भ्रमण का नाम ही संसार है। विचित्र वासनाओं के अनुसार विचित्र भोग होते हैं। जैसी चाह होती है वैसा पाया जाता है। कर्त्ता बनने के कारण प्रकृति की सरल सृष्टि से हटकर जटिल विकारमय जाल में फँसना पड़ता है। इस तरह दीर्घकाल तक स्वप्न-राज्य का भोग करते-करते क्लान्त हो पड़ने पर अतृप्ति और अवसाद से चित्त भाराक्रान्त हो उठता है, तब भोग्य पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। ज्ञान और आनन्दमय एक नित्य वस्तु के लिए हृदय व्याकुल हो उठता है। स्वप्न का मोह तब फिर अच्छा नहीं लगता। स्वयं फिर तब कर्त्ता का स्वांग रचकर रहने की इच्छा नहीं होती। अपना अज्ञान और अक्षमता बार-बार चित्त को दुःखी करते हैं। तब मिथ्या कर्तृत्व का भार त्यागकर फिर शिशु होकर प्रकृतिजननी के चरणों में आत्मसमर्पण करने की इच्छा होती है।

इनके अनन्तर द्वितीय जागरण शुरू होता है। गुरुरूप प्रकृति तब उसे जगाकर अपनी गोद में खींच लेती हैं। उसके इतने दिनों के स्वप्न का क्रीडागृह गिरकर चकनाचूर हो जाता है। वह तब शिशु होकर, माता की गोद में बैठकर, द्रष्टा के रूप में माता के सब खेलों को देखने लगता है। प्रकृति माता तब फिर गृह-रचना में प्रवृत्त होती हैं। यह गृह-विज्ञानमय कोष है। इसकी रचना करने में अत्यन्त आयास स्वीकार करना पड़ता है। जीव तब फिर जीव नहीं, मुक्त पुरुष है; क्योंकि वह साक्षी बनकर प्रकृति का खेल देख रहा है। प्रकृति को अपने कार्य में फिर बाधा प्राप्त नहीं होती, इसलिए वे निर्विघ्न रचना-कार्य में अग्रसर होती हैं।

द्वितीय जागरण से लेकर अन्तर्जगत् में बिन्दु-पर्यन्त प्रवेश-लाभ करना ही विज्ञानमय और आनन्दमय कोष का विकास है। आनन्दमय कोष का विकास ही भगवत्ता-लाभ है। महाकारण-दशा में जिस आकार का पहले सन्धान हुआ था, द्वितीय जागरण के बाद अन्तर्मुखी गति के अन्त में जीव तब उसी आकार में स्थित होता है। प्रथम जागरण के बाद बहिर्मुखी गति होती है, द्वितीय जागरण के बाद अन्तर्मुखी गति होती है—दोनों ही गतियों के समान हो जाने पर भीतर और बाहर एक हो जाता है। यही परम स्वरूप में अवस्थान है।

अनादि निद्रा के बाद प्रथम जागरण की बात कही गई है। इस जागरण के बाद बहुत बार निद्रा आक्रमण करती है, किन्तु वह सादि निद्रा है। द्वितीय जागरण के बाद सादि निद्रा भी नहीं रहती; जो रहती है वह निद्रा नहीं, निद्रा का आभास-मात्र है। अन्तर्मुखी गति के शेष हो जाने पर आभास भी नहीं रहता। इसलिए उक्त महाजागरण को वस्तुतः जागरण कहना भी नहीं बनता।

नाम-साधना और उसका फल

साधक-समाज में भगवन्नाम का माहात्म्य सर्वत्र ही स्वीकृत है। यथार्थरूप से नाम-साधना कर सकने पर एकमात्र इसी के प्रभाव से परमसिद्धि-लाभ किया जा सकता है। वैदिक सम्प्रदाय के तुल्य वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई, सूफी यहाँ तक कि बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों में भी किसी-न-किसी रूप में नाम-साधना का उत्कर्ष स्वीकार किया जाता है। वाच्य और वाचक में जो स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है उसकी तथ्यता की उपलब्धि नामसाधक सहज में ही कर सकते हैं; क्योंकि ठीक तरह से नाम ग्रहण कर पुकार सकने पर नामी का आकर्षण कर उनकी सन्निधि प्राप्त की जा सकती है। नामाभास और नामापराधों का त्याग कर नाम-ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि सरसरी दृष्टि से नाममात्र ही आकाश-गुण शब्द के रूप में प्रतीत होता है, तथापि यह सत्य है कि संस्कारयुक्त नाम अर्थात् शोधित नाम जाग्रत् शक्तिस्वरूप है। इस सजीव शक्ति की तुलना में प्राकृत साधकों की सारी शक्तियाँ नगण्य हैं।

नाम यदि सद्गुरु द्वारा दिया गया हो तो गुरुशक्ति के प्रभाव से नाम का संस्कार अपने-आप हो जाता है। अन्यथा साधक की श्रद्धा अथवा विश्वास, ऐकान्तिकता, नियमित अभ्यास और निष्ठा से क्रमशः नाम में शक्ति संचित होती रहती है। शब्द-मात्र में ही शक्ति है। विशेष करके भगवन्नाम की शक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। नामभेद से शक्ति का प्रकारगत भेद प्रथम अवस्था में लक्षित होने पर भी भगवन्नामरूप से गृहीत सभी शब्दों में ऐसी एक शक्ति है, जो सुप्त चैतन्य को जाग्रत् करने में सहायता करती है। इसलिए यदि किसी ने दुर्भाग्यवश सद्गुरु की कृपा प्राप्त न की हो तो उसके लिए अपनी रुचि के अनुसार अपने अन्तरात्मा की प्रीति का उद्दीपक कोई एक भगवन्नाम चुनकर निरन्तर उसका अभ्यास करना उचित है। सद्गुरु के निकट से 'नाम' प्राप्त नहीं हो रहा है, यह सोचकर वृथा कालक्षेप करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार नाम-साधना का फल समय पर प्रत्यक्ष प्राप्त होता है; अर्थात् निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धा के साथ नाम-जप से विश्वगुरु प्रसन्न होकर साधक के निकट अपने को प्रकट करते हैं। ध्रुव ने "कमलदलविलोचन हरि" यों व्याकुल भाव से पुकारा था, पुकारते ही भगवान् की प्रेरणा से नारद पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में आविर्भूत हुए थे। गुरुदत्त मन्त्र की प्राप्ति, गुरुप्राप्ति के पश्चात् हुई थी। नाम-साधक भी उसी प्रकार संयम और निष्ठा के साथ नाम-साधना करते-करते यथासमय गुरु का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं; क्योंकि हृदय की ऐकान्तिक व्याकुलता कभी व्यर्थ नहीं जाती।

गुरुप्राप्ति के पश्चात् गुरुप्रदत्त मन्त्र की साधना चलती रहती है। मन्त्र-साधना अत्यन्त गुप्त साधना है। वह गोपनीय एवं बाहर प्रकाश के योग्य नहीं है। किन्तु नाम-साधना में गोपनीयता कुछ भी नहीं है। गुरु कोई मानव-देहधारी पुरुष हो सकते हैं अथवा सिद्धदेहधारी अथवा दिव्यदेह-सम्पन्न कोई महापुरुष भी हो सकते हैं। आधाररूप देह चाहे जिस किसी प्रकार की क्यों न हो, गुरुतत्त्व एक और अभिन्न है। गुरु शिष्य की योग्यता और अधिकार देखकर उसको उसके अनुरूप मन्त्र प्रदान करते हैं। रोग का निर्णय किये विना जिस प्रकार ठीक-ठीक औषध का निर्वाचन नहीं किया जाता उसी प्रकार शिष्य की आन्तर और बाह्य प्रकृति की परीक्षा किये विना उसके अनुरूप मन्त्रशक्ति की व्यवस्था नहीं की जाती। शिष्य को स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध देह के अध्यास से मुक्त कर उसके स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही गुरु का कार्य है। इसलिए जिस शिष्य की अज्ञान-निवृत्ति के लिए जो पथ सर्वाधिक उपयोगी हो, गुरु उसके लिए उसी पथ की व्यवस्था करते हैं।

मन्त्र-साधना करने से क्रमशः शिष्य की भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि होती है। शिष्य के स्वरूप अथवा स्वभाव को जो आवरण आच्छादित किये रहता है, वह मायिक अथवा वहिरङ्ग-भाव का आवरण है। स्थूल से कारण-पर्यन्त सभी भाव मायिक होने से वहिरङ्ग हैं। जीव इन वहिरङ्ग भावों (आवरणों) से आवृत रहकर अपने को भूल गया है, आत्म-विस्मृत हो गया है। मन्त्र-साधना से अज्ञानजनित यह आत्म-विस्मृति मिट जाती है। तव मन्त्रसिद्ध साधक का निजभाव अर्थात् 'स्व'-भाव जाग जाता है। जवतक 'स्व'-भाव नहीं जागता तवतक मन्त्रमूलक वहिरङ्ग-साधना अपरिहार्य है। भाव का उन्मेष होने पर जानना होगा कि मन्त्रसाधना समाप्त हुई है एवं वाह्य गुरु अथवा शास्त्र का प्रयोजन अव नहीं है। अव साधन के पश्चात् भजन का अवसर उपस्थित है।

'स्व'-भाव अथवा निजभाव के उदय के साथ-साथ भजन की योग्यता उत्पन्न होती है। किसका निजभाव क्या है; उसको वाहर से कोई वतला नहीं सकता एवं बहिरङ्ग-दृष्टि से साधक उसे स्वयं भी कह नहीं सकता। यह मन्त्र-साधना से बाह्य आवरण हटाने के साथ-साथ भीतर से अपने-आप प्रकट हो उठता है। इसी का नाम भाव-साधना है। नाम से मन्त्र एवं मन्त्र से भाव होता है। भाव शुद्धसत्त्व-रूपी चित्त की एक वृत्ति है। यह प्रत्येक के स्वरूप से अभिन्न है; क्योंकि यही स्वभाव है। भाव किसी-किसी के हृदय में वीजरूप से ही स्थित रहता है। आवरण के हट जाने पर अपने-आप ही प्रकट हो उठता है। किसी-किसी के लिए भावुक महापुरुष अथवा परमकारुणिक स्वयं भगवान् से उन्हीं के अनुग्रह के फलस्वरूप यह अभिव्यक्त होता है। भाव जिन देहों में अपने को प्रकट करता है, वे सभी देह भावदेह हैं। ज्ञानदेह के विना जैसे ज्ञान की चर्चा ठीक-ठीक हो नहीं सकती वैसे ही भावदेह हुए विना भावुक की भजन-प्रणाली ही अपूर्ण रह जाती है। भावदेह जिसकी जैसी रहती है उसके निकट यह निश्चय उसी आकार से प्रकाशित होता है। मन्त्रसिद्धि के वाद भावदेह की प्राप्ति को ही मन्त्रसिद्धि का सुफल जानना चाहिए। प्राकृत पाञ्चभौतिक

देह के मध्य में यहाँ तक कि सब देहों के अन्तराल में यह भावदेह विद्यमान रहती है। इस देह के विकास को ही गुरुकृपा की पराकाष्ठा जानना चाहिए। इस भाव-देह का विकास स्वाभाविक नियम से यदि न हो तो भावना के द्वारा कृत्रिम भाव से उसकी कल्पना कर लेनी चाहिए। कल्पित भावनामय देह द्वारा भावराज्य की साधना चलाई जाती है। किन्तु यह कृत्रिम साधना है। पूर्वोक्त मन्त्रसाधना के प्रभाव से भावदेह की प्राप्ति होने पर भावनामय कल्पित देह की आवश्यकता नहीं रहती। साधक तव अपनी भावदेह में अभिमान कर भाव के स्वाभाविक क्रम के अनुसार भजन-पथ पर अग्रसर होता है।

वास्तविक भजन तव भी दूर की वात है; क्योंकि भजनीय निज जन को पाये विना स्वाभाविक भजन किस प्रकार होगा ? अवश्य निज जन की भी भावना द्वारा कल्पना कर ली जाती है, यह सत्य है एवं अनेकों ने ऐसा किया भी है। किन्तु स्वभाव के सरल पथ पर चल सकने पर कृत्रिमता की आवश्यकता नहीं होती।

भाव के साथ आश्रय और विषय—दोनों का सम्वन्ध रहता है। भावोदय के साथ-साथ आश्रयतत्त्व प्रकट होता है अर्थात् भावुक अपनी नित्य भावदेह में जाग उठता है तथा साथ-ही-साथ धाम अथवा राज्य का भी प्रकाश होता है; क्योंकि भाव के आश्रयरूपी देह के प्रकाश के साथ-साथ उक्त देह का स्वाभाविक संवेष्टन भी प्रकाशित होता है। यही धामतत्त्व का एक अंश है। किन्तु भावुक का अपना जन अर्थात् भाव का विषय तव भी प्रकाशित नहीं होता। भावुक तव एकाकी दूसरे की प्रतीक्षा में आकांक्षायुक्त हृदय लेकर उसके मार्ग की ओर ताकता रहता है। पुष्प में मधु का संचय न होने पर जैसे भ्रमर उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता वैसे ही हृदय में भावकली के प्रेमपुष्प-रूप में परिणत न होने तक प्रेम के देवता नन्दनन्दन प्रकाशित नहीं होते। इस वार भावुक प्रेमिक भक्त के रूप में परिणत हुए हैं एवं उनके इष्ट ने उस प्रेम के विषय-रूप से भक्त के हृदय में अपने को प्रकट किया है। अव भाव का भजन प्रेम के भजन में रूपान्तरित हुआ। इस भजन के फलस्वरूप भक्त और इष्ट दोनों के मध्य द्रवभाव उत्पन्न होता है। दो सुवर्ण के अलङ्कारों को गलाने पर जैसे वे एक रसमय तरल सत्ता में परिणत होते हैं, वैसे ही भक्त और इष्ट उसकी प्रेमसाधना से द्रवीभूत होकर रसस्वरूप में स्थिति-लाभ करते हैं। यह रस ही "रसो वै सः" इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित रसब्रह्म है। इस एक रस में ही अनन्त रस हैं। इस एक आनन्द में ही अनन्त आनन्दों की परिसमाप्ति है।

नाम-साधक मन्त्र, भाव और प्रेम के द्वारा ही इस अखण्ड रसस्वरूप में पहुँचता है। तब उसके रसमय नित्य लीला के द्वार खुल जाते हैं एवं वह एक अखण्ड रस में ही अनन्त रस के अनन्त प्रकार के आस्वादन पाकर धन्य होता है। वैष्णवगण कहते हैं—ब्रह्मानन्द से भी लीलारस अनन्त गुना श्रेष्ठ है। नाम-साधना से इस अचिन्त्य रासमण्डल में योग्यता-अर्जनपूर्वक प्रविष्ट होने का अधिकार उत्पन्न होता है। यही नाम-साधना का चरम फल है।

अनुक्रमणी

(१) प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार-नामों की सूची

अनुक्रमणी

(२) प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत विशिष्ट पदों की सूची

ष

स

